

GL SANS 398.2

PAN



125442
LBSNAA

प्राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी

त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी

Academy of Administration

मसूरी

MUSSOORIE

पुस्तकालय

LIBRARY

— 125442.

— 125442 —

GL Sans
598.2

अवाप्ति संख्या

Accession No.

वर्ग संख्या

Class No.

पुस्तक संख्या

Book No.

पंचत PAN

Shri Visnu Sharma's
PANCHATANTRA

WITH THE COMMENTARY

ABHINAWARAJALAXMI

BY

Pt. Guru Prasad Shastri,
VYAKARNACHARYA, NYAYACHARYA,
DARSHANACHARYA,

[Principal SHRI RAJASTHAN SANSKRIT COLLEGE, Benares.]

Published by

BHARGAVA PUSTAKALAYA,
BENARES CITY.

Revised Edition]

1937.

[Price -/12/-

All rights Reserved by the Publisher.

1st Edition	1-6-35	2000.
2nd Edition	1-9-37	2000.

पण्डितराज-श्रीसनेहिरामशास्त्रिणां स्मारकं -
 श्रीराजस्थान-संस्कृत-कालेज-ग्रन्थमालायाः -
 द्वादशकुसुमम् ।

१२

पञ्चतन्त्रम्

परीक्षोपयोगिन्या अतिमहत्या 'अभिनवराजलक्ष्मी'-
 टीकया विराजितम् ।

टीकाकारः—

श्रीगुरुप्रसादशास्त्री,
 व्याकरणचार्यः, न्यायचार्यः, दर्शनचार्यः ।
 [प्रिन्सिपल-श्रीराजस्थान-संस्कृत-कालेज, काशी ।]

[अत्युत्तम शुद्ध सुन्दर संस्करण]

प्रकाशकः



{ परिवर्द्धित
 द्वितीय संस्करणम् } { मूल्यम् ॥)

प्रथम संस्करण १।६।३५-२०९०
द्वितीय संस्करण १।९।३७-२०००



महामहोपाध्याय श्रीविष्णुशर्मा कृत 'पञ्चतन्त्र' का भारतवर्ष में ही नहीं संसार में सर्वत्र ही विशेष आदर हैं। फ्रेस्ट, जर्मन, इंग्लिशन, अङ्ग्रेजी, हिन्दी, रुद्रा, अरबी, फारसी, हिन्दू, लेटिन, रसियन, आदि सभी भाषाओं में इसके अनुवाद हुए हैं और उनका बड़ा प्रचार भी है।

अतः इसकी उपादेयता और उपकारिता के विषय में विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। जैसे—यह ग्रन्थ सुन्दर २ कथाओं से, अद्भुत २ उपाख्यानों से बालकों के मन को आकृष्ट करता है, वैसे ही धुरन्धर विद्वानों और प्रकाण्ड राजनीतिज्ञों को भी संसार की उलझी हुई समस्याओं के सुलझाने में, राजनीति के सूक्ष्म तत्त्वों के विशद विवेचन करने में अनुपम सहायता देकर उपकृत करता है।

पञ्चतन्त्र की भीषण दुर्दशा।

इस सर्वोपयोगी ग्रन्थ रत्न के बहुत से संस्करण हुए हैं। परन्तु उनमें प्रायः अवाध रूप से अशुद्धियों की बहुलता देखने में आती है।

गवन्मेंट संस्कृत कालेज के प्रिन्सिपल एवं संस्कृतपरीक्षा बोर्ड के अध्यक्ष माननीय महामहोपाध्याय पण्डित श्रीगोपीनाथजी कविराज महोदय ने इस ग्रन्थ के महत्व को देख कर सभी विषयों की प्रथमा व मध्यमा-परीक्षाओं में इसको जब से स्थान दिया, तब से इसके पठन-पाठन को और भी विशेष प्रोत्साहन मिला; और—“पञ्चतन्त्र” ‘हितोपदेश’ ले के का खिलवाड़ कर थौव ? ई कुल हमहन नाहीं पढाईल। दशकुमार लिआव ! कादम्बरी पढ ! भारतचम्पू देख—तो हम अलबत्ते पढा सकील-

ई तो कुल लड़कन कर खिलवाड आय”-इस तरह कह कर पञ्चतन्त्र से पीछा चुड़ानेवालों को भी जब प्रायः अशुद्ध संस्करणों पर से पञ्चतन्त्र पढ़ाना पड़ा, तब तो कठिन समस्या उपस्थित हुई। क्योंकि-पाठों में बहुत ही गडबड थी। तब लगी सटीक पञ्चतन्त्रों की खोज होने। चला विमर्श कि-‘किस टीका में क्या अर्थ है’? और ‘उनमें अर्थों में कौन ठीक है’? इत्यादि। परन्तु पाठ तो प्रायः अशुद्ध ठहरे, उनको चतुर टीकाकारों ने केवल बुद्धि व पाण्डित्य के जोर से तोड़ मरोड़ कर किसी तरह लिख-पढ़ कर पिण्ड छुड़ाया था। जो विचारे साधारण छात्र-थे उनको तो गुरुजी ने थोड़ा जोर से बोलकर, या डांट डपट कर, टीका का हवाला देकर, किसी तरह चुप कर पाठ पढ़ा दिया, पर जो थोड़े विवेचक छात्र थे-वे-सदाही उन पाठों को लेकर इत्सत्ततः पूछते फिरते थे, पर सन्तोष कदाचित् ही किसी का होता था।

साहित्य के एक विद्वान् ने अपने छात्रों से स्पष्ट ही कहा था कि ‘भाई! एक सटीक पञ्चतन्त्र हमारे लिये लाया करो, तो हम तुम्हें पढ़ा दिया करेंगे। नहीं तो तुम अन्यत्र किसी से पढ़ लिया करो। हमें तो ‘कादम्बरी’ ‘काव्यप्रकाश’ पढ़ाने से ही अवकाश नहीं मिलता है,—तुम देखते ही हो,-क्या करें!’ इत्यादि।

इसी प्रकार हमारे एक मित्र ने भी २-३ स्थल निकालकर हम से कहा था कि—‘ऐसे २ बहुत से स्थलों पर विद्यार्थियों को हमने—“किसी देश विशेष में यह प्रसिद्ध है” “किसी वडे कोशमें देखना। क्या करें, हमारा तो बड़का कोश मिल नहीं रहा है, मिलेगा तो हम ख्यं ही देखेंगे”—इत्यादि शब्दों से ही किसी तरह शान्त किया है। भाई! पाठ तो ऐसा अण्ड-बण्ड था कि कुछ अक्रिल नहीं काम देती थी। अतः आप ही कहिए और करते भी क्या?’।

इस प्रकार इस पञ्चतन्त्र की अशुद्धियों से दुर्दशा थी। इसे पढ़ते-पढ़ते समय अच्छे २ लोगों का दिल धड़कने लगता था। जिसमें कारण-केवल पाठों की अशुद्धियाँ थीं।

अतः 'श्रीराजस्थान-संस्कृत-कालेज' ने विद्वानों और छात्रों का लाभार्थ यह सत्ता और पूर्वापेक्षया शुद्ध संस्करण निकाला है ।

इसमें ४०० से ऊपर ही पाठ ठीक किए गए हैं । उसमें से २-४ उदाहरण के रूप में नीचे हम लिखते हैं,—जिन्हे देखकर सहदय विद्वानों के मुख से सहसा यह निकले विना न रहेगा कि—हाँ, हाँ, यही पाठ तो ठीक है !, यही तो यहाँ नोना चाहिए था !! ।

उदाहरण—सुवृत्तोऽपि सुशीलोऽपि यात्यदानादधो घटः ।

अपि काणाऽपि कुञ्जापि दानादुपरि कर्कटी ॥

यह पाठ प्रचलित सभी पुस्तकों में ऐसा ही है । और पञ्चाव के एक सुप्रतिष्ठित टीकाकार ने इसका अर्थ किया है—‘घटा जब रहेगा तब पञ्च के नीचे ही रहेगा, पर ककड़ी को तो पलङ्ग के ऊपर बैठ कर ही लोग खाने हैं’। कहिए कैसा अर्थ है ? इस अर्थ से आप लोगों को सन्तोष होता है ? । यदि नहीं तो सुनिए !—यहाँ यह पाठ ही नहीं है—किन्तु—एक अक्षर बदल दीजिये—कर्कटी’ की जगह ‘कर्करा’ पढ़िये । (ककंरी=झारा, करवा, कमण्डल । जिसे राजपूताना में ‘करी’ और ‘तृतिया’ कहते हैं ।) कविका भाव यह है कि—दान देते समय और जल पिलाते समय घंडे से जल नहीं दिया जाता है, और न पिलाया जाता है । किन्तु करवा से ही जल दिया जाता है । इसी महत्त्व के कारण (काणा-एकछिद्रवाली, कुञ्जा—घडे की अपेक्षा अत्यन्त छोटी-भी) कर्करी—करवा—घटे के ऊपर ही रखी जाती है । (सभी जगह प्याऊ पौसरा आदि में नीचे घडा रख कर उसके ऊपर पानी पीने आदि के लिए करी रखते हैं, यह लोक प्रसिद्ध है ।) । अब आप उस अर्थ से और इस अर्थ से तुलना कीजिए । कहिए वह पाठ ठीक है, या हमारा पाठ ठीक है ? । और भी—

पूर्णपूर्णे माने परिचितजनवञ्चनं तथा नित्यम् ।

मिथ्याक्रयस्य कथनं प्रकृतिरियं स्यान्तिकरातानाम्॥ [१८८८ श्लो. १७]

कहिए यहाँ वैद्यों के वर्णन में किरात का क्या प्रसङ्ग है ? किरात लोग कब से वाणिज्य करने लगे ? । खैर सुनिए यहाँ ‘किरातानां’ इस प्रचलित पाठ की जगह ‘किराटनाम्’—यह पाठ है । किराट वैश्य । इसी का अपभ्रंश ‘किराड़’-‘किराणा’ आदि शब्द ‘मारवाड़ी’ ‘गुजराती’ ‘महाराष्ट्र’ एवं बंगाली भाषाओं में मिलते हैं । क्षेमेन्द्र ने भी ‘कलाविकास’ में टकार के अनुप्रास के साथ किराट शब्द का प्रयोग किया है—“किराटोऽटति साटोपं चलाविच्चितकटीतः” इत्यादि । और भी—

‘क्षीणः स्त्रवति शशी रविवृद्धौ वर्द्धयति पाथसां नाथम्’ ।

कहिए क्षीण चन्द्रमा का शरना कही सुना है ? और रवि की वृद्धि भी सुनी है ? यदि नहीं तो यह इलोक कैसे लगा ? । अच्छा देखिए—

‘क्षीणः श्रथति शशी रविम्, ऋद्धौ वर्द्धयति पाथसां नाथम् ।
अन्ये विपदि सहाया धनिनां, श्रियमनुभवन्त्यन्ये ! ॥’

‘चन्द्रमा विपत्तिकालमें-अमावस्या के दिन सूर्य के यहाँ आश्रय पाता है, पर जब उसके समुद्रिके दिन लौटते हैं-जब वह परिपूर्ण होना है पूर्णिमा को-तो-सूर्य को भूल जाता है-अर्थात् उससे दूर हो जाना है, और समुद्र को बढ़ाता है । ठीक ही है, जो लोग विपत्ति काल में धनियों की सहायता करते हैं उन्हें वे अवसर में याद नहीं रखते !’ यह इपका अर्थ है । अब आप कहिए-कितना उत्तम कवि का भाव है, पर उसकी अशुद्ध पाठों से क्या दुर्दशा हो रही थी । प्रचलित पाठ ठीक है या हमारा कल्पित पाठ ठीक है ? यह तो आप स्वयं तुलना कोजिए । और भी—

‘यस्मिन् कुले यः पुरुषः प्रधानः स सर्वयत्नैः परिक्षणीयः ।

‘तस्मिन् विनष्टे कुलसारभूते न नाभिषङ्गे ह्यरयो वहन्ति ॥’

कहिए इस इलोक का अर्थ बैठता है ? यदि नहीं तो हमारा पाठ निकालिए ‘तस्मिन्विनष्ट हि कुलं विनष्टं न नाभिषङ्गे ह्यरका वहन्ति’ । ‘रथ के चक की नाभि टूट जाए तो क्या पहिए की पंखुड़ी (खाली डंडे) से रथ चल सकेगा ? नहीं, इसलिये प्रधान की रक्षापर ध्यान देना चाहिए’ । यह इस श्लोक का भावार्थ है । (अरा एव अरकाः) ।

मूलकी तरह पञ्चतन्त्र के अर्थाश में भी बहुत जगह टीका-टिप्पणी आदि में मनमानी हुई है। जैसे—‘पापद्धि’ शब्द-शिकार का वाचक प्रसिद्ध है। हेमचन्द्र ने भी अपने कोश में ‘पापद्धिर्मृगयाऽङ्गेष्टः’ यह लिखा है। मारवाड़ में बहेलिये को ‘पारधी’ कहते भी हैं। और महाराष्ट्र भाषा में मृगया को ‘पारधी’ कहते हैं। पर कुछ लोगों ने पापद्धि का ‘पापस्य ऋद्धि-वृद्धि कर्तुं गत इत्यर्थः’ ऐसा अर्थ किया है। कहिए यह अर्थ का अनर्थ नहीं तो क्या है?। इसी तरह ‘चटित’ का अर्थ—‘दृढ़ा हुआ’ किया है, पर इसका अर्थ है—‘चढ़ा हुआ’ और ‘हाथ लगा’।

कितना लिखें—इस प्रकार बहुत सी प्रचलित अशुद्धियाँ इस संस्करण में ठीक की गई हैं। हमारा यह पञ्चतन्त्र के जीर्णोद्धार का कार्य—विद्वानों को बहुत पसन्द आगा है, इसी लिए अत्यरिक्त समय में ही इसका पहिला संस्करण समाप्त होगया है। यह बड़े हर्ष की बात है।

इसके संशोधन के समय—बहुत स्थलों में ‘हार्वर्ट—ओरियन्टल—सिरीज’ के पञ्चतन्त्र से भी हमने सहायता ली गई है।

१—आठ सौ वर्ष पहले भी इन पञ्चतन्त्र का बड़े २ विद्वानों की देखरेख में जीर्णोद्धार एवं संशोधन हुआ था, क्योंकि उस समय भी, यह अति अशुद्ध रूप में ही उपलब्ध था। जैसे—

श्रीसोममन्त्रिवचनेन विशीर्णवर्णमालोक्य शास्त्रनिखिलं खलु पञ्चतन्त्रम् ।

श्रीपूर्णभद्रयुरुणा गुरुणाऽऽरेण संशोधितं नृपतिरीतिविवेचनाय ॥ १ ॥

प्रत्यक्षरं प्रतिपदं प्रतिवाक्यं प्रतिकर्थं प्रतिष्ठोक्यम् ।

श्रीपूर्णभद्रसुरिर्बिशोधयामास शास्त्रमिदम् ॥ २ ॥

‘प्रत्यन्तरं न पुनरस्त्वमुना क्मेण कुशापि किञ्चन जगत्पि’—निश्चयो मे ।

किन्त्वाषस्तकविपदाक्षतबीजमुष्टिः सिक्ता मया मतिजलेन जगाम वृद्धिम् ॥ ३ ॥

शरवाणतरणिवे [१२५५ वै०] रविकरवदिकाल्युने तुतीयायाम् ।

जीर्णोद्धार इवासौ प्रविष्टिनोऽतिष्ठितो विदुषैः ॥ ४ ॥

बडे ही हर्ष का विषय है कि—

गुणग्राही विद्वानों ने तथा छात्रों ने हमारे इस पञ्चतन्त्र को इतना अधिक प्रसन्न किया कि पहिला संस्करण हाथों हाथ बिक गया। और हमें थोड़े ही समय में इसका द्वितीय संस्करण करना पड़ रहा है। इस प्रकार विद्वानों द्वारा प्रोत्साहित हो हम पूर्वपेक्षया इसको और भी आकर्षक रूप में निकाल रहे हैं, तथा प्रथम संस्करण की अपेक्षा द्वितीय संस्करण में टीका बहुत बढ़ा दी गई है और बहुत से अवशिष्ट असंलग्न पाठों को इस द्वितीय संस्करण में शुद्ध किया गया है। अतः पूर्वपेक्षया यह द्वितीय संस्करण और भी अधिक उपादेय हो गया है। आशा है— छात्रवर्ग अधिकाधिक इससे लाभ उठाएगा।

श्रीराजस्थान-संस्कृत-कालेज,
मीरघाट, काशी।
१—९—३७

निवेदक—
श्रीगुरुप्रसादशास्त्री

पञ्चतन्त्रे अपरीक्षितकारके प्रश्नः ।

१ अधोलिखितस्य गद्यस्य शुद्धहिन्दीभाषयाऽनुवादः कार्यः—

एवं संसुख्य ततः प्रधानक्षपणकमासाद्य क्षितिग्लनिहितजानुचरणो
 ‘नमोऽस्तु’ ‘बन्दे’ इत्युच्चार्य लब्धधर्मवृद्धयाशीर्वादः सुखमालिकानुग्रहलब्ध-
 ब्रतादेश उत्तरीयनिबद्धग्रन्थिः सप्रश्रयमिदमाह—‘भगवन्नद्य विहरणकिया
 समस्तमुनिसमेताऽस्मदगृहे कर्तव्या’इति । स आह—भोः आवक, धर्मशोऽपि
 किमेवं वदसि ? किं वयं ब्राह्मणसमाना यत आमन्त्रणं करोषि ? । वयं सदैव
 तत्कालपरिचयर्थ्या अमन्तो भक्तिभाजं आवकमवलोक्य तस्य गृहे गच्छामः ।
 तेन कुच्छादभ्यर्थितास्तदगृहे प्राणधारणमात्रामशनक्रियात्र कुर्म्मः । तद्
 गम्यताम् । नैवं भूयोऽपि वाच्यम् ।

२०

२ ‘ततश्चेकनौसुक्यादस्थिसञ्चयः कृतः । द्वितीयेन चर्ममासरुधिरं संयोजितम् ।
 तृतीयोऽपि यावज्जीवनं तत्र सब्रारथति तावत्सुदुद्धिना निषिद्धः ।’

इत्येतानि वाक्यानि यस्या उद्धृतानि तां कथां सरलसंस्कृतभाषामान्त्रित्य
 संक्षेपेण लिखत ।

२०

३ अधोलिखितस्य गद्यस्य संस्कृतभाषया व्याख्या कार्या—

‘माम ! किमनेन वृथानर्थप्रचालनेन ? । यतश्चौरकर्मप्रवृत्तावावाम् ।
 निघृतैश्च चौरजारैः स्थातव्यम् । अपरं—त्वदीयं गीतं न मधुरस्वरं, शङ्खशब्दा-
 नुकारं दूरादपि श्रूयते । तदत्र क्षेत्रे रक्षापुरुषाः सुसाः सन्ति । ते उत्थाय
 आवयोर्वेषं बन्धं वा करिष्यन्ति । तद् भक्षय तावदमृतमयोक्षिर्भटीः, मा
 त्वमध्यापारपरो भव’ ।

२०

४ सोमशर्मपितुः कथा संक्षेपेण संस्कृतभाषया वर्णनीया ।

२०

५ अधोलिखितवाक्यानां सरलसंस्कृतभाषया व्याख्या कार्या—

(क) महती छेशपरम्परैवा राज्यस्थिर्यतिः ।

(ख) सर्वोऽपि जनोऽश्रद्धेयमाशापिशाचिकां प्राप्य हास्यपदवीं याति ।

- (ग) कस्ते दोषः, यतः सर्वोऽपि जनो लोभेन बिडम्बितो वाध्यते ।
 (घ) यो लौल्यात्कर्म कुरुते नैवावेक्षते चोदकं स बिडम्बनामवाप्नोति ।
 (ङ) शालिहोत्रेण पुनरेतदुक्तं यदानरवसयाऽशानां वहिराहदोषः प्रशा-
 न्यति ।

२०

१९३५

पञ्चतन्त्रोऽपरीक्षितकारके प्रश्नाः

१ अधोलिखितसन्दर्भयोः शुद्धिन्दीभाषायामनुवादः कार्यः—

(क) कस्मिन्धिदधिष्ठाने मन्थरको नाम कौलिकः प्रतिवसति स । तस्य कुठारचित् पटकर्माणि कुर्वतः सर्वपटकर्मकाष्टानि भग्नानि । ततः स कुठारमादाय वने काष्टार्थं गतः । स च समुद्रनटं यावद् भ्रमन् प्रशतः, ततश्च तत्र शिशपापादपर्सेन दृष्टः । ततश्चिन्तितवान्—‘महानयं वृक्षो दृश्यते । तदनेन कर्तितेन प्रभूतानि पटकर्मोपकरणानि भविष्यन्ति ।’ इत्यवधार्य तस्योपरि कुठारमुक्तिसप्त वान् । अथ तत्र वृक्षे कश्चिद्वन्तरः समाश्रित आसीत् । अथ तेनाभिहितम्—‘भोः ! मदाश्रयोऽयं पादपः सर्वथा रक्षणीयः, यतोऽहमत्र महा सौख्येन तिष्ठामि समुद्रकलोलस्पर्शनाच्छीतवायुनाप्यायितः’ । कौलिक आह—‘भोः किमहं करोमि । दारुसामधीं विना मे कुडम्बं बुभुक्ष्या पीड्यते । तस्मादन्यत्र शीघ्रं गम्यताम् । अहमेनं कर्तव्यिभ्यामि ।’

३३

(ख) कस्मिन्धिदधिष्ठाने ब्रह्मदत्तनामा ब्राह्मणः प्रतिवसति स । स च प्रयोजन-वशाङ्गामे प्रस्थितः स्वमात्राऽभिहितः—‘यद्यत्स ! कथेमकाकी ब्रजसि ? । तदन्विष्यतां कश्चिद् द्वितीयः’ । स आह—‘अम्ब ! मा भैषीः । निरुद्रवोऽयं मार्गः, कार्यवशादेकाकी गमिष्यामि’ । अथ तस्य तं निश्चयं ज्ञात्वा समीपस्थवाप्याः सकाशात्कर्क्षमादाय मात्राभिहितः—‘वत्स ! अवश्यं यदि गन्तव्यं तदेव कर्क्षोऽपि सहायो भवतु । तदेन गृहीत्वा गच्छ ।’ सोऽपि मार्तुर्बचनादुमभ्यां पाणिभ्यां तं संगृष्ट्य कर्पूरपुटिकामध्ये निधाय पात्रमध्ये संस्थाप्य शीघ्रं प्रस्थितः । अथ गच्छन् प्रोष्मोष्मणा सन्तसः कश्चिन्मार्गस्यं वृक्षमासाध्य तत्रैव स्मृतः ।

२७

- २ देवशर्मत्राद्याण कुलकथा स्वसंस्कृतेन सङ्क्षेपतो वर्णनीया ।
शतबुद्धिसहस्रबुद्धिमत्स्यकथा स्वसंस्कृतेन संक्षेपतो वर्णनीया । २०
- ३ अथोलिखितवाक्येषु क्योश्चिद् द्वयोर्बार्क्ययोर्हिन्दीभाषया व्याख्या कर्या—
(क) विभवक्षयादपमानपरम्परया परं विषादं गतः ।
(ख) किं न पाप ! रसास्वादप्रायमेतत्सुखं परिणामे विषवद्धविष्वति ।
(ग) यद्येतदस्ति तथापि मित्रवचनमनुलङ्घनीयम् ।
- ४ अबोलिखितवाक्येषु त्रयाणां संस्कृतेन व्याख्या कार्यां— १२
(क) अवान्तरे ब्राह्मणो गृहीननिर्बापः समायातो यावत्पद्यति तावत्पुत्रशोका-
भितसा ब्राह्मणी प्रलपति
(ख) मया श्रेष्ठिमणिभद्रगृहे दृष्ट एवंवेधो व्यतिकरः ।
(ग) दैवशशात् सम्पदेते नृणां शुभाशुभम् ।
(घ) को गुणो विद्याया येन देशान्तरं गत्वा भूपतीन् परितोष्य अर्थोपार्जना-
न क्रियते ।

१९३६

अपरीक्षितकारके प्रश्ना : ।

- १ अधोलिखितसन्दर्भयोः सरलहिन्दीभाषायामनुवादः कार्यः—
(क) अथ कदाचित् तेषां गोष्ठीगतानां जालहस्तधीवराः प्रभौर्मत्स्यैव्याप्या-
दितैर्मस्तके विधृतैरस्तमनवेलायां तस्मिन् जलाशये समायाताः । ततः
सलिलाशयं दृष्ट्वा मिथः प्रोचुः—‘अहो ! बहुमत्स्योऽयं हइ दृश्यते
स्वल्पसलिलश्च । तप्रभाते अत्र आगमिष्यामः ।’ एवमुक्त्वा स्वगृहं
गताः । मस्त्याश्च विषण्णवदना मिथो मन्त्रं चकुः । ततो मण्डूकः
आह—‘भोः शतबुद्धे ! श्रुतं धीवरोक्तं भवद्धयाम् ? तद् किमप्र
युज्यते कर्तुम् ? पलायनमवष्टम्भो वा ? यत्कर्तुं युक्तं भवति तद् आदि-
श्यतामथ’ । तद् श्रुत्वा सहस्रबुद्धिः प्रहस्य प्राह—‘भो मित्र ! मा
मैषीर्यतो बचनश्रवणमात्रादेव भयं न कार्यम् । ३५
(ख) अस्त्येतत्, परं न वेत्सि त्वं गीतं केवलमुम्भादसि । तद् किं तेन स्वार्थ-
भ्रंशकेन ? । रासभ आह—‘धिक् विड्मूर्ख ! किमहं न जानामि

गीतम् ? । तत् कथं भगिनीसुत ! मामनभिं वदन्निवारयसि' ? । शृगाल
आह—‘माम ! येवं तदहं तावद्वृतेद्वारस्थितः क्षेत्रपालमबलोक-
यामि । त्वं पुनः स्वेच्छया गीतं कुरु’ । तथा अनुष्ठिते रासभरटनमा-
कर्णये क्षेत्रपः कोधादन्तान् धर्षयन् प्रधावितः । यावद्रासभो दृष्टस्ताव-
ल्लगुडप्रहारैस्तथा हतो यथा प्रताङ्गितो भृपृष्ठे पतितः । ततश्च सच्छि-
द्रोल्द्रवलं गले बद्धवा क्षेत्रपालः प्रसुपः । रासभोऽपि स्वजातिस्वभावा-
द्रतवेदनः क्षणेन अभ्युत्थितः ।

३५

‘वरं बुद्धिर्न सा विद्या विद्याया बुद्धिरुच्चमा ।

बुद्धिर्हीना विनश्यन्ति यथा ते मिष्ठकारकाः’ ।

अमुं इलोकमुद्दिश्यैका कथा स्वसंस्कृतेन वर्णनीया ।

१८

अधोलिखितवाक्येषु त्रयाणां स्वसंस्कृतेन व्याख्या कार्या—

(क) ते च दारिद्र्योपहताः परस्परं मन्त्रं चक्रः ।

(ख) तत्स्थानं खनित्वा निधिं गृहीत्वा व्यापुष्ट्यताम् ।

(घ) यदा त्वमिव कश्चित् धृतसिद्धवर्तिरेवमागत्य त्वामालापयिष्यति तदा
तस्य मस्तके चटिष्यति ।

(ग) वयं सर्वविद्यापारे गताः, तदुपाध्यायमुत्कलापयित्वा स्वदेशे गच्छामः । २

१९३७

अपरीक्षितकारके प्रकाशः

निम्नाङ्कितगद्यमागयोः सरलहिन्दीमायामनुवादः कार्ये:—

(क) अथ स समाचोक्य प्रहृष्टमना यथासञ्जकाप्रदण्डेन तं शिरसि अता-
डयत् । सोपि सुवर्णमयो भूत्वा तत्क्षणादभूमौ निपतितः । अथ तं
स श्रेष्ठी निभृतं स्वगृहमध्ये कृत्वा नापितं सन्तोष्य प्रोक्ताच, ‘तदेतद्धनं
वस्ताणि च मया दत्तानि गृहण, भद्र ! पुनः कस्यन्निजाख्येयो
वृत्तान्तः ।’ नापितोऽपि स्वगृहे गत्वा व्यचिन्तयत्, नूनेमेते सर्वेषि
नशनकाः शिरसि दण्डहताः काङ्गनमया भवन्ति । तदहमपि प्रातः
प्रभूतानाहूय लगुडः शिरसि हन्ति, येन प्रभूतं हाटकं मे भवति । ३४

(ख) अथ तत्र वृक्षे कश्चिद्बन्तरं समाश्रित आसीत् । अथ तेन अभिहितं भो ! मदाश्रयोऽयं पादपः, सर्वथा रक्षणीयः । यतोऽहमत्र महासौख्येन तिष्ठामि समुद्रकलोलस्पर्शनात् शीतवायुना आप्यायितः । कौलिक आह—भोः ! किमहं करोमि, दारुसामग्रीं विना मे कुटुम्बं बुभुक्ष्या पीड्यते । तस्मादन्यत्र शीघ्रं गम्यताम् । अहमेनं कर्त्तयिष्यामि । व्यन्तर आह, भोः ! तुष्टस्तवाहम्, तत् प्रार्थ्यतामभीष्टं किञ्चित् । रक्षैनं पादपमिति ।

अपरीक्ष्य न कर्त्तव्यं कर्त्तव्यं सुपरीक्षितम् ।

पश्चाद्गच्छति सन्तापो ब्राह्मणां नकुलार्थतः ॥

इत्यमुङ्गलोकमुद्दिश्यैका कथा स्वसंस्कृतेन लेख्या ।

१०

अधोलिखितवाक्येषु त्रयाणां स्वसंस्कृतेन व्याख्या कार्या ।

१२

(क) मया श्रेष्ठिमणिभद्रगृहे दृष्ट एवंविष्वो व्यतिकरः ।

(ख) अत्रान्तरे ब्राह्मणो गृहीतनिर्वापः समायातो यावत् पश्यति ।

(ग) अतोऽहं ब्रवीमि, नैकान्ते बुद्धिरपि प्रमाणम् ।

(घ) कथमहं तस्य नृपापसदस्यानृणताकृत्येनापकृत्य करिष्यामि ।

अथ तस्मिन्श्चिरयति स सुवर्णसिद्धिस्तस्यान्वेषणपरस्तत्पदपङ्ग्या यावत्किञ्चिद्दूनान्तरमागच्छति तावद्वुधिरप्लावितशरीरस्तीक्ष्णचक्रेण मस्तके भ्रमता सबेदनः कणन् उपविष्टस्तिष्ठति ।

सन्दर्भ एष सरलसंस्कृतेन व्याख्यातः ।

१०

१९३१

मध्यमपरीक्षा प्रथमखण्डे पञ्चतन्त्रस्य प्रथमतन्त्रे प्रश्नाः ।

अधोलिखितं गच्छ शुद्धहिन्दीभाषयाऽनूदताम्— १५

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने एकः कुम्भकारः प्रतिवसति स । स कदाचित्प्रमादादर्ढभग्नषट्कर्परतीक्षणाग्रस्थोपरि महता वेगेन धावन् पतितः । ततः कर्परकोट्या पाटितललाटो रुधिरप्लाविततनुः कृच्छ्रदुत्थाय स्वाश्रयं गतः । ततश्चापथ्यसेवनात् स प्रहारस्तथ करालतां गतः, कृच्छ्रेण नीरोगता नीतः । अथ कदाचिद्दुर्भिक्षपीडिते देशे स कुम्भकारः क्षुक्षामकण्ठः कैश्चिद्राजेसवकैः सह देशान्तरं गत्वा कस्यापि राज्ञः सेवको वभूव । सोऽपि राजा तस्य ललाटे विकरालं प्रहारक्षतं दृष्ट्वा चिन्तयामास यत्-वीरः पुरुषः कथिदयम् । नूनं तेन ललाटपटे संमुखप्रहारः । अतस्तं संमानादिभिः सर्वेषां राजपुत्राणां पश्यतां विशेषप्रसादेन पश्यति स । तेऽपि राजपुत्राः तस्य तं प्रसादातिरेकं पश्यन्तः परमीर्ष्यधर्मं वहन्तो राजभयान्न किञ्चिद्दूचुः ।

अथान्यसिद्धहनि तस्य भूपतेः वारसम्माननायां क्रियमाणायां विग्रहे समुपस्थिते प्रकल्प्यमानेषु गजेषु सञ्चाहमानेषु वाजिषु योषेषु प्रगुणीक्रियमाणेषु तेन भूमुजा स कुम्भकारः प्रस्तावानुगतं पृष्ठो निर्जने ।

उपेक्षितः क्षीणबलोपि शत्रुः प्रमाददोषात्पुरुषैर्मदान्धैः ।

साध्योपि भूत्वा प्रथमं ततोऽसावसाध्यतां व्याखिरिव प्रयाति ॥

अस्य पथस्य सरलहिन्दीभाषायां भावार्थो क्लेख्यः । ५
पञ्चतन्त्रीयप्रथमतन्त्रान्तर्गता कापि कथा स्वसंस्कृतभाषायां लिख्यताम् ।

सा च पञ्चाशत्पक्षिभ्योऽधिका न भवेत् । १०

सन्तसायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न जायते

मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते ।

स्वातौ सागरम्भुक्तिसम्पुटगतं तज्जायते मौक्तिकं

प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणः संवासतो जायते ॥

अस्य पथस्य सरसंस्कृतभाषया व्याख्या क्रियताम् । ५

* श्रीगणेशाय नमः *

❖ पञ्चतन्त्रम् ❖

श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिविरचितया—
अभिनवराजलक्ष्मीदीकृत्या विराजितम् ।

❖ अथ कथामुखम् ❖

वत्त्वा रुद्रः कुमारो हरिवर्णयमा वह्निरिन्द्रः कुबेर-
शन्द्रादित्यौ सरस्वत्युदधियुग्मगा वायुरुर्वा भुजङ्गाः ।
सिद्धा नद्योऽधिनौ श्रीर्दितिरदितिसुता मातरश्चण्डकाद्या
वेदास्तीर्थानि यज्ञा गणवसुमुनयः पान्तु नित्यं ग्रहाश्च ॥ १ ॥

श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिविरचिता—

❖ अभिनव-राजलक्ष्मीः ❖

वन्देनवद्यसद्यविद्योद्योतितदिङ्गुखान् ।
मरुमण्डलमार्त्तण्डस्नेहिरामाभिधान् गुरुन् ॥ १ ॥

कथायाः—मुख्यं=प्रारम्भः । भूमिकेति यावत् । ‘मुखमुण्डे प्रारम्भे श्रेष्ठे निस्सरणा-स्थयो’रिति हैमः ।

बह्येति । कुमारः=स्कन्दः । हरिः=विष्णुः । सरम्बती=शारदा । समुद्राक्षत्वारः
मागराः । मुगाः=सत्य-त्रेता-द्वापर-कालयुगाः । उर्वा=पृथ्वी । भुजङ्गाः=सर्पाः । नदः=गङ्गाद्याः । दितिः=देत्यमाता । अदितिसुताः=देवाः । मातरः=चण्डकाद्याः । श्राही माहेश्वरी
चैव कौमारी वैष्णवी तथा । वाराही च तथेन्द्राणी चामुण्डा सप्त मातरः ॥ इति । गणाः=
गणचारिणो देवा-आदित्याद्याः, शिवगणाश्च । वसवः=अष्टौ वसवः । मुनयः=देवब्रह्मण-
योऽन्ये च सिद्धा मुनयः । नव ग्रहाश्च=आदित्याद्याः-संसारमस्मान्-अध्येतुपाठकांश्च ।
पान्तु=रक्षान्तु ॥ १ ॥

मनवे वाचस्पतये शुक्राय पराशराय ससुताय ।
चाणक्याय च विदुये नमोऽस्तु नयशास्त्रकृत्यः ॥ २ ॥
सकलार्थशास्त्रसारं जगति समालोक्य विष्णुशमेंद्रम् ।
तन्नैः पञ्चभिरेतत्त्वकारं सुमनोहरं शास्त्रम् ॥ ३ ॥

तत्त्वथानुश्रूयते—अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम
नगरम् । तत्र सकलाऽर्थिकल्पद्रुमः, प्रवरमुकुटमणिमरीचिमञ्जरी-
चर्चितचरणयुगलः, सकलकलापारञ्जतोऽमरशक्तिनीम राजा वभूव ।
तस्य पुत्राः परमदुर्मेधसो—वहुशक्तिरुप्रशक्तिरनन्तशक्तिश्चेति
नामानो वभूवः ।

अथ राजा नात्तास्त्रविमुखानालोक्य सचिवानाहृत्य प्रोत्ताच-
'भोः ! ज्ञातमेतद्वद्वद्विर्यन्मैते पुत्राः शास्त्रविमुखा विवेकरहिताश्र,

मनवे=राज्ये मनस्तुतिकर्त्ते । वाचस्पतये=वृहस्पतये । ससुताय=पुत्रयुताय परा-
शराय । (पराशरसुतः=व्यासः ।) चाणक्याय=कौटल्याय, एभ्यो नयशास्त्रकृत्यः=
नातिशास्त्रिणेन्द्र्यः नमः=नमोऽस्तु ॥ २ ॥

सकलेति । सकलानां=सर्वां श्रेष्ठानाम् । अर्थशास्त्राणां=नातिशास्त्राणाम् । इति—
वक्ष्यमाणं, सारं=तत्त्वं । जगति=संसारे । समालोक्य=अनुभूय । अधिगत्य च । सुमनोहरं—
वालादिमनोहारि । पञ्चत्=पञ्चतन्त्राख्यं । शास्त्रं=नातिशास्त्रं । पञ्चभिरस्तन्त्रैः=प्रकरणे । चक्रे ।
सकलनीतितत्त्वमत्र यथावदनुभूतं परम्पराप्राप्तं च बालोपकृतये—नस्पितमित्याश्रयः ॥ ३ ॥

तत्=पञ्चतन्त्राख्यं शास्त्रम् । यथानुश्रूयते=यथा प्रारम्भते, प्रचलात च गुरुपरम्परया ।
'तथोपदिशाम' इति शेषः । वृद्धपरम्पराऽनुश्रुतां कथां कथयाम इति भावः ।

यद्या—तत्=वक्ष्यमाणं पञ्चतन्त्रवर्णितं कथाजातं, यथा=येन प्रकारेण जगति प्रमिदं,
'तथोपदिशाम' इति शेषः । अनुश्रूयते=कर्णोकर्पिकया श्रूयते—यत्—'दाक्षिणात्ये जनपदे=—
मण्डले, माहलागोप्यं नगरमस्ता' व्यन्वयः ।

तत्र=नगरे । सकलानाम्—अर्थिनां=या नकानां कल्पद्रुम इव सकलार्थिकल्पद्रुमः—
अर्थिसार्थमनोरथानां पूरकः । प्रवगाणां=श्रेष्ठानां राजां ये मुकुटमणयः=किरणशक्तिनान्,
तेषां मराच्यः=कान्तय एव मर्जयः, त्राभिश्चर्चितं=रजितं—पूर्जितं—चरणयोर्युगलं यस्य
सः=सकलराजमान्यः । सकलानां—कलानां=विद्यानां पारञ्जतः=तत्त्वदर्शी । तस्य=
अमरशक्तिरूपते । दृष्टा मेथा—बुद्धिः—येषान्ते दुर्मेधसः । 'नियमसिद्धिजामेधयां'रित्य-
सिन्च । परमाश्र ते दुर्मेधसर्थं तिविग्रहः । अतिजडगुद्ययः ।

तात्=वीनपि पुत्रान् । मन्त्रिवान्=मन्त्रिणः । आहूय=आकाश—('बुल्बर') ।

तदेतान्पश्यतो मे महदपि राज्यं न मौख्यमावहति ।

अथवा साधिद्भुच्यते—

अजातसृतमूर्खेभ्यो मृताऽजातौ सुतौ वरम् ।

यतस्तौ स्वल्पदुःखाय यावज्जीवं जडो दहेत् ॥ ४ ॥

वरं गर्भस्त्रावो वरमृतुपु नैवाभिगमनं

वरं जातः प्रेतो वरमपि च कन्यैव जनिता ।

वरं वन्ध्या भार्या वरमपि च गर्भेषु वसति-

न चाऽविद्वाक्ष्रपदविणगुणयुक्तोऽपि तनयः ॥ ५ ॥

किन्तया क्रियते धेन्वा ? या न सूते न दुग्धदा ।

कोऽर्थः पुत्रेण जातेन ? यो न विद्वाक्ष्र भांक्तमान् ॥ ६ ॥

वरमिह वा सुतमरणं मा मूर्खत्वं कुलप्रसूनस्य ।

येन विबुधजनमध्ये जारज इव लजाते मनुजः ॥ ७ ॥

गुणिगणगणनारम्भे न पतति कठिनी ससंब्रमा यस्य ।

तनाऽन्मा यदि सुतिनी ! वद वन्ध्या कीदृशी भवति ? ॥ ८ ॥

शास्त्रविमुखाः—विद्याभ्यासपराङ्मुखाः, अत एव विवेकरहिताःशानशृन्याः । साम्य
=सुखम् । आवहति=इदाति ।

साधु=युक्तमेव । इदं=वैद्यमाणं । केनपि=विदुषा । (किंसा ने ठाक हा कहा है,)

तदेवाह—अजातेनि । अजात मृत—मूर्खेषु त्रिविधेषु पुत्रेषु—अजातो—मृतश्च पुत्रः
किञ्चित्-श्रेष्ठो, न मूर्खः, यतोऽजाते मृते च पुत्रं स्वल्पं दुःखं, मूर्खस्तु मर्वदा दहन्त—
ननस्तापयति ॥ ४ ॥ गर्भस्य साक्षः=नाशः; वरं-श्रेष्ठः, अतुकाले पुत्रार्थं भार्यायाः सविधे
प्रेतगमनं वा वरं=मनाक्ष्रेष्ठं, जातोपि तदा सदो मृतश्चेत्, मृत एव वा जातश्च—
तदपि वरं, ‘देवादृते वरः श्रेष्ठे त्रिपु लीबी मनाकृ प्रिये’इतिकोशः । यदा कन्यैव जातान
पुत्रस्तदापि वरं, यदा—भार्या=पत्नी, वन्ध्या=पुत्रादिजननाऽसमर्था, तदापि वरं । यदा—गर्भे
एव बालस्तिष्ठति, रोगादिना न बहिभंति—तदपि वरं=श्रेष्ठ, परन्तु रूप-धनादिनाभाग्य-
युक्तोऽपि मूर्खः पुत्रो न वरं=न युक्तः ॥ ५ ॥

यथा—दुग्धवत्सादिफलरहितया धेन्वा=गवा, न किमपि क्रियते, तथा—मूर्खे ग,
अविनीतेन च पुत्रेण किम् ? न किमपि फलभित्यर्थः । न सूते=न बलवद्वत्सान् जनयनं
न दुग्धदा=नैव प्रभूतं दुग्धं ददाति ॥ ६ ॥

वरमिति । सुतरयःपुत्रस्य मरणमिह लोके—वरं=मनाकृ प्रियं, न तु सत्कुलप्रमृतं
स्थापि पुत्रस्य मूर्खत्वं, येन=मूर्खत्वेन, विबुधजनमध्ये=परिषट्तसमाजे, जारज इव=व्याधे-
जारजनित इव—पुमान् लज्जते=जिहेति । ‘आरस्तूपपतिः समौ’ इत्यमरः ॥ ७ ॥

गुणीति । गुणिनां गणाः तेषां गणना तस्या आरम्भे=विद्वन्नगणनावसरे । कठिना
=खटिका [‘खडिया’] । यस्य—नामन्युचरिते सूते वैति शेषः, समभ्रमा=सत्त्वरा ।

तदेतेपां यथा वुद्धिप्रकाशो भवति तथा कोऽप्युपायोऽनुष्ठीयताम् ।
अत्र च महत्तां वृत्तिं भुजानानां पण्डितानां पञ्चशतीं तिष्ठति ।
नतो यथा मम मनोरथाः सिद्धिं यान्ति तथानुष्ठीयताम्’—इति ।

तत्रैकः प्रोवाच—‘देव ! द्वादशभिर्वैर्व्याकरणं श्रयते, ततो
धर्मशास्त्राणि भन्वादीनि, अर्थशास्त्राणि—चाणक्यादीनि, काम-
शास्त्राणि भन्वादीनि । एवं च ततो धर्मार्थकामशास्त्राणि ज्ञायन्ते,
ततः प्रतिवोधनं भवति ।

अथ तन्मध्यतः सुमतिर्नाम सचिवः प्राह—‘अशाश्वतोऽयं
जीवितव्यविषयः, प्रभूतकालज्ञेयानि शब्दशास्त्राणि, तत्सङ्क्षेपमात्रं
शास्त्रं किञ्चिदेतेपां प्रवाधनार्थं चिन्त्यताम्’मिति । उक्तच्च यतः—

अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रं स्वल्पं तथायुर्बहवश्च विज्ञाः ।

सारन्ततो ग्राह्यमपास्य फलु हंसैर्यथा क्षरिमिवाऽनुमध्यान् ॥ ९ ॥

न पतिति=लेखनपटे न प्रचलति । तेन=पुत्रेण । यदि,—तस्य अस्मा । सुतिनो=पुत्रवतीति
नप्यते, तर्हि वन्ध्या कांटुशी भवति ? इति वद=कथय । मूर्खजननी वन्ध्यवेत्याशयः॥८॥

तत्=तस्मात् । पतेषां=मत्पुत्राणां । वुद्धिप्रकाशः=वुद्धिवर्धनम् । अत्र=मर्तीय-
राजथान्यां, वृत्तिं=जाविकाम् । वर्षाश्यन्तं भुजानानां=उपभुजानानाम् । मम मनोरथाः=
‘मत्पुत्राः पठन्ति’ति ममाभिलापः । सिद्धिं=साफल्यम् ।

तत्र=मन्त्रिपु । एकः=कथन मन्त्रा । देव ! =राजन् । व्याकरणं श्रूयते=व्याकरण-
शास्त्रं श्रृयते—गुरुः श्रोतुं शक्यते । पठते इति यावत । ‘व्याकरणशास्त्रमध्येतुं शक्यते
इति श्रूयते’इत्यर्थो वा । तनः=व्याकरणाध्ययनानन्तरं । धर्मशास्त्रादीनि—‘श्रूयन्ते’ इति शेषः,
पठन्ते इति तदर्थः । ततः=श्रवणानन्तरं । ज्ञायन्ते=तत्त्वतो ज्ञायन्ते । शास्त्राणि गुरोरधीत्य-
लोके व्यवहरन्ते शास्त्रतत्त्वं ज्ञातुं शक्नोति, न पठनमाचेणितमावः । ततः=व्यवहारादि-
ना शास्त्रतत्त्वानेन । प्रतिवोधनं=वुद्धिवैश्यं । भवति=जायते । एवत्थेत्रं ‘भूयान्
कालोऽपेक्षयते शास्त्रतत्त्वज्ञाने,—इमे च प्रहृष्टवयसो राजपुत्राः सज्जाता इति कथमेतेषां
वुद्धिप्रकाशः शक्यते कर्तुम्—इत्याशयः ।

* अथ=एतद्वाक्यश्रवणानन्तरम् । तन्मध्यतः=मन्त्रिगणमध्यतः । सचिवः=मन्त्री ।
अशाश्वतः=क्षणभङ्गः । जीवितव्यविषयः=जीवनकालः । प्रभूतेन=भूयसा । कालेन=समयेन ।
शेषानि=ज्ञातुं शक्यानि । शब्दशास्त्राणि=व्याकरणादिशास्त्राणि । संक्षेपमात्रं=संक्षिप्तमेव ।
पतेषां=राजपुत्राणां । चिन्त्यताम्=अनुसन्धीयताम् ।

शब्दशास्त्रं=व्याकरणादि । अनन्तं पारं यस्य तत् अनन्तपारम्=अतिगहनमनन्तश्च ।
स्वल्पम्=परिमितच । आयुः=जीवितकालः । तत्रापि परिमितेऽप्यायुषि । बहवो विज्ञा-

तदत्रास्ति विष्णुशर्मा नाम ब्राह्मणः सकलशास्त्रपारङ्गमश्छात्र-
संसदि लब्धधर्मीति:, तस्मै समर्पयतु एतान् । भ नूनं द्राक्षप्रबुद्धा-
न्करिष्यति’—इति ।

स राजा तदाकर्ण्य विष्णुशर्माणमाहूय प्रोवाच—‘भो भगवन् !
मदनुग्रहार्थमेतानर्थशास्त्रं प्रति द्राघ्यथाऽनन्यसदृशान्विदधासि तथा
कुरु, तदाऽहं त्वां शासनशतेन योजयिष्यामि ।’

अथ विष्णुशर्मा तं गजानमूचे—‘देव ! श्रयतां मे तथ्यवचनं,
नाहं विश्वाविक्रियं शासनशतेनापि करोमि, पुनरेतांस्तव पुत्रान्मास-
पट्केन यदि नीतिशास्त्रज्ञानं करोमि, ततः स्वनामत्यागं करोमि ।

किं वहुना ! श्रयतां ममेष सिंहनादः—नाहमर्थलिङ्गुर्त्रवीमि—
ममाशीतिवर्षस्य व्यावृत्तसर्वेन्द्रियार्थस्य न किञ्चिद्दर्थेन प्रयोजनम्.
त्वत्प्रार्थनासिद्धयर्थं सरस्वतीविनोदं करिष्यामि, तस्मिन्द्वयामद्वतनो
द्विवसः—‘यद्यहं पण्मासाभ्यन्तरे तव पुत्रान्नयशास्त्रं प्रत्यनन्यसदृशान्न
करिष्यामि, ततो नार्हति देवो देवमार्गं सन्दर्शयितुम्’ ।

नन्ति । ततः=तस्मात् । फल्गु=निःसारम् । अपास्य=विहाय । सार=तत्त्वं । ग्राहं, यथा
हंसैर्जलमिलते छारे—(जलं विहाय) दुर्घ-गृह्णते तद्वत् ॥ ९ ॥

छात्राणां संसद्=परिषद्, तस्यां-छात्रसंसदि=विद्यार्थिमण्डले । द्राक्=अटिति ।
प्रबुद्धान्=सुबोधान् । ततः=मन्त्रवाक्यम्, आकर्ण्य=श्रुत्वा । अर्थशास्त्रं प्रति=नीतिशास्त्रं,
राजशास्त्रं च । अनन्यसदृशान्=अनुपमान् । शासनशतेन=ग्रामशताधिकारेण । ग्रामशतं
तुभ्यं दास्यामीति यावत् । (सौ गांव आपको इनाम द्वापा ।) देव !=राजन् । तथ्यवचनं—
सत्यं वाक्यम् । पुनः=किन्तु । मासपट्केन=षड्क्षमासैरेव ।

स्वनामत्यागं=यशः पाणिष्ठ्यगर्वस्य, स्वनामस्त्र त्यागम् । एष=वक्ष्यमाणः, क्रिय-
माणश्च । सिंहनादः=सिंहगर्जितमिव वादिगजेन्द्रवारणं सुस्पष्टं गर्भारं वाक्यम् । श्रयतां=
भवताऽकर्ण्यताम् । स्ववाक्ये विश्वासार्थं स्वरिमन्नासत्वं सूचयति—नाहमिति । कुन
प्रतदत आह-ममेति । व्यावृत्ताः सर्वे इन्द्रियाणामर्थां यस्मात् तस्य व्यावृत्तसर्वेन्द्रि-
यार्थस्य=विषयपराङ्गमुखरय । अर्थेन=धनादिना । त्वत्प्रार्थनासिद्धयर्थं=पालकस्य सतो

१ ‘अर्हति मे देवो देवमार्गं’ मित्येवं लिखितपुस्तके पाठः । तत्र—देवः=भवान् राजा,
मे=महां, देवमार्गं=यमराजराजधानीमार्गं’ सन्दर्शयितुमहंति=प्रतिक्षाभज्ञे मृत्युदण्डं निवा-
सनदण्डं वा दातुमर्हतीत्यर्थः । शोभनशायं पाठ इति—गौडाः ।

अथाऽसौ राजा तां ब्राह्मणस्याऽसंभाव्यां प्रतिज्ञां श्रुत्वा—समचिवः प्रहृष्टो विभ्याऽन्वितम्तस्मै सादरं तान्कुमारान्समर्थं परां निर्वृतिमाजगाम ।

विष्णुशर्मणापि—तानादाय तदर्थं मित्रभेद—मित्रप्राप्ति-काकोल्दृ-कीय-लद्धप्रणाशा-उपरीक्षितकारकाणि चेति पञ्च तन्त्राणि रचयित्वा—पाठितास्ते राजपुत्राः । तेऽपि तान्यथीत्य मासपट्टकेन यथोक्ताः संवृत्ताः । ततःप्रभृत्येतत्पञ्चतन्त्रकं नाम नीतिशास्त्रं वालाऽवद्योधनार्थं भूतले प्रवृत्तम् । किं वहुना—

अर्धांतं य इदं नित्यं नीतिशास्त्रं शृणोति च ।
न पराभवमाप्नोति शकादपि कदाचन ॥ १० ॥

॥ इति कथामुखम् ॥

अथ पञ्चतन्त्रे मित्रभेदः ।

अथाऽतः प्रारम्भते मित्रभेदो नाम प्रथमं तन्त्रम् । यस्याय-मादिमः श्लोकः—

वर्धमानो महान्स्नेहः सिंहगोवृष्ययोर्वने ।
पिशुनेनाऽतिलुघ्वेन जग्नुकेन विनाशितः ॥ १ ॥

मवतोऽभाषसिद्धवर्थमेव । सरस्वतीविनोदं=विद्याशक्तिप्रदर्शनकौतुकमात्रं, सिंहनादोपभवाक्यमिदानामाह—यदीति । नयशास्त्रं प्रति=नीतिशास्त्रम् प्रति । अनन्यसदृशान्=अनुपमानः ; देवैः=धर्मराजः । देवमार्गं=सद्रिति । सन्दर्शयितुं=प्रदानुम् । असम्भाव्याम्=अनक्याम्, अद्भुताच्च । पगम्=अत्यन्तां निर्वृतिं=सुखं । तदर्थं=कुमारशिक्षणार्थं । तनि=पथ नन्त्राणि । यथोक्ताः=नीतिशास्त्रपारङ्गताः । संवृत्ताः=जाताः । भूतले=जगति । प्रवृत्तं=प्रनलितम् । किमिति । एततपञ्चतन्त्रकप्रशंसायां वहुनोक्तोन् किं=न किमपि फलमित्यर्थः । मडक्षिप्यैव किञ्चदामात्यर्थः । शक्रात=इन्द्रान् ॥ १० ॥ ॥ इति कथामुखम् ॥
मित्रयोमित्राणां भेदः—मित्रभेदः । उपचाराह प्रकरणे प्रयोगः । सिंहश्च गोवृषश्च—सिंहगोवृषो, तयोः । गोवृषः—श्रेष्ठो वलीवर्दः । पिशुनेन=सूचकेन, खलेन च ।

१ पञ्च तन्त्राणि यस्मिन् प्रकरणे तत् पञ्चतन्त्र(क)म् ।

तद्यथानुश्रूयते—अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम
नगरम् । तत्र धर्मोपाजितभूरिविभवो वर्धमानको नाम वणिकपुत्रो
वभूव तस्य कदाचिद्ग्रात्रौ शश्यारूढस्य चिन्ता समुत्पन्ना यन्—
‘प्रभूतेऽपि वित्तेऽप्योपायाश्रित्वान्तनीयाः, कर्तव्याश्रेति । यत उक्तच्च-

न हि तद्विद्यते किञ्चिद्यदर्थेन न सिद्धयनि ।

यत्नेन मनिमांस्तस्मादर्थमेकं प्रसाधयेत् ॥ २ ॥

यस्याऽर्थास्तस्य मित्राणि, यस्याऽर्थास्तस्य बान्धवाः ।

यस्यार्थाः स पुर्मङ्गलोके, यस्याऽर्थाः स च पण्डितः ॥ ३ ॥

न सा विद्या न तदानं न तच्छिलं न सा कला ।

न तस्यैर्य हि धनिनां याचकैर्यज्ञं गीयते ॥ ४ ॥

इह लोके हि धनिनां परोऽपि सुजनायते ।

स्वजनोऽपि दरिद्राणां सर्वदा दुर्जनायते ॥ ५ ॥

अर्थेऽप्योऽपि प्रवृद्धेभ्यः संवृत्तेभ्यस्तस्तस्तः ।

प्रवर्तन्ते क्रियाः सर्वाः पर्वतेभ्य इवाऽपगाः ॥ ६ ॥

पूजयते यद्वृद्योऽपि, यद्गम्योऽपि गम्यते ।

वन्यते यद्वन्योऽपि, स प्रभावो धनस्य च ॥ ७ ॥

अशनादिन्द्रियाणीव स्युः कार्याण्यखिलान्यपि ।

एतस्मात्कारणाद्वितं सर्वेसाधनमुच्यते ॥ ८ ॥

अर्थार्थीं जीवलोकोऽयं इमशानमपि सेवते ।

त्यवत्वा जनयितारं स्वं निःस्वं गच्छति दूरतः ॥ ९ ॥

गतवयसामपि पुंसां येषामर्था भवन्ति ते तरुणाः ।

अर्थेन तु ये हीना वृद्धास्ते यौवनेऽपि स्युः ॥ १० ॥

जम्बुकेन=धृगालेन (गांदड, सियार) ॥ १ ॥ धर्मोपाजितो भूरि विभवो येनासीं—
धर्मोपाजितभूरिविभवः=सदुपायलब्धधनराशिः । वणिकपुत्रः=वैदेयः । शश्यारूढस्य=—
पर्यङ्गविश्वानातस्य । चिन्तामेवाह—यदिति । (यत्=‘किं’) प्रभूते=प्रत्तुरे । अर्थापाशाः=—
धनार्जनोपायाः । एकं=केवलं । प्रसाधयेत्=उपाजयेत् । स्थैर्यं=गाम्भीर्यादिकम् । (सुजन
इवान्वरति—) सुजनायते=आत्मीयभावस्वलभ्यते । दुर्जनायते=क्लेशप्रदो भवति ।

प्रवृद्धेभ्यः=वाणिजयादिना सञ्चितेभ्यः । संवृत्तेभ्यः=तत्त्वमसु सम्बन्धिनियुक्तेभ्यः ।
यदा—नतस्ततः । संवृत्तेभ्यः=नानोपायैरूपलघ्वेभ्यः । अतपव—प्रवृद्धेभ्यः=वृद्धि प्राप्तेभ्य
इत्यर्थः । गौडास्तु—ततः संवृत्तेभ्यः=नानामार्गैर्व्यर्थमुपगच्छद्वय इत्यर्थमाहुः । आपगा:=नवः ।
अशनात=भोजनात् । अर्थार्थी=धनमभिवाङ्ग्न् । जीवलोकः=प्राणिसङ्गः । निःस्वं=निर्धनं ।
जनयितारं=पितरमपि । गतवयसां=वृद्धानाश् । दरिद्रास्तु यौवनेऽपि वृद्धाः स्युरित्यन्वयः १०

स चार्षः पुरुषाणां पञ्चरूपायैभेवति—भिक्षया, नृपसेवया, कृषिकर्मणा, विद्योपार्जनेन, व्यवहारेण, वणिकर्मणा वा । सर्वेषामपि तेषां वाणिज्येनाऽतिरस्कृतोऽर्थलाभः स्यात् । उक्तच्च यतः—

कृतो भिक्षानेकैर्वितरति नृपो नोचितमहो !

कृषिः क्लिष्टा, विद्या गुरुविनयवृत्त्याऽतिविपमा ।

कुसीदाहारिण्यं परकरगतप्रनिधशमना-

ज्ञ मन्ये वाणिज्यात्किमपि परमं वर्तनमिह ॥ ११ ॥

उपायानाद्वा सर्वेषामुपायः पण्यसङ्ग्रहः ।

धनार्थं शस्यते ह्येकस्तदन्यः संशयात्मकः ॥ १२ ॥

तच्च वाणिज्यं सप्तविधमर्थागमाय स्यात् । तत्रथा—

(१) गान्धिकव्यवहारः (२) निक्षेपप्रवेशः (३) गौष्ठिककमं (४) परिचितप्राहकागमः (५) मिश्याक्रयकथनं, (६) कूटनुलामानम्, (७) देशान्तराद्वाण्डाण्डानयनच्चेति । उक्तच्च—

व्यवहारः=कुसीदार्थं धनादिदानम् । वणिकर्मणा=देशान्तरादितो वस्तुन्यादाय देशा नन्तरे विक्रयादिना । तेषाम्=पूर्वोक्तोपायानां मध्ये । अतिरस्कृतः=अष्टः, अनुपहतश्च ।

कृतेति । भिक्षुकाणामाधिक्रयात् यथेच्छं धनलाभो न भवतोत्यर्थः । उचितं=यथेष्टित न वितरति=न ददाति । गुरुषु विनयः, तेन या वृत्तिः=वर्तनं, तथा विषमा=कठिना । गुरुकुलवासङ्केशवहुलेति यावत् । कुसीदं=थनवृद्धिः [व्याज ‘सूद’] । परेषां करेण गतो यो ग्रन्थिः=मूलधनं, तस्य शमनं=विनाशः, तस्मात्, अन्यहस्तगतधनस्य प्रायो दुर्लभत्वादित्याशयः । वर्तनं=जीवनोपायं न मन्ये=न श्रेष्ठं मन्ये ॥ पण्यानां=विक्रीम् वस्तुनां, सङ्ग्रहः=सध्यः । तदन्यः=कुसीदादिः ॥ १२ ॥

अर्थागमाय=धनलाभाय । गन्धः पण्यमस्य-गान्धिकः, तस्य व्यवहारः=व्यवसायः, धातु-रसैषधसुगन्धद्रव्यादिविक्रय इति यावत् । निक्षेपप्रवेशः=कुसीदादिलोभेन परैरेत्तानां धनानां स्वनिकटे स्थापनं, [‘धोरोहर रखना’] ‘दूसरेके रुपए जमा करना’ ‘आभूषण आदि रखकर रुपए ऋण देना’ आदि । गोष्ठे नियुक्तो गौष्ठिकः, तस्य कर्म । राजमाण्डागाराधिकारादिना- [‘भण्डारी’ ‘मोदी’ ‘बोहरा’] गवाध्यक्षतया वा धनागमः । परिचितानां=चिरविधस्तानां । प्राहकाणी=केतनाम् । =आगमः=निरन्तरं समागमः [“नामी बनिया”] । मिश्याक्रयकथनं=अल्पमूल्यस्यरक्षादेस्मिथैव महार्थत्वल्यापनं, विक्रयश्च । केचित्तु मिश्यैव क्रयार्थं प्राहकपोत्सा हनं, ‘क्रयणीयमिदं शीघ्रं महर्घं भविष्यतीत्याहुः । (“शीघ्र खरीद ले, यह महँगा हो जायगा”) ।

? ‘हता भिक्षा ध्वाङ्क्षेपिच्छिलति नृपाणामपि मनः’ इति लिखिते पाठान्तरम् । तत्र-ध्वाङ्क्षाः=भिक्षुकाः । ‘ध्वाङ्क्षः काके वकेऽधिनि’ इति हैमात् ।

पण्यानां गान्धिकं पण्यं, किमन्यैः काञ्चनादिभिः ।
 यत्रैकेन च यत्रीनं तच्छतेन प्रदीयते ॥ १३ ॥
 निक्षेपे पतिते हर्ष्ये श्रेष्ठा स्तौति स्वदेवताम् ।
 निक्षेपी त्रियते, -तुर्भ्यं प्रदास्याम्युपश्चाचितम् ॥ १४ ॥
 गौष्ठिककर्मनियुक्तः श्रेष्ठी चिन्तयति चेतसा हृष्टः ।
 वसुधा वसुसंपूर्णा मयाऽद्य लब्धा, किमन्येन ॥ १५ ॥
 परिचितमागच्छन्तं ग्राहकमुत्कण्ठ्या विलोक्याऽसौ ।
 हृष्ट्यति तद्वन्नलुभ्यो यद्वत्पुत्रेण जातेन ॥ १६ ॥
 अन्यच्च—पूर्णाऽपूर्णैर्मानैः परिचितजनवच्छन्तं, तथा नित्यम् ।
 मिथ्याकथस्य कथनं, प्रकृतिरिय स्यान्किराटानाम् ॥ १७ ॥

सप्तविधमधोपायं पृथक्पृथक्स्तोति—पण्यानामिति । कृटं=कपटघटितं । तुलामान तुलामानसाधनादिकं । मानं=‘वाट’ ‘वटखरा’ इति लोके । [‘हण्डो मारना’ ‘पासग ‘कम वटखरा रखना’] । देशान्तरात्=द्वापान्तरादितः, भाण्डानयनं=विक्रयद्वय ग नयनम् । (बाहर में माल लाना, मंगाना) । पण्यानां=विक्रयद्रव्याणां मध्ये, गान्धिव—लुगनिधिद्रव्यमौपदादिकथ । ‘इत्र’ आदि । पण्यं—श्रेष्ठिमिति शेषः । यत्र गान्धिकव्यवहारे, एकेन=स्पृकादिना, यत्=वस्तु, क्रांतमानीतच्च, तत् शतेन=शतरूप्यकैः प्रदोषते=‘ग्राहकेभ्य’ इति शेषः ॥ १३ ॥

निक्षेपे=बृद्धवर्थं परेनिक्षिमे धने । हर्ष्ये=स्वभवने । पतिते=आगते सति । श्रेष्ठा=धनी वणिक् (सेठ), स्वदेवतां=स्वेष्टदेवताम् । स्तौति=उपयाचते । निक्षेपी=धनस्थापकः, त्रियते (चेत्) तुर्भ्यं=देवतायै, उपश्चाचितम्=उपहारं, [भेट ‘परसद’ ‘शीरना’] ॥ १४ ॥

अघ=गौष्ठिकर्मणि नियुक्तेन मया । वसुधा=पृथिवी । वसुसम्पूर्णा=धन्यधनं पूर्णा । लब्धा=प्राप्ता । अन्येन=इतोऽन्येन, किं=न किमपि प्रयोजनं । नातोऽधिकं वाज्ञायमि सिद्धो मे हन्त ! मनोरथ इत्याशयः । (गौष्ठिककर्म—राजभण्डार की रखवालं, राजभाण्डार में अनाज इकट्ठा करना । खजाने की रक्षा, सेना आदिको रसद देना । या तहसीलदारी ।) परिचितं ग्राहकमागच्छन्तमुत्कण्ठ्या विलोक्य असौ=श्रेष्ठा, [‘सेठ’] तस्य=ग्राहकस्य धने लुभ्यः=अभिलाषावान् ॥ १५ ॥

पूर्णैश्च अपूर्णैश्च पूर्णाऽपूर्णैः=कपटघटितैः, मानैः=तुलामानसाधनादिभिः [तराजु—‘वटखरा’] परिचितजनानां=विश्वस्तश्चाहकाणां । वधनं=लुभ्यनम् । तथा=किंव ऋयरथ =मूल्यस्य, मिथ्याकथनं=मिथ्या वद्धितैर्मूल्यैः शपथश्चतैश्चाहकाणां वधनं । किराटः=वणिक् । (किराट) यथा—‘किराटोऽटति साटोपं चेलाचितकटीटतः’ इति क्षेमेन्द्रस्य कला विलासे वैद्यवर्णने ॥ १७ ॥

१ ‘पूर्णाऽपूर्णैः मानैः’ इत्यपि पाठः कचित् ।

अन्यच—द्विगुणं त्रिगुणं वित्तं भाण्डकयविचक्षणाः ।

प्राञ्जुवन्त्युद्यमालोका दूरदेशान्तरं गताः ॥ १८ ॥

—इत्येवं सम्प्रधार्य मथुरागामीनि भाण्डान्यादाय शुभायां तिथौ गुरुजनाऽनुज्ञातः सुरथाऽधिरूढः प्रस्थितः । तस्य च मङ्गलवृपभौ सज्जीवक-नन्दकनामानौ गृहोत्पन्नौ धूर्वोदारौ स्थितौ ।

नयोरेकः सज्जीवकाऽभिधानो यमुनाकच्छमवतीर्णः सन्पङ्क-पूरमासान्न कलितचरणो युगमङ्गं विधाय निपसाद । अथ तं तद-वस्थमालोक्य वर्धमानः परं विषादमगमन् । तदर्थं च म्नेहार्द्वहृदय-खिरात्रं प्रयाणभङ्गमकरोन् ।

अथ तं विषष्णमालोक्य मार्थिकैरभिहितम्—‘भोः श्रेष्ठिन् ! किमेवं वृपभस्य कृतं मिंह-व्याघ्रसमाकुलं वह्वपायेऽस्मिन्वने समस्त-सार्थमत्वया सन्देहे नियोजितः ? । उक्तच्च—

न स्वल्पस्य कृतं भूरि नाशयेन्मतिमाच्चरः ।

एतदेवाऽत्र पाणिडत्यं यत्स्वल्पाहृरिक्षणम्’ ॥ १९ ॥

अथाऽसौ तदवधार्य सज्जीवकस्य रक्षापुरुषान्निरूप्याऽशेषसार्थं नीत्वा प्रस्थितः । अथ रक्षापुरुषा अपि वह्वपायं तद्वनं विदित्वा

भाण्डानां=विक्रेयद्रव्याणां । क्रये=सङ्क्रमेत् । विचक्षणाः=कुशलाः । लोकाः=विणगजनाः, श्रेष्ठिनः । देशान्तरं गत्वा मूल्यादिपि द्विगुणं चतुर्युणं वा धनं प्रानुवन्तीत्यर्थः ।

दत्येवम्=दथं विचार्य, देशान्तराङ्गाणानयस्य सर्वथा श्रेष्ठतां सम्प्रधार्य=निश्चित्य ।

मथुरागामीनि=मथुरापुर्या विक्रेयाणि, तदुचितानीति यावत् । भाण्डानि=पण्यानि ।

‘भाण्डं क्षीवममत्रैऽश्वभूषणं तथा । वर्णिण्डमूलधनेऽन्ये तु पण्ये केचिदुपस्करे ॥’ इति वेदायः । धूर्वोदारौ=वलिष्ठी बलांवदां । रित्यती=आस्ताम् । यमुनाकच्छः=कालिन्दातीर-प्रदेशः । ‘कन्छो जलाशयप्रान्ते पाश्वे’ इति केशवः । पङ्कपूरं=कर्दमकदम्बम् । [‘दलदल’] । कलिन्दचरणः=खण्डत चरणः । युगरथ=स्वरक्त्यावसक्तरथाग्रभागरथ । भङ्गः=ओटनं ।

निषमाद=भूमी पपात । वर्धमानः=तन्नामा श्रेष्ठाः । विपादं=दुःखम्, प्रयाणभङ्गं=अवस्थानम् । [‘पडाव ढालना’] । तं=श्रेष्ठिनम् । सार्थे भवाः=सार्थिकाः, तैः=सहचरै-विणगजैः । [‘सार्था’] । ‘सार्थस्वर्थवति विषु । समूहमेदे तु पुमान् प्राणिना’मिति वेशवः । वह्वपाये=नानाशङ्कातङ्कप्रदे । सन्देहे=प्राणसङ्कटे । नियोजितः=निक्षिपः ।

रवल्पात्=स्वल्पमुपेक्ष्य । ल्यच्छोपे पवर्यी ॥ १९ ॥

अन्मौ=वर्धमानः । तदु=स्वानुयायिजनोक्तम् । अवधार्य=‘युक्त’मिति निश्चित्य । रक्षा-

सज्जीवकं परित्यज्य पूष्टो गत्वा ऽन्येनुम्तं सार्थवाहं मिथ्याऽऽहुः—
‘म्बामिन् ! मृतोऽसौ सज्जीवकः । अस्माभिस्तु ‘सार्थवाहस्याऽभीष्ट’
इति मत्वा वहिना संस्कृतः’—इति ।

तच्छ्रुत्वा सार्थवाहः कृतज्ञतया स्नेहाद्रहदयस्तस्यौर्ध्वंदेहिक-
क्रिया वृपोत्सर्गादिकाः सर्वाश्रकाग ।

सज्जीवकोऽन्यायुःशेषतया यमुनामलिङ्गमिश्रैः शिशिरतरगवानै-
गाप्यायितशरीरः कथच्चिदप्युत्थाय यमुनातटमुपपेदे । तत्र मरकन-
मद्भानि वालतृणाऽग्राणि भक्षयन्कतिपत्रैरहोभिर्हरवृपम इव पीनः
ककुञ्जान्वलवांश्च संवृत्तः । प्रत्यहं वल्मीकशिवराग्राणि शृङ्गाभ्यां
विदाग्न्यन्गर्जमान आस्ते । साधु चेदमुच्यते—

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति ।

जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः कृतप्रयत्नोऽपि गृहे विनश्यति॥२०॥

अथ कदाचित्पिङ्गलको नाम सिंहः सर्वमृगपरिवृतः पिपासाकुल
उदकपानार्थं यमुनातटमवतीर्णः सज्जीवकम्य गम्भीरतररावं दूरादे-
वाऽशृणोत् । तच्छ्रुत्वाऽनीव व्याकुलहदयः मसाध्वसमाकारं प्रच्छान्व
वटतले चतुर्मण्डलावस्थानेनाऽवस्थितः । चतुर्मण्डलावस्थानं त्विदम्—
सिंहः, सिंहानुयायिनः, काकरवर्गः, किंवृत्ताश्रेति ।

अथ तस्य कटकदमनकनामानौ द्वौ शृगालौ मन्त्रि-
पुत्रौ भ्रष्टायिकारौ सदानुयायिनावास्ताम् । तौ च परस्परं मन्त्रयतः ।
तत्र दमनकोऽब्रीत्—भद्र करटक ! अयं तावदस्मत्स्वामी पिङ्गलक

प्रमुणन्=रक्षान् । ('सिंहां' 'गत्वाले') निहृष्य=स्थापयित्वा । पृष्ठतः=अनुपदमेत्र ।
(पांचे) । अन्येदः=अपरदिने (दूसरे दिन) । इति=इर्थं । सार्थवाहस्य=उपिकमंधायिपतेर्वर्ध-
मानन्य । अभीष्टः=प्रियोय वृषभः । इति=इर्थं विचार्य । संस्कृतः=दग्धः । और्ध्वंदेहिकक्रिया=—
पिण्डदानादिकाः । वृपोत्सर्गः=तःस्मरणार्थं धर्मवृपमो चनं । मरकनः=मणिभेदः ['पञ्च'] ।
ककुञ्जान्=मांसलः । वल्मीकं=तामलः । (दूह) । तस्य शिवराणां=शृङ्गाणामग्राणि=—
अद्यभागान् । सर्वे शृगाः=वन्यजन्तवः । गम्भीरतररावं=बलवदहुङ्कारध्वनिं ।
ससाध्वसं=समयम् । आकारं=निजमार्तं । चतुर्मण्डलावस्थानेन=मण्डल चतुर्ष्टारात्य-
व्यूहं निर्माय, तेनात्मानं गोपायित्वा च । सिंहः—सर्वदेशवनायिपतिः, सिंहानुया-
यिनः—राज्यतन्त्रधारा अधिकारिणः । काकरवर्गः=मध्यमश्रेणिप्रजाः । किंवृत्ताः=वनान्त-

उदकग्रहणार्थं यमुनाकच्छमवतीर्य स्थितः । स किं निमित्तं पिपासाकुलोऽपि निवृत्य व्यूहरचनां विधाय दौर्मनस्येनाभिभूतोऽत्र वटतलेस्थितः ? । करटक आह—भद्र ! किमावयोरनेन व्यापारेण ? । उक्तच्च यतः

अव्यापारेषु व्यापारं यो नरः कर्तुमिच्छति ।

स एव निधनं याति कीलोत्पाटीव वानरः ॥ २६ ॥

दमनक आह—कथमेतत् ? । सोऽब्रवीत्—

५ कीलोत्पाटिवानरकथा ।

कस्मिन्श्रित्रगराभ्याशो केनापि विणिकपुत्रेण तरुण्डमध्ये देवनास्यतनं कर्तुमारवधम् । तत्र च ये कर्मकराः स्थपत्यादयस्ते मध्याह्नवेलायामाहागर्थं नगरमध्ये गच्छन्ति । अथ कदाचिदानुषङ्गिकं वानर्यूथमितश्चेतश्च परिभ्रमदागतम् । तत्रैकस्य कस्य चिन्छलिपिनोऽर्थस्फाटितोऽजुनवृक्षदारुमयः स्तम्भः खन्दिरकीलकेन मध्यनिहितेन तिष्ठति । एतस्मिन्नन्तरे ते वानरास्तरुशिखरप्रासादशृङ्खदारुपर्यन्तेषु यथेच्छया क्रीडितुमारवधाः । एकश्च तेषां प्रत्यासन्नमृत्युश्चापलयात्तस्मिन्नर्धस्फाटितस्तम्भ उपविश्य पाणिभ्यां कीलकं संगृह्य यावदुत्पाटयितुमारेभे, तावत्स्य स्तम्भमध्यगतवृष्णम्य स्वस्थानाच्छलितकीलकेन यद्वृत्तं तत्प्रागेव निवेदितम् । अतोऽहं ब्रवीमि—‘अव्यापारेषु’—इति ।

आवयोर्भक्षितशेष आहारोऽस्त्वयंव, तस्मिन्नेन व्यापारेण ? । दमनक आह—भवानाहारार्थीकेवलमेव ? । तत्र युक्तम् । उक्तच्च—

स्थानवासिनः सीमापालाः, उत्तमाऽधममध्यमेदाग्रिविधा इति प्राचीनटिपर्णीकृतः । वृत्तनिर्देशका गुप्तचरा—देशान्तरादागता वा इति तु गौडाः । दौर्मनस्येन=विषादेन । अव्यापारेषु=स्वव्यापारसीमाबहिर्भूतेषु । व्यापारं=रक्षणेक्षणचेष्टादिकं । निधनं=मरणम् । नगराभ्याशे=नगरसक्षिक्षी । तरुण्डमध्ये=ग्रामसीमाकानने । ‘षण्डोऽस्मै वृक्षनिकरे’ इति कोशः । देवतायतनं=मन्दिरम् । स्थपत्यादयः=वर्द्धकिप्रभृतयः । (‘वर्द्धै’ ‘कारीगर’) आनुषङ्गिकं=यद्वच्छया । आगतं=प्राप्तम् । अर्धस्फाटितः=किञ्चिदिदारितः । (आधा चीरा हुआ) । अर्जुनवृक्षदारुमयः=अर्जुनाख्यतरुकाष्ठचटितः (स्तम्भः=‘धरण’ खम्भा) । एकः=कश्चिद्वानरः । यद्वृत्तं=यज्ञातं—निवेदितं=कथितमेव । भक्षितशेषः=सिंहभुत्तावशिष्टः । अनेन=‘कथमयं सिंहो भीत श्व—व्यूहं विधाय

१. इवं कथाऽप्नालत्वाक्ताविकमध्यमपरीक्षापाठ्याश्तो बहिर्भूता । २. ‘अज्ञन’०

सुहृदामुपकारकारणाद्विषयतामप्यपकारकारणात् ।

नृपसंश्रय इव्यते बुधैर्जठरं कोन विभर्ति केवलम् ॥ २२ ॥

किञ्च-यस्मिन्नीविति जीवन्ति बहवः सोऽत्र जीवतु ।

वयांसि किं न कुर्वन्ति चच्चा स्वोदरपूरणम् ? ॥ २३ ॥

तथा च-यजीव्यते क्षणमपि प्रथितं मनुष्य-

र्विज्ञानशौर्यविभवाऽर्यगुणैः समेतम् ।

तज्जाम जीवितमिह प्रवदन्ति तज्जाः,

काकोऽपि जीवन्ति चिराय बलिञ्च भुड्न्ते ॥ २४ ॥

यो नात्मना न च परेण च बन्धुवर्गे,

दीने दयां न कुरुते न च भृत्यवर्गे ।

किं तस्य जीवितफलं हि मनुष्यलोके ?

काकोऽपि जीवन्ति चिराय बलिञ्च भुड्न्ते ॥ २५ ॥

सुपूरा स्यात्कुनदिका, सुपूरो मूषिकाब्जलिः ।

सुसन्तुष्टः कापुरुषः स्वल्पकेनापि तुष्यति ॥ २६ ॥

किञ्च- किं तेन जातु जातेन मातुर्यौवनहारिणा ? ।

आरोहति न यः स्वस्य वंशस्याऽप्ये-ध्वजो यथा ॥ २७ ॥

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ? ।

जातस्तु गण्यते सोऽत्र यः स्फुरेच्च श्रियाधिकः ॥ २८ ॥

निष्ठनोत्यादिविचाररूपेण । व्यापारेण=वित्केण । आहारार्थी=औदरिकः,-भोजनमात्र-प्रयायाणोऽलसः । सुहृदामिति । मुद्रदामुपकाराय शत्रूणां नियहायैव च पण्डितैः राजसेवा क्रियते, उदरपोषणन्तु को न करोति ? ॥ उदरपोषणं सर्वैरेव क्रियते इत्याशयः ॥ २२ ॥

वयांसि=पक्षिणः । प्रथितं=सर्वात्मितशायि-यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणम् । तज्जाः=लोकव्यवहारविदः पण्डिताः । प्रवदन्ति=स्तुतवित्ति । चिराय=बहुकालम् ॥ २४ ॥

दीने=बन्धुवर्गे, दीने मर्त्यवर्गे च य आत्मना-परेण वा=परद्वारा वा । दयां न कुरुते=नापकरोति ॥ २५ ॥ कुनदिका=क्षुद्रा नदो । सुपूरा=अल्पेनैव जलेन पूरयितुं शक्या । मूषिकस्य अजलिः=मूषकेण भोजनसङ्ग्रहाय बद्दोऽजलिः । एवं कापुरुषः=अनुचमशीलः प्रमान् ,--स्वल्पेनैव सन्तुष्यतीत्यर्थः ॥ २६ ॥ जातु-निश्चये, वाक्यालङ्कारे, प्रसिद्धौ वा । वंशस्य=कुलस्य । शातिबान्धववर्गरय, वंशार्थमहीकहस्य [वंश=‘कूल’ ‘बॉस’] वा । यथा ध्वजो वंशस्याग्रभागे स्फुरति, तथा यो निजवंशस्य मुख्यो न भवति, तेन जातेन वलु मातुर्यौवनापहार एव कृतः । एव व्यर्थं तस्य जन्मेत्याशयः ॥ २७ ॥

स एव ‘जात’ इति गण्यते यःश्रिया=सर्वगुणसम्पदा स्फुरेत्=जगति प्रसिद्धयेत् ॥२८॥

किञ्च-जातस्य नदीरीते तस्यापि तृणस्य जन्मसाफल्यम् ।

यत्स्वलिलमज्जनाऽऽकुलजनहस्तालम्बनं भवति ॥ २९ ॥

तथा च-स्तिमितोऽन्तसञ्चारा जनसन्तापहारिणः ।

जायन्ते विरला लोके जलदा इव सज्जनाः ॥ ३० ॥

निरतिशयं गरिमाणं तेन जनन्याः स्मरन्ति विद्वांसः ।

यन्कमपि वर्हति गर्भं महतामपि यो गुरुभवति ॥ ३१ ॥

अप्रकटाकृतशक्तिः शकोऽपि जनस्तिरस्कियां लभते ।

निवसन्नन्दर्दर्हणि लहूया वह्निं तु ज्वलितः ॥ ३२ ॥

करटक आह-आवां तावदप्रधानौ, तत्किमावयोरनेन व्यापारेण ? । उक्तच्च—

अपृष्ठोऽग्राऽप्रधानां यो व्रते राज्ञः पुरः कुर्थीः ।

न केवलमसंमानं-लभते च विडग्वनम् ॥ ३३ ॥

तथा च-वचस्तत्र प्रयोक्तव्यं यत्रोक्तं लभते फलम् ।

स्थायी भवति चाद्यन्तं-रागः शुक्लपटे यथा ॥ ३४ ॥

दमनक आह-मा मैवं वढ-

अप्रधानः प्रधानः स्यात्सेवते यदि पार्थिवम् ।

प्रधानोऽप्यप्रधानः स्याद्यदि सेवाविवर्जितः ॥ ३५ ॥

यत उक्तच्च-

आसन्नमेव नृपतिर्भजते मनुष्यं विद्याविहीनमकुलीनमसंस्कृतं च ।

प्रायेण भूमिपतयः प्रमदा लताश्च यत्पार्थतो भवति तत्पारवेष्टयन्ति ॥ ३६ ॥

यत्=तृणं, तदपि जले निमज्जतो जनस्य आलम्बनाय प्रभवति । यस्तु पुमान् समयः सन्नपि नान्यविपत्तजनोऽपकारमा चरति तस्य वृत्तैव जन्मेति भावः ॥ २९ ॥

स्तिमितेति । सज्जनपक्षे-स्तिमितः=दयार्दः । उक्ततः=दानदाक्षिण्यादिगुणाणांपृष्ठ-हितः । सधारः=व्यवहार आचरणं च येषामिति । मेघपक्षे-स्तिमितः=जलभरमन्त्यः, उक्ततश्च-गणनप्रात्तनुम्बा च । सधारः=प्रसारो व्यापिश्च येषामित्यर्थो बोध्यः ॥ ३० ॥ यः=गर्भः । तदुहभूतो बाल इति यावत् ॥ ३१ ॥

अप्रकटितेति । शक्तोऽपि यदि अप्रकटितशक्तिश्चेत् जनैरितरस्कियते, यस्तु शक्तिमात्म-नोऽकुण्ठितां विस्तारयति स तु संमानभाजनमित्याश्रयः । अरणिकाषाढादौ हि वह्निर्निवसतांति प्रसिद्धिः ॥ ३२ ॥ केवलमसंमानं=तिरस्कारमेव न । विघ्नम्बनम्=उपहासमपि ॥ ३३ ॥

प्रयोक्तव्यं=उक्तव्यम् । फलं लभते=मफलं भवति । रागः=नोलांमांज्ञादिरागः ('रंग')। पार्थिवं=राजानतम् ॥ ३४ ॥ असंस्कृतं=दुष्टमविनीतम् । यत्=किमापि वस्तु योग्यमयोग्यं वा तदेव भजन्ति । प्रमदाः=खियः ॥ ३५ ॥

तथा च कोपप्रसादवस्तुनं य विचिन्वान्त सेवकाः ।
 आरोहन्ति शनैः पश्चाद्वन्द्वन्तमपि पार्थिवम् ॥ ३७ ॥
 विद्यावतां महेच्छानां शिल्पविक्रमशालिनाम् ।
 सेवाबृत्तिविदां चैव नाश्रयः—पार्थिवं विना ॥ ३८ ॥
 ये जात्यादिमहोत्साहाकारेन्द्राक्षोपयान्ति च ।
 तं पामामरणं भिक्षा प्रायश्चित्तं दिनमितम् ॥ ३९ ॥
 ये च प्राहुरुरात्मानां—‘दुराराध्या महीभुजः’ ।
 प्रमादाऽल्लस्य जाडयानि ख्यापितानि निजानि तैः ॥ ४० ॥
 सर्पांच्चाग्रान्गजान्सहन्पश्योपायर्वशीकृतान् ।
 ‘राजे’ति कियती मात्रा ? धीमतामप्रमादिनाम् ॥ ४१ ॥
 राजानमेव संश्रित्य विद्रान्यानि परां गतिम् ।
 विना मलयसन्ध्यश्च चन्द्रनं न प्ररोहन्ति ॥ ४२ ॥
 धवलान्यातपत्राणि, वाजिनश्च मनोरमाः ।
 सदा मत्ताश्च मातङ्गाः, प्रसन्ने सति भूपतौ ॥ ४३ ॥

करटक आह—‘अथ भवान किं कर्तुमनाः ? ।’ सोऽब्रवीन्—
 ‘अद्याऽस्मत्स्वामी पिङ्गलको भीतो, भीतपरिवारश्च वर्तते । तदेन
 गत्वा भयकारणं विज्ञाय सन्धिः-विश्रहः-याना—ऽसन-संश्रय-द्वैधी-
 भावानामेकतमेन-संविधास्ये ।’

कोपस्य=क्रोधस्य, यः प्रसादः=दूरांकरणं, तदुपयोगीनि वस्तुनि=धैर्यादिगुणान्. मःयुग-
 वासग्रासादांश्च, ये सेवकाः, शशश्च-विनिवन्ति=भजन्ते, सङ्गृहन्ति, तैपां पुरतः
 स्थापयन्ति च । ते पुष्पाः, अथसादिनश्च । अथादिपक्षे—पश्चात्=पश्चात्पदौ, (‘दुलसं
 मारना) धुन्वन्तं=प्रक्षिपन्तम् । राजपक्षे—तिरस्कुर्वन्तं च-पार्थिवं=राजानं, पर्वतं,
 (लक्षण्या) अश्वच । शनैः=कियता कालेन आरोहन्ति=अधिगोहन्ति । तानावज्यन्ति,
 अधिकुर्वते चेत्यर्थः ॥ ३७ ॥ विद्यावतां=विदृपां महेच्छानां=महोदयानां प्रौढोत्तिमभि-
 लध्यताच ॥ ३८ ॥ जात्यादिमहोत्साहात्=जात्यादिगर्वात् ॥ ३९ ॥

महीभुजः=राजानः, दुराराध्याः=आगाधयितुमशक्ताः,—इति ये दुरात्मानः=कामुखाः
 कथयन्ति । तैः स्वायोग्यतैव प्रकटीक्रियते इत्याशयः ॥ ४० ॥

व्याघ्रादयोरप्युपायैर्वैश्चाभन्ति तदा राजेति नाम—कियती मात्रा ! (“कौन वडी
 वस्तु है ”) ॥ ४१ ॥ परां=ध्रेष्ठां । गतिं=सम्मानम् ॥ ४२ ॥

आतपत्राणि=छत्राणि, वाजिनः=अश्वा । मातङ्गाः=हस्तिनः—‘लभ्यन्ते’ इति शेषः ॥ ४३ ॥
 अर्थेति प्रश्ने । (अच्छा तो) किङ्कर्तुमनाः=किङ्कर्तुमिच्छन्ति ! सन्धिः=मित्रता, विश्रहः=
 युर्द, यानम्=आकर्मणं, (‘चढाई’) आसनं=दुर्गायाश्रयणं, (‘किले बन्दी’) । संश्रयः=वलव-

करटक आह--‘अथ कथं वेत्ति भवान्--यद्युयाविष्टोऽयं स्वामी ?’।
मोऽब्रवीन्-ज्ञोयं किमत्र ? । यत उत्तं च—

उदीरितोऽर्थः पशुनापि गृह्यते हयाश्च नागाश्च वहन्ति चोदिताः ।

अनुक्तमप्युहति पण्डितो जनः परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः ॥४४॥
नथा च—आकारैरिङ्गतैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च ।

नेत्रवक्रविकारैश्च लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ ४५ ॥

तद्यैनं भयाकुलं प्राप्य स्वबुद्धिप्रभावेण निर्भयं कृत्वा वशीकृत्य
च निजां साचिव्यपद्वां समासादयिष्यामि ।

करटक आह—‘अनभिज्ञो भवान्सेवाधर्मस्य, तत्कथमेनं
वशीकरिष्यसि ?’। सोऽब्रवीन्—‘कथमहं सेवानभिज्ञः ?’। मया हि
तातोत्सङ्गे क्रीडताऽभ्यागतसाधूनां-नीतिशास्त्रं पठतां-यच्छ्रुतं सेवा-
धर्मस्य सारभूतं-हृदि स्थापितम्-श्रूयताम् । तच्चेदम्—

सुवर्णेषुपितां पृथ्वीं विचिन्वति नरास्त्रयः ।

शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥ ४६ ॥

ये सेवकाः प्रभुहिता ग्राह्यवाक्या विशेषतः ।

आश्रयेत्पार्थिवं विद्वान्स्तद्दारेणैव नाऽन्यथा ॥ ४७ ॥

यो न वेत्ति गुणान् यस्य न तं सेवेत पण्डितः ।

न हि तस्मात्कलं किञ्चित्सुकृष्टादूषरादिव ॥ ४८ ॥

त्स्वभित्राश्रयणं, द्वैधीभावः=शत्रुसेनाद्युपजापो, विरोधोत्पादनच । संविधास्ये=कार्यकरिष्ये ।

उदीरितः=कथितः, अर्थः=विषयः, गृह्यते=शायते, हयाश्च=अश्वा अपि, नागाश्च=हस्तिन्-
नोऽपि, चोदिताः=प्रेरिताः सन्तः । नोदिता इति पाठेऽपि स एवार्थः । नुद प्रेरणे । वहन्ति=नय-
न्ति । पण्डितः=अनुक्तमपि वस्तु-ऊहति=विजानाति, तर्क्यति । परस्य यदिङ्गितं=भावः,
तस्य ज्ञानमेव फलं यासान्ता बुद्धय इत्यर्थः ॥ ४४ ॥ आकारैः=मुखादिसंस्थानविशेषैः.
इङ्गितैः=भावविकारैः, चेष्टया=हस्तपादादिचालनैः, नेत्रवक्रविकारैः=मुखभङ्गी-नेत्रारुण्य-
प्रसादादिभिश्च । मनः=मनोगतं भयादिकं । लक्ष्यते=शायते ॥ ४५ ॥ तातस्य=पितुः-
उत्सङ्गे=क्रोडे (‘गोद में’) । ‘तद्यृदि स्थापित’मिति=सम्बन्धः । तच्च=सेवाधर्मतत्त्वच ।
गजस्मात् सदाऽनुसन्धेयं रहस्यभूतमुपदेशमाह=सुवर्णेति । सुवर्णमेव पुष्पाणि-सुवर्णपु-
ष्पाणि, ततिं सञ्जाताति यस्याः सा तां-सुवर्णपुष्पाम्=सुवर्णपूर्णा, विचिन्नन्ति=स्वायत्ता-
कुर्वन्ति ॥ ४६ ॥ ग्राह्यवाक्याः=आसतमाः । पार्थिवं-राजानम् । तद्दारेणैव=राजप्रिय-
जनद्वारैव । अन्यथा=स्वयमेव ॥ ४७ ॥ सुकृष्टात्=समुचितेन कषणादिना संस्कृतात् । ऊप-

? . ‘प्रिया हिताश्च ये राजाम्’ इति पाठान्तरम् ।

द्रव्यप्रकृतिहीनोऽपि सेव्यः सेव्यगुणाऽन्वितः ।
 भवत्याजीवनं तस्मात्फलं कालान्तरादपि ॥ ४९ ॥
 अपि स्थाणुवदासीनः शुद्ध्यन्परिगतः क्षुधा ।
 न त्वेवाऽनात्मसंपन्नाद्वृत्तिमीहेत पण्डितः ॥ ५० ॥
 सेवकः स्वामिनं द्वेष्टि कृपणं परह्याक्षरम् ।
 आत्मानं किं स न ह्रेष्टि । सेव्यासेव्यं न वेत्तिः यः ॥ ५१ ॥
 यमाश्रित्य न विश्रामं क्षुधार्ता यान्ति सेवकाः ।
 सोऽकर्वन्तृपतिस्त्वाज्यः सदा पुष्पफलोऽपि सन् ॥ ५२ ॥
 राजमातरि देव्याङ्गं कुमारे मुख्यमन्त्रिणि ।
 पुरोहिते प्रतीहारे सदा वर्तते राजेवत् ॥ ५३ ॥
 'जीवे'ति प्रब्रुवन्प्रोक्तः कृत्याऽकृत्यविचक्षणः ।
 करोति निविकल्पं यः स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५४ ॥
 अन्तःपुरचरैः सार्धं यो न मन्त्रं समाचरेत् ।
 न कलत्रैन्वरेन्द्रस्य स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५५ ॥
 प्रभुप्रसादजं वितं सत्पौत्रे यो नियोजयेत् ।
 वज्ञायङ्गं दधात्यङ्गे स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५६ ॥
 यतं यो यमदूताभं, हालां हालाहलोपमाभ् ।
 पश्येद्वारान्वृथाकारान्स्य भवेद्राजवल्लभः ॥ ५७ ॥

गत्=सस्योत्पत्ययोग्यक्षारबहुलभूमेरिव । ('ऊपर भूमि की तरह') । फलं=सस्यादिकं धनं च । न=नैव भवति ॥४८॥ द्रव्यस्य प्रकृतिः=प्रवृद्धिः । तथा हीनोऽपि=अल्प-घनोपि । सेव्यगुणैः=आदार्यादिभिः । अन्वितः=युक्तः । आजीवनं=जीविकात्मकं फलं । कालान्तरादपि=कालान्तरेऽपि । तस्मात्=राजादेसेवति ॥ ४९ ॥

क्षुधा=अज्ञजलदुभुक्षादिना । परिगतः=व्याप्तिः । स्थाणुवदः=निष्पत्रवृक्षवत् । शुष्येत्=दृग्वमनुभवेत् । अनात्मसंपन्नात्=युक्तायुक्तविवेकरहितात्-राजः । वृत्तिं=जीविकाम् । न ईहेत्=न वाच्छ्रेत् ॥ ५० ॥ यः सेवको दुष्टं स्वामिनं निन्दति स सेव्यविवेकशून्यं स्वामानंमेव कुतो न निन्दति ? ॥ ५१ ॥ अर्कवत्=अर्कवृक्षवत् । ('मदार' 'आक') ॥ ५२ ॥ देवा=राजमहिनी । कुमारे=राजपुत्रे, प्रतीहारे=राजक्षणपुरुषाव्यक्षे, द्वारपाले च ॥ ५३ ॥

राजानुरागसिद्धयुपायमाह-जीवेत्यादि । प्रोक्तः=कार्येनियुक्तः । जीवेति=चिरंजीवेति नृवन् । निविकल्पं=निःसंशयं यः कृत्यं करोति स राजप्रियो भवति । चूतं यमदूताभं पठयेत् । हालां=सुरां, हालाहलोपमां विषोपमां पश्येत् । दारान्=राजप्रमदाः । वृथाकारान्=चित्रलिखितपुत्तलिकावत् पश्येत् स राजप्रियो भवति ॥ ५७ ॥

१ 'स्वामिनं द्वेष्टि सेवकाधम इत्यसौ'-इति पाठान्तरम् । २ 'कर्तव्यं राजवत्सदा'
 ३ 'सुप्राप्तं यो निवेदयेत्' पा० । ४ 'यथाकारान्' ।

युद्धकालेऽप्रगो यः स्यात्सदा पृष्ठाऽनुगः पुरे ।
 प्रभोद्वाराश्रितो हम्ये स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५८ ॥
 ‘सम्मतोऽहं विभोर्नित्य’ मिति मत्वा व्येतिक्रमेत् ।
 कृच्छ्रेष्ठपि न मर्यादां स भवेद्राजवल्लभः ॥ ५९ ॥
 द्वेषिद्वेषपरो नित्यमिटानामिष्टकर्मकृत् ।
 यो नरो नरनाथस्य स भवेद्राजवल्लभः ॥ ६० ॥
 प्रोक्तः प्रत्युत्तरं नाऽह विरुद्धं प्रभुणा च यः ।
 न समापे हसत्युच्चैः स भवेद्राजवल्लभः ॥ ६१ ॥
 यो रणं शरणं यद्वन्मन्यते भयवर्जितः ।
 प्रवासं स्वपुराऽस्वासं स भवेद्राजवल्लभः ॥ ६२ ॥
 न कुर्याद्वरनाथस्य योषिद्धिः सह सङ्गतिम् ।
 न निन्दां न विवादं च स भवेद्राजवल्लभः ॥ ६३ ॥

करटक आह—‘अथ भवांस्तत्र गत्वा किन्तावत्प्रथमं वक्ष्यति ?,
 तत्तावदुच्यताम्।’ दमनक आह—

‘उत्तरादुसरं वाक्यं वेदतां सम्प्रजायते ।
 सुवृष्टिगुणसम्पन्नाद्वीजाद्वीजमिवाऽपरम् ॥ ६४ ॥
 अपायसन्दर्शनजां विपत्तिमुपायसन्दर्शनजां च सिद्धिम् ।
 मेधाविनो नीतिविदौः प्रशुक्तां पुरः स्फुरन्तीमिव वर्णयन्ति ॥ ६५ ॥

अयगः=अग्रणीः । पुरे=नगरे । हम्ये=राजगुडे । द्वाराश्रितः=सर्वदा सञ्चिहितः । ७८ ॥
 कृच्छ्रेष्ठपि=आपत्कालेष्ठपि यो मर्यादां=राजादिसन्मानमर्यादां, नियमध्य न व्यति-
 क्रमेत्=उल्लंघयेत्, स राजवल्लभो भवति ॥ ५९ ॥
 राशो=द्वेषिषु=शत्रुषु, द्वेषपरः । राशः=इष्टानां=मित्राणाम् । इष्टकर्मकृत्=प्रियकृत् राज-
 वल्लभः ॥ ६० ॥ प्रभुणा विरुद्धम्=अनुचितम्-उक्तोपि यः प्रत्युत्तरं नाह=न ब्रृते स राजवल्लभो
 भवति ॥ ६१ ॥ यो निर्मयः पुमान्-रणं=युद्धं, शरणं=गृहमिव मन्यते । प्रवासं=दूराभ्य
 यात्राच्च, स्वपुरनिवासमिव-मन्यते स राजप्रियो भवति ॥ ६२ ॥ तावत्=आदौ । वक्ष्यति=
 अभिधास्यति । वेदतां=परस्पर कथां कुर्वताम् । उत्तरं श्रुत्वैव प्रत्युत्तरं स्फुरति, यथा
 सुवृष्टिनिष्पन्नादुत्तमाद्वीजात्क्षेत्रे निक्षिप्तान्तराजान्तरं भवति ॥ ६४ ॥

अपगतोऽयः=शुभावहो विधिर्यस्मादसौ-अपायः । ‘अपायोऽपगमे तथा । पलायनेऽया-
 ऽपेताये’ इति केशावः । ‘अयः शुभावहो विधि’ रित्यमरश्च । अपायस्य सन्दर्शनं, तम्भ-
 ज्ञाताम्-अपायसन्दर्शनजाम्=अनिष्टमन्त्रनिर्धारणानुष्ठानोद्भूताम् । विपत्तिः=राज्यादि-
 १ ‘व्यतिब्रजेत्’ । २ ‘उत्तरादेव जायते’ ३ । ‘नीतिगुणे’ति-‘नीतिविधीति’ चपाठन्तरम् ।

एकेषां वाचि शुकवदन्येषां हृदि शूकवत् ।
हृदि वाचि तथान्येषां वल्लु वलग्निं सूक्षयः ॥ ६६ ॥

न चाऽहमप्राप्तकालं वक्ष्ये । आकर्णितं मया नीतिमार्गं पितुः
पूर्वमूलदङ्घं हि निरपेक्षता—

‘अग्रासकालं च वनं ब्रह्मस्पतिरपि व्रुवन् ।
लभते वह्न्यज्ञानमपमानं च पुष्कलम्’ ॥ ६७ ॥

करटक आहे—

दराराध्या हि राजानः पर्वता इव सर्वदा ।

व्यालास्कीर्णः सविषमाः कठिना दृष्टसेविताः ॥ ६८ ॥

तथा च—भोगिनः कञ्चुकाविष्टाः कुटिलाः क्रचेष्टिताः।

सुदृष्टा मन्त्रसाध्याश्च राजानः पञ्चगा इव ॥ ६९ ॥

द्विजिहा: क्ररक्षर्मणोऽनिष्टादिष्ठहानसारिणः

दृश्योऽपि हि पश्यन्ति राजानो भजगा इव ॥ ७० ॥

हनिम् । उपायमन्दर्शनजां=समुचितसन्धिविग्रहाथतुषानसमुद्भूतां । प्रयुक्तां=यथा-
तथेन निर्धारितां, सिद्धि=शत्रुवधादिमित्तिक्षिणी, लाभं च । पुरुः स्फुरन्तामित्व=करतलामलकव-
चक्षुरा विभाव्यमानामित्व वर्णयन्ति । अनुचिताचरणजन्यां विपद्दं, श्रेष्ठियोरिनोपायानु-
ष्टानजां सिद्धिष्ठ, तत्त्वविदो नातिविश्वारदाः प्रथममेव प्रदर्शयन्ताति भाषः ।

‘नोतिगुणप्रयुक्ता’मिति पाठान्तरम् । तत्र—नोतिगुणः प्रयुक्ताम्=पाढ्युण्यशालिनी-
मित्यर्थो वैच्च ॥ ६५ ॥

वल्गु=मनोरमं यथा स्यात्तथा— । वल्गन्ति=प्रस्फुरन्ति ॥ ६६ ॥

जत्सक्तं=क्रोडं । निषेवता=भजमानेन । वाल्यावस्थायामिति यावत् । पुष्करं=वहुलम् ।

व्यालैः = खलैः । हिन्दुसिंहादिपशुभिर्वनगर्जीश्र । आकार्णा = व्यासाः । 'व्यालो दुष्टात्रं
मध्ये श्वासे थापदसिंहयोः' इति हैमः । नुविशमा = अपायवहुलाः, निम्नोन्नतप्रदेशत्रिपमाश्र ।
कठिनाः = क्राराः, शिलासङ्कुलाश्र । दुष्टसेविताः = नटविटादिकूर्जनपरवश्याः, मर्पादिदुष्ट-
जन्तुदर्शमाश्र ॥ ६५ ॥

भोगिनः—भोगशालिनः । ‘अहे शरीरं भोगः स्यात्’ इत्यमरः । ‘भोगी मुज्जमेऽपि स्यात् ग्राममात्रनृपे पुमान्’ इति विश्वः । कञ्चुकाविष्टाः—धूनकवचाः, कञ्चुकावृताश्च : कञ्चुको वारत्वाणे स्थापितामोक्ते कवचेऽपि चेति विश्वः । पत्रगाः—सर्पाः ॥ ६९ ॥

द्विजिहा:=जिहादयशुताः, कूर्मापिण्डशः । अनिष्टाः=अनिष्टकारकाः । छिद्रानुसारिणः=विलेश्याः, दोषदशिनश्च । 'छिद्र दोषे च विवरे' इति हीमः ॥ ७० ॥

१ 'मोगिनः कथुकासत्ताः क्रूराः कुटिलगमिनः। सुरोद्राः मन्त्रसाध्याश'-इति पाठा।
कथकः:=‘चोला’ ‘अंगरखा’ ‘सापकी केन्चुलो’।

स्वल्पमप्यपकुर्वन्ति येऽभीष्टा हि महीपतेः ।
 ते वह्नाविव दद्यन्ते पतङ्गाः पापचेतसः ॥ ७१ ॥
 दुरारोहं पदं राज्ञां सर्वलोकनमस्कृतम् ।
 स्वल्पेनाप्यपकारेण ब्राह्मण्यमिव दुष्यति ॥ ७२ ॥
 दुराराध्या श्रियो राज्ञां दुरापा दुष्परिग्रहाः ।
 तिष्ठन्याप इवाधारे चिरमात्मनि संस्थिनाः ॥ ७३ ॥

दमनक आह- सत्यमेतत् । किन्तु—

यस्य यस्य हि यो भावस्तेन तेन समाचरेन् ।
 अनुप्रविश्य मेधावी क्षिप्रमात्मवशं नयेत् ॥ ७४ ॥
 भर्तुश्चित्तानुवर्तित्वं सुवृत्तं चाऽनुजीविनाम् ।
 राक्षसाश्चापि गृहान्ते नित्यं छन्दाऽनुवर्तिभिः ॥ ७५ ॥
 सरुषि नृपे स्तुतिवचनं, तदभिमते प्रेम, तद्द्विषि द्वेषः ।
 तदानस्य च शंसा, अमन्त्रतन्त्रं वर्णाकरणम् ॥ ७६ ॥

करटक आह—‘यद्येवमभिमतं तहिं शिवास्ते पन्थानः सन्तु, यथा-
 भिलपितमनुष्ठीयताम् ।’

अग्रमादश्च कर्तव्यस्वशाराजः समाश्रयोत्वदीयस्य शरीरस्य वयं भाग्योपजीविनः॥

राज्ञः प्रिया अपि यदि स्वल्पमपि राजोऽपकुर्वन्ति तदा पतङ्गा वह्नाविव दद्यन्ते=स्वयमेव विनश्यन्ति । ‘राजकोपानले’ इति शेषः ॥ ७१ ॥ ब्राह्मण्यं=ब्रह्मातेजः, दुष्यति=विकारं भजते, दृष्ट्यतीति वा ॥ ७२ ॥

राज्ञां श्रियः=राजलक्ष्म्यः । दुरापाः=दुर्लभाः । दुष्परिग्रहाः=दुःखेन रक्षणायाः । आत्मनि संस्थिनाः=स्वयं निरोक्षिताः, स्ववशे स्थापिता एव च—जलाधारे जलमिव । चिरं तिष्ठन्ति । यथा जलाधार एव जलं चिरं तिष्ठति, नान्यत्र, एवं विनांत एव राजनि श्रास्ति. छृति नान्यत्रैश्याशयः ॥ ७३ ॥ अनुप्रविश्य=तदनुकूलानरणं कृत्वैव, क्षिप्रं=शीघ्रम् ॥ ७४ ॥

भर्तुः=स्वामिनः । चित्तानुवर्तित्वम्=मनोऽनुकूलकर्त्तव्यम् । अनुजीविनां=सेवकानां । सुवृत्तं=राजवर्णाकरणसाधनम् । छन्दमनुवर्त्तन्ते तच्छीलैः—छन्दानुवर्तिभिः=अभिप्रायपरिपालकैः । ‘अभिप्रायद्वन्द आशयः’ इत्यमरः । (छन्दानुवर्त्ती=‘खुशामदी’ ‘चापलूस’) ७५

नृपे=गजनि सरुषि=कुद्दे सति, स्तुतिवचनं=मृदुमधुरप्रशंसा, भूतिवाक्यप्रयोगः । नदभिमते=राजवलभे । प्रेम=अनुरागः । नद्दिविष=राजविश्वदे वस्तुनि जने च । तदानस्य=राजदानस्य च, शंसा=प्रशंसा । न रतः मन्त्रतन्त्रे यस्मिन् तत्—अमन्त्रतन्त्रं=मन्त्रतन्त्ररहितं, मन्त्रतन्त्राभ्यां विनाऽपि । वर्णाकरणं=वर्णाकरणोपायः ॥ ७६ ॥ अभिमतम्=अभिप्रायः । पन्था-

१ तेन तेन हितं नरम् । २ ‘सरुषि नतिस्तुति’ । ३ ‘अमन्त्रमूलमिति पाठान्तरम् ।

मोऽपि तं प्रणस्य पिङ्गलकाभिसुखं प्रतस्थे ।

अथाऽऽगच्छन्तं दमनकमालोक्य पिङ्गलको द्वाःस्यमवीन्—
‘अपसार्यतां वेत्रलता, अयमस्माकं चिरन्तनो मन्त्रिपुत्रो दमनकोऽ-
व्याहतप्रवेशः, तत्प्रवेश्यतां द्वितीयमण्डलभागी’—ति ।

स आह—‘यथाऽवादीद्वावान्’—इति । अथ प्रविश्य दमनको
निर्दिष्टे आसने पिङ्गलकं प्रणस्य प्राप्ताऽनुज्ञा उपविष्टः । स तु तस्य
नखकुलिशालङ्कृतं दक्षिणपाणिसुपरि दत्त्वा मानपुरःसरमुवाच—‘अपि
शिवं भवतः ? कस्माच्चिराद्दृष्टोऽसि ?’ दमनक आह—‘यद्यपि न
किञ्चिद्देवपादानामस्माभिः प्रयोजनम्, तदेषि (परं) भवतां प्रापकालं
वक्तव्यं, यते उत्तममध्यमाधमैः सर्वं रपि राजां प्रयोजनम् । उत्तच्च—

दन्तस्य निष्कोपणकेन नित्यं कर्णस्य कण्ठयनकेन वापि ।

नृणां कार्यं भवतांधराणां किमङ्ग ! वाघस्तवता नरेण ॥ ७७ ॥

तथा वयं देवपादानामन्वयागता भृत्या आपत्स्वपि पृष्ठगामिनो
यद्यपि स्वमधिकारं न लभामहे तथापि देवपादानामेतद्युक्तं न
भवति । उत्तच्च—

स्थानेष्वेव नियोक्तव्या भृत्याश्चाऽभरणानि च ।

न हि चूडामणिः पादे ‘प्रभवामी’ति बध्यते ॥ ७८ ॥

नग्ने शिवाः—योभनाः कुशलप्रदाः शुभप्रदाश्च । सन्तु—गम्यतामित्यर्थः । सः—दमनकः ।
आःस्थं—दारापालं वेत्रलता—वेत्रयष्टी (‘छडी’ ।) अव्याहतः—अनवरुद्धः प्रवेशो यस्यासौ तथा ।
दिलायमण्डले = अनुयायिमण्डले प्रवेशमर्हति अतस्तत्रासनं देहात्याशयः । मन्त्रिणस्तस्त-
मानाश्च द्वितीयमण्डलभागिनः । सः—सिंहः । नखानेष्वे कुलिशानि—वज्राणि, तैरलङ्कृतं
पाणिं=हस्तं, उपरि=मस्तकोपरि । मानपुरःसरं=ससत्कारम् । तस्य=दमनकस्य
देवपादानां=प्रभूणां भवतां, न प्रयोजनं=नारित किमपि कार्ये । नास्माकं महाराजः स्मर-
तात्याशयः । प्रासकालम्=उच्चितम् । परं=किन्तु । तदर्थात्यपि पाठः । वक्तव्यं=मया किञ्चिद-
क्तव्यमस्तीत्याशयः । दन्तस्येति । निष्कोपणकेन=दन्तसत्तोच्छृष्टनिरासादिना । कण्ठयन-
केन=कर्णमलकण्ठनिराकरणेन च । इश्वराणां=राजां, जनानामिति यावत् । अङ्गोनि
मम्बोधने । वाघस्तवता=पाणिवाणीसंयुतेन । (समय पर तुण से भी काम पड़ता है,
आदर्मी की तो बात ही क्या है) । राजां प्रयोजनं—‘भवतीति शेषः । अन्वयागता:=कुल-

१ ‘परं’ । २ ‘यतो न खलु राजामुयोगकारणं किञ्चित् भवति’ । पा० ।

यतः—अनभिज्ञो गुणानां यो न भृत्यैरनुगम्यते ।

धनाढ्योऽपि कुलीनोऽपि कमायातोऽपि भूषणिः ॥ ७९ ॥

उत्तम्ब्र असमैः समीयमानः समैश्च परिहीयमानसकारः ।

धुरि चाऽनियुज्यमानस्मिभिरथर्थं त्यजति भृत्यः ॥ ८० ॥

यच्चाऽविवेकितया राजा भृत्यानुत्तमपदयोग्यान् हीनाऽधम-
स्थाने नियोजयति, न ते तत्रैवं तिष्ठन्ति, स भूपतेर्दोपो, न तेपाम् ।
उत्तम्ब्र कनकभूषणसङ्घहणोचितो यदि मणिस्त्रिपुणि प्रतिबध्यते ।

न स विरैनि न चापि न शोभते भवति योजयितुवचनीयना ॥ ८१ ॥

यच्च स्वाम्येवं वदति—‘चिराद् दृश्यसे’ इति, तदपि श्रूयताम् ।

सव्यदक्षिणयोद्यत्र विशेषो नास्ति हस्तयोः ।

कस्तत्र क्षणमप्यार्यो विद्यमानगतिर्वसेत् ? ॥ ८२ ॥

काचो मणिमणौ काचो येषां बुद्धिर्विकल्पते ।

न तेषां सञ्जिधौ भृत्यो नाममात्रोऽपि निष्ठति ॥ ८३ ॥

परीक्षका यत्र न सन्ति देशो नाऽर्धन्ति रत्नानि समुद्रजानि ।

आर्भारदेशो किल चन्द्रकान्तं त्रिभिर्वराटैविषणन्ति गोपाः ॥ ८४ ॥

कमागताः । रवमधिकारं=मन्त्रपदादिकम् । प्रभवाभिः=‘अहं प्रमुरास्मि’ इति कृत्वा ।
वृद्धामणिः=शिरोभूषणं-पादे न वस्यते नौचित्यात् ॥ ७८ ॥ कमायातः=कुलपरम्परागतोऽ-
पि भूषणिः । गुणानां=गुणतारतम्यम्य अनभिज्ञश्चेत्—भृत्यैर्नाशीयते । समोयमानः=सम-
वायमानः । असद्याजग्नतुल्यतया गण्यमान इति यावत् । समैः=स्वसमापेक्षया । परिहाय-
मानः सत्कारो यस्थासौ तथा । धुरि=अये । स्वसमुचिते स्थाने । अर्थपतिः=स्वाभिनम् ।
भृत्यःत्रिभिः कारणस्त्यजतोत्तर्यथः । उत्तमपदयोग्यान्=उत्कृष्टाधिकारसमुचितान्, हाने=अनु-
त्तमे । अधमे=नीचतमे । स्थाने=अधिकारे । ते=उत्तमाः, तत्रैव=स्वोचिताधिकारे न
निष्ठन्ति=न नियुज्यन्ते,—एतद्वद्यं भूपतेरेव दोपः । तेपाम्=उत्तमानां सेवकानाम् ।

कनकेति । कनकमये भूषणे यत्सङ्घर्यहणं=स्थापनं । तस्योचितः=योग्यः । त्रिपुणिः
वक्रे (‘रांगा’) । स मणिर्न विरैति=नैव किञ्चिद्वदति । किञ्च न शोभते इति न, किन्तु
शोभते एव । वचनीयता=निन्दा ॥ ८१ ॥ तदपि=तद्विपयेऽपि । श्रृथतां=मदुक्तं श्रुत्वाऽ-
वधार्यताम् । सव्यः=वामः । विशेषः=भेदः । विद्यमाना गतिर्यस्यासौ—विद्यमानगतिः=
आश्रयान्तरान्वेषणयोग्यः,—समर्थः । आर्यः=सज्जनः । नैव वसेदित्याशयः ॥ ८२ ॥ बुद्धिः
विकल्पते=सन्दिशते । येषामीदृशं संशयाभ्यकं ज्ञानमुत्पदते, तेषां=आन्तानाम्, नाममात्रः=
भृत्यनामधारी कोपि ॥ ८३ ॥ यत्र परीक्षका न सन्ति तत्र समुद्रजानि रत्नानि=मौक्तिका-

१ ‘यत्ते तत्रैव तिष्ठन्तीत्यपि केवित्पठन्ति । तत्रैव=अयोग्यस्थाने ।

लोहिताक्षस्य च मणेः पद्मरागम्य चाऽन्तरम् ।
 यत्र नास्ति कथं तत्र क्रियते रुद्धविक्रयः ? || ८५ ||
 निर्विशेषं यदा स्वामी समं भून्येषु वर्तते ।
 तत्रोद्यमसमर्थनामुत्साहः परिहीयते || ८६ ||
 न विना पार्थिवो भूत्यर्थं भूत्याः पर्थिवं विना ।
 तेषां च व्यवहारोऽत्यं परस्परनिवन्धनः || ८७ ||
 भूत्यर्थिना स्वयं राजा लोकाऽनुग्रहकारिभिः ।
 मयूर्खरिव दीपांशुसेजस्वयपि न शोभते || ८८ ||
 अरेः सन्धार्यते नाभिर्नाभौ चाऽराः प्रतिष्ठिताः ।
 स्वामिसेवकयोरेवं वृत्तिचक्रं प्रवर्तते || ८९ ||
 शिरसा विघ्नता निर्वयं स्नेहेन परिपालिताः ।
 केशा अपि विरज्यन्ते निःस्नेहाः, किं न सेवकाः ? || ९० ||
 राजा तुष्टो हि भूत्यानामर्थमात्रं प्रयच्छति ।
 ते तु संमानमात्रेण प्राणैरस्तुपकुर्वते ! || ९१ ||

इनि न अर्धनित्यन् स्वोचितं मूल्यं लभन्ते । आभीगदेशं पश्चिमसमुद्रतारवस्थपरान्तप्रदेशं (‘कन्छ-भुज’ ‘काठियावाड’) । चन्द्रकान्तं=चन्द्रकान्तमणिः । वराऽऽपि=कपदिकाभिः । (‘गान कौड़ी में’) । गोपोः=आभाराः (‘अहार’) । विषणन्ति=विक्रीणन्ति ॥ ८४ ॥ लोहिताक्षस्य=लोहितनामा मणिः, (‘लाल’) । ‘लोहिताक्षस्ये’ति पाठान्तरम् । पद्मरागः=पद्मरागमणिः (‘मानिक’) । उभयोस्तुल्यवर्णत्वेऽपि पद्मरागाल्लोहितमणिर्महर्ष इति भावः ॥ ८५ ॥ उत्तमाधमेषु निर्विशेषं = भेदशून्यं यथा स्यात्तथा—सममेव = तुल्यमेव यदि वामी = प्रभुः प्रवर्तते तदा उद्योगमर्थानाम् = उद्योगशालिनामुत्तमानां भूत्यानामुत्साहः परिहीयते = नश्यति । ‘सर्वभूत्येषु इति केचित्’ ॥ ८६ ॥ परस्परनिवन्धनः=अन्योन्याभितः । लोकाऽनुग्रहकारिभिः = लोकोपकारिभिः । मयूरवैः=किरणैविना । दीपांशुः=मूर्येव-तेजस्वी अपि=प्रतापवानपि राजा लोकानुग्रहकारिभिर्भूत्यर्थिना न शोभते ॥ ८७ ॥ अरेः=रथचक्रावयवैर्दण्डयमानैः । नाभिः=रथचक्रमध्यभागपिण्डका—धार्यते । नाभौ च अराः=रथाङ्गचक्रदण्डाः । प्रतिष्ठिताः=संनिविष्टाः । वृत्तिचक्रं=लोकयात्रा ८५ चक्रं । प्रवर्तते=प्रचलति ॥ ८९ ॥ शिरसा विघ्नताः=मस्तके स्थापिताः, [नरणा सत्कृताश्च । स्नेहेन = अनुरागेण । स्नेहेन = तैलादिना च । निःस्नेहाः=तैलादि गृहताः । अनुरागवैकल्ये सति, किं न विरज्यन्ते = किं न विकृतवर्णाः भवन्ति, अपितु विरज्यन्ते एव । केशा यदि स्नेहरहिताः, अनुरागवैकल्ये सति, विरज्यन्ते तर्हिसेवकाः किं न ? तेषां विरागे किमु वक्तव्यमित्याशयः ॥ ९० ॥ अर्थमात्रं = धनमेव केवलं । संमानमात्रेण=सन्मानेन तोषिताः । प्राणैरपि=स्वप्राणपरित्यागेनापि । उपकुर्वते=‘राजान्-

एवं ज्ञात्वा नरेनद्रेण भृत्याः कार्या विचक्षणाः ।
 कुलीनाः शौर्यसंयुक्ताः शक्ता भक्ताः क्रमागताः ॥ ९२ ॥
 यः कृत्वा सुकृतं राज्ञो दुष्करं हितमुत्तमम् ।
 लज्जया वक्ति नो किञ्चित्सेन राजा सहायवान् ॥ ९३ ॥
 यस्मिन्कृत्यं समावेश्य निविशङ्केन चेतसा ।
 आस्यते, सेवकः स स्यात्कलत्रमिव चाऽपरम् ॥ ९४ ॥
 योऽनाहूतः समभ्येति द्वारि तिष्ठति सर्वदा ।
 पृष्ठः सन्यं मितं थ्रूते स भृत्योऽहो महीभुजाम् ॥ ९५ ॥
 अनादिष्टोऽपि भूपस्य द्वावा हानिकरं च यः ।
 यतते तस्य नाशाय, स भृत्योऽहो महीभुजाम् ॥ ९६ ॥
 ताडिताऽपि दुरुक्तोऽपि दण्डितोऽपि महीभुजा ।
 यो न चिन्तयते पापं, स भृत्योऽहो महीभुजाम् ॥ ९७ ॥
 न गर्वं कुरुते माने, नाऽपमाने च तप्यते ।
 स्वाऽऽकरं रक्षयेद्यस्तु स भृत्योऽहो महीभुजाम् ॥ ९८ ॥
 न ध्रुधा पीड्यते यस्तु निद्रया न कदाचन ।
 न च शीतातपादैश्च स भृत्योऽहो महीभुजाम् ॥ ९९ ॥
 श्रुत्वा साङ्घामिकां वार्ता भविष्यां स्वामिनं प्रति ।
 प्रसन्नाऽस्यो भवेद्यस्तु स भृत्योऽहो महीभुजाम् ॥ १०० ॥
 सीमा वृद्धिं समायाति शुक्लपक्षं इवोङ्गराट् ।
 नियोगसंस्थिते यस्मिन्स भृत्योऽहो महीभुजाम् ॥ १०१ ॥

मिति शेषः ॥ ६१ ॥ विचक्षणाः=कुशलाः ॥ ६२ ॥ यो भृत्यो राज्ञो दुष्करं=परैः करुणम्-
 शक्यम्, उत्तमं हितं नुकृतं=नुसम्पादितं यथा स्यात्तथा कृत्वाऽपि राज्ञः पुरतो लज्जया
 रक्षयत्यं न वक्ति, तेनवै भृत्येन राजा सहायवान्-स एव भृत्यो राज्ञोऽनुरूपो भृत्य इनि
 भावः । निविशङ्कं यथा स्यात्तथा आस्यते=स्थीयते । 'राज्ञे'तिशेषः । अपरं=स सेवकः
 अपरं=द्वितीयं कलत्रमिव=ग्लोब हितकारीति मन्तव्यः ॥ ६४ ॥

अनादिष्टोऽपि=राज्ञाऽनाशसोपि राज्ञो हानिकरं व्यसनादिकमत्याहितमुपस्थितं दृष्ट्वा
 तस्य विनाशाय=प्रतांकाराय यतते स भृत्यो राज्योग्यः ॥ ६६ ॥ स्वाकारं=स्वमनोभावं :
 रक्षयेत्=विकारं नाप्नुयात्, न प्रदर्शयेच ॥६८॥

भविष्यां सांघामिकां=भविष्यपृद्युद्विषयिणीं, श्रुत्वा यो भृत्यः प्रसन्नवदनो भवति स
 भृत्यः श्रेष्ठः ॥ १०० ॥

यस्मिन् भृत्ये नियोगसंस्थिते=अधिकारारूढे सति राज्ञो राज्यस्य सीमा (राज्यं)
 प्रत्यहं वर्धते स भृत्यः श्रेष्ठः ॥ १०१ ॥ यस्मिन् नियोगस्थे=अधिकारस्थिते यथा वहौ क्षिप्तं

सीमा सङ्कोचमायाति वङ्गौ चर्म इवाऽहितम् ।
स्थिते यस्मिन्स्तु तु त्याज्यो भूत्यो राज्यं समीहना ॥ १०२ ॥

तथा 'शृगालोऽय' मिति मन्यमानेन ममोपरि स्वामिना यद्यवज्ञा क्रियते, तदप्ययुक्तम् । उक्तव्य यतः—

कौशेयं कृमिजं सुवर्णमुपलादद्वार्द्धपि गोरोमनः
पङ्कजात्तामरसं शशाङ्क उद्धरेत्नद्वारं गोमयान् ।
काष्ठाद्विरहे: फणादपि मणिर्गोपिततो रोचना
प्राकाशं स्वगुणोदयेन गुणिनो गच्छन्ति, किं जन्मना ? ॥ १०३ ॥
मूषिका गृहजाताऽपि हन्तव्या स्वाऽपकारिणी ।
भक्ष्येप्रदानैर्मार्जिरो हितकृत्प्रार्थ्यतेऽन्यतः ॥ १०४ ॥
पूरण्डभिण्डार्कनडैः प्रभूतैरपि सञ्चितैः ।
दारुकृत्यं यथा नास्ति तथैवाऽज्ञैः प्रयोजनम् ॥ १०५ ॥
किं भक्तेनाऽसमर्थेन ? किं शक्तेनाऽपकारिणा ? ।
भक्तं शक्तज्ञं मां राजज्ञाऽवज्ञातुं त्वमर्हसि ॥ १०६ ॥

पिङ्गलक आह—‘भवत्वेवं तावत्, असमर्थः समर्थो वा,
चिरन्तनस्त्वमस्माकं मन्त्रिपुत्रः, तद्विश्रद्धं ब्रह्म-यत्किञ्चद्वक्तुकामः’
दमनक आह—‘देव ! विजाप्यं किञ्चिद्वस्ति ।’ पिङ्गलक आह—

‘भम् सङ्कोचमेति तथैव—राज्यं हायते—स भूत्योऽध्यमः—त्याज्यः ॥ १०२ ॥ अवज्ञा—तिरस्कारः—
कौशेयं = कृमिजं पद्मसूत्रं (‘रेशम’) । कृमेस्त्वपूर्वते । सुवर्णमुपलप्रायात्पर्वतादुद्धवान् ।
पुराणं पु गोरोमतो दृवांत्पत्तिर्गायते । तामरसं = पङ्कजम् । उद्धेषः=शारजलविलासागरान् ।
चन्द्रोत्पत्तिः । इन्द्रीवरं = नीलोत्पलं नाम स्थलकमलभेदः । गोमयात् = अवस्करात् (‘खाद’
'कृडा कर्कट' 'गोबर आदि से') । रोचना = गोरोचना । ‘भवती’ति शेषः । एव च स्वगुणोदयेन व
गुणिनः प्राकाशं = पूजां प्रसिद्धि च गच्छन्ति । तत्र जन्मादिविन्ता न कर्तव्या ॥ १०२ ॥

गृहजातापि—अपकारकारितया मूषिका—हन्यते, मूषकविनाशकतयोपकारी मार्जारस्य
अन्यतोऽपि=गृहान्तरादपि आनीय स्वगृहे रक्षयते इति उपकारापकाराभ्यामेवानुराग-
विरागी न सम्बन्धितयेति भावः ॥ १०४ ॥ पूरण्डस्य (‘रेडी’) । भिण्डस्य=तरुभेदरस्य.
अर्कस्य=मन्दारस्य (‘आक’ ‘मन्दार’) नडैः=काण्डैः (‘डण्ठल’ ‘फरडा’) । पूरण्ड-
पिण्डार्कनलैः रिति पानान्तरम् । तत्र डलयोरैक्यात्—नलाः=नडा एव । दारुकृत्यं=स्तम्भा-
दिनिमाणगृहधारणादि कार्यम् । ‘पूरण्डकाण्डार्कनडै’ रिति तु गौडाः पठन्ति ॥ १०५ ॥

१. ‘उपप्रदानैरिति पाठे—भक्ष्यादिदानैः

‘तन्निवेदयाऽभिप्रेतम् ।’ सोऽब्रवीत्—

‘अपि स्वल्पतरं कार्यं यज्ञवेत्युथितीपते: ।

तत्र वाच्यं सभामध्ये’ प्रांवाचेदं शृहस्पतिः ॥ १०७ ॥

तदेकान्तिके मद्विज्ञाप्यमाकर्णयन्तु देवपादाः । यतः—

पट्कर्णो भिद्यते मन्त्रश्रुतुष्कर्णः स्थिरो भवेत् ।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन पट्कर्णं वर्जयेत्सुर्धाः ॥ १०८ ॥

अथ पिङ्गलकाऽभिप्रायज्ञा व्याघ्रद्वीपिवृक्षपुरःसराः सर्वेऽपि
तद्वचः समाकर्ण्य संसदि तत्क्षणादेव दूरीभूताः, कृताश्र । ततश्च
दमनक आह—‘उदकग्रहणार्थं प्रवृत्तस्य स्वामिनः किमिह निवृत्या-
उवमथानम् ? । पिङ्गलकः सविलक्ष्मितमाह—‘न किञ्चिदपि ।’

सोऽब्रवीत्—‘देव ! यद्यनाश्येयं तत्तिष्ठतु । उक्तच्च—

दारेषु किञ्चित्स्वजनेषु किञ्चिद्दोष्यं वयस्येषु सुतेषु किञ्चित् ।

‘युक्तं’ ‘न वा युक्तं’ भिदं विचिन्त्य वदेद्विष्फ्रिन्महतोऽनुरोधात् ॥ १०९॥

तच्छ्रुत्वा पिङ्गलकश्चिन्तयामास—‘योग्योऽयं हृश्यते, तत्कथया-
म्येतस्याऽप्ये आत्मनोऽभिप्रायम् ।’ उक्तच्च—

सुहृदि निरन्तरचित्ते गुणवति भृत्येऽनुवर्त्तिनि कलत्रे ।

अस्मर्थः समर्थो वा त्वं नात्र मे विचारः, केवलं ‘पुणगमन्त्रिपुत्र’ इत्येव मे प्रियोऽसि-इत्याशयः ।

विश्रवद्वचं=निर्भयं । पट्कर्णाः यत्र—(‘थोन्त्रये’ति शेषः, —) असौ पट्कर्णः=त्रिभिर्जनैः श्रुतः । भिद्यते=परैर्जायते । पणां कर्णानां समाहारः—पट्कर्णं-पुरुषत्रयं, वर्जयन्—‘मन्त्रणावमरे’ इति शेषः । यदा ‘पट्कर्णं मन्त्रं वर्जये’दिति सम्बन्धः । व्याघ्रः=शारूङः (‘वधेरा’) । वृकः=ईहाश्रगः (‘भेडिया’) । द्वीपां=व्याघ्र भेदः (‘चीता’ ‘लगड़-वरघा’) । तद्वचः=दमनकवचनं, संसदि=सभायां । कृताः ये भावानभिज्ञा मूर्खास्ते द्वार-पार्षदेशीकृताश्र । सविलक्ष्मितं=स्वाकारप्रच्छादनार्थं किञ्चिद्दासं कृत्वा (‘सूखी हंसा दंसकर’) । ‘आह’ इति शेषः । न ‘किञ्चिदपि’—‘कारणमस्तं’ तिशेषः । अत्र यस्कारण-भस्ति तत्त्वाश्येयं कस्यापीत्याशयः । तिष्ठतु=आस्तां तावत्, मा वद ।

दारेषु किञ्चिद्दोष्यं भवति स्वजनेषु किञ्चिद्दोष्यं भवति, महतामनुरोधादपि—युक्तायुक्तं विचार्यव—वदेत्, न सहस्रेत्यर्थः पाठान्तरे—प्रत्ययिनः=विश्वस्ता एव । ‘तथापी’ति शेषः । मंप्रकाशयं=कथनीयम् । कस्य किञ्चिदाख्येयं, कस्य किञ्चित्, न सर्वस्य सर्वमाख्येयं

२ ‘दारेषु किञ्चित्पुरुषस्य वाच्यं किञ्चिद्द्वयस्येषु सुतेषु किञ्चित् । सर्वेऽपि ते प्रत्ययिनो
भवन्ति सर्वं न सर्वस्य च संप्रकाशयम् ।’—पाठान्तरम् ।

स्वामिनि सौहृदयुक्ते निवेद्य दुःखं-सुखी भवति ॥ ११० ॥

(प्रकाशं) भो दमनक ! शृणोषि शब्दं दूरान्महान्तम् ?' ।
मोऽब्रवीत्-स्वामिन ! शृणोमि, ततः किम् ?' । पिङ्गलक आह—
'भद्र ! अहमस्माद्बनाद्बन्तुमिच्छामि ।' दमनक आह—'कम्मान् ?' ।

पिङ्गलक आह—'यतोऽव्याऽस्मद्बने किमप्यपूर्वं सत्त्वं प्रविष्टं, यस्यात्रं
महाऽशब्दः श्रूयते, तस्य च शब्दस्याऽनुरूपेण सत्त्वेन भाव्यं,
मत्त्वानुरूपेण च पराक्रमेण (भाव्यम्)—इति ।

दमनक आह—'यच्छब्दमात्रादपि भयमुपगतः स्वार्मा,
नद्यायुक्तम् । उक्तच्च—

अम्भसा भिद्यते सेतुस्थथा मन्त्रोऽप्यरक्षितः ।

पैशुन्याद्विद्यते स्नेहो भिद्यते वासिभरानुरः ॥ १११ ॥

तत्र युक्तं स्वामिनः पूर्वपुरुषोपार्जितं कुलक्रमागतं वनमेकपदं
एव त्यक्तुम् । यतो भेरीवेणुर्वीणामृदङ्गतालपटहशङ्काहलादिभेदेन
शब्दा अनेकविधा भवन्ति, तत्र केवलाच्छब्दमात्रादपि भेतव्यम् ।
उक्तच्च—

अत्युत्कटे च रौद्रे च शत्रौ प्राप्ते न हीयते ।

धैर्यं यस्य-महीनाथो न स याति पराभवम् ॥ ११२ ॥

दर्शितभयेऽपि धातरि धैर्यध्वंसो भवेत् धीराणाम् ।

शोषितसरसि निदाघे नितरामेवोद्धतः सिन्धुः ॥ ११३ ॥

भवतारथ्यः ॥ १०९ ॥ निरन्तरं वित्तं यस्यासां निरन्तरवित्तः, तरिमन्-स्वापितधने.
नितरामभेदभावमापन्ने इति यावत् । 'निरन्तरचित्ते' इति पाठे अनुकूलचित्ते इत्यर्थः ।
अनुवर्तितिनिःस्वानुकूले । कलत्रे=दारासु च । दुःखं=क्षेत्रं दुःखकारणं च । निवेद्य=उक्त्वा ।
जनः-सुखा भवति ॥ ११० ॥

मत्त्वं=जन्मुभेदः, पिशाचादिर्वाँ । 'सत्त्वं द्रव्ये पिशाचादी गुणे जन्मतुपु' इति
कोशः । उपगतः=प्रासवान् । आतुरः=व्याकुलः, ('धबडाया हुआ') । वासिभः=
वाढ्मात्रेणैव । भिद्यते=पलायते, निग्रहीतुं शक्यते वा ॥ १११ ॥ भेर्यादिः=वाचभेदः, ।
तेषां भेदेन शब्दोऽपि नानाविध इत्यर्थः । अत्युत्कटे=बलीयसि, साहसपरे रौद्रे । =क्रू-
नरे च । 'अत्युत्कटे च रौद्रे शत्रो यस्य न हीयते । धैर्यं प्राप्ते महीपस्ये'ति—पाठान्तरम् ॥ ११२ ॥

धातरि=जगत्क्रियन्तरि विधी । दर्शितं भयं येन तस्मिन्-दर्शितभये=प्रतिकूले-
संत्रासयति सत्यपि । निदाघे=श्रीमसमये । सिन्धुः=समुद्रः ॥ ११३ ॥

तथा च—यस्य न विपदि विपादः सम्पदि हर्यो रणे न भीरुत्वम् ।
 तं भुवनव्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम् ॥ ११४ ॥
 तथा च—शक्तिवैकल्यनभ्रस्य निःसारत्वाल्घीयसः ।
 जन्मिनो मानहीनस्य नृणस्य च समा गतिः ॥ ११५ ॥
 अपि च—अन्यग्रतापमासाद्य यो दृढन्वं न गच्छति ।
 जनुजाऽभरणस्येव रूपेणापि हि नस्य किम् ? ॥ ११६ ॥
 तदेवं ज्ञात्वा स्वामिना धैर्याऽवष्टुम्भः कार्यः, न शब्दमात्राद्वेतत्व्यम् ।
 पूर्वमेव मया ज्ञातं पूर्णमेतद्धि मेदसा ।
 अनुप्रविश्य विज्ञातं यावद्वर्म च दारु च ॥ ११७ ॥
 पिङ्गलक आह—‘कथमेतत् ?’ । सोऽव्रवीन्—

२. गोमायुदुन्दुभिकथा

कश्चिद्दोमायुर्नाम शृगालः क्षुत्क्षामकण्ठ इतस्तत आहारक्रियार्थं
 परिभ्रमन्वने सैन्यद्वयसङ्गामभूमिपश्यत् । तस्याच्च दुन्दुभः
 पतितस्य वायुवशाद्वलीशाखाग्रैर्हन्यमानस्य शब्दमशृणोन् ।
 अथ क्षुभितहृदयश्चिन्तयामास—‘अहो ! विनष्टोऽस्मि, तद्याव-
 आऽस्य प्रोक्षारितशब्दस्य दृष्टिगोचरे गच्छामि, तावदन्यतो
 ब्रजामि । अथवा नैतद्युज्यते सहसैव—

भये वा यदि वा हर्ये सम्प्राप्ते यो विमर्शयेत् ।

कृत्यं न कुरुते वेगान्न स सन्तापमाप्नुयात् ॥ ११८ ॥

तत्तावज्जानामि कस्याऽयं शब्दः ? । इत्थं धैर्यमालम्ब्य विमर्शयन
 यावन्मन्दं मन्दं गच्छति तावदुन्दुभिपश्यत् । स च तं
 परिज्ञाय समीपं गत्वा स्वयमेव कौतुकादताडयत् । भूयश्च

शक्तिवैकल्येन=शक्तयामावात् । नभ्रस्य=प्रणतस्य । अन्नःमारशून्यतया लघायसः=क्षुद्रस्य,
 मानहीनस्य । जन्मिनः=शरीरिणः । नृणस्य न तुलयता ॥ ११५ ॥ जनुजाभरणस्य=लाक्षानि-
 भिताऽभूषणस्य । (नकली गहना) । रूपेण=संघटनाविशेषेण । (बाहरी नकली तडक
 न इफ से) किं ?=न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः ॥ ११६ ॥ यावद्=साकल्येन । क्षुधाक्षायः=
 क्षीणः—शुष्कः कण्ठो यस्यासौ—क्षुत्क्षामकण्ठः=क्षुधानुराच्चः । दुन्दुभः=वायभेदस्य =
 (‘नगाड़ा’) । वलीभिः=लताभिः, शाखाग्रैश्च । हन्यमानस्य=ताडयमानस्य । विनष्टः=
 मृतोऽस्मि नूनम् । प्रकर्षेण उच्चारितः शब्दो येनासौ तस्य=शब्दशयमानस्य सत्त्वस्य ।

हर्षाद्वचिन्तयन्—‘अहो ! चिरादेतदस्माकं महद्वोजनमापतितं, नन्मानं प्रभूतमांसमेदोऽस्मृग्भिः परिपूर्णितं भविष्यति।’ ततः परुष-चर्मावगुणितं तत्कथमपि विदार्थ्यैकदेशे छिद्रं कृत्वा संहस्रमना मध्ये प्रविष्टः। परं चर्मविदारणतो दंष्ट्राभङ्गः समजनि।

अथ निराशीभूतस्तदारुदोपमवलोक्य श्लोकमेनमपठन्—

‘श्रत्वैवं भैरवं शब्दं मन्येऽहं मेदसां निधिम्।
अनुप्रविश्य विज्ञातं यावद्यमं च दारु च॥’

प्रतिनिर्गत्याऽन्तर्लीनमवहस्याऽवरीन्—‘पूर्वमेव मया ज्ञातम्—’ इति । अतोऽहं ब्रवीमि—न शब्दमात्राद्वेतव्यम् ।

पिङ्गलक आह—‘भोः ! पश्याऽयं मम सर्वोऽपि परिग्रहो भयव्याकुलितमनाः पलायितुमिच्छति, तत्कथमहं धैर्यावष्टम्भं करोमि ? मोऽब्रवीत्—स्वामिन् ! नैतेषामेप दोषः । यतः स्वामिसदृशा एव भवन्ति भृत्याः । उक्तच्च—

अथः शास्त्रं शास्त्रं वीणा वाणी नरश्च नारी च ।

पुरुषविशेषं प्राप्ता भवन्त्ययोग्याश्च योग्याश्च ॥ ११९ ॥

तत्पौरुषाऽवष्टम्भं कृत्वा त्वं तावदत्रैव प्रतिपालय, यावदहमेनच्छब्दस्वरूपं ज्ञात्वाऽगच्छामि, ततः पश्चाद्यथोचितं कार्यमिति । पिङ्गलक आह—‘किन्तत्र भवान् गन्तुमुत्सहते ? ।’

स आह—‘किं स्वाम्यादेशात्सुभृत्यस्य कृत्यमकृत्यमस्ति किञ्चित् ? । उक्तच्च—

स्वाम्यादेशात्सुभृत्यस्य न भीः संजायते क्वचित् ।

प्रविशेन्मुखमाहेयं दुस्तरं वा महार्णवम् ॥ १२० ॥

वर्मर्शयेत्=विचारयेत् । वेगाकृत्यं न कुरुते ॥ ११८ ॥ प्रभूतैः=वहुलैः । असूक्=रुधिरम् । पश्वेण—कठिनेन चर्मणा अवगुणितं = समाच्छादितं, तत्=वाद्यमाणं । दंष्ट्राभङ्गः=उत्तमङ्गः । (‘दाढ’ ‘जाङ’ ‘तोखे दाँत’ ‘नेश’) । दारुदेषं = काष्ठमात्राविशिष्टं—चर्मणो विदारितत्वात् । परिग्रहः=अनुयायिवर्गः । स्वामिसदृशा:=राजानुरूपाः । पुरुषविशेषं=योग्यमयोग्यच्च प्राप्य । योग्यं प्राप्य योग्याः, अयोग्यं प्राप्य अयोग्याश्च भवन्तीत्याशयः ॥ ११९ ॥

सुभृत्यस्य स्वाम्यादेशात् = दुष्करमपि राजानुशासनं निशम्य भयं न जायते, स हि

नथा च—स्वाम्यादिष्टस्तु यो भृत्यः समं विषममेव च ।
मन्यते-न स सन्धार्यो भूमुजा भूतिमिळ्ठता ॥ १२१ ॥

पिङ्गलक आह—‘भद्र ! यद्येवं तदूच्छ्व, शिवास्ते पन्थानः
मन्तु’—इति । दमनकोऽपि तं प्रणम्य सर्जीवकशङ्कानुसारी प्रतस्थे ।

अथ दमनके गते भयव्याकुलमनाः पिङ्गलकश्चिन्तयामास—
‘अहो ! न शोभनं कृतं मया यत्तस्य विश्वासं गत्वाऽऽत्माऽभिप्रायो
निवेदितः । कदाचिह्नमनकोऽयमुभयवेतनत्वान्ममोपरि दुष्टवुद्धिः म्या-
द्धृष्टाधिकारत्वाद्वा । उत्कच्च—

ये भवन्ति महीपस्य संमानितविमानिताः ।

यतन्ते तस्य नाशाय कुलीना अपि सर्वदा ॥ १२२ ॥

तत्तावदस्य चिकीर्पितं वेत्तुं स्थानान्तरं गत्वा प्रतिपालयामि,
कदाचिह्नमनकस्तमादाय मां व्यापादयितुमिळ्ठति । उत्कच्च—

न बध्यन्ते ह्यविश्वस्ता वलिभिरुबला अपि ।

विश्वस्तोऽस्वेव बध्यन्ते वलवन्तोऽपि दुर्बलैः ॥ १२३ ॥

वृहस्पतेरपि प्राज्ञो न विश्वासं ब्रजेच्चरः ।

य इच्छेदात्मनो वृद्धिमायुष्यं च सुखानि च ॥ १२४ ॥

शपथैः सन्धितस्यापि न विश्वासं ब्रजेद्रिपाः ।

राज्यलाभोद्यतो वृत्रः शक्रेण शपथैर्हतः ॥ १२५ ॥

मुभृत्यः—अहे: मर्पस्येदम्—आहेयं मुखं, दुस्तरं समुद्रं वा प्रविशेत् । सम्भावनायां लिङ् ।
‘प्रविशेद्वद्व्यवाहेऽपी’त्यपि पाठः ॥ १२० ॥

समं = सरलं, विषमं = कठिनमसम्भवि च न मन्यते स सन्धार्यः = संस्थाप्यः ॥ १२१ ॥
उभयत्र वेतनं, यस्यासौ तथा । शत्रुपक्षात्स्वपक्षाच्च गृहीतवेतनः—उभयत्र भृत्यत्वमास्थितः
तस्य भावसतत्वात् । पूर्वं संमानिताः पश्चात् विमानिताः, भ्रष्टाधिकाराः । तस्य=राशः ।
कुलानाः = सत्कुलप्रमूताः, कुलक्रमागताथ ॥ १२२ ॥

तं = मच्छत्रुं, व्यापादयितुं = निहन्तुम् । निर्बलैः—विश्वासमुपगता वलिनोपि—बध्यन्ते
=हन्यन्ते ॥ १२३ ॥ वृहस्पतेरपि = शुरगुरोरपि, तत्तुल्युद्देवेवगुरुल्यप्रभावस्थापि च, न
विश्वासं ब्रजेत् । ‘यदा नातिविदो वृहस्पतेरपि एतन्मतमस्ति यत्—कस्यापि विश्वामो
न कार्द’ इतीत्यर्थः । सन्धितस्य = उत्पादितविश्वासस्य । राज्यलाभोद्यत=इन्द्र-
पदभिलासा । वृत्रः = इन्द्रेण शपथैविश्वासं आहयित्वाऽवसरे मारितः ॥ १२५ ॥

न विश्वासं विना शशुद्देवानामपि सिध्यति ।
विश्वासात्रिवदशैन्द्रेण दितेर्गर्भे विदारितः ॥ १२६ ॥

एवं सम्प्रधार्य स्थानान्तरं गत्वा दमनकमार्गमवलोकयन्नेकाकी
तस्थौ । दमनकोऽपि सञ्जीवकसकाशं गत्वा 'वृपभोऽय' मिति परि-
ज्ञाय हृष्टमना व्यचिन्तयत्—'अहो ! शोभनमापत्तिम्, अनेनै-
तम्य सन्धिविग्रहद्वारेण मम पिङ्गलको वड्यो भविष्यती' ति । उत्तर्च-
न कौलीनां शौहार्दांश्च पावक्ये प्रवर्तते ।

मन्त्रिणां यावदभ्येति व्यसनं शोकमेव च ॥ १२७ ॥

सदैवाऽपद्धते राजा भोग्यो भवति मन्त्रिणाम् ।

अतएव हि वाञ्छन्ति मन्त्रिणः साऽपदं नृपम् ॥ १२८ ॥

यथा वाञ्छति नीरोगः कदाचिन्नै चिकित्सकम् ।

तथाऽपद्धिनो राजा सचिवं नाऽभिवाञ्छति ॥ १२९ ॥

एवं विचिन्तयन्पिङ्गलकाऽभिमुखः प्रतस्ये । पिङ्गलकोऽपि
तमायान्तं प्रेक्ष्य स्वाकारं रक्षन्यथापूर्वमवस्थितः । दमनकोऽपि
पिङ्गलकसकाशं गत्वा प्रणम्योपविष्टः ।

पिङ्गलक आह—'किं हृष्टं भवता तत्सत्त्वम् ?' । दमनक आह—
'हृष्टं स्वामिप्रसादात् ।' पिङ्गलक आह—'अपि सत्यम् ?' । दमनक-
आह—किं स्वामिपादानामग्रेऽसत्यं विज्ञाप्यते ! । उत्तर्च—
अपि स्वल्पमसत्यं यः पुरो वदति भूमुजाम् ।

देवानाञ्च-विनश्येत स द्रुतं सुमहानपि ॥ १३० ॥

सिध्यति = वशं गच्छति ॥ १२६ ॥ सम्प्रधार्य = निश्चित्य । शोभनमापत्तिं = युक्तं
जातम् । ('अच्छा मौका आया है') । अनेन = वृपमेण, । एतस्य = सिंहस्य ।
सन्धिविग्रहद्वारेण = मैत्री-युद्धादिप्रसङ्गेन । कौलान्यात् = सत्कुलप्रमृतलवान्मन्त्रिणाम् ।
सौहार्दात्=सुहृद्वावेन वा मन्त्रिणां, वाक्ये न प्रवर्तते = तेषां वाक्यं नानुरूप्यते ।
न्यसनं = विपत्तिम् ॥ १२७ ॥ भोग्यो भवति = वशे तिष्ठति । नीरोगः = स्वस्थः
॥ १२९ ॥ स्वाकारं रक्षन् = स्वमनोभावं गृहमानः, निर्भयमिवात्मानं 'दर्शयन् ।
यथापूर्वे = चतुर्मण्डलब्लूहेन । स्वामिप्रसादात्=भवत्रपतेनानुग्रहेण च । अपि सत्यम् = कि
सत्यमुच्यते भवता एतत् ('क्या यह सच है?') । स्वामिपादानां=मान्यानां प्रभूणां । देवानां-
भूमुजां=राजां च पुरतीत्यपि असत्यं बदन् द्रुतं विनश्यतीत्यर्थः ॥ १३० ॥

१ 'यथा नेच्छति' श्वर्ति पा० । २ 'मुचिकिस्तकम्' । पा० ।

तथा च— सर्वदेवमयो राजा मनुना सम्प्रकीर्तिः ।
 तस्मारां देववत्पश्येत्त व्यलीकेन कर्हिचिन् ॥ १३१ ॥
 सर्वदेवमयस्याऽपि विशेषो नृपतेरथम् ।
 शुभाऽशुभफलं सद्यो नृपादेवाज्ञवान्तरे ॥ १३२ ॥

पिङ्गलक आह—‘अथवा सत्यं हष्टुं भविष्यति भवता, न दीनोपरि
 महान्तः कुर्यान्ति, अतो न त्वं तेन निपातितः । यतः—

तृणानि नोन्मूलयति प्रभञ्जनो मृदूनि नीचैः प्रणतानि सर्वतः ।
 स्वभाव पृथोज्ञतचेतसामयं ‘महान्महन्स्वेव करोति विक्रमम्’ ॥ १३३ ॥
 अपिच—गण्डस्थलेषु मदवारिषु बद्धरागमत्तभ्रमद्धमरपादनलाहतोऽपि ।
 कोपं न गच्छति नितान्तबलोऽपि नागस्तुल्ये बले तु बलवान्परिकोपमेति ॥ १३४ ॥

दमनक आह—‘अस्त्वेवं स महात्मा, वयं कृपणाः, तथापि म्वार्मी
 यदि कथयति ततो भृत्यत्वेन योज्येयामि ।’ पिङ्गलक आह सोन्दृष्टासं—‘किं
 भवाव्यवक्नोत्येवं कर्तुम्? । दमनक आह—‘किमसाध्यं बुद्धेरस्ति? । उक्तच्च—
 न तच्छ्वर्णे नागेन्द्रैर्हर्यैर्ह पदातिभिः ।
 कार्यं संसिद्धिमध्येति यथा बुद्ध्या प्रसाधितम् ॥ १३५ ॥

पिङ्गलक आह—‘यद्येवं तर्ष्यमात्यपदेऽध्यारोपितस्त्वम् । अश्च
 प्रभृति प्रसादनिग्रहादिकं त्वयैव कार्यमिति निश्चयः ।’

तं = राजानं, व्यलीकेन = वैपरीत्येन, दुष्टभावेन ॥ १३१ ॥ नृपात्सद्य इहैव च फलं,
 तेवात् भवान्तरे = जन्मान्तरे नरकस्वर्गादि फलं भवति । एव देवादपि महान्
 भूपतिरित्याशयः ॥ १३२ ॥

दीनोपरि=तुच्छजनोपरि । तेन=महता तेन सत्वेन । प्रभञ्जनः=वायुः, सर्वतोभावेन
 प्रणतानि तृणानि न उन्मूलयति, स्तव्धान् वृक्षांस्तु नाशयति । उज्ञतचेतसां = महताम् ।
 महत्सु विक्रमदर्शनं स्वभावः = प्रकृतिः ॥ १३३ ॥ गण्डस्थले प्रवहत्सु मदवारिष्ठरेषु बद्धो
 गागः = स्पृहा यैस्तेषां मत्तानां भ्रमतां भ्रमराणां—पादतलैराहतोऽपि=ताङ्गितोऽपि नितान्त-
 बलोऽपि=महाबलोऽपि नागः=कुञ्जरो न कोपं गच्छति=भ्रमगोपरि न कुर्यान्ति । बलवान्
 हि तुल्यबल एव कोपमधिगच्छतीत्याशयः ॥ १३४ ॥ महात्मा=बलीयान् । कृपणाः=दीनाः ।
 नियोजयामि—‘त’ भिति शेषः । सोन्दृष्टासं = दीर्घं श्वासं विमुच्य । आह=जगाद । पदा-
 नयः=पादचारिणः सैनिकाः ॥ १३५ ॥ प्रसादनिग्रहादिकं=पारितोपिकदानवथबन्धनादिकम् ।

१ ‘भृत्यत्वे नियोजयामि’—इति पाठन्तरम् ।

अथ दमनकः सत्वरं गत्वा सज्जीवकं साक्षेपमाहूतवान्—‘एहोहीतो
दुष्टवृष्टभ !, स्वामी पिङ्गलकस्त्वामाकारयति, किं निःशङ्को भूत्वा
मुहुर्मुहुर्नर्दसि वृथा’—इति । तच्छ्रुत्वा सज्जीवकोऽब्रवीत्—‘भद्र !
कोऽयं पिङ्गलकः? । दमनक आह—(सविस्मयं)—‘किं स्वामिनं पिङ्गलकमपि
न जानासि ? । पुनश्च सामर्षमाह—क्षणं प्रतिपालय, फलेनैव ज्ञास्यसि ।
नन्वयं सर्वमृगपरिवृतो वटतले स्वामी पिङ्गलकनामा सिंहस्तिष्ठति ।’

तच्छ्रुत्वा गतायुषमिवाऽऽत्मानं मन्यमानः सज्जीवकः परं विषाढ़—
मगमन् । आह च—‘भद्र ! भवान्सायुसमाचारो वचनपटुश्च दृश्यते,
तद्यदि मामवश्यं तत्र नयसि—तद्भयप्रदानेन स्वामिनः सकाशात्प्रसादः
कारयितव्यः ।’ दमनक आह—‘भोः ! सत्यमभिहितं भवता,
नीतिरेपा । यतः—

पर्यन्तो लभ्यते भूमे: समुद्रस्य गिरेरपि ।

न कथञ्चिन्महीपस्य चित्तान्तः केनचित्कवचित् ॥ १३६ ॥

तत्त्वमत्रैव तिष्ठ, यावदहं तं समये धृत्वा ततः पश्चात्त्वामानया-
मी’ति । तथाऽनुष्ठिते दमनकः पिङ्गलकसकाशं गत्वेदमाह—‘स्वामिन !
न तत्प्राकृतं सत्त्वम्, स हि भवतो महेश्वरस्य वाहनभूतो वृषभः—
इति । मया पृष्ठ इदमूचे—महेश्वरेण परितुष्टेन कालिन्दीपरिसरे

प्रसादः=पारितोषिकवितरणं, । निग्रहः = दण्डपातनम् । निश्चयः—‘ममे’ तिशेषः ।

अथ = सिंहप्रतिशानन्तरम् । साक्षेपं = समर्तसन्म् । तं = वृषभम् । इदम् = इत्थम् ।
इतः = इह (यहाँ) । आकारयति = आहयति । नर्दसि = शब्दं करोषि । भद्र ! = साधो
(‘भाई’ ‘भले आदमी’) । क्षणं=किञ्चित्कालं । प्रतिपालय=स्थिरो भव । ननु=निश्चये ।
‘प्रदनावधारणानुशानुनयामन्त्रणे ननु’ इत्यमरः । मृगाः = वन्यजन्तवः । साधुसमाचारः
= सङ्गोनितव्यवहारशीलः । प्रसादः=अनुग्रहः । घणा=वक्ष्यमाणा ‘राजो विशासो न
कायं’ इत्येवंरूपा । पर्यन्तः=प्रान्तभागः, चित्तान्तः=हृद्रतो भागः । क्वचित्=कुत्रचिदपि ॥
न प्राकृतं = न साधारणं, किन्तु दिव्यं, तदेवाह—स हीति । सः = मन्त्रं, वृषभः ।
विषेयगतलिङ्गोपादानात्मुस्त्वमत्र । नया = दमनकेन । पृष्ठः = गर्जनकारणं पृष्ठः स वृषभः ।
इदं = वक्ष्यमाणम् । परितुष्टेन = प्रसन्नेन । कालिन्दीपरिसरे = यमुनाकूले । शाष्पामाणि

१ समये धृत्वा=अभयवचनमादाय । ‘दृष्टे’ति पाठान्तरम् ।

शष्पाग्राणि भक्षयितुं समादिष्टः । किं वहुना,-मम प्रदत्तं भगवता
क्रीडार्थं वनमिदम् ।' पिङ्गलक आह-सभयम्-'सत्यं ज्ञातं मयाऽधुना,
न देवताप्रसादं विना शष्पभोजिनो व्यालाकीर्णे एवंविधे वने निःशङ्कं
नर्दन्तो भ्रमन्ति । ततस्त्वया किमभिहितम् ? ।' दमनक आह—
'स्वामिन् ! एतदभिहितं मया-यदेतद्वनं चण्डिकावाहनभूतस्य
मत्स्वामिनः पिङ्गलकनाम्नः सिंहस्य विषयीभूतम्, तद्वानभ्यागतः
प्रियोऽतिथिः । ततस्य सकाशं गत्वा ध्रातुस्त्वैनैकत्र भक्षणपान-
विहरणक्रियाभिरेकस्थानाश्रयेण कालो नेयः'-इति । ततस्तेनापि-
सर्वमेतत्प्रतिपन्नम् । उक्तच्च सहर्षम्—'स्वामिनः सकाशादभयदक्षिणा
दापयितव्या'-इति । तदत्र स्वामी प्रमाणम् ।

तच्छुत्वा पिङ्गलक आह—'साधु सुमते ! साधु मन्त्रशोत्रिय !
साधु ! मम हृदयेन सह संमन्त्र्य भवतेदमभिहितम् । तदत्ता
मया तस्याऽभयदक्षिणा । परं सोऽपि मदर्थेऽभयदक्षिणां याचयित्वा
द्रुततरमानीयताम्—इति । अथ साधु चेदमुच्यते—

अन्तःसारैरकुटिलरच्छदैः सुपरीक्षितैः ।

मन्त्रिभिर्धर्यते राज्यं—सुस्तम्भरिव मन्दिरम् ॥ १३७ ॥

तथा च—मन्त्रिणां भिज्ञसन्धाने भिषजां साचिपातिके ।

कर्मण व्यज्यते प्रज्ञा, स्वस्थे को वा न पण्डितः ॥ १३८ ॥

कोमलघासाकुग्राणि । किं वहुना भाषणेन-अस्य वनस्य प्रमुहमेव शम्भुना कृतोऽरिम्-।
इदमाहेति पूर्वेण सम्बन्धः ।

शष्पभोजिनः=धासभोजिनो वर्लीवदांदयः । व्यालाकीर्णे=हिंसजन्तुभिः परिष्वते ।
एवंविधे=अतिगहने । ततः=वृषभवनश्रवणानन्तरं । चण्डिकावाहनभूतस्य=दुर्गांवा-
हनस्य सिंहस्य । विषयीभूतम्=अधिकारान्तर्गतम् । तस्य=सिंहस्य । सकाशं=समीपं ।
कालो नेयः=समयो यापनायः । प्रतिपन्नं=स्त्रीकृतम् । उक्तच्च=स्त्रीकृत्य पुनरुक्तच्च । स्वामिनः=
सिंहस्य । अभयमेव दक्षिणा दापयितव्या । 'मष्ट'मिति शेषः । सुमते=सुवुद्धे ! दमनक !
साधु=शोभनन्त्वया कृतम् । हृदयेन सह सम्मन्त्र्य=मर्दायेन मनसा सहालापं कृतेव ।
मया यदभिर्धयं तदेव त्वयोक्तमिति यावत् । तस्य=तरमै वृषभाय । मदर्थे=मत्कृते ।

अन्तःसारैः=ज्ञाननिधिभिः, दृढतरैश्च । अकुटिलैः=सरलाशयैः, अवकैश्च । सुपरीक्षितैः=
चिरं पर्णक्षितैः, भारधारणसमर्थैश्च । स्तम्भैः=मन्दिरमिव=भवनमिव अमात्यै राज्यं धार्यते १३७
भिज्ञस्य=विरुद्धस्य, भेदं गतस्य च । सन्धाने=सान्त्वने, मैलने च । प्रशा=बुद्धिचातुर्य,

भेदः]

* अभिनवराजलक्ष्मीविराजितम् *

दमनकोऽपि तं प्रणस्य सञ्जीवकसकाशं प्रस्थितः सहर्पम-
चिन्तयत्, अहो ! प्रसादसंमुखो नः म्वामी, वचनवशगश्च
संवृत्तः, तज्जास्ति धन्यतरो मम । उक्तः—
अमृतं शिक्षिरे वर्द्धरमृतं प्रियदर्शनम्, अमृतं राजसम्मानममृत क्षीरभोजनम् । ३७

अथ सञ्जीवकसकाशमासाद्य सप्रश्रयमुवाच—‘भो मित्र !
प्रौर्थितोऽसौ मया भवदर्थे म्वामी, अभयप्रदानं दायिनश्च । तद्विश्रद्धं
गम्यतामिति । परं त्वया राजप्रसादमासाद्य मया सह समयधर्मेण
वर्तितव्यम् । न गर्वमासाद्य स्वप्रमुतया विचरणीयम् । अहमपि तत्र
सङ्केतेन मर्वा राज्यधुरममात्यपदवीमाश्रित्योद्विष्ट्यामि । एवं कृते
द्वयोगस्यावयो राज्यलक्ष्मीर्मोग्या भविष्यति ।’ उक्तः—

आखेटकस्य धर्मेण विभवाः स्युर्वशे नृणाम् ।

नृपतीन् प्रेरयत्येको हन्त्यन्योऽत्र मृगानिव ॥ १४० ॥
तथा च —यो न पूजयते गर्वादुत्तमाऽधमध्यमान् ।

भूरसंमानमान्योऽपि अश्यते—द्रन्तिलो यथा ॥ १४१ ॥

सञ्जीवक आह—‘कथमेतन् ? ।’ सोऽब्रवीत्—

वयज्यते=अभिशायते । साक्षिपातिकं कर्मणि=सक्षिपातरोगचिकित्मायां । भिपजां=वैचानां,
नुदेः पराक्षा भवति । स्वस्ये=साधारणावस्थापत्रे ज्वरादिचिकित्सास्ये कर्मणि । कः पण्डितः
न । अपि तु मत्वे एव साधारणोऽपि जनः पण्डितः (किं पुनर्वैयनामधारा)इत्यर्थः ॥ १४२ ॥

सप्रश्रथं=सन्त्वेह । ‘प्रश्रयप्रणयीं समी’ इत्यमरः । असौ स्वामी—सुहः—मया भवदर्थम् ।
अभयप्रदानं प्रार्थितः=याचितः । मिलिता चाऽभयदक्षिणेति यावत् । विश्वबं=विश्वम्-
नहितं यथा स्यात्तथा । ‘समौ विश्वभविश्वासौ’ इत्यमरः । समयधर्मेण=प्रतिशानुसारेण ।
इदानां याऽब्रवयोः शपथादिना प्रतिशापूर्वकं मैत्री मजाता, सा त्वया सर्वदा पालनायेन
भावः । गर्वमासाद्य=अभिनानमालमध्य । स्वप्रमुतया=स्वातन्त्र्येण । नक्षेनेन=अनुमत्या ।
राज्यधुरं=राज्यमारम् । उद्विष्ट्यामि=आत्मनि धारयिष्यामि ।

आखेटकस्य=सृगयायाः । धर्मेण=वयवहारेण । नृणां=मनुष्याणां । वशे=प्रमुत्वे । विभवाः
=सम्पदः स्युः । सृगयाधर्ममेवाह—नृपतीनिति । नृपतीन्=पशुधर्माणो राज्ञः, धनिनश्च ।
एकः प्रेरयति=विश्वासं ग्राहयति, स्वलाभप्रदेषु शुभाशुभेषु कर्मम् योजयति च । विश्वस्तांश्च
तानन्यो हन्ति=वच्यति, स्वकार्यं साधयति च । तद्वावाभ्यां राजलक्ष्मीभौक्तं शक्यते,
परस्परसाहाय्येनेत्याशयः ‘नृपशू’ निति केचित्पठन्ति ॥ १४३ ॥

१. ‘प्रसादितोऽसौ’ । २. ‘यथौचित्यं नृपाश्रितान् । स प्राप्नोति पदं ब्रंशं भूपतेर्द्वितिलो यथा ॥१४४॥

३. दन्तिलगोरम्भ--कथा ।

अस्त्यत्र धरातले वर्धमानं नाम नगरम् । तत्र दन्तिलो नाम नानाभाण्डपतिः सकलपुरनायकः प्रतिवसति स्म । तेन पुरकार्यं नृपकार्यं च कुर्वता तुष्टि नीतास्तपुरवासिनो लोका नृपतिश्च ।

किं बहुना—न कोऽपि ताहूक्केनापि चतुरो हृष्टे नापि श्रुतो वेति । अथवा साधु चेदमुच्यते—

‘नरपतिहितकर्ता द्वेष्यतां याति लोके
जनपदहितकर्ता त्यज्यते पार्थिवेन्द्रैः’ ।

—इति महति विरोधे वर्तमाने समाने
नृपतिजनपदानां दुर्लभः कार्यकर्ता ॥ १४२ ॥

अथैवं गच्छति काले दन्तिलस्य कदाचित्कन्याविवाहः संप्रवृत्तः । तत्र तेन सर्वे पुरनिवासिनो राजसन्निधिलोकाश्च सम्मानपुरः सरमा-मन्त्र्य भोजिता वस्त्रादिभिः सत्कृताश्च । ततो विवाहानन्तरं राजा मान्तःपुरः स्वगृहमानीयाऽभ्यर्थितः ।

अथ तस्य नृपतेर्गृहसंमार्जनकर्ता गोरम्भो नाम राजसेवको गृहायातोऽपि तेनानुचितस्थाने उपविष्टोऽवज्ञयाऽर्धचन्द्रं दत्त्वा निःसारितः ।

सोऽपि ततः प्रभृति निःश्वसन्नपमानान्न रात्रावप्यधिश्वेते । ‘कथं मया तस्य भाण्डपते राजप्रसादहानिः कर्तव्ये’ति चिन्तयन्नास्ते ।

नानाभाण्डपतिः=राजकीयगोष्ठागारथनागाराध्यक्षः । [‘खाजांची’ ‘भण्डारो’] । सकलपुरनायकः=नागरिकजननिवहप्रधानः (‘पच्च-मुखिया’) । ताढ़क=दन्तिलतुल्यः ।

नरपतीति । जनपदानां=लोकानां । ‘भवेत्तुनपदो जानपदोपि जनदेशयो’रिति विश्वः । हितकर्ता=कल्याणकर्ता ॥ १४२ ॥

राजसन्निधिलोकाः=राजसेवकाः । राजपुरुषाः । अन्तःपुरेण सहितः=सान्तःपुरः=सपुत्रकलत्रः । अभ्यर्थितः=पूजितः । सत्कृतश्च । अनुचितस्थाने=स्वायोर्ये उच्चपदे । अवज्ञया=अपमानेन । अर्धचन्द्रं=गलहस्तं दत्त्वा । (गर्दनिया देकर) । सोपि=

१. कथेयम इलीलत्वात्काश्चिकमध्यमपरीक्षापाठ्यग्रन्थबहिर्भूता । २. ‘गोरभनामा’ ।

अथवा किमनेन वृथा शरीरशोपणेन ? । न किञ्चित्तमया तस्याऽपकर्तुं शक्यमिति । अथवा साधिद्गुच्छते—

यो ह्यपकर्तुमशक्तः कुप्यति किमसौ नैरोऽत्र निर्लज्जः ? ।

उत्पत्तिनोऽपि हि चणकः शक्तः किं आशूकं भड्कुम् ? ॥ १४३ ॥

अथ कदाचित्प्रत्यूपे योगनिद्रां गतम्य राङ्गः शश्याऽन्ते मार्जनं कुर्वन्निदमाह—‘अहो ! दन्तिलस्य महद्दृपत्वं यद्राजमहिपीमालिङ्गति ।’ तच्छुत्वा राजा समस्त्रममुत्थाय नमुवाच—‘भो भो गोरम्भ ! मत्यमेतद्यत्त्वया जलिपतम् ?, किं देवी दन्तिलेन समालिङ्गिता ?’ इति ।

गोरम्भः प्राह—‘देव ! रात्रिजागरणेन शूताऽमत्कस्य मे वलान्निद्रा समायाता, तत्र वेद्यि किं मयाऽभिहितम् ?’ राजा सेष्यम्बगतम्—‘एष तावदस्मद्द्वेऽप्रतिहतगतिः, तथा दन्तिलोऽपि । तत्कदाचिदनेन देवी समालिङ्गयमाना हष्टा भविष्यति, तेनेवमभिहितम् ।’ उत्तर्च—

यद्याच्छति दिवा मत्यो वीक्षते वा करोति वा ।

तत्त्वज्ञेऽपि तदभ्यासादद्रूते वाऽथ करोति वा ॥ १४४ ॥
तथा च—शुभं वा यदि वा पापं यज्ञाणां हृदि संस्थितम् ।

सुगृहमपि तज्ज्ञेयं स्वप्नवाक्यात्तथा मदात् ॥ १४५ ॥

अथवा स्त्रीणां विषये कोऽत्र सन्देहः—

जल्पन्ति साधेमन्येन पश्यन्त्यन्यं सविभ्रमाः ।

हृदतं चिन्तयन्त्यन्यं—प्रियः को नाम योषिताम् ? ॥ १४६ ॥

गोरम्भोपि । भाण्डपते:=अर्थपते: [‘राजभण्डारी’] । राजप्रसादहानिः=राजानुग्रह-भङ्गः । अपकर्तुं=विहन्तुम् । असौ=निर्लज्जो जनः । किम्=किर्मर्थ कुप्यति ? उत्पत्तितोपि=अर्ध्वं प्लुतोपि । आशूकम्=अम्बरीषम् (भाण्ड) । [‘चना उछलकर भाण्ड को नहाँ’ फोड़ सकता] ॥ १४३ ॥ प्रत्यूपे=प्रभाते, योगनिद्राम्=अप्रगाढनिद्राम् । (योगनिद्रा=सचेत निद्रा ।) शश्याते=पर्यङ्कसमीपे । दृपत्वं=धृष्टत्वम् । अप्रतिहता गर्तियस्यामो तथा=अवारितगमनः । सुगृहं=रहस्यभूतमपि, स्वप्नवाक्यं=सुप्रलापः, मदातः=मदादिमदात [‘नदा’] ॥ १४५ ॥

जल्पन्तीति । अन्येन सह भासन्ते, अन्यं कदाक्षादिविभ्रमेण पश्यन्ति, हृदि अन्यं चिन्तयन्ति, स्वयं चध्वाः स्थियस्तासां को नाम प्रियः ! न कोपोत्पर्यः ॥ १४६ ॥

अन्यच्च -

एकेन स्मितपाटलाऽधररुचो जलपन्त्यनल्पाक्षरं
वीक्षन्ते अन्यमितः स्फुटत्कुमुदिनीफुलोल्लसल्लोचनाः ।
दूरोदारचरित्रचित्रविभवं ध्यायन्ति चाऽन्यं धिया
केनेत्थं परमार्थतोऽर्थवदिव प्रेमाऽस्ति वामश्रुवाम् ? ॥ १४७ ॥

तथा च--नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।
नाऽन्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचनाः ॥ १४८ ॥
रहो नास्ति क्षणो नास्ति नास्ति प्रार्थयिता न रः ।
तेन नारद ! नारीणां सतीत्वमुपजायते ॥ १४९ ॥
यो मोहान्मन्यते मृढो 'रक्षेयं मम कामिनी' ।
स तस्या वशगो निर्व्यं भवेक्खाडाशकुन्तवन् ॥ १५० ॥
तासां वाक्यानि कृत्यानि स्वल्पानि सुगुण्यपि ।
करोति, यैः कृतैर्लोके लघुत्वं याति सर्वतः ॥ १५१ ॥

अमुण्डवार्थं कुड्यन्तरेणाह--एकेनेति । स्मितेन पाटला अधरसद रुक् योग्यताः--स्मितपाटलाधरकृन्तः=ईयद्वासपाटलितावराः । रिमतो=विनाशितः या पाटला ('गुलावका फूल) तस्या इव अधरस्य रुक् योगानां इति वा वियदः । अनन्याक्षरं--वहुत्वं यथा स्थातश्चा । एकेन=केनत्रिपुरुषेण । ज्ञपन्ति=मापत्ते । इतः=अम्मान । अन्यं=मित्रं । स्फुटल्लोचनां चामौ कुमुदिनीं च रफुटत्कुमुदिना=विकाशिनांलक्षणलक्षना, गा इव-कुलानि-अत एव-उल्लम्भन्ति लोचनानि यासां ताः, स्फुटत्कुमुदिना-फुलोलमलोचनाः--विकसितकमलिनागुणासुकारिफुलोलासिलोलनयनाः भव्यः । वीक्षन्ते=पश्यन्ति । दूरम्=अत्यन्तम् । उदारं=विशाल, यत् चरित्रं तेन वित्रः=आशर्यप्रदः, वित्रवः=सौन्दर्यादि-मम्पत् यस्यासौः तं=सौन्दर्यादिगुणनिधिम्-अन्यं । धिया=चेतसा । ध्यायन्ति=र्मत्यन्ति । इत्थम्=इत्थथ । परमार्थतः=यस्तुतस्तु । अर्थवदिव=सत्यं । प्रेम=स्नेहः । तु ब्रुवां=विलासिनानां । केन=केनास्ति । केनापि तासां सत्यः स्नेहो नास्ति, परं जगद्वयन्तामाः कपटस्नेहप्रदशनेन केवलभित्याद्यगः ॥ १५२ ॥

काष्ठानां=कार्षः, आपगानां=नर्दाभिः, तृप्यति=पूर्यते । अन्तकः=कालः, सर्वभूतं न तृप्यति । पुंसां=पुरुषः, वामलोचनाः=प्रमदा न तृप्यते अन्यर्थः ॥ १५३ ॥ रहः=एकान्तं स्थानं, नास्ति=न लभ्यते । क्षणः=अवसरः, प्रार्थयिता=कामुकः । तेन=तेनैव ॥ १५४ ॥ मोहात्=मीर्ख्यात्, मृढः=मूर्खः, मम=ममोपरि, रक्ता=अनुरक्ता, इत्थं यो भन्यते स तस्या: प्रमदायाः, क्राणायाः शकुन्तः=पक्षी शुकादिः, तदत् । ('हाथकी कठपुतलां') ॥ १५० ॥ लोकः तासां स्वल्पान्यपि वाक्यानि, सुगुणिकृत्यानि च करोति । तेन च सर्वतो लघुत्वं=लघवं याति १५१

स्थित्यज्ञ यः प्रार्थयते सञ्चिकर्पञ्च गच्छति ।
 हृष्णवं कुरुते सेवां तमेवेच्छन्ति योषितः ॥ १५२ ॥
 अनर्थित्वान्मनुष्याणां भयात्परिजनस्य च ।
 मर्यादायाममर्यादाः स्थित्यस्तिष्ठन्ति सर्वदा ॥ १५३ ॥
 नासां कश्चिदगम्योऽस्ति नासाङ्ग वयसि स्थितिः ।
 विरूपं रूपवन्तं वा 'पुमा'नित्येव भुज्ञते ॥ १५४ ॥
 रक्तो हि जायते भोग्यो नारीणां शाटको यथा ।
 धृष्ट्यते यो दशालम्बी नितर्वे विनिवेशितः ॥ १५५ ॥
 अलक्तको यथा रक्तो निष्पीड्य पुरुषस्तथा ।
 अबलामिर्बलाद्रक्तः पादमूले निपात्यते ॥ १५६ ॥

एवं स राजा वहुविधं विलम्ब्य तत्प्रभृति द्रन्तिलम्य प्रसाद-
 परगाङ्गायुः मज्जातः । किं वहुना-राजद्वारप्रवेशोऽपि तस्य निवारितः ।
 द्रन्तिलोऽप्यक्रमादेव प्रसादपरगाङ्गायुमवनिपतिमवलोक्य
 चिन्तयामास-‘अहो ! साधु चेद्मुच्यते-

कोऽर्थान्प्राप्य न गवितो, विपरिणः कस्यापदोऽस्तङ्गताः ?

स्त्रीभिः कस्य न खण्डितं भुवि मनः, को नाम राजां प्रियः ? ।
 कः कालस्य न गोचरान्तरगतः, कोऽर्थी गनो गौरवं, ?

को वा दुर्जनवागुरामु पतितः क्षेमेण यातः पुमान् ? ॥ १५७ ॥

मनिकर्म=सामाज्यग । ईश्वर=किञ्चिदिति । अनर्थित्वादिर्वान् । अथिना=कामु
 वानामभावात्, परिजनस्य=जनन्युवर्गादः, मर्यादायां=कुलधर्मपालने, अमर्यादाः=मर्यादा
 शून्याः, प्रोक्षानदपाः प्रमदाः । वयसि स्थितिः=अवस्थायामास्थान्ति, वालोऽयं वृद्धोयमिनि
 विचारो नास्तीत्यर्थः । 'पुमानयार्मलंव दृष्टा, भुज्ञते=सेवन्ते । यदा आसां यौवनवार्धः ये
 योमेदोनास्तीत्यर्थः ॥ १५८ ॥

रक्तं हृति । रक्तः=अनुरक्तः, मञ्जिष्ठादिना रक्तश्च । भोग्यः=उपयोगाहः, धारणयोग्यश्च ।
 शाटकः=वस्त्रविशेषः ('साढ़ी') । यः शाटकः, दशालम्बी=प्रान्नभागावलम्यनः, ('किनारा')
 नितर्वे=कटिपश्चाङ्गागे, विनिवेशितः=रथापितः सन्, धृष्ट्यते=धृष्णेन पीड्यते, एवमनुरक्तः
 पुमानपि नितम्बमारुदः=जघनारुदः, दशालम्बी=कामदशामूढः, धृष्ट्यते=पीड्यते । नाना-
 विधैर्वाक्यैर्मर्कटवन्निदेशं कार्यते चेत्यर्थः । धृष्ट्यते' इति पाठः ॥ १५९ ॥

यथा रक्तोऽलक्तकः=यावकः, (यावक=‘महावर’ ‘मेहदी’ ‘अलता’) । निष्पीड्य=नितरां पीड्यत्वा, अबलाभिः=पादमूले=पादप्राप्त्ये । निपात्यते=संयोज्यते, एवं रक्तः
 पुमानपि प्रमदाभिः पादयोनिपात्यते=तिरस्क्रियते ॥ १६० ॥

विलम्ब्य=विलापं छृत्वा । प्रसादपराङ्गुलः=विरक्तः । अर्थान्=धनं प्राप्य । को न

तथा च-काके शौचं द्यतकरे च सत्यं सर्वे क्षान्तिः श्रीषु कामोपशान्तिः ।
लीबे धैर्यं मद्येष तत्त्वचिन्ता राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा ? ॥१५६॥

अपरं-मया अस्य भूपतेः, (अथवा) अन्यस्यापि कस्यचिन
राजसम्बन्धिनः स्वप्नेऽपि नाऽनिष्टं कृतम्, तत्किमिति पराञ्जुखो मां
प्रति भूपतिः ?-इति ।

एवं तं दन्तिलं कदाचिद्राजद्वारे विष्कम्भितं विलोक्य संमार्जन-
कर्ता गोरम्भो विहम्य द्वारपालानिदमूचे-‘भो भो द्वारपालः !
राजप्रसादाऽधिष्ठितोऽयं दन्तिलः स्वयं निग्रहाऽनुग्रहकर्ता च । तदनेन
निवागितेन यथाऽहं तथा यूथमप्यर्थचन्द्रभागिनो भविष्यथ ।’

तच्छ्रुत्वा दन्तिलश्रिन्तयामास-‘नूनमिदमस्य गोरम्भस्य चेष्टितम् ।
अथवा साध्विदमुच्यते-

अकुलीनोऽपि मूर्खोऽपि भूपालं योऽत्र सेवते ।

अपि संमानहीनोऽपि स सर्वत्र प्रपूज्यते ॥ १५९ ॥

अपि कापुरुषो भीरुः स्याच्चेष्टुपतिसेवकः ।

तथापि न पराभूति जनादार्ढोति मानवः ॥ १६० ॥

एवं स वहुविधं विलक्ष्मनाः सोद्देशो गतप्रभावः
स्वगृहं गत्वा निशामुखे गोरम्भमाहूय वस्त्रयुगलेन संमान्येद-
मुवाच-‘भद्र ! मया न तदा त्वं रागवशान्निःसारितः । यतस्वं

गर्वितः ? सर्वोपि गर्वितो भवति । विषयिणः=विषयलम्पदस्य कस्य पुंसः । आपदः=
विषयत्यः, अस्तद्वाताः=विनष्टाः । न कस्यापि । खण्डितं=विकृतिमापादितम् । कालस्य-
मृत्योः, गोचरान्तरगतः=विषयीभूतः, अर्थी=याचकः, दुर्जनानां वागुरामु=जालेषु । ‘वागुरा
मृगवन्धनी’त्यमरः । पतितः=प्रपतितः (‘फंसा हुआ’) । क्षेमेण=कुशलेन । को यातः=को
निर्यातः ? (कौन निकला है ?) ॥ १५७ ॥

काके=वायसे । शौचं=शुद्धिः । क्षान्तिः=क्षमा । लीबे=कातरे । धैर्यं=साहसं । तत्त्व-
चिन्ता=विवेकः । विष्कम्भितं=द्वारपालैनिवारितम् । (‘दर्वांजे पर रोके गए’) । राजप्रसा-
दाधिष्ठितः=राजानुगृहीतः । अर्थचन्द्रभागिनः=अनेन स्वाधिकाराच्याविता भविष्यथ ।
सोपहासं सेष्यते वाक्यमेतत्स्वापमानस्मारणाय गोरम्भेण प्रयुक्तम् । इदं=राजविरागजननं ।
कापुरुषः=नीचः ॥ १६० ॥

विलक्ष्मनाः=लज्जितः । सोद्देशः=शोकाकुलः । गतप्रभावः=निग्रहानुग्रहसामर्थ्य-

ब्राह्मणानामग्रतोऽनुचितस्थाने समुपविष्टो दृष्ट इत्यपमानितः
तत्क्षम्यताम् ।' सोऽपि स्वर्गराज्योपमं तद्वन्नयुगलमासाद्य परं
परितोषं गत्वा तमुवाच—‘भोः श्रेष्ठिन ! क्षान्तं मया ते तन.
तद्भ्य मन्मानेभ्य कृते पश्य मे बुद्धिप्रभावं राजप्रसादं च ।'
एवमुक्त्वा सपरितोषं निष्क्रान्तः । माशु चेदमुच्यने—

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिभ् ।

अहो ! सुसद्दी चेष्टा तुलायष्टः खलस्य च ॥ १६१ ॥

ततश्चान्येद्युः स गोरम्भो गजकुलं गत्वा योगनिद्रां गतम्य
भूपतेः संमार्जनक्रियां कुर्वन्निद्रमाह—‘अहो ! अविवेकोऽस्मद्भू-
पतेः, यत्पुरीषोत्सर्गमाचर्णविर्भट्टीभक्षणं करोति ।’ तच्छ्रुत्वा
राजा सविस्मयं तमुवाच—‘रे रे गोरम्भ ! किमप्रस्तुतं लपसि ?
गृहकर्मकर्णं मत्वा त्वां न व्यापादयामि, किं त्वया कदाचिद्व-
मेवंविधं कर्म समाचरन्दृष्टः ?’ सोऽब्रवीत—‘देव ! व्यूतासक्ततया
रात्रिजागरणेन सम्मार्जनं कुर्वाणस्य मम वलान्निद्रा समा-
याता, तयाऽधिष्ठितेन मया ‘किञ्चिज्जल्पितम्’ तत्र वेच्यि । तत्प्र-
सादं करोतु स्वामी मम निद्रापरवशम्य’—इति ।

एवं श्रुत्वा राजा चिन्तितव्यात्—‘यन्मया आजन्मतोऽपि
पुरीषोत्सर्गं कुर्वता कदापि चिर्भिट्का न भक्षिता । तद्यथाऽयं
व्यतिकरोऽसंभाव्यो ममाद्नेन मूढेन व्याहृतः, तथा दन्तिलम्या-
ऽपीति निश्चयः । तन्मया न युक्तं कृतं यत्स वराकः सम्मानेन
गहितः । तदा=कन्याविवाहकाले । रागवशात्=वैरानुवन्धात्, कोधाच्च । दृष्टः=मया दृष्टः ।
तत्=अपमानकारि त्वदीयं चेष्टितम् । उच्चतिं=प्रसन्नताम् । औच्चत्यच । अोगतिं=वैरं,
नोचैर्गतिच । सुसद्दी=नितरां तुल्या । चेष्टा=व्यवहारः । तुलायष्टः=तुलादण्डस्य ।
(तराज्) । खलस्य=नीचस्य पिशुनस्य च ॥ १६१ ॥

अन्येद्युः=अपरदिने । अविवेकः=अनुचितकारित्वं । पुरीषोत्सर्गं=मलोत्सर्गं ।
चिर्भट्टीभक्षणं=कर्कटीभक्षणं (‘टट्टी में बैठकर ककड़ी खाता है’) । सविस्मयं=साश्वर्यम् ।
अप्रस्तुतम्=अनुचितं । व्यापादयामि=मारयामि । एवंविधं=मलोत्सर्गसमये चिर्भट्टीभक्षणं ।

१ ‘अस्य प्रसादस्याऽन्निरादेव द्रक्ष्यसि राजप्रसादादि फलमिति लिखिते पाठः ।
२ अत्र ‘जन्मान्तरे’ इति पाठस्तु नातीवोचितः ।

वियोजितः । न तादृकपुरुषाणामेवंविधं चेष्टितं संभाव्यते । तदभावेन राजकृत्यानि पौरकृत्यानि च सर्वाणि शिथिलतां ब्रजन्ति ।'

एवमनेकधा विमृश्यं दन्तिलं समाहृय निजाङ्गवस्त्राभरणादिभिः संयोज्य स्वाधिकारे नियोजयामास । अतोऽहं ब्रवीमि ‘यो न पूजयने गर्वात्’—इति । .*

सञ्जीवक आह—‘भद्र ! एवमेवैतन्, यद्वताऽभिहितं तदेव मया कर्तव्यम्’—इति । एवमभिहिते दमनकम्तमादाय पिङ्गलक-सकाशमगमन । आह च—‘देव ! एष मयाऽऽनीतः स सञ्जीवकः, अधुना देवः प्रमाणम् ।’ सञ्जीवकोऽपि तं सादरं प्रणस्याऽप्रतः मविनयं स्थितः ।

पिङ्गलकोऽपि तस्य पीनायतककुद्यातो नग्नकुलिशालङ्कृतं दक्षिण पाणिसुपरि दत्त्वा गंगानपुरःसरमुवाच—‘अपि शिवं भवतः ?’ कुतस्त्वमस्मिन्वने विजने समायानोऽभि ? । तेनायात्मवृत्तान्तः कथितः, यथा सार्थवाहेन वर्धमानेन सह वियोगः सज्जातस्तथा सर्वं निवेदितम् ।

एतच्छ्रुत्वा पिङ्गलकः सादरतरं तमुवाच—त्रयस्य ! न भेतव्यं, मद्भुजपञ्जरपरिप्रितेऽस्मिन् वने यथेच्छं त्वयाऽयुना वर्तितव्यम् ।

जन्मान्तरे=जन्मत आंगस्याद्य यावत् । व्यतिकरः=मम्बन्धः । आचारवैपरीत्यं वा (गडवडी) । वरगकः=दीनः (‘विचारा गरीबा’) । संभासेन=राजस्त्वारेण । तदभावेन=दन्तिलागमभ विहेण । पौरकृत्यानि=पुरावाग्निलोककार्याणि । विमृश्य=विचार्य । एवमेवैतत्=यथा भवा नाड नत्तर्थव । अभिहिते=उक्ते मति । तं=सञ्जीवकम् । सः=शिवानुचरो वलो । अधुनः=मम्बन्धि करणीयेषु । प्रमाणम्=प्रभुः । अये यत्कर्तव्यं तदनुतिष्ठतु भवान् । (‘आगे आप लो उचित समझें करें) । तं=सिंहम् । सविनयं=सादरम् । विनयावनतः=तस्य=मञ्जावकस्य । पीना=शूला, आयता=विपुला च कुदू यस्यासी—पीनायतककुद्यान्, तस्य । ‘उपरो’ति सम्बन्धः । ‘अथ कुतृत्यियाम्, पुंसि चौक्षणः स्कन्धदेशो’ इति केशवः । ‘पीनवृत्तायत्त’मिति पाठे दक्षिणपाणिविशेषणमेतत् । पीनः=पीवरः । (माटा) वृत्तः=वर्तुलः । आयतः=दीर्घः । नग्नान्येव कुलिशानि, तैरलङ्कृतम् । शिवं—कल्याणम् । विजने=निजने । तेन =वृपमेण । पञ्चरः=श्लाकागृहं (‘पिञ्चरा’) । (यतः कारणात् =

१ ‘विनिश्चित्य’ । २ ‘न पूजयति यो गर्वात्’ । ३ ‘पीनवृत्तायत्त’ । ४ ‘परिरक्षितेन’पा० ।

अन्यज्ञ-नित्यं भवता मत्समीपवर्तिना भाव्यं, यतः कारणात् वह्नपाय
रौद्रसत्त्वनिषेवितं वनं गुरुणामपि सत्त्वानामसेव्यं, कुतः शृण्प-
भोजिनाम् ।’ इति ।

एवमुक्त्वा सकलमृगपरिवृतो यमुनाकच्छमवतीर्थं प्रकाममुदक-
पानावगाहनं कृत्वा स्वेच्छयै पुनस्तदेव वनं प्रविष्टः । तनश्च करटक-
दमनकनिष्ठप्राज्यभारः, सज्जीवकेन सह सुभापितगोष्टीमनुभव-
न्नास्ते । अथवा साधिवदमुच्यते—

यदच्छयाऽप्युपनतं सकृत्सज्जनसङ्कृतम् ।

भवत्यजरमन्यन्तं नाऽभ्यासक्रममीक्षते ॥ १६२ ॥

सज्जीवकेनाप्यनेकशास्त्रावगाहनादुत्पन्नवुद्विप्रागलभ्येन म्तोकैर-
वाऽहोभिर्मुद्धमतिः पिङ्गलको धीमान् (तथा—) कृतः । (यथा)
अरण्यधर्माद्वियोज्य ग्राम्यधर्मेषु नियोजितः । किं बहुना—प्रत्यहं
पिङ्गलकसज्जीवकावेष केवलं रहसि मन्त्रयतः, शेषः सर्वोऽपि मृग-
जनो दृग्भूतस्तिष्ठुनि, करटकदमनकावपि प्रवेशं न लभेते ।

अन्यज्ञ सिंहपराक्रमाऽभावात्मर्वोऽपि मृगजनस्तौ च शृगालौ
शुधाव्याधिवाधिताएङ्कां दिशमाश्रित्य स्थिताः । उत्तरं—

फलहानं नृपं भूत्याः कुलीनमपि चोक्ततम् ।

सन्त्यज्याऽन्यत्र गच्छन्ति शुष्कं वृक्षमिवाण्डजाः ॥ १६३ ॥

इस चिपि कि) — वह्नपायं विपत्तिगहुलम् । रौद्रैः = करैः । सर्वैः = जन्मुभिः । नियोजितं
= परिवृतम् , आश्रितम् । गुरुणां = महतां , गच्छानां = ज्यावादीनाम् ।

एवम्—इत्यम् । उक्त्वा—सज्जीवकायाऽभयवान्व दत्त्वा । मकालमृगपरिवृतः = सकल-
पशुगणपरिवृतः । ‘मृगः पश्चो कुरञ्जे च करि-नक्षत्रभेदयोः । अन्वेषणायां याचाया’-
मिति विश्वः । सुभापितगोष्टीसुन्दरं = काव्यालापगोष्टीसुन्दरम् ॥ यदुच्छयेति । यदुच्छया=
बकरमात् । उपनतं = प्रासं । सकृत् = पक्तवारम् । सङ्गुनसङ्गतं = सज्जनसङ्गमः । अत्यन्तं =
नितराम् । अजरं—दृढम् भवति । अभ्यासक्रमं = पौनः पुन्येन सङ्कृतम् । नेक्षते = न प्रतीक्षते ॥

अनेकशास्त्रावगाहनात् = नानाशास्त्राभ्यासात् । रतोकैः = अल्पैः । मूढमतिः = मूर्खः ।
पिङ्गलकः = तत्त्वामा स मिहः । धीमान् = विवेकी । अरण्यधर्मात् = पशुवधादेः । ग्राम्य-
धर्मेषु = दयाकारुण्यादिषु । बहुना गदितेन किं प्रयोजनं—संक्षिप्य कथयामीत्यर्थः । रहसि =

१ ‘उदकग्रहणं’ ।

तथा च—अपि संमानसंयुक्ताः कुलीना भक्तित्पराः ।

वृत्तिभङ्गान्महीपालं त्वजन्त्येव हि सेवकाः ॥ १६४ ॥

अन्यच—कालातिक्रमणं वृत्तेयो न कुर्वीत भूपतिः ।

कदाचित्तं न मुञ्चन्ति भर्त्सिता अपि सेवकाः ॥ १६५ ॥

तथा—न केवलं सेवका इत्थंभूताः—यावत्समस्तमध्येतज्जगन्-
परस्परं भक्षणार्थं सामादिभिरुपायैस्तिष्ठति । तत्त्वथा—

देशानामुपरि क्षमार्पा आतुराणां चिकित्सकाः ।

वणिजो ग्राहकाणां च मूर्खाणामपि पण्डिताः ॥ १६६ ॥

प्रमादिनां तथा चौरा भिष्मुका गृहमेधिनाम् ।

गणिकाः कामिनां चैव सर्वलोकस्य शिल्पिनः ॥ १६७ ॥

सामार्थ्यैः सजितैः पाशैः प्रनीक्षन्ते दिवानिशम् ।

उपजीवन्ति शक्त्या हि जलजा जलजानिव ॥ १६८ ॥

अथवा साधिवद्मुच्यते—

सर्पाणां च खलानां च परद्रव्यापहारिणाम् ।

अभिप्राया न सिद्धयन्ति तेनेदं वर्तते जगत् ॥ १६९ ॥

विजने । सृगजनः=व्याघ्रवृक्षादिः । क्षुधाहृष्ण व्याधिना=रोगेण । व्याधिताः=पांडिताः ।

एकां दिशम्=एकस्मिन् प्रदेशं । अण्डजाः=पक्षिणः ॥ १६३ ॥ संमानसंयुक्ताः=संमानिता

अपि । वृत्तिभङ्गात्=जाविकाविनाशात् । वृत्तेः=जाविकायाः ('तनखाह') । कालातिक्रमणं=ममयोहंघनं ('कई महीने तक तनखाह न देना') । भर्त्सिताः=तर्जिताः ॥ १६५ ॥

इत्थम्भूताः=भृत्या एव जाविकार्थमेव राजानं सेवते इति, न किन्तु—यावत्=इद्य-
मानम्, इदं जगत्—संसारः । परस्परम्=अन्योन्यं । भश्शणार्थं=वर्षयित्वा स्वोदरपूरणार्थमेव ।
सामादिभिः=साम-दान दण्ड=भेदारयैरुपायैः, सजितं तिष्ठतात्यर्थः ।

देशानां=ग्रामनगरादिनिवासिनाम् उपरि । क्षमापाः=राजान—उपजावनाय प्रतीक्षन्ते=अव सरं प्राप्य स्वजावनाय धनं गृह्णन्ति । आतुराणां=रोगार्त्तानामुपरि । चिकित्सकाः=वैद्याः ।
'प्रतीक्षन्ते' इति शेषः । वृणिजः=वैश्याः । प्रमादिनाम्=अवधानशून्यानां । चौराः=तस्कराः ।
गृहमेधिनां=गृहस्थानाम् । शिल्पिनः=स्वर्णकारादयः । सामादिना=सामदानदण्डभेदा-
दिना । सजितैः=कलिपतैः । पाशैः=पाशैरिव वर्षनासाधनैर्व्यवहारैः रुपलक्षिताः सन्तः ।
इत्थम्भूतलक्षणे त्रुतीया । जलजाः=मीनादयः । जलजानिव=लघुमीनानिव । उपजीवन्ति
=वृत्तये समाश्रयन्ते, तान् मुञ्जते ॥ १६८ ॥ खलानां वर्षकानाम् । अभिप्रायाः=मनोरथाः ।
जगद्विनाशवैकलव्यादयः । वर्तते=जीवति ॥ १६९ ॥

१. 'क्षमाभृत्' । २. 'सामादि' ।

अत्तुं वाञ्छति शास्मबो गणयतेराखुं क्षुधार्तः फणी
तं च क्रौञ्चरिपोः शिखी गिरिसुतसिंहोऽपि नागाऽशनम् ॥

इत्थं यत्र परिग्रहस्य घटना शम्भोरपि स्यादगृहे

तत्रान्यस्य कथं न ?, भाविजगतो यस्माल्स्वरूपं हि तन् ॥ १७० ॥

तत्वैः स्वामिप्रसादरहितौ क्षुत्क्षामकण्ठौ परस्परं करटकदमनकौ मन्त्रयेते । तत्र दमनको ब्रूते—‘आर्य करटक ! आवां तावदप्रधानतां गनौ । एष पिङ्गलकः सञ्जीवकवचनाऽनुरक्तः-स्वव्यापारपराङ्गुखः सञ्जातः । सर्वोऽपि परिज्ञनो गतः । तत्किं क्रियते ?’ ॥ करटक आह—‘यद्यपि त्वदीयवचनं न करोति, तथापि स्वामी स्वदोषनाशाय वाच्यः । उक्तव्य—अशृण्वज्ञपि बोद्धव्यो मन्त्रिभिः पृथिवीपतिः ।

यथा स्वदोषनाशाय विदुरेणाऽभिकासुतः ॥ १७१ ॥

तथा च-मदोन्मत्स्य भूपस्य कुञ्जरस्य च गच्छतः ।

उन्मार्ग-वाच्यतां यान्ति महामात्राः समीपगाः ॥ १७२ ॥

अत्तुमिति । शम्भोरथं-शास्मबः कणः=सर्पः । गणयते=गणशस्य । आखुं=मूर्प-कम् । अत्तुं=भक्षयितुम् । वाञ्छनि=इच्छति । तं=शिवकण्ठाभरणं सर्पै । क्रौञ्चरिपोः=कुमारस्य । ‘वाहन’मिति शेषः । शिखी=मयूरः । ‘अत्तुं वाञ्छति’ नागाशनं=मयूरं । गिरिसुतायाः (‘वाहनं’) । सिंहः—अत्तुं वाञ्छतिं सम्भन्धः । इथम् एवं प्रकारेण यत्र शम्भोरपि=जगदाश्वरस्यापि—गृहे—परिग्रहस्य=कुदुम्बस्य—अनुजाविवर्गस्य च । घटना=संघटनं, कलहो—विरोधभावो वा । तत्र अन्यस्य गृहे खोपुत्रभृत्यादिवर्गे कलहः कथं न ! । अवश्यमेव स्यात् । यतः—तत्=शम्भुगृहं । भाविनो जगतः=उत्पत्स्यमानस्य जगतः । स्वस्पम्=आदश्यभूतम् ॥ १७० ॥

स्वामिप्रसादरहितौ=रजानुप्रहशन्यौ । क्षुत्क्षामकण्ठौ=क्षुधाक्षीणगलौ, बुभुक्षादिपाणितौ । स्वव्यापारस्य=मृगवधादेः । पराङ्गमुखः=विरक्तः । स्वदोषनिरासाय=आत्मदोषनिरासाय । भृत्यकर्त्तव्यपालनायेति यावत् । स्वामी वाच्यः=राजोपदेष्टव्यः । स्वदोषेनाशाय=स्वनिन्दानिवृत्तये—बोद्धव्यः—उपदेष्टव्यः । यथाऽशृण्वज्ञपि अभिकासुतः=धृतराषः । विदुरेण प्रतिबोधितः=सदुपदेशं आवितः ॥ १७१ ॥ उन्मार्ग गच्छतोमदोन्मत्तयोर्भूपगजयोः—समीपस्थाः । महामात्राः=सञ्चिवाः, हस्तिपकाद्यक्षाश । (‘महावतमन्त्री’) । वाच्यतां=निन्दनीयताम् । यान्ति=गच्छन्ति । ‘महामात्राः सम्भद्वे चामाये हस्तपकाधिपे’ इति मेदिनी ॥ १७२ ॥ त्वया=करटकेन । एषः=सञ्जीवकः । शष्पमोजी=धासभोजी । स्वामिनः=प्रभीः सिंहस्य । तत्=तदेतत्तदानयनम् ।

? ‘तौ च करटकदमनकौ स्वामिप्रसादरहितौ’ । २ ‘परिजनः कोऽपि कुत्रापि गतः’ । इति ।

यत्तु त्वयैप शष्पभोजी स्वामिनः सैकाशमानीतः, तत्स्वहस्तेनाङ्गाराः कर्षिताः । दमनक आह-सत्यमेतत्, ममायं दोषो, न स्वामिनः । उक्तच्च यतः-

जम्बुको हुड्युद्वेन, वयं चाऽषाढभूतिना ।
दूतिका तन्तुवायेन, वयो दोषाः स्वयङ्कृताः ॥ १७३ ॥

कटक आह-कथमेतत् ?' । सोऽत्रवीन्-

४ आयादभूति-जम्बुक दृती कथा ।

अस्मि कस्मिंश्चिद्विक्तप्रदेशे मठायतनम् । तत्र देवशर्मा नाम परिव्राजकः प्रतिवमति मम । तस्याऽनेकसाधुजनदत्तसूक्ष्मवस्त्रविक्रयवशात्कालेन महती वित्तमात्रा सञ्जाता । ततः म न कर्यचिद्विश्रसिति, नक्तन्दिनं कक्षान्तरगतां मात्रां न मुच्चति । अथवा साधु चेद्मुच्यते-

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानाङ्ग रक्षणे ।

आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्याः कष्टसंश्रयाः ॥ १७४ ॥

अथाऽपादभूतिर्नाम परवित्तापहारी धूर्तस्तामर्थमात्रां तम्य कक्षान्तरगतां लक्ष्ययित्वा व्यचिन्तयत्-'कथं मयाऽस्येयमर्थमात्रा

अङ्गाराः कर्षिताः=अर्थिनरूपः । ('आग बोना' 'अपने हाथ काटे बोना') । स्वहस्तेन मार्गे अधिवपनेन तुल्यमित्याशयः । हुड़े=मेपः । तन्तुवायः=कौलिकः । ('जुलाहा' 'कोल' 'कोष्ठ') ।) 'परकार्येण'त्यपि पाठः ॥ १७५ ॥

विविक्तप्रदेशे=निर्जनस्थाने । मठायतनं=आत्रादिनिवासः (मठ) । परिव्राजकः=मन्यासी । साधुजनाः=श्रेष्ठिनः ('साधुकार') । सूक्ष्मवस्त्राणि=चीनांशुकादीनि । यतिख्यो वस्त्रमेत्र दक्षिणास्थाने दोयते न काथनादिकमिति प्रसिद्धम् । वित्तमात्रा=धनराशिः । नक्तन्दिनवम्=अहनिशम् । कक्षान्तरात्=कोडोत्सङ्गात् । (बगलमें) । आये=आगमने । व्यये=उपभोगे । अर्थाः=धनानि । कष्टसंश्रयाः=क्षेत्रप्रदाः । अनस्तान् धिगिति योजना ॥ १७६ ॥

परवित्तापहारी=परथनतस्करः । धूर्तः=वधकः ('ठग') । अर्थमात्रा=धनराशिः । ('माल-गत्ता' 'रूपया-पैसा') । भित्तिमेदः=सन्धिमेदः । ('सेन्ध') । अद्वारप्रवेशः=

१. 'स्वामिना सह संयोजितः' । २. 'परकार्येण' । ३. इयं कथाऽइलीलतया काश्यकमध्यमपरीक्षापाठ्याश्वहिर्भता । ४ 'यजमान' ।

हर्तव्या ?'-इति । तदत्र मठे तावद्गृहशिलासंचयवशाद्वित्तिभेदो न भवति । उच्चैस्तरत्वाद्वारेण प्रवेशो न स्यात् । तदेन मायावचनैविश्वास्याऽहं छात्रां लजामि—येन स विश्वस्तः कदाचिन्मम हमनगतो भविष्यति । उत्तच्च-

निःस्पृहो नाऽधिकारी स्याद्वाऽकामी मण्डनप्रियः ।

नाऽविद्धः प्रियं व्याकुस्फुटवक्ता न वशकः ॥ १७५ ॥

एवं निश्चित्य तस्याऽन्तिकमुपगम्य—‘अँ नमः शिवाय’—तिप्रोचार्य साप्ताङ्गं प्रणम्य च मप्रश्रयमुवाच—‘भगवन् ! असामः संसारोऽयं गिगिनदीवेगोपमं यौवनं । दृणाऽग्निसमं जीवितं । शगद्भ्रच्छायामहशा भोगाः । स्वप्रसहशो मित्रपुत्रभृत्यवर्गसम्बन्धः । एवं मया सम्यक्परिज्ञातं, तत्किं कुर्वनो मे संसारममुद्रोत्तरणं भविष्यति ?’ ।

तच्छ्रुत्वा देवशर्मा सादरमाह—वत्स ! धन्योऽसि त्वम्, यत्प्रथमेवयस्येवं विरक्तभावः । उत्तच्च यतः—

‘पूर्वे वयसि यः शान्तः स शान्तः इति मे मतिः ।

धानुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायने ? ॥ १७६ ॥

आदौ चित्ते ततः काये सतां संपैष्यते जरा ।

असतां तु पुनः काये—नैव चित्ते कदाचन ॥ १७७ ॥

मित्तमुलड्य प्रवेशः । एनं = देवशर्माणं । छात्रां = शिष्यताम् । विश्वस्तः = जातविस्तराभः । हस्तगतः = मदश्यागः ।

निःस्पृह इति । अधिकारी = अधिकारारास्तः । अकामी = कामुकभिज्ञः । नण्डनप्रियः = शृङ्गाराभरणप्रियः । अविद्धः = अकुशलः । स्फुटवक्ता = रपष्टवादा । (साफकहने वाला) ॥ १७५ ॥ तस्य = देवशर्मणः । सप्रश्रयं = सप्रणयम् ।

यथा—गिगिनदीवेगः शीघ्रमेव शाम्यति, तथा यीवनमपि शीघ्रमेवापगानि । तृणाग्निपि शीघ्रमेव शाम्यति, तथा—तद्वत् जावनमपि शीघ्रमेव नश्यति । शरदभ्रच्छायासहशा: = शरदतुमेषच्छायासहशा: यीघ्रं विनाशिनः । भोगाः = विषयाः । पूर्वे वयसि = यौवने । संपैष्यते = जायते । जरा=श्वामीभावः । काये—जरा सम्पैष्यते, मनसि न कदाचनेति सम्बन्धः ॥ १७७ ॥

१. ‘पत्नमया’ । २. ‘संजायते’ । ३. ‘असताभ’ । पाठान्तरम् ।

यच्च त्वं मां संसारसागरोत्तरणोपायं पृच्छुसि, तच्छ्रूयताम्—
शूद्रो वा यदि वाऽन्योऽपि चाण्डोलोऽपि जटाधरः ।
दीक्षितः शिवमन्त्रेण सभस्माङ्कः शिवो भवेत् ॥ १७८ ॥
पठक्षरेण मन्त्रेण पुष्पमेकमपि स्वयम् ।
लिङ्गस्य मूर्दिनं यो दद्याच्च स भूयोऽपि जायते ॥ १७९ ॥

तच्छ्रूत्वा आपादभूतिस्तप्यादौ गृह्णात्वा सप्रश्रयभिद्माह—‘भगवन्! तर्हि दीक्षया मेऽनुग्रहं कुरु’ देवशर्मा आह—‘वत्स ! अनुग्रहं ते करिष्यामि, परन्तु रात्रौ त्वया मठमध्ये न प्रवेष्टव्यं । यत्कारणं—निःसङ्गता यतीनां प्रशस्यते, तव च ममापि च । उक्तच्च यतः—

दुर्मन्त्रान्तुपतिर्विनश्यति, यतिः सङ्गात्सुतो लालना—
द्विप्रोऽनध्ययनात्कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात् ।
मैत्री चाऽप्रणयात्समृद्धिरनयात्सनेहः प्रवासाश्रया—
तस्मी गर्वादनवेक्षणादपि कृपिस्त्यगात्प्रमादाद्वनम् ॥ १८० ॥

तत्त्वया ब्रतग्रहणानन्तरं मठद्वारे लृणकुटीरके शयितव्यम्—इति ।

स आह—‘भगवन् ! भवदादेशः प्रमाणं, परत्र हि तेन मे प्रयोजनम् ।’

अथ कृतशयनसमयं देवशर्मा दीक्षाऽनुग्रहं कृत्वा शास्त्रोक्तविधिना शिष्यतामनयन् । सोऽपि हस्तपादावमर्दनेन, पत्रिकानयनादिक्या च परिचर्यया तं परितोपमनयन् । पुनस्तथापि मुनिः कक्षान्तरान्मात्रां न मुच्चति ।

शिवमन्त्रेण = पञ्चतन्त्रे षड्क्षरेण वा । दीक्षितः=गृहीतदीक्षितः । दीक्षा=संस्कारविवेषः । भस्माङ्कः=भस्मोद्भूतिकायः । ‘सभस्माङ्कः’ इति पाठान्तरम् । शिवः=शिवसङ्घयः । ‘द्विज’ इति पाठे—चाण्डालादिरपि भस्मधारणादिना द्विजतुल्यो भवतीत्यर्थः ॥ १७८ ॥

पठक्षरेण मन्त्रेण न जायते=न पुनरपि गर्भयातनाननुभवति ।

पादौ गृह्णात्वा=प्रणम्य । सप्रश्रयं=सरनेहम् । दीक्षया=तदाख्येन संस्कारेण । गर्वात्=हपादिगवीत । त्वयागत्=अतिदानात् । प्रमादाद्=अनवधानाच्च—धनं नश्यतीत्यर्थः ॥ १८० ॥ ब्रतग्रहणं=दीक्षाग्रहणं । भवदादेशः=भवदाशा । परत्र=परलोके । तेन=भवदादेशेन । प्रयोजनं=कार्यं स्वर्गादिफलं—भविष्यतात्याश्रयः । पत्रिका=विल्वपत्रम् ।

१ ‘सागरोत्तरणायोपायं’ । २ ‘चण्डालो’ । ३ भस्माङ्को ‘द्विजो’ । ४ ‘ब्रतदानेन मे प्रसादः क्रियताम् । इति’ ५ ‘भवमर्दनादिपरिचर्यया’ । पा.

अथैवं गच्छति काले आषाढभूतिश्चिन्तयामास—‘अहो !
न कथञ्चिदेष मे विश्वासमागच्छति, तस्मि दिवापि शर्वेण मार-
यामि, ? किंवा विषं प्रयच्छामि, ? किंवा, पशुधर्मेण व्यापाद-
यामि’ ?—इति । एवं चिन्तयतस्तस्य देवशर्मणोऽपि शिष्यपुत्रः
कश्चिद्द्रामादामन्त्रणार्थं समायातः । प्राह च—भगवन् ! पवित्रा-
रोपणेण्कृते मम गृहमागस्यताम्—इति । तच्छ्रुत्वा देवशर्मा आषाढ-
भूतिना सह प्रहृष्टमनाः प्रस्थितः ।

अथैवं तस्य गच्छतोऽप्रे काचिन्नदी समायाता । तां हृष्टा
मात्रां कक्षान्तरादवतार्य, कन्थामध्ये सुगुसां निधाय, स्त्रावा, देवा-
र्चनं विधाय, तदनन्तरमापाठभूतिमिदमाह—‘भो आपाठभूते !
यावदहं पुरीषोत्सर्गं कृत्वा समागच्छामि, तावदेषा कन्था योगेश्वरस्य
मावधानतया रक्षणीया’—इत्यकृत्वा गतः ।

आपादभूतिरपि तस्मिन्नदर्शनीभूते मात्रामादाय सत्वरं प्रस्थितः । देवशर्मापि छात्रगुणानुरज्जितमनाः सुविश्वस्तो यावदु-पविष्टमितिष्ठति तावद्व्युह्-(सुवर्णरोमदेह)-युथमध्ये हुड्यद्वप्पस्यन् ।

अथ रोपवशाद्वृद्धयुगलस्य—दूरमपसरणं कृत्वा भूयोऽपि समुपेत्य ललाटपट्टाभ्यां प्रहरतो भूरि रुधिरं पतति, तेज्ज जम्बुको जिह्वालौलयेन रङ्गभूमि प्रविश्याऽस्त्वाद्यति । देववार्मापि तदालोक्य व्यचिन्त्यन्—अहो ! मन्दमतिरथं जम्बुकः, यदि कथमप्यनयोः

कृतः शयनस्य समयो येन तं = कृतवहिदशयनप्रतिक्षणं । अनुग्रहं=कृपां । देवशर्मा स्वदिष्ट्यतं ग्राहयामास । हस्तपादावर्मद्वान्दिपरिचर्यया=पादसंवाहनादिसेवया । तं= देवशर्मांगम् । दिवापि=दिन एव । पशुधर्मेण=गलमुखावरोधेन । (गल धोट कर) । आम-न्त्रणार्थं=निमन्त्रणार्थं । पवित्रारोपणार्थं=तदास्त्योत्सवसम्पादनाय । देवस्य पवित्रारोपणं महोत्मवो भवति शैववैष्णवादानाम् । कन्थामध्ये=वक्ष्ममध्ये । ('द्वीली में' 'गुरुडी में') । देवाचर्ननं=कन्थानिहतस्वेष्टदेवशिवाचर्ननं । प्रतिवचनम्=उत्तरम् । योगेश्वरस्य=शिवरय ।

१ 'देवशर्मशिष्यपुत्रः' । २ 'पवित्रारोपणविपये मम गृहम्' । ३ 'योगेश्वरश्च सावधानेन रक्षणायाः' । पा० । ४ 'हुडो हुडु अ भेदश्चैति हैमाद्बुद्ध इत्यादिं पाठः शुद्धपत्र । ५ 'तच्च दृष्टुऽस्याप्रतिवद्वच्चित्तः पिशितलोलुपतयागोमायस्तयोरन्तरे स्थित्वा हृथिरमास्वादयति ।' पा० ।

संघटे पतिष्यति तज्जूनं मृत्युमवाप्यतीति वितर्कयामि ।' क्षणोन्तरे च तथैव रक्षास्वादनलौल्यान्मध्ये प्रविशंस्तयोः शिरःसंपाते पतितो मृतश्च शृगालः । ततो देवशर्मा प्राह—'जम्बुको हुङ्गुद्धेन'इति ।

देवशर्मापि तं शोच्चमानो मात्रामुहिष्य शनैः शनैः प्रस्थितो यावदापाढभूतिं न पश्यति ततश्चौत्सुक्येन शौचं विधाय यावत्कन्थामालोक्यति तावन्मात्रां न पश्यति । ततश्च 'हा ! हा ! मुषितोऽस्मि'—इति जलपन्पृथिवीतले मृच्छ्या निपपात । ततः क्षणाच्चेतनां लड्ड्वा भ्रूयोऽपि समुत्थाय फूत्कर्तुमारवधः—'भो आपाढभूते ! क्मां वच्चयित्वा गतोऽसि ?' देहि मे प्रतिवचनम् ।'

एवं वहु विलप्य तस्य पदपद्मतिमन्वेषयन् 'वयं चाऽपाढभूतिना' इति प्रजल्पञ्चनैः—शनैः प्रस्थितः ।

अथैवं गच्छन्सायन्तनसमये कच्छद्राममाससाद् । अथ तस्माद्वामात्कश्चित्कौलिकः सभार्यो मद्यपानकृते समीपवर्तिनि नगरे प्रस्थितः । देवशर्मापि तमालोक्य प्रोवाच—'भो भद्र ! वयं सूर्योदा अतिथयस्तवान्तिकं प्राप्नाः, न कमव्यत्र ग्रामे जानीमः, तद्दृह्यतामतिथिधर्मः । उक्तच्च-

अप्रणोदयोऽनिथिः सायं सूर्योदो गृहमेधिनाम् ।

पूजया तस्य देवत्वं प्रयान्ति गृहमेधिनः ॥ १८१ ॥

तथा च—तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थीं च सूनृता ।

सतामेतानि हर्म्येषु नोच्छिद्यन्ते कदाच्चन ॥ १८२ ॥

स्वागतेनाऽप्यस्तृत्सा आसनेन शतक्तुः ।

पादशौचेन पितरो हर्वर्योच्छम्भुस्तथाऽतिथेः ॥ १८३ ॥

हुङ्गः=मेषः । रङ्गभूमि=युद्धभूमि । संघटे = सम्मदें । शिरःसंपाते=शिरः—संघटे । ('टङ्कर में') । फूत्कर्तुं=रोदितुं । कौलिकः=तनुवायः । ('जुलाहा' 'कोली') । सूर्योङ्दः=सूर्यास्तमनवेलायां प्राप्नाः । 'अप्रणाश्य.'=मामनीयः । तृणानि = पलाल—कटादीनि । ('पुष्टास्तु' 'चटाई') । सूनृता=मधुरा । 'मधुरं सूनृतं 'प्रिये' इत्यमरः । सतां=सज्जनानां । हर्म्येषु=गृहेषु ।

१ 'अथान्यरिमन्प्रस्तावे तथैव रक्षास्वादनलौल्याक्षापस्तत्तयोः' । २ 'संप्राप्नो योऽतिथिः' । ३ 'प्रीताः' । ४ 'गोविन्दो वाचादेन प्रजापति' रिति । ५ 'पितरस्तथार्थादतिथेः शिवः' इति च सुन्दरः पाठो लिखितेषु ।

कौलिकोऽपि तच्छ्रुत्वा भार्यामाह—‘प्रिये ! गच्छ त्वमतिथिमादाय गृहं प्रति, पादशौचभोजनशयनादिभिः सत्कृत्य त्वं तत्रैवतिष्ठ, अहं तव कृते प्रभूतं मद्यमानेष्यामि ।’ एवमुक्त्वा प्रस्थितः ।

सापि भार्या पुंश्चली तमादाय प्रहसितवद्ना देवदत्तं मनसि ध्यायन्ती गृहं प्रति प्रतस्थे । अथवा साधिवद्मुच्यते—

दुर्दिवसे घनतिमिरे दुःसञ्चारासु नगरवीथीषु ।

पत्युचिदेशगमने परमसुखं जघनचपलायाः ॥ १८४ ॥

तथा च—पैर्यङ्कं स्वास्तरणं पतिमनुकूलं मनोहरं शयनम् ।

तृणमिव लघु मन्यन्ते कामिन्यश्रीर्यरत्नलुभ्याः ॥ १८५ ॥

तथा च—केलिं प्रदहति लजा शङ्खारोऽस्थीनि चाटवः कटवः ।

बन्धकयाः परितोषो न किंचिदिष्टे भवेत्पत्यौ ॥ १८६ ॥

कुलपतनं जनगर्हा बन्धनमपि जीवितव्यसन्देहम् ।

अङ्गीकरोनि कुलटा सततं परपुरुषसंसक्ता ॥ १८७ ॥

अथ कौलिकभार्या गृहं गत्वा देवशर्मणे गतास्तरणां भग्नां च खट्टवां समर्प्येदमाह—‘भो भगवन् ! यावदहं स्वसर्वां प्रामादभ्यागतां सम्भाव्य द्रुतमागच्छामि तावत्त्वयाऽस्मद्द्वैऽप्रमत्तेन भाव्यम् ।’

एवमभिधाय शृङ्खारविधिं विधाय यावदेवदत्तमुद्दिश्य ब्रजति—तावत्तद्वां संमुखो मदविह्वलाङ्गो मुक्तकेशः पदे-पदे प्रस्वलन्गुहीत-मद्यभाण्डः समर्प्येति । तं च हृष्टा सा द्रुततरं व्याघ्रुञ्च—स्वगृहं-प्रविश्य मुक्तशृङ्खारवेषा यथापूर्वमभवत् ।

न उच्छिष्यन्ते=न दूरीभवन्ति । अतिथेः स्वागतेन अग्नयस्तुप्यन्ति शतक्रतुः=इन्द्रः ॥ १८३ ॥

प्रभूतं=वहुलम् । पुंश्चली=अमती । देवदत्तं=स्वप्रियं कंचन पुरुषविशेषम् । दुर्दिवसे=मेषन्त्यज्ञेऽहि । घनतिमिरे=निविदान्धकारे । वीथो=रथ्या । (‘गली’) । जघनचपलानां=कुलदानाम् ॥ १८४ ॥ स्वास्तरणं=मृदुधवलपरिच्छदयुक्तम् । शयनं=रतिमन्दिरम् । चौर्यरत्नं=जारसम्मोगः ॥ १८५ ॥ बन्धकयः=कुलटाः । कुलपतनं=कुलब्रंशां । जावितव्यसन्देहं=जीवनसंशयम् ॥ १८६ ॥ गतास्तरणाम्=आस्तरणरहिताम् । (विद्युत के विना) । सम्भाव्य=तया सहाऽलापादिकं विधाय । अप्रमत्तेन=सावधानेन । देवदत्तं=स्वप्रियं कवित् । व्याघ्रुञ्च=परावृत्य । (‘बावड कर’ ‘लौट कर’) । श्रुतेन अपशादेन क्षुभितं

१ ‘पर्यङ्केऽस्तरण’ मिति पा० ।

कौलिकोऽपि तां पलायमानं कृताऽद्वृतशृङ्खारां विलोक्य प्रागेव
कर्णपरम्परया तस्या अपवादश्रवणान् क्षुभितहृदयः स्वाकारं निगृह-
मानः सदेवाऽस्ते । ततश्च तथाविधं चेष्टितमवलोक्य हृष्टप्रत्ययः
क्रोधवशगो गृहं प्रविश्य तामुवाच—‘आः पापं ! पुंश्चलि ! क प्रस्थि-
तासि’ ? । सा प्रोवाच—अहं त्वत्सकाशादागता न कुत्रचिदपि निर्गता,
तत्कथं मद्यपानवशादप्रस्तुतं वदसि ? । अथवा साधु चेदमुच्यते—

वैकल्यं धरणीपातमयथोर्चितजैजल्पनम् ।
सञ्चिपातस्य चिह्नानि मथं सर्वाणि दर्शयेत् ॥ १८८ ॥
करस्पन्दाऽम्बरत्यागस्तेजोहानिः सरागता ।
वारुणीसङ्गजाऽवस्था भानुनाऽप्यनुभूयते ॥ १८९ ॥

सोऽपि तच्छ्रुत्वा प्रतिकूलवचनं वेषविपर्ययं चाऽवलोक्य तामाह—
‘पुंश्चलि ! चिंगकालं श्रुतो मया तवाऽपवादः । तदद्य म्वयं सञ्चात-
प्रत्ययस्तव यथोचितं निग्रहं करोमि ।’ इत्यभिधाय लगुडप्रहारैस्तां
जर्जरितदेहां विधाय स्थूणया सह दृढवन्धनेन वज्रां सोपि मद-
विह्वलाङ्गो निद्रावशमगमन् ।

अत्राऽन्तरे तस्याः सखी नापिती कौलिकं निद्रावशमगतं विज्ञाय
हृदयं यस्यामी तथा—स्वपलां चरितव्रश्युत्तान्तश्रवणक्षुभदृयमानचेताः । स्वाकारं—स्वमनो-
भावं । निगृहमानः—गोपायन् । दृष्टप्रत्ययः—जातविश्वासः । वैकल्यं—विकल्पां । मथेन
सञ्चिपातरोगलक्षणानि भूमिपतनादीनि सर्वाणि भवन्तीत्यर्थः ॥ १८८ ॥

करेति । वारुणी—पश्चिमदिशा, मध्यध । सङ्घः—तत्र गमनं, पातश्च । करस्पन्दः—
हस्तकम्पः, किरणादामश । ‘करसादः’ इत्यपि पाठः । अम्बरत्यागः—गगनत्यागः, वस्त्र-
मोभन्तथ । तेजोहानिः—कान्तिहानिः । सरागता—लौहित्यवत्ता—मुखे, मण्डले च । भानुः—
मूर्त्यः ॥ १८९ ॥

सः—कौलिकः । प्रतिकूलवचनं—विरुद्धकूरवाक्यं । पुंश्चलि—परपुरुषरते । तस्मिन्स्थाने—
भङ्गतस्थले । सञ्चातप्रत्ययः—जातविश्वासः । निग्रहं—दण्डविधानम्, ताढनम् । तां—
वभार्याम् । स्थूणया—मन्मेन । (‘खम्मे से’ ‘थूणी से’) । अन्तरे—अवसरे ।
(इम्बीचमे) । तस्याः—कौलिकभार्यायाः । तां—कौलिकपलीम् । सः—त्वत्प्रियः । तस्मिन्—

१ ‘कृतशृङ्खागम्’ । २ ‘श्रुतापवादक्षुभितहृदयः’ । ३ ‘नित्यानुचितजैजल्पनम्’ । ४ ‘करसादः’
५ ‘विशयाऽऽगत्य चेदमाह’ ।

तां गत्वेदमाह—‘सखि ! स देवदत्तस्तस्मिन्स्थाने त्वां प्रतीक्षते, तच्छ्रीघ-
मागंभ्यताम्’—इति । सा चाह—‘पश्य ममाऽवस्थां, तत्कथं गच्छामि,
तद्रत्वा ब्रह्म तं कामिनं,—यदस्यां गत्रौ न त्वया सह समा-
गमः।’ नापिती प्राह—‘मग्नि ! मा मैवं वद, नायं कुलटाभ्रमः। उक्तच-
विप्रमस्थस्वादुफलग्रहणव्यवसायनिश्चयो येषाम् ।

उष्ट्राणामिव तेषां मन्येऽहं शंसितं जन्म ॥ १९० ॥
तथा च- सन्दिग्धे परलोके जनापवादे च जगति बहुचित्रे ।

स्वाधीने पररमणे धन्यास्तारुप्यफलभाजः ॥ १९१ ॥
अन्यच- यद्यपि न भवति दैवात्मान्विरूपोऽपि वन्धकी रहसि ।

भव्यमपि तदपि कष्टाञ्जिकान्तं सा भजत्येव ॥ १९२ ॥

साऽब्रवीन्—‘यदेवं- तहि कथय-कथं दृढवन्धनैर्वद्धा सती तत्र
गच्छामि ?, संनिहितश्चायं पापात्मा मन्यतिः ।’

नापित्याह—‘सखि ! मदविह्वलोऽयं सूर्यकरसपृष्ठः प्रवोधं यास्यति,
तद्हं त्वामुन्मोचयामि, मामात्मस्थाने वद्धा द्रुततरं देवदत्तं सम्भा-
व्याऽस्तगच्छ ।’ साऽब्रवीन्—‘एवमस्तु’—इति ।

तदनु सा नापिती तां स्वसर्वां वन्धनाद्विमोच्य तम्याः स्थाने
यथापूर्वमात्मानं वद्धा तां देवदत्तसकाशे सङ्केतस्थानं प्रेपितवती ।

तथाऽनुष्ठिते—कौलिकः कस्मिंश्चित्क्षणे समुत्थाय किंचिद्रुतकोपो
पूर्वं सङ्केतिते । सा=कौलिकज्ञाया । समागमो न—‘सम्भवती’नि शेषः ।

विष्वमस्थेति । यथा—दुर्गमरथानस्थितरत्वादुपललवादिग्रहणव्यापारानिश्चय उष्ट्राणां
स्वभावः । तथा—दुर्लभचौर्यरत्वानन्दानुभवव्यापारानिश्चयः कुलटानां सहजो धर्मः । येषां=
कुलटाजनानां, व्यवसायिनां, चौराणां । शंसितं=पूजितम् ॥ १९० ॥ परलोके किं भवि-
तेति न निश्चयः, जनापवादस्तु बहुविष्वश्वलत्येव, एवं च स्वार्थानेन पररमणेन=जागेण,
यौवनफलं-सुरतं धन्या एत्र लभन्ते । या लभन्ते ता एत्र धन्या इत्यर्थः ॥ १९१ ॥

यद्यपीति । भव्यं=मुन्दं स्वपति । निजकान्तं=स्वप्रियं । विरूपोपि जारः कुलटानां
प्रियः, न तु मुन्दोपि निजपतिरित्यर्थः ॥ १९२ ॥ मदविह्वलः=मदविकलः । (‘नशे में चूर’)
सूर्यकरसपृष्ठः=प्रभाते सूर्यकिरणसंपक्तदेव । प्रवोधं=चेतनाम् । तत=तस्मात् । माम्=
नापिती, दूनीम् । सा=पुंश्चली । (एवमस्तु=अच्छा) ।

विमदस्तामाह—‘हे परुषवादिनि ! यदद्वप्रभृति गृहाश्रिष्टमणं न करोयि, न च परुषं वदसि, ततस्त्वामुन्मोचयामि ।’

नापित्यपि स्वरभेदभयाद्यावन्न किंचिदूचे, तावत्सोऽपि भूयो भूयस्तां तदेवाऽऽह । अथ सा यावत्प्रत्युत्तरं किमपि न दृदौ, तावत्स प्रकुपितम्तीक्ष्णशब्दमादाय तस्या नासिकामच्छनन् । आह च—‘ऐ पुंश्रलि ! तिष्ठेदार्नां, न त्वां भूयस्तोषयिष्यामि’ । इति जल्पन्पुनरपि निद्रावशमगमन् ।

देवशर्माऽपि वित्तनाशाल्मुक्षामकण्ठे नष्टनिद्रम्तत्सर्वं स्त्रीचरित्र-मपश्यन् । सापि कौलिकभार्या यथेच्छया देवदत्तेन मह सुरतसुखम-नुभूय कस्मिंश्चित्क्षणे स्वगृहमागत्य तां नापितीमिदमाह—‘अयि ! शिवं भवत्या : ?, नायं पापात्मा मम गताया उत्थित आसीन् ?’ ।

नापित्याह—‘शिवं नासिकया विना शेषस्य शरीरस्य, तदद्वृतं मां मोचयै बन्धनाद्यावन्नायां मां पश्यति, येन स्वगृहं गच्छामि । अन्यथा भूयोऽप्येप दुष्टतरः कर्णच्छेदादिनिश्रहं करिष्यति ।’

तथाऽनुष्ठिते भूयोऽपि कौलिक उत्थाय तामाह—‘पुंश्रलि ! किमद्याऽपि न वदसि ? । किं भूयोऽप्यतो दुष्टतरं निश्रहं कर्ण-च्छेदेन करोमि ? ।

अथ सा सकोपं साऽधिक्षेपमिदमाह—‘घिग् घिङ्महामूढ ! को मां महासर्तीं धर्षयितुं व्यङ्गयितुं वा समर्थः ? । तच्छृण्वन्तु सर्वे-ऽपि लोकपालाः—

आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥ १९३ ॥

तदनु=तदनन्तरम् । स्वसर्वा=कौलिकाम् । परुषं=क्रूरम् । स्वरभेदभयात्=स्वस्वर-भेदभीता । तदेव=तदेव वाक्यम् । भूयः=अधिकम् । (अव और ज्यादा) । न तोषयि-यामि=न चादु शब्दं कथयिष्यामि । (अव में तेरी गुशामद नहां करंगा, ऐसे ही पड़ा रह) । शिवं=कुशलम् । तथाऽनुष्ठिते=बन्धन मोचने कृते सति । सापिक्षेप=सनिन्दम् । धर्ष-यितुं=पीडयितुं, तिरस्कर्तुं वा । व्यङ्गयितुं=नासिकादिकर्त्तनेन विकलावयवां विधातुम् ।

१ ‘मुरु’ । २ नायं प्रतिबुध्यते’ । पाठ्यन्तरम् ।

तद्यदि मम सतीत्वमस्ति, मनसाऽपि परपुरुषो नाभिलिषितः,
ततो देवा भूयोऽपि मे नासिकां तादृश्रूपामक्षतां कुर्वन्तु । अथवा—
यदि मम चित्ते पर पुरुषस्य भ्रान्तिरपि भवति, तदा मां भस्मसान्न-
यन्तु ।' एवमुक्त्वा भूयोऽपि तमाह—'भो दुरात्मन् ! पश्य मे
सतीत्वप्रभावेण तादृश्येव नासिका संवृत्ता ।'

अथाऽसावुल्मुकमादाय यावत्पश्यति तावत्तदृपां नासिकाञ्च
भूतलं रक्तप्रवाहं च महान्तमपश्यन् । अथ स विस्मितमनास्तां
वन्धनाद्विमुच्य शश्यायामारोप्य च चादुशतैः पर्यतोषयत् ।
देवशर्मापि तं सर्वं वृत्तान्तमालोक्य विस्मितमना इदमाह—

शम्बरस्य च या माया या माया नमुचेरपि ।

बले: कुम्भीनसेश्वैव सर्वास्ता योपितो विदुः ॥ १९४ ॥

हसन्तं प्रहसन्त्येता रुदन्तं प्ररुदन्त्यपि ।

अप्रियं प्रियवाक्यैश्च गृह्णन्ति कालयोगतः ॥ १९५ ॥

उशना वेद यच्छास्त्रं यज्ञ वेद वृहस्पतिः ।

खीबुद्धया न विशिष्येत तस्माद्वक्ष्याः कथं हि ताः ? ॥ १९६ ॥

अनृतं 'सत्यं'मिथ्याहुः सत्यं चापि तथाऽनृतम् ।

इति यास्ताः कथं धीरैः संरक्ष्याः पुरुषैरिह ॥ १९७ ॥

अन्यत्राप्युक्तम्—

नातिप्रसङ्गः प्रमदासु कार्यो नेच्छेदलं खीपु विवर्धमानम् ।

अतिप्रसक्तैः पुरुषैर्यतस्ताः क्रीडन्ति काकैरिव लूनपक्षैः ॥ १९८ ॥

अनलः=वहिः । औः=आकाशः । वृत्तं=चरितम् ॥ १९३ ॥ तादृपां=यथावदेव ।
(पहिले का तरह) उल्मुकम्=अलातं । ('मसाल'-'जलती लकड़ी आदि') ।
चादुशतैः=प्रियवाक्यैवहुविष्यैः ।

शम्बरस्येति । शम्बर—नमुच्चि—बलि—कुम्भीनसा—असुराः शेषाः । सर्वविधां
मायां स्त्रियो जानन्तीत्यर्थः ॥ १९४ ॥ हसन्तं प्रति हसन्ति, रुदन्तं विलोक्य रुदन्ति,
वचनार्थम्, अप्रियं वरन्तं च प्रियवाक्यैरात्मवदेय नयन्तोत्त्वर्थः ॥ १९५ ॥ उशनाः=
शुक्राचार्यः । न विशिष्येत—खीबुद्धितो न बहिर्भवति । तासां बुद्धावेष सर्वं नीतिशास्त्र-
मन्तर्मंवतीत्वर्थः । १९६ अनृतमिति । सत्यं मिथ्या, असत्यं सत्यमिति च याः कथयितुं
प्रभवन्ति तासां रक्षणं दुष्कररमेवत्यर्थः ॥ १९७ ॥ अतिप्रसङ्गः=अत्यन्तं स्नेहानुबन्धः

सुमुखेन वदन्ति वल्गुना प्रहरन्त्येव शितेन चेतसा ।
मधु तिष्ठति वाचि योषितां हृदये हालहलं महोविषम् ॥ १९९ ॥
अत एव निर्णयतेऽधरो हृदयं मुष्टिभिरेव ताङ्गते ।
पुरुषैः सुखलेशवद्धितैर्मधुलुध्यैः कमलं यथाऽलिभिः ॥ २०० ॥

अपि च—

आवर्तः संशयानामविनयभवनं पत्तनं साहसानां,
दोषाणां सज्जिधानं, कपटशतगृहं, क्षेत्रमप्रत्ययानाम् ।
दुर्ग्राह्यं यन्महिन्निरवरवृपमेः सर्वमायाकरण्डं,
स्त्रीवन्धं केन लोके विषमसृतयुतं धर्मनाशाय सृष्टम् ॥ २०१ ॥
कार्कदयं स्तनयोर्दृशोस्तरलताऽलीकं मुखे हृदयते,
कौटिल्यं कचसंर्चये, प्रवचने मान्यं, त्रिके स्थूलता ।
भीरुत्वं हृदये सदैव कथितं, मायाप्रयोगः प्रिये,
यासां दोषगणो गुणो, सृगद्वारां ताः किं नैराणां प्रियाः ॥ २०२ ॥

नोचितः, स्त्राणां बन्धं वर्धमानं नोपेष्टन् । अतिप्रसक्तौः=वशीभूतैः । लजपक्षः=द्युक्षपक्षः ॥ १९८ ॥ वल्गुना=मधुरेण । मनोहरेण च । शितेन=ताङ्गेन । मधु=माधुर्य । क्षीद्रच ।
हालहलं=तत्रामकं विषं । 'हालाहलं हालहलं वदन्त्यपि हलाहलं'मिति द्विस्पकोशः ।

अतपुरुति । हृदये विषस्य सुखे मधुनक्ष विषमानत्वान्मुखमाधुर्यवच्छिर्तः=सुखलेशवच्छिर्तः; मधुलवलुध्यः पुरुषेऽधरः पीयते, कामिन्याः हृदयं मुष्टिभिराहन्यते च । कामशास्त्रे हि कामिनाहृदयप्रदेशताडनं कामोदापकतया निर्दिष्टम् । ऋमरा हि मधु-नेशलुध्याः कमलकण्टकवंशमपि महन्ते इति च लौकिकम् ॥ २०० ॥ संशयानाम्-आवर्तं इव=अभ्यसां ऋम इव । ('भंवरजाल') । प्रकृते सादृश्यात्तत्प्रयोगः । अवनयानां=धाष्ठांनां । भवनं=गृहग्रिव । पत्तनं=नगरमिव । सत्तिथानं=महान् निधिरिव । कपट-शतानां गृहं, अपत्ययानाम्=अविश्वासानाम् । क्षेत्रं=केदार इव । स्त्रीनामकं यन्वमेतत् । अमृतयुतं विषं धर्मनाशाय सर्वामां मायानां-करण्डं=पेटकामव, केन=ब्रह्मणा । सुंडं=निर्मितम् । 'केन निर्मितं'मिति प्रश्नो वा ॥ २०१ ॥

कार्कदयमिति । नरलता=चखलता । अलीकं=मिथ्यावचनं । कचसच्ये=केश-वन्धे । प्रवचने=मायणे । मान्यं=नन्दता । त्रिके=पृष्ठवंशाधोमागे । नितम्बविश्वे इति

१. मधु तिष्ठति वाचि योषितां हृदये हालहलं महद्विषम । अत एव निर्णयतेऽधरो हृदयं मुष्टिभिरेव ताङ्गते ॥ इति पा० । २. 'महद्विष'मित्यपि क्वचित्पाठः । 'महाविषमिति तु क्षीरस्वामिधृतः पाठः । ३. 'शाधते' । ४. 'कचसच्ये च वचने' । ५. 'गुणः' । ६ स्युः पश्चनां प्रियाः'

एता हसन्ति च रुदन्ति च कार्यहेतो—
 विश्वासयन्ति च परं न च विश्वसन्ति ।
 तस्माक्षरेण कुलशीलसमन्वयेन
 नार्यः इमशानघटिका इव वर्जनीयाः ॥ २०३ ॥
 व्याकीर्णकेसरकरालमुखा मृगेन्द्रा नागाश्च भूरिमदराजिविराजमानाः ।
 मेधाविनश्च पुरुषाः समरेषु शूराः स्त्रीसज्जिधौ परमकापुरुषा भवन्ति ॥ २०४ ॥
 कुर्वन्ति तावत्प्रथमं प्रियाणि यावत्त जानन्ति नरं प्रसक्तम् ।
 ज्ञात्वा च तं मन्मथपाशबद्धं ग्रस्तामिषं मीनमिवोद्धरन्ति ॥ २०५ ॥
 समुद्रवीचीव चलस्वभावाः, सन्ध्याभ्रेरेव सुहृत्तरागाः ।
 विष्यः कृताऽर्थाः पुरुषं निरर्थं निष्पीडिनाऽलक्तकवस्थजन्ति ॥ २०६ ॥
 अनृतं साहसं माया सूख्यत्वमतिलोभिता ।
 अशौचं निर्दयत्वं च स्त्रीणां दोपाः स्वभावजाः ॥ २०७ ॥

यावत् । प्रियं—कान्ते । मायाप्रयोगः—छलकार्मणप्रयोगः । ('कपट' 'जादृ—यैना') । इस्थ दोपसमूहस्पा—यामां गुणाः ताः कथं न राणां प्रिया भवन्ति ? ॥ २०२ ॥

एता इति । कार्यहेतोः—स्वकार्यसाधनाय । हसन्ति च रुदन्ति च । परं विश्वासयन्ति, परन्तु तं स्वयं नैव विश्वसन्ति । अतः—कुलशालसमन्वयेन=कुलीनेन, शालवता च नरेण । 'कुलशालवते'ति पाठान्तरम् । इमशाने वदा घटिका: इमशानघटिका: ('इमशान में वन्धी दूर्द हण्डिया' 'धंट') तदशुचित्वाद्वर्जनार्हाः ॥ २०३ ॥ व्याकीर्णः कंसरैः करालानि मुखानि येषान्ते,—विक्षिप्तमटाभारभाषणमुखाः । मृगेन्द्राः=सिंहाः । भूरिभिः—मदराजिभिः=मदरेखाभिः । विराजमानाः=शोभमानकटाः । नागाः=गजाश्च । स्त्रीणां निकटे परम-कापुरुषाः=नितान्तं कातरा इव, तद्याकृतस्वान्ता भवन्तायहो चित्रम् ॥ २०४ ॥

कुर्वन्तीति । प्रथमम्=आदौ । यावत् प्रियाणि=मनोहराणि कदाक्षमुजविक्षेपादानि । यावत्तरं प्रसत्तम्=अनुरक्तम्, संलग्नम् । मन्मथपाशबद्धं=यामपाशबद्धं । अस्तमामिषं येनासौतं=गिलिमांसखण्टं, सम्भोगलम्पटं च । 'आमिषं-युनपुंसकं, भोग्यवस्तुनि संभोगेऽप्युल्कोचे पललेऽपि चेति मेदिनी । उद्धरन्ति=आकर्पयन्ति, वशं न यन्ति च, परित्यजन्ति वा ॥ २०५ ॥

समुद्रवीचीव=समुद्रतरक्तवत् । चलस्वभावाः=वधलप्रकृतयः । सन्ध्याभ्रेरेव=सायकालिकमेघलेखेव । सुहृत्तरागाः=शणमात्ररक्ताः । क्षणिकानुरागाश्च । कृतार्थाः=साधित-स्वप्रयोजनाः सत्यः । निरर्थं=निष्प्रयोजनं । निष्पीडितालक्तवत्=निष्प्रथूतरागं यावकमित्र । त्यजन्ति=दूरीकुर्वन्ति, अपसारयन्ति ॥

अनृतं=मिथ्याभाषणम् । साहसम्=असमीक्ष्य कारिता । अशौचं=मलिनता । स्वभावजाः=नैसर्गिकाः ॥ २०७ ॥

संमोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति
निर्भर्स्येन्ति रमयन्ति विषादयन्ति ।

एताः प्रविश्य सरलं हृदयं नराणां
किं वा न वामनयना न समाचरन्ति ! ॥ २०८ ॥

अन्तविष्पमया ह्येता बहिश्चैव मनोरमाः ।

गुञ्जाफलसमाकारा योषितः केन निर्मिताः ? ॥ २०९ ॥

एवं चिन्तयतस्तस्य परिब्राजकस्य सा निशा महता कृच्छ्रेणाऽति-
चक्राम । सा-च दृतिका छिन्ननासिका स्वगृहं गत्वा चिन्तयामास-
'किमिदानीं कर्तव्यं ?' कथमेतन्महान्तिर्द्रं स्थगयितव्यम् ? ।

अथ तम्या एवं विचिन्तयन्त्या भर्ता कार्यवशाद्राजकुले पर्युषितः ।
प्रत्यूपे च स्वगृहमभ्युपेत्य द्वारदेशस्थो विविधपौरकृत्योत्सुकतया
तामाह—'भद्रे ! शीघ्रमानीयतां क्षुरभाण्डं, येन क्षौरकर्मकरणाय
गच्छामि ।' साऽपि छिन्ननासिका प्रत्युत्पन्नमतिर्गृहमध्यस्थितैव (कार्य-
करणापेश्या) क्षुरभाण्डाल्कुरमेकं समाकृत्य तस्याऽभिमुखं प्रेषया-
मास । नापितोऽप्युत्सुकतया तमेकं क्षुरमवलोक्य कोपाविष्टः संस्त-
दभिमुखमेव तं क्षुरं प्राहिष्णोत् ।

एतस्मिन्नन्तरे सा दुष्टा उर्ध्ववाहृ विधाय फूल्कर्तुमना गृहा-

मद्यन्ति=प्रेमोन्मर्त्तं कुर्वन्ति । विडम्बयन्ति=उपहास्यतां नयन्ति, ('उलू बनाता
है') । निर्भर्संयन्ति=तिरस्कुर्वन्ति । रमयन्ति=सुखयन्ति । विषादयन्ति=क्षेययन्ति च ।
किमधिकम्-एततः—काटकश्चाला—नराणां सरलं हृदयं प्रविश्य—स्वानुकूलमनुरक्तच-
विधाय किंवा तत् कार्यं यत् वामनयनाः—कमललोचनाः न कुर्वन्ति ! । सर्वं कर्तुं प्रभवन्ता-
त्यर्थः ॥ २०८ ॥ गुञ्जाफलं सविष्पम्, उपविष्पलादगुञ्जायाः ॥ गुञ्जाफलमपि—बहिर्मनोहर-
नन्तविष्पमयं भवति ॥ २०९ ॥

कृच्छ्रेण=कटेन । दृतिका=नापिता । महान्तिर्द्रम्=आत्मापराधः । नासाकर्त्त-
नवः । स्थगयितव्यं=आच्छादनीयम्, (छिरात्) । अत्र 'आवरणाय'मिति पाठान्तरम् ।
पर्युषितः=कृतनिवासः (गयाहुआ था) । विविधपौरकृत्योत्सुकतया=नानाविषपौर-
लोककार्यव्यापक्त्यवित्ततया । क्षुरभाण्डं=क्षुरकर्त्त्यादिपेटिकां । (लोखड़) । प्रत्युत्पन्न-
मन्तिर्वात्—कार्यकरणापेश्या=स्वकार्यसाधनायेच्छया । उत्सुकतया=चराव्यग्रतया । (हड-
बढाहट में) । प्राहिष्णोत्=प्रेषयामास । ('फैक दिया') । फूल्कर्तुमनाः=फूल्कृत्य रोदितु-
ं ६ 'द्वारि स्थितो' । २ 'पौरकर्म' । ३ समस्तक्षुरभाण्डासमर्पणात्मोधाविष्टः । ४ प्रक्षिपवान् ।

निश्चक्राम,—‘अहो ! पापेनाऽनेन मम सदाचारवर्तिन्याः पञ्चयत् नासिकाच्छेदो विहितः, तत्परित्रायतां ! परित्रायतांम् !!’

अत्राऽन्तरे राजपुरुषाः समभ्येत्य तं नापितं लगुणप्रहारै-
जर्जरीकृत्य हृष्टबन्धनैर्बद्धा तथा छिन्ननासिकया सह धर्माधिकरण-
स्थानं नीत्वा सभ्यानुचुः—‘शृण्वन्तु भवन्तः सभासदः ! अनेन
नापितेनाऽपराधं विना खोरलमेतद्वयङ्गितं, तदस्य यद्युज्यते तत्क्रि-
यताम् ।—इत्यभिहिते सभ्या ऊचुः—‘रे नापित ! किमर्थं त्वया भार्या
व्यङ्गिता ?’ किमनया परपुरुषोऽभिलपितः ?, उत स्वित्प्राणद्रोहः
कृतः ?, किंवा चौरकर्माऽचरितम् ? तत्कर्म्यतामस्या अपराधः ।’

नापितोऽपि प्रहारपादिततं नुर्वक्तुं न शशाक । अथ तं तूष्णी-
म्भूतं हृष्टा पुनः सभ्या ऊचुः—‘अहो ! सत्यमेतद्राजपुरुषाणां
वचः । पापात्माऽयम् । अनेनेयं निर्दीप्या वराको दूषिता । उक्तच्च-

भिन्नस्वरमुखवर्णः शक्तितद्विष्टः समुत्पतिततेजाः ।

भवति हि पापं कृत्वा स्वकमसन्नासितः पुरुषः ॥ २१० ॥
तथा च—आयाति स्वलितैः पादैसुखवैवर्ण्यसंयुतः ।

ललाटस्वेदभागभूरि गद्रदं भापते वचः ॥ २११ ॥

अधोदृष्टिर्वेदकृत्वा पापं प्राप्तः सभां नरः ।

तस्माद्यत्नात्परिज्ञेयश्चिह्ने रेतेविचक्षणैः ॥ २१२ ॥

मिन्छन्तां । (‘चिलाने की इच्छा मे’) । सदाचारवर्तिन्याः=पतिव्रतायाः । लगुणप्रहारैः-
=यष्टिकापातैः । जर्जरीकृत्य=शिथिलाकृत्य । धर्माधिकरणस्थाने=राजद्रारे । (‘कच्छहरी मे’) ।
मभ्यान्=धर्माधिकरणस्थान् (‘जज्ज’ मैजिस्ट्रेट) । यद्युज्यते=यदत्र कर्तुं युज्यते, यो
दण्ड उचितोऽस्य भवति । व्यङ्गितः=नासाच्छंदेन विकल्पां नीता । (इसका आकृति
विगाद दो) । प्राणद्रोहः=विपादिदानेन पतिप्राणहरणोद्यमः । पापात्मा=दुष्टस्वभावः, कृता-
पराधः । वराको=दोना । दूषिता=व्यङ्गिता । इत्येवं राजपुरुषवचनं सत्यमेवेत्यर्थः ।

भिन्नः स्वरो मुखवर्णश्च यस्यासी तथा,—स्वलितवाक्, परावर्तितमुखवर्णश्च ।
शक्तितद्विष्टः=भय च चललोचनः । चक्रित इव विलोक्मानश्च । समुत्पतिततेजाः=हत-
प्रभः ॥ २१० ॥ भूरिः=विपुलम् । ललाटे स्वेदं भजतोति—ललाटस्वेदभाग्=पस्वेदा-

१ परित्रायध्वम् । २ किमिद वैशसं स्वदारेषु कृतम् । ३ ‘विस्मयमूढ मतिर्यदा नोत्तरं प्रय-
च्छति तदा ते सभासदः शास्त्रानुगतमूचुः ।’ इति पाठा०।४ कम्पमानोऽप्यथोऽवेशो पापं प्राप्तः ।

अन्यच—प्रसच्चवदनो हृष्टः स्पष्टवाक्यः सरोपटक् ।

सभायां वाच्कं साऽमयं साऽवष्टमो नरः शुचिः ॥ २१३ ॥

तदेष दुष्टचरित्रलक्षणो दृश्यते, स्त्रीधर्षणाद्रुध्य इति । तच्छृङ्गेऽयमा-
रोज्यताम्—इति ।

अथ वध्यस्थाने नीयमानं तमवलोक्य देवशर्मा तान्धर्माधिकृता-
न्नगत्वा प्रोवाच—‘भो ! भो ! अन्यान्यं नैप वराको वध्यते नापितः ।
साधुसमाचार एषः । तच्छृङ्गयतां मे वाक्यम्—

‘जम्बुको हुड्युद्धेन वर्यं चाऽपाठभूतिना ।

दृतिका पर कार्येण त्रयो दोपाः स्वयद्धृताः ॥’ इति ।

अथ ते सभ्या ऊचुः—‘भो भगवन् ! कथमेतन् ?’ ततश्च
देवशर्मा तेषां त्रयाणामपि वृत्तान्तं विस्तरेणाऽकथयत् । तदाकर्ण्य
मुविस्मितमनस्ते नापितं विमोच्य मिथः प्रोचुः—अहो !

अवध्यो ब्राह्मणो बालः स्त्री तपस्वी च रोगभाक् ।

विहिता व्यङ्गिता तेषामपराधे मैहन्यपि ॥ २१४ ॥

तदस्या नासिकाच्छेदः स्वैकर्मणा हि संवृत्तः । ततो राज-
निग्रहस्तु कर्णच्छेदः कार्यः । तथानुष्टुते देवशर्मापि वित्तनाशसमु-
द्भूतशोकरहितः पुनरपि स्वकीयं मठायतनं जगाम । अनोऽहं
त्रवीमि—‘जम्बुको हुड्युद्धेन—इति ।

चितललाटपटः । मार्पणं क्रोधोदृतं । सावष्टम्भः=सप्रैर्यः । शुचिः=निर्दोषः । सभायां=
मंसदि । (‘कन्चहर्णा’) ॥ २१३ ॥ दुष्टचरित्रस्य यानि लक्षणानि तानि सन्त्यस्यासौ तथा ।
स्त्रीधर्षणात् स्त्रीपांडनान् । शूले=वधशूले । (‘शूलीपर’) ।

धर्माधिकृतान्=धर्माधिकरणस्थान् । साधुसमाचारः=निर्दोषः । महत्यपि अपराधे-
नेपां=ब्राह्मणादानां, व्यङ्गिता=नासिकाच्छेदादिना विकलाङ्गना । विहिता=धर्मशाख-
वोधिना न तु वधः ॥ २१४ ॥ तत् साम्बेनाऽवध्यत्वात् । राजनिग्रहः=राजदण्डः । कर्णच्छेदः=
कर्णच्छेदरूपः । कार्यः=विधेयः । वित्तनाशेति । धननाशोऽस्तदुःखरहितः सञ्ज्ञित्यर्थः ।
मठायतनं=निवासभूतं स्वमठम् ।

१ ‘दुष्टचारित्रः’ २ ‘शूलायाम्’ ३ ‘गरीयसि’ ४ ‘स्वकर्मवशादेव नासिकाच्छेदः’
५ ‘दृष्टान्तदयेन स्वहृदयं संस्थाप्य स्वकीयमनायतनम्’ ।

करटक आह—अथैवंविधे व्यतिकरे कि कर्तव्यमावयोः ? ।
दमनकोऽब्रवीन् प्रवंविधेऽपि समये मम बुद्धिस्फुरणं भविष्यति,
येन सञ्जीवकं प्रभोविश्लेषयिष्यामि । उक्तच्च यतः—

एकं हन्याङ्ग वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता ।
बुद्धिर्द्विद्विमतः सृष्टा हन्ति राष्ट्रं सनायकम् ॥ २१५ ॥

तदहं मायाप्रैप च्वेन (गुप्रमाश्रित्य ?) तं स्फोटयिष्यामि ।

करटक आह—भद्र ! यदि कथमपि तव मायाप्रवेशं पिङ्गलको
ज्ञान्यति, सञ्जीवको वा, तदा नूनं ते विघात एव ।' सोऽब्रवीन्—
'तात ! मैवं वद, गृद्बुद्धिभिरापत्काले विधुरेऽपि देवे बुद्धिःप्रयोक्तव्या ।
नोद्यमस्त्याज्यः । कदाचिद्दुणाक्षरगन्यायेन बुद्धेः साम्राज्यं भवति ।
उक्तच्च त्याज्यं न देवे विधुरेऽपि धैर्यं, धैर्यात्कदाचिद्विस्थितिमान्युत्यात्सः ।

जाते समुद्रेऽपि हि पोतभङ्गे, सांयात्रिको वाच्छति तर्तुमेव ॥ २१६ ॥
नथा च—उद्योगिणं पुरुषसिंहसुपैति लङ्घमी दैवं वेन देय भिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या, यन्ने कृते यदि न सिद्धयति कोऽत्र दोषः ? ॥

व्यतिकरे=व्यत्यामे । (गडवड में) । प्रभोः=राजा: सिंहातः । विश्लेषयिष्यामि=
भेदाश्रित्यामि । धनुष्मता=धानुष्ठण । हन्यः=नाणः । मुक्तः=क्षिप्तः । एकमपि नरं कदानिन्
हन्यात्, कदाचिच्च न वा हन्यात् । लक्ष्याच्युतश्चेत्—एकमपि न हन्यादिव्यर्थः । परन्तु
बुद्धिमनः=नानिकुशलातः । सृष्टा=उद्भूता, कुशलप्रयुक्ता । बुद्धिः=मर्तिस्तु—सनायकं=
माधिपं । राष्ट्रं=राज्यमपि । हन्ति=विनाशयितुं शक्नोति ॥ २१५ ॥

मायाप्रवेशं=मायाविनियोगम् । सञ्जीवको वा—शास्यतीति शेषः । तदा=तदैः । नूनम्=
अवश्यम् । विघातः=तत्र विनाश एव भविष्यति । विधुरेऽपि देवे=विरुद्धेषि भाग्ये । बुद्धिः
=कृतनातिः, धर्मनातिश्च । उद्यमः=उद्योगः । धुणाक्षरगन्यायेनेति । यथा—मुणो
नाम कीटः काष्ठं भक्षयन् ककारादिवर्णसदृशां छिद्रपङ्किं कदाचिद्रचयति, तथैव विधुरेषि
काले कदाचित्कार्यसिद्धेः सम्भव इत्याशयः ।

स्थिरिं=समीहितसिद्धिम् । सः=धीरः । पोतभङ्गे=नौभङ्गे जातेषि । सांयात्रिकः=
पोतवणिक् । तर्तुमेव वाच्छति=पुनरपि समुद्रतरणमाचरति पोतान्तरेण । तदेव वाणिज्यं

१. 'मायाप्रधम्' । इति पाठान्तरम् । २. 'सततमत्र समेति लक्ष्मांदैवं हि दैवमिति',
'निष्पोद्यतस्य पुरुषस्य गवेद्वि लक्ष्मांदैवं हि दैवमिति' इति च पाठान्तरम् ।

तदेवं ज्ञात्वा सुगृह्णबुद्धिप्रभावेण—यथा तौ द्वावपि न ज्ञास्यत
मत्थः—मिथो वियोजयिष्यामि ।

अपरच्च—सदोदयतानां देवा अपि सहायिनो भवन्ति । उत्तच्च—

कृते विनिश्चये पुंसां देवा यान्ति सहायताम् ।

विष्णुश्चकं गरुदसंश्च कौलिकस्य यथाऽहवे ॥

किञ्च—सुप्रयुक्तस्य दम्भस्य ब्रह्माऽप्यनं न गच्छति ।

कौलिको विष्णुरूपेण राजकन्यां निषेवते ॥ २१८ ॥

करटक आह—कथमेतन् ? । सोऽब्रवीत्—

५ मिथ्याविष्णुकौलिककथा ।

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने कौलिकरथकारौ मित्रे प्रतिवसतः स्म । तत्र च
तौ वाल्यात्प्रभृति सहचारिणौ परस्परमतीव स्नेहपरौ सदंकस्थान-
विहारिणौ कालं नयतः ।

अथ कदाचित्तत्राऽधिष्ठाने कस्मिंश्चिद्वेवाऽयतने यात्रामहोत्सवः
संवृत्तः । तत्र च नटनर्तकचारणसङ्कुले नानादेशागतजनावृते तौ
सहचरौ भ्रमन्तौ काञ्चिद्वाजकन्यां करेणुकाऽस्त्रदृढां सर्वलक्षणसनाथां
कञ्चुकिवर्पधरपरिवारितां देवतादर्शनार्थं समायातां दृष्टवन्तौ ।

अथाऽसौ कौलिकस्तां हृष्टा विपार्दित इव दुष्टप्रहृष्टीत इव
कामशरैर्हन्यमानः सहसा भूतले निपपात । अथ तं तदवस्थमव-
लोक्य रथकारस्तदुःखदुःखितः—आपपुरुषैस्तं समुक्षिष्य स्वगृह-
पुनरपि कुरुते इत्याशयः ॥ २१६ ॥ तौ द्वौ=सिंहवृषभौ । दम्भस्य=मायायाः ।
निषेवते=उपभुडत्ते ॥ २१८ ॥

अधिष्ठाने=नगरे । 'अधिष्ठानं रथस्याङ्गे प्रभावेऽध्यासने पुरे'-इत्यजयः । यात्रा-
महोत्सवः=दर्शनयात्रोत्सवः ['मेला'] । नयाः=भरताः । नर्तकाः=नृत्योपजीविनः ।
चारणाः=मृतिपाठकाः । तैः सङ्कुले=व्याप्ते । करेणुका=हस्तिनी । सर्वलक्षणसनाथां=
सर्वलक्षणोपेताम् । कञ्चुकिभिः=अन्तःपुरचरैर्वृद्धैः । वर्षवरैः=झीवैः । परिवारितां=सहिताम् ।
विशादितः=विपर्णाडितः । दुष्टप्रहृष्टीतः=पिशाचादिपीडित इव । सहसा=अकरमात् ।
तदवस्थं=भूमौ पतितम् । तं=खसुहस्रम् । तदुःखदुःखितः=स्वमित्रकौलिकदुःखेन

? इयं कथाऽक्षीलतया काञ्चिकमध्यमपरोक्षापाठशास्यवहिर्भूता ।

मानाययन् । तत्र च विविधैः शीतोपचारैश्चिकित्सकोपदिष्टैर्मन्त्र-
वादिभिरुपचर्यमाणश्चिरात्कथचित्सचेतनो वभूव । ततो रथकारणे
प्रष्ठः—‘भो मित्र ! किमेवं त्वमकम्माद्विचेतनः सज्ञातः ? तत्कश्यता-
मात्मम्बस्तुपम् ।

स आह—‘वयस्य ! यद्येवं तच्छृणु मे रहस्यं येन सर्वामात्म-
वेदनां ते वदामि,—‘यदि त्वं मां मुहूदं मन्यसे ततः काष्ठप्रदानेन
प्रसादः क्रियतां, अस्यतां यद्वा किञ्चित्प्रणातिरेकादयुक्तं तव
मयाऽनुष्ठितम्’ ।

सोऽपि तदाकर्ण्य वाष्पपिहितनयनः सगद्गमुवाच—‘वयस्य !
यत्किञ्चिद्दुःखकारणं तद्वद्, येन प्रतीकारः क्रियते—यदि शक्यते
कर्तुम् । उत्तरं—

औषधानां सुमन्त्राणां दुद्देश्वैव महात्मनाम् ।

असाध्यं नास्ति लोकेऽत्र यद्विहाण्डस्य मध्यगम् ॥ २१९ ॥

तदेपां चतुर्णां यदि साध्यं भविष्यति तदाऽहं साधिष्यामि ।
कौलिक आह—‘वयस्य ! एतेषामन्येषामपि सहस्राणामुपायाना-
मसाध्यं तन्मे दुःखं, तस्मान्मम मरणे मा कालक्षेषं कुरु ।’

रथकार आह—‘भो मित्र ! यद्यप्यमाध्यं तथापि निवेदय,—
येनाऽहमपि तदसाध्यं मत्वा त्वया सह वहौ प्रविशामि, न क्षणमपि
त्वद्वियोगं सहिष्येम, एष मे निश्चयः ।

दुःखितः सन् । आपुरुषैः=रत्नबन्धुवान्धवैः । समुक्षाय=उत्थाप्य । शीतोपचारैः=कामो-
पतापशान्त्यर्थः निकित्सकोपदिष्टैश्चन्दनादिर्ज्ञातोषन्नारैः । मन्त्रवादिभिः=तान्त्रिकैश्च
[‘ओशा’] । आत्मस्वरूपम्=स्वरहस्यम्, स्वाध्यं वा । यद्येवं=यद्याग्रहस्ते श्रोतुम् ।
काष्ठप्रदानेन=चितार्णं काष्ठभारदानेन । प्रसादः=अनुग्रहः । अहमशक्यप्रतीकारेणानेन
दुर्लेन दुःखितो चितापवेशेन मर्तुमिच्छामीत्यर्थः, यद्वा=यच्च किञ्चित् । प्रणायातिरेकात्=
अर्तस्नेहात् । सोऽपि=रथकारोपि । वाष्पपिहितनयन.=साश्रुलोचनः ।

औषधानामिति । औषधानां=रसायनादेदिवौषधीनामोपर्धीनाथ । सुमन्त्राणां=
मिद्धमन्त्रतन्त्रयन्त्रादोनां, सुमन्त्रितानाथ । महात्मानां=योगिनां, सिद्धानां, तपस्विनाथ ।
तुद्देश्व=नुपतेश्व । ब्रह्माण्डमध्यं किञ्चिदपि वस्तु कार्यं वा असाध्यं नास्ति । औषधादे-
न्यतमस्याऽसाध्यं किञ्चिदपि नास्ति, यज्जगति वर्त्तन इत्यर्थः ॥ २१९ ॥ यषाम् ॥ औषध-

कौलिक आह—‘वयस्य ! याऽसौ राजकन्या करेणुकाऽ
रुढा तत्रोत्सवे दृष्टा, तस्या दर्शनानन्तरं मकरध्वजेन मरमयमवस्था
विहिता । तत्र शक्तोभि तद्वेदनां सोऽुम् । तथा चोक्तम्—

मत्तेभकुम्भपरिणाहिनि कुङ्गुमाद्रे तस्याः पयोधरयुगे रत्नखेदविक्षः ।

वक्षो निधाय भुजपञ्चरमध्यवर्तीं स्वैप्स्ये कदा क्षणमवाप्य तदीयसङ्गम् ॥
तथा च—रागी विम्बाऽधरोऽसौ, स्तनकलशायुगं यौवनारूढगर्वं,

नीचा नाभिः प्रकृत्या, कुटिलकमलकं, स्वल्पकं चाऽपि मध्यम् ।
कुर्वन्त्वेनानि नाम प्रसभमिह मनश्चिन्तितान्याग्नु खेदं

यन्मां तस्याः कपोलीं दहत इति मुहुः स्वच्छकौ तज्जयुक्तम् ॥ २२१ ॥

रथकारोऽप्येवं सकामं तद्वचनमाकर्ण्य सम्मिन्दमाह ‘वयस्य !
यद्येवं तर्हि दिष्टुच्चा सिद्धं नः प्रयोजनं, तदन्वैव तया सह समागमः क्रियताम्’ इति । कौलिक आह—वयस्य ! यत्र कन्याऽनन्तः—
पुरे वायुं मुक्त्वा नाऽन्यम्य प्रवेशोऽस्ति, तत्र रक्षापुरुषाधिष्ठितेकर्थं
मम तया सह समागमः ?, तत्कि मामसत्यवचनेन विडम्बयसि ?,
धार्दानाम् । अन्येषाम् = इतोऽतिरिक्तानामपि । तत् = मयानुभूयमानम् । मकरध्वजः=
कामः । तद्वेदनां=कामवेदनाम् । मत्तेति । मत्तगजकुम्भविशाले, कुङ्गुमचन्चिते, तस्याः—
नायिकायाः । पयोधरयुगे=स्तनद्वये । रत्नखेदविक्षः = सुरत्नखेदङ्गान्तः । तया सह सुरत्नयुद्धं
विधाय परिश्रान्त इत्यर्थः । वक्षः = उरः । तदीयभुजयुगलपञ्चरबदः । क्षणं तदीयसङ्गम-
वाप्य कठा स्वप्स्ये इति मे वितर्क इत्यर्थः ॥ २२० ॥ रागी=रक्तः, रागाविष्टश्च । रागः =
क्रोधः । स्तनावेव कलसौ, तयोर्युगं । यौवनेनाऽऽरुढो गतो यस्य । तत् = यौवनमदमत्तं ।
नभिस्तु प्रकृत्या = स्वभावत एव नीचा, = निघ्ना, अथमा च । अलकं = केशाः ।
‘अलका कुवेरपुर्यामस्त्रियां चूर्णकुन्तले’ इति मेदिनी । ‘प्रकृत्ये त्युभयान्वयि । कुटिलकं=
वकं क्रूरच । मध्यं = मध्यभागः । स्वल्पकं = तनुतरं, क्षुद्रच । ‘स्वकल्पश्चापि मध्यः’
इत्यपि पाठः । एतानि = स्वभावतो नीचानि कुटिलानि चालकादीनि मया मनसि
चिन्तितानि प्रसभं = बलात, खेदं = दुःखम्, आशु = त्वरितं कुर्वन्तु नाम, रागादि
दुष्टत्वात् । परन्तु तस्याः = कामिन्याः कपोली स्वच्छावेव स्वच्छकौ = शुद्धौ, निदोर्धौ च,
चिन्तिनी यन्मां दहतः = पांडयतः, तदेव तु न युक्तम्=नोचितम् । मञ्जुनानां स्वच्छानां
न दाहकताया अनुचितत्वादित भावः ॥ २२१ ॥

सकामं = सामिलापं, कामविकलं वा । दिष्टया = भाग्येन । नः = अस्माकम् ।

१. ‘स्वप्स्यामि कि क्षणमहं क्षणलक्षणिद्रः’—पाठान्तरम् ।

रथकार आह—मित्र ! पश्य मे बुद्धिवलम् ।’ एवमभिधाय तत्क्षणात्कीलकस च्चारिणं वैनतेयं वाहुयुगलं वरुणवृक्षदारुणा शङ्खचक्र-गदापद्मान्वितं सकिरीटकौस्तुभमधटयत् ।

ततस्तस्मिन्कौलिकं समारोप्य विष्णुचिह्निं कृत्वा कीलस च-रणविज्ञानं च दर्शयित्वा प्रोवाच—‘वयस्य ! अनेन विष्णुरूपेण गत्वा कन्यान्तःपुरे निशीथं तां राजकन्यामेकाकिनीं सप्तभूमिक-प्रासादप्रान्तगतां मुग्धस्वभावां त्वां वासुदेवं मन्यमानां—म्वकीय-मिश्यावक्रोच्छिर्भी रज्जयित्वा वात्स्यायनोक्तविधिना भज ।’

कौलिकोऽपि नद्राकर्ण्य तथारूपस्तत्र गत्वा तामाह—‘राज-पुत्रि ! सुप्रा, किं वा जागर्णि ? । अहं तब कृते समुद्रात्सानुरागो लक्ष्मीं विहायैवागतः, तक्लियतां मया सह समागमः’—इति ।

माऽपि गम्भारूपं चतुर्भुजं सायुधं कौस्तुभोपेतमवलोक्य सविम्मया शयनादुत्थाय प्रोवाच—‘भगवन ! अहं मानुषी कोटिकाऽशुचिः, भगवांस्त्रैलोक्यपावनो वन्दनीयश्च, तत्कथमेतदुज्यते ?’ ।

कौलिक आह—‘सुभगं ! सत्यमभिहितं भवत्या,(परं) किन्तु राधा नाम मे भार्या गोपकुलप्रमूर्ता प्रथममासीन, मा त्वमत्राऽत्तरीणा, पयोजनम् = अभीष्टम् । विटम्बयसि = वधयसि । कील(क)सचारिणं = कुञ्चिकाब्रह्मणमध्य-रिष्णम् । (‘चार्बांसे चलनेवाला’) । वैनतेयं = गशडं । वरुणः = वृक्षभेदः । ‘वायुजवृक्षे’ ति केचित् पठन्ति । सकिरीटं = मुकुटसहितं । कौस्तुभं = रत्नविशेषम् । सकिरीटेति वाहुयुगलविशेषणम् । अषट्यत् = चकार ।

तस्मिन्=यन्त्रगरुदे । कोलकस्य=कुञ्चिकायाः । यस्तस्त्ररणं=ब्रामणं । तस्य विज्ञानं=कौशलं । दर्शयित्वा=यिक्षयित्वा । अनेन=कृत्रिमेण, सप्तभूमिकस्य=सप्ततलस्य (सत-मंजिला’) । प्रासादस्य=हस्यस्य (महल) । प्रान्ते=उपरिभागे, (छतपर) । गतां=स्थिताम् । मुग्धस्वभावां=वालतया सरलस्वभावाम् । मुग्धाम्, अश्वातकामोपभोगसुखाम् । वासुदेवं=कृष्णं । रज्जयित्वा=यशोकृत्य । वात्स्यायनोक्तविधिना=कामशास्त्रोक्तेनोपायेन ।

भज=उपभृक्षव । तद्राकर्ण्य=तदचन्म श्रुत्वा । तथारूपः=विष्णुरूपो भूत्वा । तत्र=राजप्रापादे कन्यान्तःपुरे । समुद्रात्=क्षीरसागरात् । सानुरागः=त्वत्स्नेहाकृष्णः । सापि=राजपुत्र्यपि । सविसमया=आर्थ्यं चकिता । कीटिका=कीटसदृशी । अशुचिप्रायमनुष्य-

तेनाहमत्राऽस्यातः ।' इत्युक्ता सा प्राह—'भगवन् ! यद्येवं तन्मे तातं प्रार्थय, सोऽप्यविकल्पं मां तुभ्यं प्रयच्छति ।

कौलिक आह—'मुभगे ! नाहं दर्शनपथं मानुषाणां गच्छामि, किं पुनरगलापकरणं, त्वं गान्धर्वेण विवाहेनात्मानं प्रयच्छ, नोच्च-च्छापं दत्वा सान्वयं ते पितरं भस्मसात्करिष्यामि'—इति ।

एवमभिधाय गङ्गादृवतीर्य सव्ये पाणौ गृहीत्वा तां सभयां सलज्जां वेपमानां शश्यायामनयत् । ततश्च रात्रिशेषं यावद्वात्म्यायनोक्तविधिना निषेद्य प्रत्यूषे स्वगृहमलक्षितो जगाम । एवं तस्य तां नित्यं संवमानस्य कालो याति ।

अथ कदाचित्कच्चुकिनस्तस्या अधरोष्ठप्रवालखण्डनं हप्त्वा मिथः प्रोचुः—अहो ! पश्यताऽस्या राजकन्याया पुरुषोपभुक्ताया इव शरीरावयवा विभाव्यन्ते, तत्कथमयं सुरक्षितेऽप्यस्मिन्युं एवं-विधो व्यवहारः ? । तद्राङ्गे निवेदयामः ।'

एवं निश्चित्य सर्वे मर्मेत्य राजानं प्रोचुः—'देव ! वयं न विद्यः, परं सुरक्षितेऽपि कन्यान्तःपुरे कश्चित्प्रविशति, तदेवः प्रमाणम्' इति । तच्छुत्वा राजाऽतीवव्याकुलितचित्तो व्यचिन्तयन्—

पुत्रीति जाता महतांह चिन्ता कस्मै प्रदेयेति महान्वितर्कः ।

दत्ता सुखं प्राप्स्यति वा न वेति कन्यापिनृत्वं खलु नाम कष्टम् ॥२२२॥

देहथारिणा । एतत्=भवदुक्तम् । अत्र=राजगृहे । तत्=तहि । तातं=मरिपतरम् । अवि कल्पं=निःसंशयम् । न दर्शनपथं गच्छामि=न चक्षुविषयो भवामि । आलापकरणं=मंभाषणादिकं किं पुनः=दूरापास्तमेव । गान्धर्वेण=स्वेच्छारच्चितेन विवाहेन । सान्वयं=सकुरं । भस्मसात्करिष्यामि=विनाशयिष्यामि । सव्ये=वामे । वेपमानां=लङ्घाभयादिना कम्पमानाम् । निषेद्य=उपभुज्य । प्रत्यूषे=प्रभाते । अलक्षितः=कन्यान्तःपुररक्षकैरदृष्ट एव । कालो याति=भूयान् कालो जगाम ।

अथ=गते बहुतिये काले । कच्चुकिनः=अन्तःपुररक्षकाः । अधरोष्ठप्रवालखण्डनम्=कोमलाधरे दन्तक्षतं पुरुषोपभुक्तायाः=संस्पृष्टमैथुनायाः । एवंविधो व्यवहारः=परपुलम् सम्पर्कः । देवः प्रमाणम्=अत्र यदुचितं तद्विदधातु भवान् । करमै देयेति चिन्ता, दत्तापि सुखं प्राप्स्यति नवेति वितर्कः=संशयस्थ भवति, वतः कन्याया जन्म महते कष्टायैवेति

नवश्च नार्थश्च सद्वप्रभावास्तुल्यानि कूलानि कूलानि तासाम् ।

तोर्यैश्च दोषैश्च निपातयन्ति नद्यां हि कूलानि कूलानि नार्थः ॥२२३॥

नथा च—जननीमनो हरति जातवती परिवर्धते सह शुचा सुहृदाम् ।

परसाकृतापि कुरुते मलिनं दुरतिकमा दुहितरो विपदः ॥२२४॥

एवं वहुविधं विचिन्त्य देवीं रहस्यां प्रोवाच—‘देवि ! ज्ञायतां किमेते कञ्चकिनो वदन्ति !। कस्य कृतान्तः कुपितो येनैतदेवं क्रियते ।

देव्यपि तदाकर्ण्य व्याकुलीभूता सत्वरं कन्याऽन्तःपुरे गत्वा तां खण्डिताऽधरां नखविलिखितशरीरावयवां दुहितरमपश्यन् ।

आह च—‘आः पापे कुलकलङ्कारिणि ! किमेवं शीलखण्डनं कृतम् ?। कोऽयं कृतान्ताऽवलोकितस्त्वत्सकाशमभ्येति ?, तत्कर्त्यतां ममाऽभे सत्यम् ।

इनि कोपाटोपविशङ्कुटं वदत्यां मातरि राजपुत्री भयलज्जानता-
ऽसननं प्रोवाच—‘अभ्य ! साक्षान्नागायणः प्रत्यहं गमडास्फौ निशि
ममायाति, चेदसत्यं मम वाक्यं, तत्स्वचक्षुपा विलोकयतु निगूढतरा
निशीये भगवन्तं रमाकान्तम् ।’

नावः ॥ २२२ ॥ नार्थ आःमदोपैः=अभिन्नारादिभिः, कूलानि=पित्रादिकूलानि नार्थ-
यन्ति, नवश्च तोयैः=जर्जः, स्वकूलानि=तद्यानि नाशयन्ताति—सादृश्यं नर्दीनार्थोरित्यर्थः ॥२३३॥

जातवती=जातमात्रेव, जननीमनो हरति=स्वमातुर्मनः शोकमग्नं करोति । नुहदां=
नवनूनां शुचा=शोकेन सहैव, वर्धते । वर्धमाना वन्धुवर्गं चिन्ताकुलं कुरुते । परसाकृतापि
वराय प्रदत्तपि । मलिनङ्कुरुते=कुलमुभयं दूपयति । ‘अभिन्नारादिरौपैरिति शेषः ।
अतो लोकानां दुहितरो नाम-पुनः खलु दुरतिकमा विपदः । अपतिविधेयविपत्ति-
स्या भवन्ति कन्यका इत्यर्थः ॥ २२४ ॥

देवीं=स्वपटमहिणी । रहस्यां=विजनस्थाम् । कृतान्तः कुपितः=अभः कुपितः ।
कः खलु मत्कोपकृशानुदग्ध्योऽचिरात्पचत्वं गमिष्यताति यावत् । नखविलिखित-
शरीरावयवां=नखशतावलिविलिखितस्तनादिप्रदेशाम् । शालखण्डनं=चारित्रञ्जशः ।
कृतान्तावलोकितः=पृत्युपरवशः । इति=स्त्वं, कोपस्थाटेपेन=आवेशेन, विशङ्कुटं=विषुलं,
भीषणम् । ‘विशङ्कुटं पृथु दृहदिशालं विपुलं महादित्यमरः । यथा स्यात्तथेति क्वाविशेषणम् ।
भयेन लज्जया च नतमाननं यस्मिन् कर्मणि, तद् यथा रथात्तथा—प्रोवाच=जगाद् ।
निगूढतरा=प्रच्छुद्धतरा भूत्वा । निशीये=अर्धरात्रे ।

तच्छ्रुत्वा सापि प्रहसितवदना पुलकाऽङ्कितसर्वाङ्गी सत्वरं गत्वा राजानमूचे—‘देव ! दिष्टया वर्धसे ! नित्यमेव निशीथे भगवा-न्नारायणः कन्यकापाश्र्वेऽभ्येति । तेन गान्धर्वविवाहेन सा विवाहिता । तदृशं त्वया मया च गत्रौ वातायनगताभ्यां निशीथे द्रष्टव्यः, यतो न स मानुषैः सहालायं करोति ।’ तच्छ्रुत्वा हपि-नम्य गजास्तदिनं वर्षशतप्रायसिव कथच्चिज्जगाम ।

ततम्तु गत्रौ निभृतो भूत्वा गाङ्गीमहितो गजा वातायनम्यो गगनासत्कहश्चिर्यावत्तिष्ठुति, तावन्तस्मिन् समये गमडाम्बद्धं तं शङ्ख-चक्रगदापद्म्यहस्तं यथोक्तचिह्नाङ्कितं व्योम्नोऽवतरन्तं नारायणमप-श्यन । ततः सुधापूरप्लावितमिवाऽऽत्मानं मन्यमानस्तामुवाच—‘प्रिये ! नाम्यन्यो धन्यतरो लोके मत्तस्वत्तश्च, यत्प्रसूतिं नागयणो भजते, तस्मिद्धाः सर्वेऽस्माकं मनोरथाः । अधुना जामातृप्रभावेण सकलामपि वसुमर्तीं वक्ष्यां करिष्यामि ।’

एवं निश्चित्य सर्वैः सीमाधिपैः सह मर्यादाव्यतिक्रममकरोन् । तेच तं मर्यादाव्यतिक्रमेण वर्त्तमानमालोक्य सर्वे समेत्य तेन सह विग्रहं चक्रुः ।

अत्राऽन्तरे स राजा देवीमुखेन तां दुहितगमुवाच—‘पुत्रि ! त्वयि दुहितरि वर्त्तमानायां, नागयणे भगवति जामातरि स्थिते, तत्क्रिमेवं युज्यने यत्सर्वे पार्थिवा मया सह विग्रहं कुर्वन्ति ? । तत्संबोध्योऽन्य त्वया निजभर्ता, यथा मम शत्रून्व्यापादयति ।’

दिष्टया=भाग्येन । वर्धसे=भाग्यवानसीत्यर्थः । तेन=विष्णुना । सा=तव कन्या । वातायनगताभ्यां=गवाक्षस्थिताभ्याम् । सः=भगवान्नारायणः ।

निभृतः=सुग्रृदः । गगनासत्कदृष्टिः=आकाशतलप्रहितलोचनः । तस्मिन्समये=निशीथे । यथोक्तचिह्नाङ्कितं=शङ्खचक्राचलङ्कृतम् । ब्योम्नः=आकाशात् । सुधापूरप्लावित-मिव=अमृतनिर्दर्शितमिव । यत्प्रसूतिं=योरपस्यम् । भजते=सेवते । जामातृप्रभावेण =श्रीमन्नारायणप्रभावेण । वसुमर्तीं=पृथ्वीम् । सीमाधिपैः=सीमान्तराजैः । मर्यादाव्यति-क्रमं=मर्यादोऽध्यनेन सन्धिमङ्गलकलहम् । समेत्य=मिलिता । विग्रहं=युद्धम् । देवीमुखेन=राजमहिमीदारा । स्थिते=वर्त्तमाने सति । ‘मया सह सर्वे पार्थिवा विग्रहं कुर्वन्तीत्येवं किं

ततस्तया स कौलिको रात्रौ सविनयमभिहितः—‘भगवन् ! त्वयि जामातरि स्थिते मम तातो यच्छत्रुभिः परिभूयते तत्र युक्तम्, तत्प्रसादं कृत्वा सर्वास्तावशत्रून्व्यापादय । कौलिक आह-सुभगे ! कियन्मात्रास्त्वेते तत्र पितुः शत्रवः ?, तद्विश्वस्ता भव, क्षणेनापि सुदर्शनचक्रेण सर्वास्तिलक्षः खण्डयिव्यामि ।’

अथ गच्छता कालेन सर्वदेशं शत्रुभिरुद्धास्य स राजा प्राकार-शेषः कृतः । तथापि वासुदेवस्त्वपधरं कौलिकमजानन् राजा नित्य-मेव विशेषतः कर्पूरागुरुकस्तूरिकादिपरिमलविशेषान्नानाप्रकारवस्त्र-पुष्पभक्ष्यपेयांश्च प्रेपयन्दुहित्रुमुखेन तमूचे—‘भगवन् ! प्रभाते नूनं स्थानभङ्गे भविष्यति, यतो यवसेन्धनक्षयः सञ्जातः, तथा सर्वोऽपि जनः प्रहारैर्जर्जरितदेहः संवृत्तो योद्धुमङ्गमः, प्रचुरो मृतश्च । तदेवं झालाऽत्र काले यदुचितं भवति तद्विधेयम्’—इति ।

तच्छत्वा कौलिकोऽप्यचिन्तयन्—‘स्थानभङ्गे जाते ममाऽनया सह वियोगो भविष्यति, तस्माद्गुडमारुद्ध सायुधमात्मान-माकाशे दर्शयामि, कदाचिन्मां वासुदेवं मन्यमानास्ते साशङ्का राज्ञो योद्धुभिर्हन्यन्ते । उत्तर्ज्ञ—

निर्विषेणापि सर्वेण कर्त्तव्या महती फटा ।

विषं भवतु मा वाऽस्तु फटाऽटोपो भयङ्करः ॥ २२५ ॥

युज्यते !=न युज्यते इत्यर्थः । सम्बोधः=प्रार्थनीयः । प्रसादं=कृपाम् । व्यापादय=विनाशय । कियन्मात्रा:=कियन्तः ?, अत्यल्पा एवेति यावत् ।

गच्छता कालेन=अलैरेव दिनैः । उदास्य=पीडयित्वा, स्वाधिकारे कृत्वा वा । प्राकारशेषः=एकदुर्गमात्राश्रयः । अवरुद्धः सर्वत इति यावत् । कौलिकमजानन्=‘कौलिको इयं नारायणरूपेण मत्कन्यामुपमुङ्क्ते’ इत्येवं तत्त्वतः कौलिकमजानन् । नूनम्=अवश्यं । स्थानभङ्गः=दुर्गनाशः । दुर्गे शत्रूणामधिकारो भविष्यतीति यावत् । यवसेन्धनक्षयः=यासकाषादिसकलोपकरणक्षयः । जनः=सैनिकलोकः । जर्जरितदेहः=विशीर्णश्च रोरः । मृत्वृत्तः=जातः । प्रचुरः=भूयांस्तु । मृतः=मृत एव । अनया=राजकन्या । ते=शत्रवः । राज्ञः=अस्मच्छत्रशुरस्य राज्ञः । योद्धुभिः=भट्टैः ।

निर्विषेण=विषशूर्येनापि । सर्वेण=महती=नितरं भीतिदा । फटा=फणासंनिवेशादेपः । विषाभावेऽपि फटाऽम्बरेणैव लोकानां भयजननं भविष्यतीत्याशयः । ‘फणे’ति,

अथ यदि मम स्थानार्थमुच्चतस्य मृत्युर्भविष्यति तदपि सुन्दगम।
उक्तज्ञ--गवामर्थे ब्राह्मणार्थे स्वाम्यर्थे खीकृतेऽथवा।

स्थानार्थे यस्त्यजेत्प्राणांस्तस्य लोकाः सनातनाः ॥ २२६ ॥

चन्द्रे मण्डलसंस्थे विगृहते राहुणा दिनाधीशः ।

शरणागतेन सार्थं विपद्धपि तेजस्विनां क्षाद्या ॥ २२७ ॥

एवं निश्चित्य प्रत्यौपे दन्तधावनं कृत्वा तां प्रोवाच—सुभगे !
ममस्तैः शत्रुभिर्हैतैत्रन्नं पानं चाऽम्बादयिष्यामि । किं वहुना—
त्वयापि सह मङ्गमं ततः करिष्यामि । परं वाच्यम्बवयाऽत्मपिता
यत्प्रभाते प्रभूतेन सैन्येन मह नगरान्निक्षय योद्धव्यम् । अह-
च्चाकाशस्थित एव सर्वास्तान्निस्तेजसः करिष्यामि । पश्चात्सुखेन
भवता हन्तव्या । यदि पुनरहं तान्मवयमेव सूद्यामि तत्तेपां पापा-
त्मनां वैकुण्ठीया गतिः स्यात् । तम्मात्ते तथा कर्तव्या यथा पला-
यन्तो हन्यमानाः स्वर्गं न गच्छन्ति ।'

सापि तदाकर्ण्य पितुः ममीपं गत्वा सर्वं वृत्तान्तं न्यवेदयत् ।
राजापि तस्या वाक्यं श्रद्धधानः प्रत्यौपे समुत्थाय सुसंनद्रमैन्यो
युद्धार्थं निश्चक्राम । कौलिकोऽपि मरणे कृतनिश्चयश्चक्रपाणिर्गगन-
गतिर्गम्भान्डो युद्धाय प्रस्थितः ।

‘मा भूरा’दिति च पाठान्तरम् ॥ २२५ ॥ मम=कौलिकस्य । स्थानार्थ=दुर्गरक्षणार्थम् ।
उच्चतस्य=युद्धं कुर्वाणस्य । तदपि=मरणमपि ।

गवामर्थे=गवां रक्षणार्थे । ब्राह्मणार्थे=दिजरक्षार्थम् । स्वाम्यर्थे=प्रभुकार्यमिद्यं
म्बांकृते=स्त्रीरत्नलाभार्थं, तद्रक्षणार्थं । तस्य सनातनाः=अश्रव्याः । लोकाः=ब्रह्मालोकादये
भवतांत्यर्थं ॥ २२६ ॥

चन्द्रे ऽमावास्यायां स्वमण्डलसंस्थे=स्वागतिः सति, दिनाधीशः=सूर्यः, राहुणा=स्वभः
नुना, विगृहते=युध्यते । शरणागतरक्षणाय महात्स्तेजस्विनो विषदमपि अनुभवन्ति-
इत्यर्थः । चन्द्रोऽमावास्यार्था मूर्यमण्डलमुपयातीति, मूर्यग्रहणधाऽमावास्यामेव भवतांनि
प्रसिद्धम् । मण्डलं=सूर्यविम्बः, स्वराष्ट्रच ॥ २२७ ॥

तां=राजपुत्रीम् । सुभगं=सौभाग्यशालिनिः, प्रिये ! । आत्मपिता=स्वजनकः । प्रभू
तेन=अतिमहता । निस्तेजसः=शक्तिहीनान् । सुखेन=अनायासेन । सूद्यामि=मार
यामि । वैकुण्ठीया गतिः=वैकुण्ठलोकप्राप्तिः । ते=दुष्टारते राजानः । पलायन्तो हन्य-
मानाः=भीता दिशो द्रवन्तस्त्वपित्रा हन्यमानाः । ‘पलायन् यदि हन्यते न तस्य स्वर्गं

अत्रान्तरे भगवता नारायणेनातीताऽनागतवर्तमानवेदिना स्मृत-
मात्रो वैनतेयः संप्राप्तो विहस्य प्रोक्तः—‘भो गरुत्मन् ! जानासि त्वं
यन्मम रूपेण कौलिको दारुमयगरुडे समारुढो राजकन्यां कामयते?’ ।
मोऽब्रवीत्—‘देव ! सर्वं ज्ञायते तच्चेष्टितम्, तत्किं कुर्मः सांप्रतम् ?’ ।

श्रीभगवानाह—‘अत्र कौलिको मरणे कृतनिश्चयो विहितनियमो
युद्धार्थं विनिर्गतः । म नृन् प्रधानक्षत्रियशराहतो निधनमेष्यति,
तस्मिन्हते सर्वों जनो वदिष्यति यन्—‘प्रभूतक्षत्रियैर्मिलित्वा वासुदेवो
गरुडश्च निपातितः’ । ततः परं लोकोऽयमावयोः पूजां न करिष्यति ।
तनस्त्वं द्रुततरं तत्र दारुमयगरुडे संक्रमणं कुरु । चक्रं चक्रे प्रविशतु ।
अहमपि कौलिकशारीरे प्रवेशं करिष्यामि—येन म शत्रून्व्यापादयति ।
ननश्च शत्रुवधादावयोर्माहात्म्यवृद्धिः स्यान् ।

अथ गरुडे ‘तथे’ति प्रतिपन्ने श्रीभगवान्नारायणस्तच्छरीरे संक्र-
मणमकरोत् । ततो भगवन्माहात्म्येन गगनस्थः स कौलिकः शङ्ख-
चक्रगदाचापचिह्निः क्षणादेव लीलयैव समस्तानपि प्रधानक्षत्रिया-
न्निमत्तेजसश्चकार । ततस्तेन राजा स्वसैन्यपरिवृतेन जिता निहताश्च
ते सर्वेऽपि शत्रवः । जातश्च लोकमध्ये प्रवादो यथा—‘अनेन विष्णु-
जामातृप्रभावेण सर्वे शत्रवो निहताः—’इति ।

कौलिकोऽपि तान्हतान्हष्ट्रा प्रमुदितमना गगनादवतीर्णे यावन्—
नावद्राजाऽमात्यपौरलोकास्तं नगरवास्तव्यं कौलिकं पश्यन्ति—ततः
गनिर्भवतीति धर्मशास्त्रवस्थितिः । आकर्ष्य=श्रुत्वा । गगनगतिः=आकाशमध्यारा ।
अतातानागतवर्तमानवेदिना=मर्वजेन । वैनतेयः=गरुडः । कामयते=उपभुद्धक्ते । तच्चेष्टितम्
=आन्तरणम् । साम्प्रतम्=इदानीम् । विहितनियमः=कृतप्रतिशः । प्रधानक्षत्रियशरा-
हतः=श्रेष्ठयोधवीरवाणताङ्गितः । निधनः=मृत्युम् । बालूदेवः=विष्णुः । संक्रमणं=मधारम् ।
प्रवेशमिति यावत् । चक्रं=सुदर्शनचक्रम् । चक्रे=काष्ठचक्रे । माहात्म्यरुद्धः=प्रभाववृद्धिः ।
यथा=युक्तम् । इति प्रतिपन्ने=इथं स्वीकृते सति । तच्छरीरे=कौलिकदेहे । लीलयैव=क्रांडयेव ।
यथा=यत् । अनेन=राजा । प्रमुदितमना:=प्रसन्नचित्तः ।

राजेति । राजा, अमात्यवर्गः, पुरावासिनश्च तं ‘कौलिकोऽयमिति निश्चित्य यावपृच्छन्ति-
नावत्तेन सर्वों वृत्तान्तो निवेदित इति भावः । कौलिकेति । कौलिकसाहस्रप्रमम-

पृष्ठः 'किमेतत्'? इति । ततः सोऽपि मूलादारभ्य सर्वं प्राग्वृत्तान्तं न्यवेद्यन् । ततश्च कौलिकसाहसुरगच्छितमनसा शत्रुवधादवाप्तं तेजसा राजा सा राजकन्या सकलजनप्रत्यक्षं विवाहविधिना तस्मै समर्पिता, देशश्च प्रदत्तः । कौलिकोऽपि तया सार्थं पञ्चप्रकारं जीव-लोकसारं विषयसुखमनुभवन्कालं निनाय । अतसुषुच्यते—'सुप्रयुक्तम्य दम्भस्य—'इति । ❁

तन्द्वृत्वा करटक आह—भद्र ! अस्त्येवं, परं तथापि महन्मं भयं,—यतौ बुद्धिमान्सज्जीवको रौद्रश्च सिंहः । यद्यपि ते बुद्धिप्रागाग्नभ्यं तथापि त्वं पिङ्गलकात्तं वियोजयितुमसर्थं एव ।' दमनक आह—'ध्रातः ! असमर्थोऽपि समर्थं एव । उक्तच्च—

उपायेन हि यत्कुर्यात्तत्र शक्यं पराक्रमैः ।
काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्पो निपातितः ॥ २२८ ॥

करटक आह—कथमेतत् ? । सोऽब्रवीत्—

६. काकी कनकमूत्र कृष्णसर्पकथा ।

अस्ति कस्मिंश्चित्प्रदेशे महान्न्यग्रोधपादपः । तत्र वायसदम्पती प्रतिवसतः स्म । अथ तयोः प्रसवकाले वृक्षविवरान्निष्कस्य कृष्ण-सर्पः सदैव तदपत्यानि असज्जातकियाण्येव भक्षयति । ततस्तौ निवेदादन्यवृक्षमूलनिवासिनं प्रियमुहूर्दं शृगालं गत्योचतुः—भद्र ! किमेवंविधे सज्जाते आवयोः कर्तव्यं भवति ? । एवं तावहष्टात्मा कृष्णसर्पो वृक्षविवरान्निर्गत्याऽवयोर्वालकान्भक्षयति । तत्क्षयतां तद्रक्षार्थं कश्चिदुपायः ? ।

चेतमा । पञ्चप्रकारं=पञ्चेन्द्रियग्राहणं । विषयोपभोगान् सुज्ञानः सुखेन कालं निनायेत्यर्थः । सज्जीवकः=तज्जामा वृषभः । रौद्रः=क्रूरः । तं=वृषभम् । कनकसूत्रेण=स्वर्णदोरकदारा । ('सोनेका डोरा') । निपातितः=घातितः ॥ २२८ ॥

न्यग्रोधपादपः=वटतरुः । वायसदम्पती=काकमिथुनं । तदपत्यानि=काकार्भकान् । अस-ज्जातकियाणि=उत्पतितुं गन्तुषाऽसमर्थान्येव । निवेदात्=शोकात् । अन्यवृक्षमूलनिवासिनम्=वृक्षान्तरमूलगहरनिवासिनम् । एवंविधे=सर्पकृतापत्यविनाशरूपे व्यतिकरे । (विषयत्तिमे)

यस्य क्षेत्रं नदीतीरे भार्या च परसङ्गता ।

स सर्पे च गृहे वासः कथं स्यात्तस्य निर्वृतिः ? ॥ २२९ ॥

अन्यच—सर्पयुक्ते गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः ।

यद्यामान्ते वसेन्सर्पस्तस्य स्यात्प्राणसंशयः ॥ २३० ॥

स आह—‘नात्र विपये म्बल्पोऽपि विपादः कार्यः, नूनं स लुभ्यो
नोपायमन्तरेण वध्यः स्यात् । उत्कच्च—

उपायेन जयो याद्विपोऽस्तादृष्टं हेतिभिः ।

उपायज्ञोऽप्यकार्योऽपि न शूँः परिभूयते ॥ २३१ ॥

तथा च-भक्षयित्वा बहून्मन्त्यानुत्तमाऽधममध्यमान् ।

अतिलौल्याद्वकः कश्चिन्सृतः कर्कटकग्रहान् ॥ २३२ ॥

तावृचतुः—‘कथमेतन्?’ । सोऽत्रवीत्—

७. वक-कर्कटककथा ।

अन्ति कर्मिक्षिद्वनप्रदेशो नानाजलचरसनाथं महत्सरः । तत्र च
कृताश्रयो वक एको वृद्धभावमुपागतो मत्यान्वयापाद्यिनुमसमर्थः ।
नतश्च क्षुक्षामकण्ठः सरस्तीर उपविष्टो मुक्ताफलप्रकरसदृशैरश्रुप्रवाहै-
र्धगतलमभिष्ठच्छन्नरोद । एकः कुलीरको नानाजलचरसमेतः समेत्य
तस्य दुःखेन दुःखितः सादरमिदमूच्चे-माम ! किमद्य त्वया यथापूर्व-
माहारवृत्तिर्नानुष्ठीयते ?, केवलमश्रुपूर्णेनत्राभ्यां सनिःश्रासेन स्थीयते ॥

एवन्तावत्=एवंरीत्या किल । तद्रक्षार्थं=ततः वृष्णगमपांत्स्ववत्सरक्षार्थम् ॥ यस्य=
पुः । नदीतारै=सरित्तारे । क्षेत्रं=केदारः । भार्या=पत्नी च । परेण=जारेण । सङ्गताः=
मन्तका । स सर्पे=सर्पवति गृहे च यथ निवासः, तस्य धुंसः: कथं=केन प्रकारेण । निर्वृतिः=
क्षुखम्, न केनापि प्रकरणेत्यर्थः ॥ २२९ ॥ विषादः=शोकः । लुभ्यः=काकशावभक्षणलुभ्यः ।
मः=सर्पः । हेतिभिः=शखैः । अल्पवायः=निर्बलोपि । शूरैः=वलवद्धिः । न परिभूयते=
न पराजीयते ॥ २३१ ॥ कश्चिद्वकः—उत्तमाधममध्यमान्=बालयुववृद्धान्, मत्यान् भक्षयि-
त्वापि अतृपः सन्-लौल्यात्=अतिलोभाच्चाच्चल्याच्च, कर्कटकग्रहात्=कर्कटकपीडनात् । मृतः=
पञ्चत्वं जगाम ॥ २३२ ॥ तत्र=सरसि । कृताश्रयः=कृतवसतिः । वृद्धभावं=वार्धक्यं । मत्यान्=
स्वभव्यभूतान्मीनान् । क्षुक्षामकण्ठः=क्षुक्षाक्षोणकण्ठः । मुक्ताफलप्रकरसदृशैः=मौत्तिक-
पंक्तुल्पैः ।

कुलीरकः=कर्कटकः, (केकडा) । माम !=मातुल ! (मामाजी) । आहारवृत्तिः=भोजनो-

स आह—‘वत्स ! सत्यमुपलक्षितं भवता, मया हि मत्स्यादनं प्रनि
परमवैराग्यतया सांप्रतं प्रायोपवेशनं कृतम्, तेनाहं समीपगतानपि
मत्स्यान्न भक्षयामि ।’ कुलीरकस्तच्छ्रुत्वा प्राह—‘माम ! किं तद्वैराग्य-
कारणम् ?’ स प्राह—‘वत्स ! अहमस्मिन्सरसि जातो बृद्धिं गतश्च.
तन्मयैतच्छ्रुतं यद् द्वादशवार्षिक्यनावृष्टिः संपद्यते लभा ।’ कुलीरक
आह—कस्मात्च्छ्रुतम् ? । वक आह—‘देवज्ञमुखात्’ । एष शनैश्चरो
हि गेहिणीशकटं भित्त्वा भौमं शुक्रं च प्रयास्यति ।

उत्तरं च वराहमिहिरेण—

यदि भिन्ने सूर्यसुतो रोहिण्याः शकटमिह लोके ।

द्वादश वर्षाणि तदा न हि वर्षति वासवो भूमौ ॥ २३३ ॥
तथा च—प्राजापत्ये शकटे भिन्ने कृत्वेव पातकं वसुधा ।

भस्माऽस्थिशकलकाणां कापालिकमिव ब्रतं धन्ते ॥ २३४ ॥
तथा च—रोहिणीशकटमर्कनन्दनश्चेद्धिनन्ति रुधिरोऽथवा शर्णा ।

किं वदामि तदनिष्ठसागरे सर्वलोकमुपयाति संक्षयम् ॥ २३५ ॥

पात्रनव्यापारः। मनिःश्वासेन=रीर्घमुक्त्रामं मुच्चनेन । सत्यं=तस्यम्। उपलक्षितं=तदिक्षितं
प्रायोपवेशनं=मरणार्थं भोजनत्यागपूर्वकमवस्थानं । समीपगतान्=निकटरभागतान्
वंगाग्यकारणं=विरक्तिकारणम् । द्वादशवार्षिको=द्वादशवर्षपर्यन्तमाविनी । अनावृष्टिः—
(‘अकाल’ ‘मूखा’) । सम्पद्यते लघा=निकटमागता वर्तते । देवज्ञमुखात्=मौद्र्यिंकमुखात्
(‘ज्योतिषी से’) । ‘श्रुतं’ भित्ति शेषः ।

एष=गगने दृश्यमानः, —रोहिणीशकटं=रोहिणीतारकचतुष्टयरूपं शकटं, शकटाकाः
गेहिणीतारकमण्डलम् । भित्वा=व्रण्डयित्वा । प्रतियास्यति=भीमशुक्राभ्यां सहैकरादि
यास्यति । सूर्यसुतः=शनिः । भिन्ने=भेदयनि । शकटमिव—शकटं=शकटाकारं रोहिणी-
मण्डलं । वासवः=हन्दः ॥ २३३ ॥

प्राजापत्ये शकटे=प्रजापतिदैवत्ये रोहिणीशकटं । भिन्ने=शनैश्चरेण, भौमेन, चन्द्रेण
वा विदारिते मति । वमुधा=वृद्धा । पातकं=पापं कृत्वेव, पापिनी स्वपापोपशान्तये इव—
भस्माऽस्थिशकलैः=भस्मास्थिखण्डः, काणो=व्यासा सर्ती, कापालिकं ब्रतं=योगिव्रतं
धत्ते इव=सेवते इव । अन्वोऽपि कृतपापो तत्पापनुत्तयेचान्द्रायणादिव्रतमाचरति । भूमिरपि
कृतजनक्षयपापा—जनहीनाऽस्थिखण्डमण्डिता कापालिकव्रतमिवाचरतीति—भाविजन-
संहारः सूचितः ॥ २३४ ॥ अर्कनन्दनः=शनिः । रुधिरः=भौमः । शशी=चन्द्रः ।
तदा—तस्मिन् काले अनिष्टरूपे सागरे—सर्वलोकः—संक्षयं=नाशम्, उपयाति=गच्छति—
इति किं वदामि=शोकादक्षमसमर्थोऽसमीत्यर्थः ॥ २३५ ॥

रोहिणीशकटमध्यसंस्थिते चन्द्रमस्यशरणीकृता जनाः ।
व्वापि यान्ति शिशुपाचिताशाना: सूर्यतसभिदुराभ्युपायिनः ॥२३६॥

तदेतत्सरः स्वल्पतोयं वर्तते—शीघ्रं शोषं यास्यति । अस्मिन्द्युष्के
यैः सहाऽहं वृद्धिं गतः, सदेव क्रीडितश्च, ते सर्वे तोयाभावान्नाशं
यास्यन्ति, तत्तेषां वियोगं द्रादुमहमसमर्थः, तेनैतत्प्रायोपवेशनं कृतम् ।

साम्प्रतं सर्वेषां म्वल्पजलाशयानां जलचरा गुरुजलाशयेषु
म्वस्वजनैर्नीयन्ते । केचिच्च मकर-शिशुमार-जलहस्तिप्रभृतयः स्वयमेव
गच्छन्ति । अत्र पुनः सरसि ये जलचरास्ते निश्चिन्ताः सन्ति, तेनाहं
विशेषाद्वोदिमि-यद्वीजशेषप्रायोग्यत्र नोद्विष्यति ।’ ततः स तदा-
कर्ण्यान्येषामपि जलचराणां तन्स्य वचनं निवेदयामास ।

अथ ते सर्वे भयत्रस्तमनमो मत्स्यकच्छपप्रभृतयस्तमभ्युपेत्य
पप्रच्छुः—‘माम ! अन्ति कश्चिदुपायो येनाम्माकं रक्षा भवति ?’ ।

बक आह—‘अस्यस्य जलाशयस्य नाऽतिदूरे प्रभूतजलसनाथं सरः
पश्चिनीपण्डमण्डतं,—यच्चतुर्विशत्यापि वर्षाणामनावृष्टया न शोप-
मेष्यति । तद्यदि मम पृष्ठं कश्चिदारोहनि तदहं तं तत्र नयामि ।’

अथ ते तत्र विश्वासमापन्नाः—तात ! मातुल ! भ्रातः ! इति

रोहिणीशकटमध्यसंस्थिते=भिन्नरोहिणीमण्डलमध्यगते शशिनि सति ।
अश्वरणोकृताः=शरणरहिताः, जनाः=लोकाः, शिशुभिः=स्वापत्यैः विक्रीनैमार्दिनैर्वा पानितं=निष्पादितम् । अश्वन येस्ते—शिशुपाचिताशानाः, =स्वापत्यविकल्पादिना सम्पादिनभोजनाः ।
सूर्यतसभिदुराभ्युपायिनः=सूर्यकिरणमन्तस्तकुडुकजलपायिनः सन्तः, =क्वपि=कान्दिदीकाः, यान्ति =स्वस्वदेशं विहाय पलायन्ते । ‘मिदुरं कुशिलेष्टपि स्याद्दत्तर्यपि भिदेलिमे’ इति
केशावः ॥२३६॥ ते =मस्याः । तोयाभावात् =जलाभावाद् । तेषां =भवतां भत्स्यानां,
प्रायोपवेशनं =भोजनादित्यागः । साम्रतम् =इदानीम् । जलचराः =मत्स्याद्यः । गुरुजला-
शयेषु=महत्सु जलाशयेषु सरोवरहवादिषु । स्वस्वजनैः=नत्तदात्मसोयवर्गेनायन्ते=प्राप्यन्ते ।
कंचित्=मकरादयो जलचराः । जलहस्तीति । (मकर=‘मगर’ शिशुमार=‘नुइस’, जल-
हस्ती = ‘दर्याई घोडा’ या वडा मछली) । निषिच्चन्ताः=निरुद्धमाः । वीजशेषप्रायोग्यपि=नाममात्रावशिष्टोपि कक्षित् । नोद्विष्यति=न स्थास्यति । सर्वेषि विलय यास्यन्तात्यर्थः ।

सः=कर्कटः । आकर्ण्य=प्रुत्वा । तस्य=बकस्य । प्रभूतजलसनाथ=विपुलतोयराशिविरा-
जितम् । पश्चिनीपण्डमण्डतं=पश्चिनीलताकद्वराजितम् । अनावृष्टया=अवर्षणेन । विश्वाम-

ब्रुवाणा:-‘अहं पूर्वमहं पूर्वम्’—इति समन्तात्परितस्थुः ।

सोऽपि दुष्टाशयः क्रमेण तान्पृष्ठे आगोऽय जलाशयस्य नातिदूरे
शिलां समासाद्य तस्यामाश्रिष्य म्वेच्छया भक्षयित्वा भूयोपि जला-
शयं समासाद्य जलचराणां मिश्यावार्तासन्देशकैर्मनांसि रज्जयन्त्रित्य
मेवाऽऽहारवृत्तिमकगोन् । अन्यस्मिन्दने च कुलीरकेणोक्तः—‘माम !
मया सह ते प्रथमः खेहसंभाषः सज्जातः, तत्किं मां परित्यज्याऽ-
न्यान्ब्रयसि ?, तम्माद्य मे प्राणत्राणं कुरु ।’

तदाकर्ण्य सोऽपि दुष्टाशयश्चिन्तितवान्—‘निर्विण्णोऽहं मत्स्य-
मांसादनेन, तदश्यैनं कुलीरकं व्यञ्जनस्थाने करोमि ।’

इति विचिन्त्य तं पृष्ठे समारोप्य तां वध्यशिलामुहिश्य प्रस्थितः ।

कुलीरकोऽपि दूरादेवाऽस्थिपर्वतं शिलाश्रयमवलोक्य मत्स्या-
स्थीनि परिज्ञाय तमपृच्छत्-माम ! कियहरू स जलाशयः ?,
मनीयभारेणाऽतिश्रान्तस्वम्, तत्कथय ? ।’

सोऽपि मन्दधीर्जलचगोऽयं स्थले न प्रभवतीति मत्वा सम्मिन-
मिदमाह—‘कुलीरक ! कुतोऽन्यो जलाशयः ?, मम प्राणयात्रेयम्,
तस्मात्सर्वतामात्मनोऽभीष्टदेवता, त्वामप्यस्यां शिलायां निश्चिष्य
भक्षयिष्यामि ।’—इत्युक्तवृत्ति तस्मिन् तेन स्ववदनदंशद्वयेन मृणाल-
नालधवलायां मृदुश्रीवायां स गृहीतो मृतश्च ।

अथ स तां वक्त्रीवां समादाय शनैः शनैस्तजलाशयमास-
साद । नतः सर्वैरेव जलचरैः पृष्ठः—‘भोः कुलीरक ? किं निवृत्त-
मापन्नाः=जातविद्वासाः । इति=हत्येवं वदन्नः । समन्तात्=वक्तस्योपरि सर्वतः । परितस्थुः=
आरुहुः । मिथ्या = मुर्धेव । वार्तासन्देशकैः = कुशलवृत्तान्तादिभिः । आहारवृत्तिः = भोजनो-
पायं, भोजनं वा । प्रथमः = आदांवत । खेहसंभाषः = प्रेमालापः । निर्विणः=व्याकुलः ।
व्यञ्जनस्थाने = व्यञ्जनस्थानायं । (‘चटपटी’ ‘निमकीन’) ।

अस्थिपर्वतं=महान्तस्थिराश्यि । शिलाश्रयं=शिलोपरिस्थितम् । सः=वकः । मन्दधीः
=मूढः । स्थले=भूमी । न प्रभवति=नापकर्तुं समर्थः । सस्मितं=समन्दहासम् । प्राणयात्रा=
जीवनोपायः । अर्भाष्टदेवता=उपास्यदेवता । ‘परलोकसदगतये’ इति शेषः । तस्मिन्=वकः ।
स्ववदनदंशद्वयेन=स्वमुखसन्दंशयुगलेन । मृणालनालधवलायां=विसतनुस्वच्छायां ।
मृदुश्रीवायां=कोमलकण्ठनाले । गृहीतः=दष्टः । किं=कुतः ? निवृत्तः=परावृत्तः । स

स्वम् ?, स मातुलोऽपि नायातः ?, तत्किं चिरयति ?, वयं सर्वे सोत्सुकाः कृतक्षणाम्निप्रामाः ।

एवं तैरभिहिते कुलीरकोऽपि विहस्योवाच—मूर्खाः ! सर्वे जलचरास्तेन मिथ्यावावादिना वच्चयित्वा नातिदूरे शिलातले प्रक्षिप्य भक्षिताः । तन्मयाऽऽयुःशेषतया तस्य विश्वासघातकस्याभिप्रायं ज्ञात्वा श्रीवंयमानीता । तदलं संभ्रमेण, अधुना सर्वजलचराणां क्षेमं भविष्यति ।' अतोऽहं त्रीवामि—'भक्षयित्वा वहून्मत्स्यान्' इति ।—*

वायस आह—‘भद्र ! तत्कथय कथं स दुष्टमपें वधमुपैष्यति ? ।

शृगाल आह—‘गच्छतु भवान्कच्छिन्नगरं राजाविष्णुनम् । तत्र कस्याऽपि धनिनो राजाऽमात्यादेः प्रमादिनः कनकसूत्रं हारं वा गृहीत्वा नत्कोटरे प्रक्षिप, येन सर्पस्तद्वहणेन वध्यते ।'

अथ तत्क्षणात्काकः काकी च तदाकर्ण्यात्मन्छयोत्पतितौ । ततश्च काकी किञ्चित्स्मरः प्राप्य यावत्पद्यति, तावत्तन्मध्ये कस्यचिद्राज्ञोऽन्तःपुरं जलासन्न(शिला)न्यस्तकनकसूत्रं मुक्तमुक्ताहारवस्थाभरणं जलक्रीडां कुरुते । अथ सा वायसी कनकसूत्रमेकमादाय स्वगृहाभिमुखं प्रतस्थे । ततश्च कच्चुकिनो वर्षवराश्च तन्मीयमानमुपलक्ष्य गृहीतलगुडाः सत्वरमनुययुः । काक्ययपि सर्पकोटरे तत्कनकसूत्रं प्रक्षिप्य सुदूरमवस्थिता ।

अथ यावद्राजपुरुषास्तं वृक्षमारुहा तत्कोटरमवलोकयन्ति, मातुलः=वकः। निरयति=विलम्बते । कृतक्षणाः=निवृत्तसर्वकार्याः, यानोन्मुखाः, सावधानाश्च । सभ्रमेण=औलुक्येन व्ययतया वा । अलः=न प्रगोजनम् । राजाविष्णुः=राजाविष्टितं । धनिनः=श्रेष्ठिनः=प्रमादिनः=परमत्स्य । असावधानस्य । कनकसूत्रं=सर्वण्दोरकं, | ‘सोनेका हार’, काठो, ‘डोरा’ | हारं=मौक्किकमालां । तत्कोटरे=सर्पबिले । तद्वयहणेन=आभरणचौरेण । आम्येच्छया=स्वेच्छया । काँचिदिशम् । तन्मध्ये=सरोवरमध्ये । अनःपुरं=गुदान्तस्मीजनः । जलासन्ने देशे न्यस्तं कनकसूत्रं येन तत्—जलनिकटस्थशिलादिस्थापितकनकदोरकाभरणम् । मुक्तानि=स्थापितानि मुक्ताहारवस्थाभरणानि येन तत् । जलक्रीडाः=सरोवरावगाहनकेलिम् । वायसी=काकी । कन्त्तुकिनो वर्षवराश्च राजान्तःपुररक्षकाः । तत्=कनकदोरकं । सर्पकोटरे=सर्पनिवासकुहरे (सांपके बिलमें)प्रसारितभोगः=

तावक्तुव्यगसर्पः प्रसारितभोगस्तिष्ठति । ततस्तं लगुडप्रहारेण हत्वा कनकसूत्रमादाय यथाभिलिपिं स्थानं गताः । बायसदम्पती अपि ततः परं सुखेन वसतः । अतोऽहं ब्रवीमि—‘उपायेन हि यत्कुर्यान्’ इति । *

तत्र किञ्चिदिह बुद्धिमतामसाध्यमस्ति । उक्तच्च—

यस्य बुद्धिर्बलं तस्य निर्दुष्टेस्तु कुतो वलम् ।

वैते सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातिनः ॥ २३७ ॥

करटक आह—‘कथमेतन् ?’ । स आह—

२. सिंहशशककथा

कस्मिंश्चिद्द्वने भासुरको नाम सिंहः प्रतिवसति स्म । अथाऽसौ वीर्यातिरेकान्नित्यमेवानेकान्मृगशशकादीन् व्यापादयन्नोपरराम ।

अथान्येवुम्तद्वनजाः सर्वे सारङ्गवराहमहिपशशकादयो मिलित्वा तमभ्युपेत्य ग्रांचुः—म्वामिन् ! किमनेन सकलमृगवधेन नित्यमेव, यतस्तवैकेनापि मृगेण त्रृप्तिर्भवति, तकियतामस्माभिः सह समयधर्मः । अद्यप्रभृति तवाऽत्रोपविष्टस्य जातिक्रमेण प्रतिदिनमेको मृगां भक्षणार्थं समेष्यति । एवं कृते तव प्राणयात्रा क्षेषं विनापि भविष्यति अस्माकं च पुनः सर्वोच्छेदां न म्यान् । तदेष राजधर्मोऽनुप्रीयताम् । उक्तच्च—

शनैः शनैश्च यो राज्यमुपभुड्के यथावलम् ।

रसायनमिव क्षमापः स पुष्टि परमां ब्रजेत् ॥ २३८ ॥

सफटादोपं सज्जितशरारः । मदोन्मत्तः=बलदपितः । शशकेन=सामान्येन मृगभेदेन । [‘सुसिथा’ ‘वरहा’] । निपातितः=मारितः ॥ २३७ ॥ वीर्यातिरेकात्=अतिदर्पात् । व्यापादयन्=मारयन्नपि । अयेषुः=अन्यस्मिन्द्वने [‘किसां दिन’] । सारङ्गः=वराहाः=कुकराः, महियाः=कुलायाः । (भेंसा) । तं=सिंहम् । समयधर्मः=प्रतिज्ञाबन्धः, [‘व चन देना’ ‘शत्तं’] । उपविष्टस्य=इहैव स्थितस्थापि । जातिक्रमेण=मृगवराहमहिषा/दजाति-परिषाख्या । मृगः=पशुः । प्राणयात्रा=जोवननिर्वाहः=भोजनम् । सर्वोच्छेदः=सर्वनाशः ।

१ ‘पश्य चाऽतिवलः सिंहः शशकेन निपातितः’ पा । २ ‘क्षमाभृत’ इति, ‘प्राण’ इति च पा ।

विधिना मन्त्रयुक्तेन रुक्षापि मथितापि च ।
 प्रयच्छति फलं भूमिररणीव हुताशनम् ॥ २३५ ॥
 प्रजानां पालनं शर्स्यं स्वर्गकोशस्य वर्धनम् ।
 पीडनं धर्मनाशाय पापायाऽयशसे स्थितम् ॥ २४० ॥
 गोपालेन प्रजाधेनोर्वित्तदुर्घं शनैः शनैः ।
 पालनात्पोषणाद्वाह्यं न्याटयां वृत्तिं समाचरेत् ॥ २४१ ॥
 अजामिव प्रजां मोहाद्यो हन्यात्पृथिवीपतिः ।
 नस्येका जायते त्रृष्णिन द्वितीया कथञ्चन ॥ २४२ ॥
 कलार्थी नृपतिलोकान्पालयेद्यःनमास्थिनः ।
 दानमानादितोयेन मालाकारोऽङ्गरानिव ॥ २४३ ॥
 नृप द्रीपो धन-स्नेहं प्रजाभ्यः संहरच्चपि ।
 आन्तरस्थैर्गुणेः शुभ्रैर्लक्ष्यते नैव केनचित् ॥ २४४ ॥
 यथा गौदुद्वाने काले पाल्यते च तथा प्रजाः ।
 सिंचयते चीयते चैव लता पुष्पफलप्रदा ॥ २४५ ॥

प=वध्यमाणः । यथावलं=शक्त्यनुसारेण । रसायनं=जरामृत्युविश्वमूकौषधभिव । क्षमापः-
 प्रजा । पुष्टि=शब्दर्थम्, बलवत्ताच । परमाम्=उत्कृष्टतमाम् ॥ २३८ ॥

मन्त्रयुक्तेन विधिना=समन्वेण शास्त्रदृष्टेन विधिना, सुमन्त्रशालिना सामाच्य-
 एयेन च । मथितापि=अभिता, शनैः=शनैरग्रान्ता च । रुक्षापि=शुष्का, निःन्नेहा, कठो-
 रापि । भूमि=उत्तुधा । फलं=धनादिकं । प्रयच्छति=ददाति । अरणी=मन्त्रनकाष्ठं-हुताशन-
 मय । अरणीरथाविधि मथ्यमाना शुष्काऽपि फलं=वह्नि-ददात्येव ॥ ३९२ ॥

शस्यं = स्तुत्यं । परलोके-स्वर्गस्य । इह=अस्मिन् लोके । कोशस्य = धनस्य च,
 वर्धनं = संवर्धनं । प्रजानां पीडनं तु राजो-धर्महानि=पापम्, अकार्त्ति च कुरुते इति
 नावः ॥ २४० ॥ गोपालेन = राजा, धेनुरक्षकेण च । प्रजास्पाया धेनोः वित्तमेव दुर्घं,
 यायाम् = उचितां, धर्मात्म ॥ २४१ ॥ अजा = छागी । एका=एकवारमेव । द्वितीया=
 पुनरपि । ‘अजा इव प्रजा’ इत्यपि पाठः ॥ २४२ ॥

कलार्थी नृपतिः यलमास्थितः सन्-नालाकारोऽङ्गरानिव-दानमानादितोयेन -
 लोकान् = प्रजा:, पालयेत् ॥ २४३ ॥ नृपदीपः-आन्तरस्थैः=स्वात्मस्थैः । ‘अन्तरस्थै’ रित्यपि
 पाठः । शुभ्रैः गुणैः = दानमानादिभिः वर्तितन्तुभिश्च [‘वत्ती’] । धनरूपं स्नेहं=तैलं, धनं
 स्नेहमिव वा । संहरच्चपि = गृह्णन्नपि । केनचिदपि न लक्ष्यते = न जायते ॥ २४४ ॥

चीयते=चयनकाले पुष्पाणि फलानि च तस्या गृह्णन्ते । (समय पर फूल नुने
 जाते हैं) ॥ २४५ ॥

यथा बीजाङ्कुरः सूक्ष्मः प्रयत्नेनाऽभिरक्षितः ।
फलप्रदो भवेत्काले तद्वलोकः सुरक्षितः ॥ २४६ ॥

हरण्यधान्यरत्नानि पानानि विविधानि च ।

तथाऽन्यदपि यत्किञ्चित्प्रजाभ्यः स्थान्महीपते: ॥ २४७ ॥

लोकाऽनुग्रहकर्तारः प्रवर्धन्ते नरेश्वराः ।

लोकानां संक्षयाच्चैव क्षयं यान्ति न संशयः ॥ २४८ ॥

अथ तेषां तद्वचनमाकर्ण्य भासुरकं आह—अहो ! सत्यमभिहितं भवद्धिः । परं यदि ममोपविष्टस्याऽत्र नित्यमेव नैकैकः सृगैः समागमिष्यति, तन्नुनं सर्वानपि भक्षयिष्यामि ।

अथ 'तेषे'ति प्रतिज्ञाय निर्वृतिभाजस्तत्रैव वनं निर्भयास्ते पर्यटन्ति । एकश्च जातिकर्मण वृद्धो वा,—वैराग्ययुक्तो वा, शोकमस्तो वा, पुत्रकलत्रनाशभीतो वा,—तेषां मध्यान्तस्य भोजनार्थं मध्याह्नसमये प्रतिदिनमुपतिष्ठते ।

अथ कदाचिज्ञातिक्रमान्त्वशकस्याऽवसरः समायातः । स समस्तसृगैः प्रेरितोऽनिन्द्वल्पि मन्दं-मन्दं गत्वा तस्य वधोपायं चिन्त्यन्वेलातिक्रमं कृत्वा व्याकुलितहृदयो यावद्गच्छति तावन्मार्गं गच्छता कूपः संदृष्टः । यावत्कूपोपरि याति तावत्कूपमध्ये आत्मनः प्रतिविम्बं ददर्श । हृष्टा च तेन हृदये चिनितं, यद्—‘भव्य उपायोऽस्ति, अहं भासुरकं प्रकोप्य स्वबुध्याऽस्मिन्कूपे पातयिष्यामि’ ।

अथाऽसौ दिनशेषे भासुरकसमीपं प्राप्तः । सिंहोऽपि वेलातिक्रमणं क्षुत्खामकणः कोपाविष्टः सृकणी परिलिहन्तचिन्तयन्—अहो ! प्रातराहाराय निःसत्त्वं वनं मया कर्तव्यम् । एवं चिन्त्यतस्तस्य शशको मन्दं मन्दं गत्वा प्रणस्याऽप्ने स्थितः ।

सूक्ष्मः = स्वल्पः । काले = फलावसरे । लोकः = प्रजाः ॥ २४६ ॥ अन्यदपि = वस्त्रावुपभोगसाधनम् । अतः—प्रजाः सादरं परिरक्षणाया इत्याशयः ॥ २४७ ॥

मंक्षयात्—पीडनात् ॥ २४८ ॥ शापद इति पाठे—शापदः=हिंसजन्तुः । तद्=तहि । नूनम्=अवश्यम् । निर्वृतिभाजः=नुखिनः । तेषां=सृगाणाम् । वेलातिक्रमं=कालयापनम् । तेन = शशकेन । भव्यः = अपायरहित, सुन्दरः, श्रेष्ठश्च । असौ = शशकः । सृकणी =

१ ‘शापदः’ । २ ‘तथैव’—इति पा० । ३ परिलेलिहदचिन्तयत्—पा०

अथ तं प्रज्वलितात्मा भासुरको भर्त्सयन्नाह—रे शशकाधम !
एकतस्त्वावत्त्वं लघुः प्राप्तः ! अपरतो वेलातिक्रमेण !!, तद्स्मादप-
गधात्त्वां निपात्य—प्रातः सकलान्यपि मृगकुलान्युच्छेदयिष्यामि' ।

अथ शशकः सविनयं प्रोवाच—‘स्वामिन् ! नापराधो मम, न
चाऽन्यमृगाणाम्, तच्छ्रूयतां कारणम् ।’ सिंह आह—‘सत्वरं निवे-
दय—यावन्मम दंष्ट्राऽन्तर्गतो न भवान्भविष्यति’ । इति । शशक
आह—‘स्वामिन् ! समस्तमृगैरद्य जातिक्रमेण मम लघुतरम्य
प्रस्तावं विज्ञाय ततोऽहं पञ्चशाशकैः समं प्रेपितः । ततश्चाऽहमा-
गच्छन्नन्तराले महताँ केनचिदपरेण सिंहेन क्षितिविवराञ्जिर्गत्याऽ-
भिहितः—‘रे ! क्व प्रस्थिता यूयम् ? अभीष्टुदेवतां स्मरत ।’

ततो मयाऽभिहितम्—‘वर्यं स्वामिनो भासुरकसिंहस्य सकाश-
माहारार्थं समयधर्मेण गच्छामः ।’

ततस्तेनाभिहितम्—‘यद्येवं तहि मर्दायमेतद्वनं, मया सह समय-
धर्मेण समस्तैरपि श्रौपदैर्वर्तितव्यम् । चौररूपी स भासुरकः ।
अथ यदि सोऽत्र राजा, ततो विश्वासस्थाने चतुरः शशकानन्त्र
भृत्वा तमाहूय द्रुततरमागच्छ । येन यः कञ्चिदावयोर्मध्यात्पराक-
र्मण राजा भविष्यति स सर्वानेतान्बक्षयिष्यति’—इति । ततोऽहं
नेनाऽऽदिष्टः स्वामिसकाशमभ्यागतः । एतद्वेलाव्यतिक्रमकारणम् ।
तद्वत्र स्वामी प्रमाणम् ।’

तच्छ्रूत्वा भासुरक आह—‘भद्र ! यद्येवं तत्सत्वरं दर्शय मे तं
चौरसिंहं, येनाहं मृगकोपं तस्योपरि क्षिप्त्वा स्वस्थो भवामि ।

भोष्प्रान्तभागो । निरसत्त्वं = सर्वशापदशून्यम् । प्रज्वलितात्मा=क्रोधाविष्टः । भर्त्सयन् =
नज्यन् । (डाटा हुआ) । एकतः=एकत्र । (‘एक तो’) लघुः = अल्पशरीरः, अपरतः=
अपरम् (‘दूसरे’) वेलातिक्रमेण=भोजनावसरमतिवाद्य । ‘प्राप्त’ इति शेषः । दंष्ट्राऽन्तर्गतः=
भुग्वग्नहरं प्रविष्टः । (दंष्ट्रा=‘जाइ’) । अन्तराले=मार्गस्य मध्ये । विवरात=गहरात् ।
समयधर्मेण=पतिज्ञानुसारेण । विश्वासस्थाने=स्वोक्तिप्रत्यायनार्थम् । धूला=स्थापयित्वा ।
गौरसिंहं=दुष्टं सिंहाधमं । मृगकोपं=मृगोपरि वर्धमानं कोपम् । तस्य=दृष्टिसिंहस्य ।

१ ‘तस्मादेत्स्मात्’ पा० । २ ‘न च सत्त्वानाम्’ । ३ ‘न भवसि’ । ४ ‘महतः क्षिति-
विवराञ्जिर्गत्य’ । ५ ‘मृगौः’ ।

उच्चः—भूमिर्मित्रं हिरण्यं च विग्रहस्य फलत्रयम् ।

नास्त्येकमपि यद्योर्यां न तं कुर्यात्कथञ्चन् ॥ २४९ ॥

यत्र न स्यात्कलं भूरि यत्र च स्यात्पराभवः ।

न तत्र मतिमान्युदं समुत्पाद्य समाचरेत् ॥ २५० ॥

शशक आह—स्वामिन् ! सत्यमिदम्—म्बुभूमिहेतोः, परिभवाच्च
युध्यन्ते क्षत्रियाः । परं स दुर्गाश्रयः, दुर्गान्निष्ठकस्य वयं तेन
विष्टकम्भिताः । ततो दुर्गस्थो दुःसाध्यो भवति रिपुः । उत्तच्च—

न गजानां सहस्रेण न च लक्षणं वाजिनाम् ।

तत्कृत्यं साध्यते राजां दुर्गेणकेन यद्यवेन् ॥ २५१ ॥

शतमेकोऽपि सन्धते प्राकारस्थो धनुर्धरः ।

तस्माद्गां प्रशंसन्ति नीतिशास्त्रविचक्षणाः ॥ २५२ ॥

पुरा गुरोः समादेशाद्विरण्यकशिपोभयात् ।

शशेण विहितं दुर्गं प्रभावाद्विष्टकर्मणः ॥ २५३ ॥

तेनापि च वरो दत्तो ‘यस्य दुर्गं स भूपतिः ।

विजयी स्या’ ततो भूमौ दुर्गाणि स्युः संहस्रशः ॥ २५४ ॥

दंष्ट्राविरहितो नागो मद्हीनो यथा गजः ।

सर्वेषां जायते वशयो दुर्गहीनस्तथा नृपः ॥ २५५ ॥

तच्छ्रुत्वा भासुरक आह—भड ! दुर्गस्थमपि दर्शय तं चौर-
सिंहं,—येन व्यापादयामि । उत्तच्च—

भूमि:=ग्रामराज्यादिकम् । **मित्र**=मित्रानुरजनं, मित्राजनं वा । **हिरण्य**=धनम्;
विग्रहस्य=युद्धस्य । एषाम्=एषां मध्ये । तं=युद्धम् ॥ २४९ ॥ यत्र भूरि फलं युद्धं न
स्यात्, यत्र च युद्धे पराभवः=पराजयो निक्षितः स्यात्, तत्र=तस्मिन्नवसरे मतिमान्—
नमुत्पाद्य=स्वयमात्मनाऽप्यसरो भूत्वा युद्धं न समाचरेत् । किञ्च—स्वल्पस्य कृते वलिना
मह युद्धं नाचरेदिति भावः ॥ २५० ॥

परिभवान्=अपमानाच्च । **क्षत्रियाः**=मानिनः क्षत्रियाः । सः=प्रतिपक्षां मिहः ।
दुर्गाश्रयः=दुर्गनिवासी । **विष्टकम्भिताः**=अवरुद्धाः (रोके गप) । **मन्थते**=लक्ष्यतां नयनि ।
प्राकारस्थः=दुर्गभित्तिप्रान्तस्थः ॥ २५२ ॥ गुरोः=वृहस्पतेः । शकेण=इन्द्रेण । विश्वक-
र्मणः=देवशिल्पिनः । प्रभावात्-साहाय्यात् ॥ २५३ ॥ तेन=इन्द्रेण । वरमेत्राह—यस्येति ।
ततः=इन्द्रवप्रभावात् । स्युः=अभूतवन् ॥ २५४ ॥ दंष्ट्राविरहितः=उत्पाटितविषपदन्तः ।
नागः=सर्पः ॥ २५५ ॥

१. ‘यस्त्वत्यं साध्यते राजा दुर्गेणकेन सिद्धयति’ पा० । २. ‘दुर्गाणि सुबहूत्यपि’ ।

जातमात्रं न यः शत्रुं रोगं च प्रशमं नयेत् ।

महावलोऽपि तेनैव वृद्धिं प्राप्य स हन्यते ॥ २५६ ॥

तथा च—उत्तिष्ठमानस्तु परो नापेक्ष्यः पथ्यमिच्छता ।

समौ हि शिष्टैरामनातौ वस्तर्यन्तावामयः स च ॥ २५७ ॥

अपि च—उपेक्षितः क्षीणबलोऽपि शत्रुः प्रमाददोषापुरुषैर्मदान्तैः ।

साध्योऽपि भूत्वा प्रथमं ततोऽसावसाध्यतां व्याधिरिव प्रयाति ॥ २५८ ॥
तथा च—आत्मनः शक्तिसुदृढीक्षय मानोत्साहन्ते यो ब्रजेत् ।

वहूङ्हन्ति स एकोऽपि क्षत्रियान्भार्गवो यथा ॥ २५९ ॥

शशक आह—‘अस्येतन्, तथापि वलवान् स मया हष्टः, तत्र
युज्यते स्वामिनस्तस्य सामर्थ्यमविदित्वैव गन्तुम् । उत्तच्च—

अविदित्वाऽस्तमनः शक्तिं परस्य च समुत्सुकः ।

गच्छत्तमिसुखो नाशं याति वहौ पतङ्गवत् ॥ २६० ॥

यो बैलात्प्राक्तं याति निहन्तुं सबलोऽप्यरिम् ।

विमदः स निवर्त्ते शीर्णदन्तो गजो यथा ॥ २६१ ॥

भासुरक आह—‘भोः ! किं तवाऽनेन व्यापारेण ?’ दर्शय मे
तं दुर्गस्थमपि ।’ अथ शशक आह—‘यद्येवं तर्हागच्छतु स्वामी ।’

वृद्धिं प्राप्य=प्रवृद्धेन । तेनैव=रात्रुणा, रोगेण च । महावलोऽपि । सः=रोगशत्रृपेश्वकः ॥ २५६ ॥ उत्तिष्ठमानः=वधमानः । परः=शत्रुः । पथ्य=हितम् । शिष्टः=विक्षणः । आमयः=रोगः । सः=शत्रुश् । वस्तर्यन्ती=वर्धमानी । समौ=तुल्यौ । आघाती=कथिती ॥ २५७ ॥

मदान्धैः=बलदपितैः । पुरुषैः=प्रमाददोषात्=अनवधानमूलान्मौख्यात् । उपेक्षितः=अकृतप्रतीकारः । क्षीणबलोऽपि=निर्वलोऽपि । शत्रुः=प्रथमम्=आदी । साध्यो भूत्वापि=उपायसाध्यतां भजमानोपि । उपायसाध्योऽपि । असौ—उपेक्षितो व्याधिरिव क्रमशः—असाध्यतां प्रयाति=भजते । साध्योपि हि व्याधिरुपेक्षितोऽसाध्यो भवत्येव ॥ २५८ ॥ मनोत्साहम्=अभिमानं युद्धोत्साहत् । ब्रजेत्=आश्रयेत् । सः=उत्साहबलोर्जितः । भार्गवः=परशुरामः ॥ २५९ ॥ सः=चौरसिंहः । आत्मनः परस्य च शक्तिपविदित्वा—समुत्सुकः=युद्धोत्सुकः, अभिमुखं=शत्रुसंसुखं, गच्छन्—वहौ पतङ्ग इव—नाशं प्रयाति ॥ २६० ॥

यः—बलात् प्रोक्षत=प्रकृष्टबलशालिनम्, अरि=शत्रु, निहन्तुं प्रयाति स सबलोऽपि विमदः=पराजितः सन्—(शीर्णदन्तः=भग्दन्तः; गज इव—) निवर्त्तते । अतो बलवदभियानं नोन्नितिमित्याशयः ॥ २६१ ॥ चयवस्थितः=प्रचलितः ।

१. ‘शत्रूनेकोऽपि हन्यात्स क्षत्रियान्’ पाठ । २. ‘गच्छत्तमिसुखो वहौ नाशं याति पतङ्गवत्’ । ३. ‘योऽबलः प्रोक्षतं याति निहन्तुं सबलं रिपुमिति पाठान्तरम् ।

एवमुक्त्वाऽप्ये व्यवस्थितः । ततश्च तेनाऽगच्छता यः कूपो
दृष्टोऽभूतमेव कूपमासाद्य भासुरकमाह—स्वामिन् ! करते प्रतापं
सोऽुं समर्थः, त्वां दृष्ट्वा दूरतोऽपि चौरसिहः प्रविष्टः स्वं दुर्गं,
तदागच्छ येन दर्शयामि’—इति ।

भासुरक आह—‘दर्शय मे दुर्गम् ।’ तदनु दर्शितस्तेन कूपः ।
ततः सोऽपि मूर्खः सिंहः कूपमध्ये आत्मप्रतिविन्यं जलमध्यगतं हृष्टा
सिंहनादं सुमोच । ततः प्रतिशब्देन कूपमध्याद्विगुणतरो नादः
समुत्थितः । अथ तेन तं शत्रुं मत्वाऽऽत्मानं तस्योपरि प्रक्षिप्य
प्राणाः परित्यक्ताः । शशकोऽपि हृष्टमनाः सर्वमृगानानन्द्य तैः प्रशस्य
मानो यथासुखं तत्र वने निवसति स्म । अतोऽहं ब्रवीमि—‘यम्य
बुद्धिर्वलं तस्य—’ इति । *

तद्यदि भवान्कथयति,— तत्तत्रैव गत्वा तयोः स्वबुद्धिप्रभावेण
मैत्रीभंडं करोमि ।’ करटक आह—भद्र ! यद्येवं तर्हि गच्छ, शिवा-
मने पन्थानः सन्तु, यथाभिप्रेतमनुप्रीयताम् ।

अथ दमनकः मज्जीवकवियुक्तं पिङ्गलकमवलोक्य तत्रान्तरे
प्रणम्याऽप्ये समुपविष्टः । पिङ्गलकोऽपि तमाह—भद्र ! किं चिरा-
दृष्टः ? । दमनक आह—न किञ्चिद्देवपादानामस्माभिः प्रयोजनम्,
तेनाहं नाऽगच्छामि, नथापि राजप्रयोजनविनाशमवलोक्य संदृश्य-
मानहृदयो व्याकुलतया स्वयमेवाभ्यागतो वक्तुम् । उक्तच—

अनेन=उपदेशादिना, किं=न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः । तेन=शशकेन । आसाद्य=
प्राप्य । ‘दूरतोऽपि दृष्टेति सम्बन्धः । स्वं दुर्गं—कूपम् । तेन=शशकेन । तेन=सिंहनादेन ।
तं शत्रुम्—अन्तःस्थितं—मत्वा = जात्वा । तेन = सिंहेन ।

तस्योपरि=स्वप्रतिविम्बस्योपरि—कूपमध्ये । प्रशस्यमानः=स्तूयमानः, ‘तैः सह वने
वसति रमंति सम्बन्धः ।

भवान्=करटकः, तयोः = मज्जीवकपिङ्गलकयोः । यथाभिप्रेतम् = तयोर्मैत्रीभेदादिकम् ।
मज्जीवकवियुक्तं = कदाचित्—मज्जीवकवृपभरहितम् । तत्रान्तरे = तस्मिन्नवसरे । राजप्रयो-
ः १ येन त्वां दूरतोऽपि दृष्ट्वा चौरोऽयं तदर्गं प्रविष्टः । २ ‘शक्ततरोऽयमिति मत्वा’ । पा० ।

प्रियं वा यदि वा द्वेष्यं शुभं वा यदि वाऽशुभम् ।
अपृष्ठोऽपि हितं व्यावस्थं नेच्छेष्यराभवम् ॥ २६२ ॥

अथ तस्य साऽभिप्रायं वचनमाकर्ण्य पिङ्गलक आह—‘किंवक्तु-
मना भवान् ?, तत्कथ्यतां यत्कथनीयमग्निति’ स प्राह—‘देव !
सज्जीवको युष्मप्यादानामुपरि द्रोहबुद्धिरिति’—विश्वासगतस्य मम
विजन इदमाह—‘भो दमनक ! दृष्टा मयाऽस्य पिङ्गलकस्य साराऽ-
सागता, तद्वसेनं हत्वा सकलमृगाधिपत्यं त्वत्साचिव्यपदवीसम-
निवतं करिष्यामि’ ।

पिङ्गलकोऽपि तद्वज्रसारप्रहारसहशं दारुणं वचः समाकर्ण्य
मोहमुपगतो न किञ्चिद्युक्तवान् । दमनकोऽपि तस्य तमाकारमा-
लोक्य चिन्तितवान्—‘अयं तावत्सज्जीवकनिवद्वरागः, तन्मनेन
मन्त्रिणा राजा विनाशमवाऽस्यति’,—इति । उक्तच—

एकं भूमिपतिः करोति सचिवं राज्ये प्रमाणं यदा
तं मोहाच्छ्रूयते मदः स च मदाहास्येन निर्विद्यते ।
निर्विण्णस्य पदं करोति हृष्ये तस्य स्वतन्त्रस्पृहा
स्वातन्त्र्यस्पृहया ततः स नृपतेः प्राणेष्वभिद्वद्यते ॥ २६३ ॥

तत्किमत्र युक्तम् ?—इति । पिङ्गलकोऽपि चेतनां समासाद्य
कथमपि तमाह—‘सज्जीवकस्तावत्प्राणसमो भृत्यः, स कर्थं ममो-
जनविनाशं = राजवायकार्यहानम् । माभिप्रायं = गृदाशयशालि । विश्वासगतस्य =
विश्वासपात्रस्य । विजने = प्रकाशते । मारासागता = कोशवक्त्रादितत्वम् । एन = सिहं । तव
माचिव्यपदव्या समन्वितं,—त्वत्साचिव्यपदवीमन्त्रितम् । तु ऋयं मन्त्रिपदवीं दत्तवेनि-
यावत् । वज्रवत्सारं यस्यासी तेन—वज्रसारेण यः प्रहारस्तेन सदृशं,—वज्रकठोरप्रहारोपमं ।
दारुणं=कूरं । समाकर्ण्य=श्रुत्वा । मोहं=मूर्च्छाम् । उपगतः=प्राप्तः । तस्य=सिहस्य ।
तमाकारं=मौनमूर्च्छादिलक्षितं चित्तवृत्तिं, मुखाकृतिश्च । अयं=सिहः । सज्जीवक-
निवद्वरागः=सज्जीवकस्नेहासक्तः । अनेन=सज्जीवकेन । मन्त्रिणा=सचिवेन । राजा=सिहः ।

एकमिति । एकं=मन्त्रिणमन्यं वा । प्रमाणं=प्रमाणभूतं—सर्वधिकारिणम् । तं=मन्त्रि-
णम् । मोहात=मौख्यात् । मदः=गर्वः । दास्येन=राजसेवया । निर्विद्यते=स्विष्टते । दुःख
मनुभवति । निर्विण्णस्य=दुःखितस्य । स्वतन्त्रस्पृहा=स्वातन्त्र्ये—स्वप्रभुत्वविषये लाल
सा । अभिद्रुष्टते=नृपतिं हन्तुं व्यवस्थति ॥ २६३ ॥ युक्तम्=उचितम् । चेतनां=संक्षां ।

परि द्रोहबुद्धि करोति ! । दमनक आह—‘देव ! भृत्यो भृत्य—इनि
न एकान्तिकमेतत् । उक्तच्च—

न सोऽस्ति पुरुषो राज्ञां यो न कामयते श्रियम् ।

अशक्ता पृथ सर्वं नरेन्द्रं पर्युपासने ॥ २६४ ॥

पिङ्गलक आह—‘भद्र ! नथापि मम तस्योपरि चिन्तवृत्तिर्न
विकृतिं याति । अथवा साध्विदमुच्यते—

अनेकदोषदुष्टोऽपि कायः कस्य न वल्लभः ? ।

कुर्वन्नपि व्यलीकानि यः प्रियः प्रिय एव सः ॥ २६५ ॥

दमनक आह—‘अत प्रवाऽयं दोषः । उक्तच्च—

यस्मिन्नेवाऽधिकं चक्षुरारोपयति पार्थिवः ।

अकुर्लीनः कुर्लीनां वा स श्रियो भाजनं नरः ॥ २६६ ॥

अपरं—‘केन गुणविशेषेण स्वामी सञ्जीवकं निर्गुणकमपि निकटे
वारयति ? । अथ देव ! यद्येवं चिन्तयमि—‘महाकायोऽयम्, अनेन
गिपून्व्यापादयिष्यामि’, तदस्मान्न सिध्यति, यतोऽयं शष्पभोजी ।

नमासाद=लब्ध्वा । कथमपि कथमपि धृतर्थयः । एकान्तिकं=नियतम् । ‘अनेकान्तिक
मिति पाठं—अनेकान्तिकं=व्यभिचारि । भृत्यः सर्वदा भृत्यभावमेव भजते, न कश्चान्ति-
कपि ततो व्यभिचरताति नास्ति नियमः, किन्तु भृत्योपि भृत्यभावं जहाति । अतः ‘भृत्यो
भृत्य एव’ति व्यभिचरितमेवत्याशयः । स पुरुषो नास्ति यो राज्ञां श्रियं=राजलक्ष्मा’ न
कामयते=अभिलपति । यदा—राज्ञां पुरुषः=राजसेवक इत्यन्वयः । श्रियम्=राजश्रियम् ।
मर्वेष्पि राजपदर्मभवाङ्गत्येवेत्याशयः । किन्तु अशक्ता:=शक्तिविकलतर्थैव राजान
पर्युपासते=भृत्यतया संवन्ते ॥ २६८ ॥ विकृतिं न याति=मम चित्ते तं प्रति विरोध-
भावो नोदेति ॥ अनेकदोषदुष्टः=रोगादिदुष्टोऽपि । कायः=शरीरम् । कस्य न वल्लभः
=न प्रियः । व्यलीकानि=विरुद्धानि कुर्वन्नपि । प्रियः=प्रियजनः, प्रिय एव न द्वेष्यः ॥ २६९ ॥
अयं दोषः=राजविपत्तिरूपः । यस्मिन्नेव पुरुषे पार्थिवः—अधिकं चक्षुरारोपयति=स्नेह-
माविष्करोति । स नरः—योग्यो वा, अयोग्यो वा । राजुलक्ष्म्याः, सम्पत्तेवा, भाजनं=पात्रं
भवति ॥ २६६ ॥ अपरं=किञ्च । स्वामी=भवान् । केन गुणविशेषेण निकटे धारयति=
तं समीपे स्थापयति । ‘महाकायोऽयं वृषभः, एतत्साहाय्येन शत्रून्मारयामी’त्येवं यद्य
भवान् चिन्तयति, तत्=भवचिन्तितम् । अस्माद्=वृषभात् । शष्पभोजी=धासाहारी ।

१ ‘अनेकान्तिकमेतत् ।’ २ ‘स लक्ष्म्या इरते मनः’ । इति पाठान्तरम् ।

देवपादानां पुनः शत्रवो मांसाऽशिनः । तद्रिपुसाधनमस्य साहाय्येन
न भवति । तस्मादेन दूषयित्वा हन्यताम्’—इति । पिङ्गलक आह—
उक्तो भवति यः पूर्व ‘गुणवा’निनि संसदि ।

तस्य दोषो न वक्तव्यः प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा ॥ २३७ ॥

अन्यच्च—मयाऽस्य तव वचनेनाऽभयप्रदानं दत्तं, तत्कथं स्वय-
मेव व्यापादयामि ? । सर्वथा सज्जीवकोऽयं सुहृदस्माकं, न तं
प्रति कश्चिन्मन्युरस्ति । उक्तच्च—

इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीनेत एवार्हनि क्षयम् ।

विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तमसाप्ततम् ॥ २६८ ॥

आदौ न वा प्रणयिनां प्रगयो विघ्नेयो दत्तोऽथवा प्रतिदिनं परिपोषणायः ।
उक्तिक्षण्य यत्क्षपति तत्प्रकरणेति लज्जां भूमीस्थितस्य पतनाद्यमेव नास्ति ॥

उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः ? ।

अपकारिषु यः साधुः स साधुः सम्प्रिरुच्यते ॥ २७० ॥

तद्रोहबुद्धिरपि मयाऽस्य न विरुद्धमाचरणीयम्’ । दमनक
आह—‘स्वामिन ! नैप राजधर्मो यद्वोहबुद्धिरपि क्षम्यते । उक्तच्च—

तुल्यार्थं तुल्यसामर्थ्यं मर्मज्ञं व्यवसायिनम् ।

अर्धराजयहरं भृत्यं यो न हन्यात्स हन्यते ॥ २७१ ॥

पुनः=किन्तु. देवपादानां=श्रामचरणानां, तवेति यावत् । रिपवः=शत्रवः भिहाडयः मांसाऽचनः=मांसभोजिनः । रिपुमाधनं=शत्रुनाशनम् । एनं=सज्जीवकं । दूषयित्वा=सन्दूष्य ।
यः पूर्वं संसाद=सभायाम् । गुणवानिति, उक्तः=प्रशंसितः, तस्य दोषः—प्रतिज्ञाभङ्ग-
भीरुणा=स्वोक्तिविरोधभयातुरेण न वक्तव्यः ॥ २६७ ॥ अस्य=सज्जीवकस्य । तव=दमन-
कस्य । व्यापादयामि=हन्मि । सर्वथा=सर्वेषो भावेन । सुहृत्=मित्रं, हिनैयां । त प्राप्ति
मम कश्चिदपि—मन्युः=क्रोधः । न=नेवास्ति ।

इत इति । इतः=मत्तः प्रजापतेरेव । सः=तारकासुरः । प्राप्तश्रीः=लघ्वरो जान
प्रभावश्च । इतः=मत्त एव । क्षयं=नाशम् । नाहति=न योग्यः । स्वयम्=आमना । छेत्तम्-
असाप्ततम्=न युज्यते ॥ २६८ ॥ आदाविति । प्रणयिनाम्—‘उपरा’ति शेषः । प्रणयः=
नेहः । ‘अपि देव्य’ इति केचित्पठन्ति । दत्तः=विहितः । ‘प्रणय’ इति शेषः । परिपोषणायः
—वर्द्धनीयः । उक्तिक्षण्य=उपरि नीत्वा । लेहं वर्द्धयित्वा । क्षिपति=तीचैर्नीयति, तदेव लज्जां
करोति=सन्तापयति । भूमी स्थितस्येति । यथा—भूमी स्थितो न पतति, तथैव स्नेहा
ऽनुबन्धाऽभावे तज्जाशज्जं दुःखं नास्येवेति भावः ॥ २६९ ॥ द्रोहबुद्धः=मदिरुद्धं चिन्तयतोऽ-
पि, अस्य=सज्जीवकस्य । विरुद्धं=विपरीतम् । राजधर्मः=राजव्यवहारः । तुल्यार्थं=समान-

अपरं—‘त्वयाऽस्य सखित्वात्सर्वोऽपि राजधर्मः परित्यक्तः, राजधर्मोऽभावात्सर्वोऽपि विरक्तिङ्गतः । यः सञ्जीवकः स शष्प-भोजी, भवान्मांसाऽदः, तव प्रकृतयश्च । तत्त्वाऽवन्धव्यवसाय-वाहं कुतस्तासां मांसाशनम् ? । तद्रहितास्तास्त्वां त्यक्त्वा यास्यन्ति, ततोऽपि त्वं विनष्ट एव । अस्य सङ्गत्या पुनस्ते न कदाचिदाखेटकं मतिर्भविष्यति । उत्कच्च—

याहौः सेव्यते भृत्यर्थादशांशोपसेवते ।

कदाचिङ्गात्र सन्देहस्तादग्भवति पूरुपः ॥ २७२ ॥

तथा च—सन्तसायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते ।

मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते ।
स्वातौ सागरशुक्तिकृशिपतितं तजायते मौक्तिकं,

प्रायेणाऽधममध्यमोत्तमगुणः संवासतो जायते ॥ २७३ ॥

वित्तम् । तुल्यसामः॒यै=समानबलम् । मर्मकं=गहस्यवेत्तारम् । व्यवमाधिनम्=उद्योग शालम् । अर्थराज्यहरं=राजतुल्यतया अर्थराज्यहरम् । प्रजाभिः सृथमानं, भृत्यं यः=राजा । न हन्यात्स स्वयं हन्यते=तेनाऽमात्यादिना हन्यते ॥ २७१ ॥ सखित्वात्=मित्र वात्, राजधर्मः=प्रजापालनादिः । ‘त्वयेति देषः । परिजनः=अनुजःविवर्णः । यः मांसाय कम्तवानुचरमुख्यः स्थितः—स तु शध्यभोजी, अतः—कुतोऽनुजाविजनानां ततो भोजन-नाम इत्यन्वयः । तव प्रकृतयः=त्वप्रजानुचरमुहृदादिवर्गोऽस्मादृशः । ‘मांसादा’—दान देषः । ‘स्वाम्यमायसुहृल्कोशाराष्ट्रदुर्गवलानि च । सेनाक्षानि प्रकृतयः—पौराणां श्रणयोः, पि च ॥’ इत्यमरः । तत्=तस्मात् । तव = भवतः । अवन्धव्यवसायबाहूं=त्वदाय पञ्चण्डाऽपोधपग्रक्रमं विना । तासां=त्वप्रकृतीनाम् । मांसाशनं=मांसात्मकं भोजनम् । कुतः=कथं स्थान । त्वपराक्रमेणैव त्वदनुकरणां मांसभोजनं भवति, त्वया चेदानां पराक्रमस्त्वक्त एवेति कथं प्रकृतिरक्षणं स्यादिति भावः । तद्रहिताः=भोजनवर्जिताः । ननः=प्रकृतिविरहात् । नष्टः=विनष्ट यत्र । अस्य = शृण्यभोजिनो वृपमस्य । आखेटकं = मृगयार्यां । मतिः=तुद्धिः ॥ याहौः=उत्तमाऽधममध्यमैः । उपमेवते = भजति । ‘पुरुषस्तादृग्ंत भवतीत्यत्र सन्देहो नास्तीति सम्बन्धः ॥ २७२ ॥

सन्तसायसि=सन्तप्तलोहखण्डादौ । संस्थितस्य पयसः=जलरय । नामापि न ज्ञायते । तदेव = जलमेव । मुक्ताकारतया राजते = द्योभते । नलिनीपत्रस्थितं = कम्तिक्लिनीदलगतं सत् । स्वाताविति । समुद्रस्थशुक्तिकोटरे । स्वातिनक्षत्रे पतितं तत् = जलं.. तन्मुक्ताकारतया परिणमतीत्यर्थः । संवासतः=सम्पर्कविशेषान्नरः—उत्तमो मध्यमोऽधमो वा जायते ॥ २७३ ॥

तथा च—असतां सङ्क्लेषेण साधवो यान्ति विक्रियाम् ।

दुर्योधनप्रसङ्गेन भीष्मो गोहरणे गतः ॥ २७४ ॥

अत एव सन्तो नीचसङ्गं वर्जयन्ति । उक्तच्च—

न ह्यविज्ञातशीलस्य प्रदातच्यः प्रतिश्रयः ।

मत्कुण्डस्य च दोषेण हता मन्दविसर्पिणी ॥ २७५ ॥

पिङ्गलक आह—कथमेतत् ? । सोऽत्रवीन्—

९. मन्दविसर्पिणी-मत्कुण्ड-कथा ।

अस्ति कस्यचिन्महीपतेः कम्मिश्चित्स्थानं मनोरमं शयनस्थानम् । तत्र शुक्लतरपटयुगलमध्यसंस्थिता मन्दविसर्पिणी नाम श्रेता यूका प्रतिवसति भ्म । सा च तस्य महीपते रक्तमास्वादयन्ती सुखेन कालं नयमाना तिष्ठति । अन्येत्युच्च तत्र शयने क्वचिद्ग्राम्यन्नभिमुख्यो नाम मत्कुण्डः समायातः ।

अथ तं हृष्ट्वा सा विषण्णवदना प्रोवाच—भो अग्निसुख ! कुन्तस्वमत्राऽनुचितस्थाने समायातः ?, तद्वावन्न कश्चित्पद्यति, तावच्छीघ्रं गम्यताम्—इति । स आह—‘भगवति ! गृहागतस्याऽसाधां-रपि नैतद्युज्यते वक्तुम् । उक्तच्च—

पृथगच्छ समाध्यसाऽसनमिदं, कस्माच्चिराहुइयसे ?,

का वानो ? न्वतिदुर्बलोऽसि, कुशलं, प्रीतोऽस्मि ते दर्शनात् ।

असतां = दुष्टानाम् । साधवः = सङ्गानाः । विक्रियां = विकारः, प्रसङ्गेन = सम्पर्केण । माध्योऽपि गोहरणे = विराटनगरे गवाहरणार्थं । गतः = यातः ॥ २७४ ॥ अविज्ञातशीलस्य = अविज्ञातस्वभावस्य । प्रतिश्रयः = आश्रयः । मत्कुण्डस्य = खट्टवा कीटस्य (‘खट्टमल’ इति प्रसिद्धस्य) । दोषेण = अपराधेन । मन्दविसर्पिणी नाम यूका (‘जू़ ’ ‘नौलर’) । हता = राजपुरुषैर्हता ॥ २७५ ॥

शयनस्थानं = शयनगृहम् । शुक्रेति । शेतवस्त्रदयसनिधिस्थिता । अन्येत्युः = करिमश्च दिने । मत्कुण्डः = रक्तः, खट्टवाकोटः । विषण्णवदना = मृगनवदना भूत्वा (‘उदास मुख होकर’) । अनुचितस्थाने = स्वावस्थानायोग्ये । स्थाने = राजश्ययनप्रच्छदपटे । गृहागतस्य = अतिथेः । असाधोः = दुष्टस्यापि । पतत = ईदृशं वचः । आसनमिदं = ‘गृहाणोपविशेषं’ ति शेषः । तु—इति वितर्के, अतिदुर्बलोसि ! = अतिदुर्बल इव प्रतिभासि । किं कारणं तददेत्यर्थः ।

एवं नीचजनेऽपि युज्यति गृहं प्राप्ते सतां सर्वदा,

धर्मोऽयं गृहमेधिनां निगदितः स्मात्तैर्लघुः स्वर्गदः ॥ २७६ ॥

अपरं—मयानेकमानुषाणामनेकविधानि सूधिराष्ट्रास्वादितान्या-हारदोषात्कदुतिक्तकषायाग्न्यरसास्वादानि । न च मया कदाचिन्मधुररक्तं समास्वादितम् । तद्यदि त्वं प्रसादं करोषि, तदस्य नृपतेर्विविध-व्यञ्जनाननपानचोष्यलहस्याद्वाहारवशात्—(अन्य)—शरीरे यन्मिष्टं रक्तं सञ्जातं, तदास्वादनेन सौख्यं संपादयामि जिह्वायाः,-इति ।

उक्तम्—रक्तस्य नृपतेर्वापि जिह्वासौख्यं समं स्थृतम् ।

तन्मात्रं च स्मृतं सारं यदर्थं यतते जनः ॥ २७७ ॥

यद्येवं न भवेण्ठोके कर्म जिह्वाप्रतुष्टिदम् ।

तत्र भृत्यो भवेत्कश्चिन्कस्य चिद्रशगोऽथवा ॥ २७८ ॥

यदसत्यं वदेन्मन्यो यद्वाऽसेव्यं च सेवते ।

यद्गच्छति विदेशं च तन्सर्वमुदरार्थतः ॥ २७९ ॥

तन्मया गृहागतेन वुभुक्ष्या पीड्यमानेन त्वत्मकाशाद्वा।जनमर्थ-नीयं, तत्र त्वयैकाकिन्याऽस्य भूपते रक्तभोजनं कर्तुं युज्यते ।'

तच्छ्रुत्वा मन्दविसर्पिण्याह—‘भो मत्कुण ! अहमम्य नृपते-निंद्रावशं गतस्य रक्तमास्वादयामि, पुनस्त्वमग्निमुखश्चपलश्च, तद्यदि-मया सह रक्तपानं करोषि—तत्तिष्ठ, अभीष्टतरं रक्तमास्वादय ।

सोऽब्रवीत्—‘भगवति ! एवं करिष्यामि, यावत्त्वं नास्वादयसि

अयं धर्मः—गृहमेधिनाम् = गृहस्थानाम् । लघु यथा स्यात्था=द्रगेत्, -स्वर्गदः=स्वर्गप्रदः-मृतिवेदिभिरुक्तः ॥ २७६ ॥

प्रसादम्=अनुग्रहम् । व्यञ्जनानि=नानाविधानि पक्वाचानि, लवणमरिचाद्रकादि-धार्टानि जिह्वासौख्यकरणि भक्षणिं वा । (‘निमकीन’ ‘पक्वाचा’) । अत्रपानादयः—भक्ष्य-पेयविद्ययाः । रक्तः=दरिद्रः । समं=तुल्यमेत् । तन्मात्रं=जिह्वासौख्यमात्रं । सारं=जगति सारभूतम् । यदर्थं=जिह्वासौख्यार्थम्, लोकः=सकलोपि जनः । यतते=प्रयतते । जिह्वाप्रतुष्टिदं=जिह्वासौख्यप्रदम् । वशः=परतन्त्रः । वदेत्=वदति । सम्भावनायां लिङ् । मर्त्यः=मनुष्यः । असेव्यं=नीचम् । उदरार्थतः=उदरपूर्णये कुरुते ॥ २७९ ॥

गृहागतेन=अतिथिभूतेन । अर्थनीयम्=प्रार्थनीयम् । अग्निमुखः=तीक्ष्णविदा॒ह-दंष्टः । अभीष्टतरं=मधुरम् । एवं=यथा त्वं भाषसे तथैव । देवगुरुकृतः शपथः=देवगुरु-शापेनाहं दद्वः स्यां यदि प्रथममहं नृपरक्तमास्वादयेयम्—इत्येवमादिः शपथः । तत्—राज-

प्रथमं नृपरक्तम्, तावन्मम देवगुरुकृतः शपथः स्यान्,—यदि
तदास्वादयामि ।'

एवं तयोः परस्परं वदतोः स राजा तच्छयनमासाद्य प्रसुप्रः ।
अथाऽसौ मत्कुणो जिह्वालौस्य-प्रकृष्टौसुक्याज्ञाग्रतमपि तं महीपति-
मदशत् । अथवा साधिवदमुच्यते—

स्वभावो नोपदेशेन शक्यते कर्तुमन्यथा ।

सुतसमपि पानीयं पुनर्गच्छति शीतताम् ॥ २८० ॥

यदि स्याच्छीतलो वह्निः शीतांशुर्दहनामकः ।

न स्वभावोऽत्र मर्त्यानां शक्यते कर्तुमन्यथा ॥ २८१ ॥

अथाऽसौ महीपतिः सून्यग्रविद्ध इव तच्छयनं त्यक्त्वा तत्क्षणा-
देवोत्थितः-प्राह च - 'अहो ! ज्ञायतामत्र प्रच्छादनपटे मत्कुणो यूका वा
नूनं तिष्ठति, येनाहं दग्धः'—इति । अथ ये कञ्चुकिनस्तत्र मिथ्याने
सन्वरं प्रच्छादनपटं गृहीत्वा सूक्ष्मपृथग्या वीक्षाच्चक्रः । अत्रान्तरे
म मत्कुणश्चापल्यात्यपूर्वाऽन्तं प्रविष्टः । सा मन्दविसर्पिण्यपि वस्त्र-
मन्ध्यन्तर्गता तैर्द्विष्टा, व्यापादिता च । अतोऽहं ब्रवीमि—'न ह्यवि-
ज्ञातशीलस्य—'इति । *

एवं ज्ञात्वा त्वयैष वध्यः, नो चेत्वां व्यापादयिष्यति । उत्तच्च-

त्यक्ताश्चाऽभ्यन्तरा येन वाहाश्चाभ्यन्तरीकृताः ।

स एव मृत्युमास्रोति मूर्खश्चण्डैर्वो यथा ॥ २८२ ॥

पिङ्गलक आह—‘कथमेतत् ? । सोऽत्रवीन्—

क्रमः । जिह्वाया लौल्यं=नाथल्यं, तेन भहितं यत् प्रकृष्टमौत्तुक्यम्, =ओ॒कण्ठं, तस्माद् ।
जिह्वालौल्या दिति व्यस्तोपि पाठः । अदश्यत्=अतुदत् । अन्यथा कर्तुः=परिवर्त्तयितुम् ।
॥ २८० ॥ शीतांशुः=चन्द्रः । दहनामकः=तीक्ष्णप्रतापः । सर्वथा पुंसां स्वभावोऽन्यथा
कर्तुं न शक्यते-इत्याशयः ॥ २८१ ॥ (प्रच्छादनपट=‘चहर’ ‘सुजनी’ ‘चांदनी’) ।

कञ्चुकिनः=अन्तःपुररक्षकाः (‘नोबदार—‘जमादार’); वीक्षाच्चक्रः=दद्वशुः । अन्तरे-
अवसरे । चापल्यात्=आशुगमित्वात् । तैः=कञ्चुकिभिः । व्यापादिता=हता । आभ्य-
न्तराः=स्वबान्धवाद्यः । त्यक्ताः=उत्सारिताः । वाह्याः=असम्बन्धिनोऽबान्धवाश्च ।
अभ्यन्तरीकृताः=अन्तरङ्गां नीताः, अधिकारस्थानेषु नियुक्ताश्च ॥ २८२ ॥

१ ‘यथा राजा ककुद्ग्रमः’ । पा० ।

१०. चण्डरव-शृगाल-कथा

कस्मिंश्चिद्वनप्रदेशे चण्डरवो नाम शृगालः प्रतिवसति स्म । स कदाचित्क्षुधाविष्टो जिह्वालौल्यान्नगरान्तरेऽनुप्रविष्टः ।

अथ तं नगरवासिनः सारमेया अबलोक्य सर्वतः शब्दायमानाः परिधाव्य तीक्ष्णदंष्ट्रार्थैर्भक्षितुमारव्याः । सोऽपि तैर्भक्ष्यमाणः प्राण-भयात्प्रत्यासन्नं रजकगृहं प्रविष्टः । तत्र च नीलीरसपरिपूर्णं महाभाण्डं सज्जीकृतमासीन् । तत्र सारमेयैराकान्तो भाण्डमध्ये पतितः । अथ यावन्निक्रान्तस्तावनीलवर्णः सज्जातः । तत्राऽपरे सारमेयास्तं शृगालमजानन्तो यथाऽभीष्टां दिशं जग्मुः ।

चण्डरवोऽपि दूरतरं प्रदेशामासाद्य काननाभिमुखं प्रतस्थे । न च नीलवर्णेन कदाचिन्निजरङ्गस्त्यज्यते । उक्तच्च-

वज्रलेपस्य मूर्खस्य नाराणां कर्कटस्य च ।

एको ग्रहस्तु मीनानां नीलीमध्यपयोरपि ॥ २८३ ॥

अथ तं हरगलगरलतमालसमप्रभमपूर्वं सत्त्वमवलोक्य मर्वें सिंह-व्याघ्र-द्वीपि-वृक्ष-वानरप्रभृतयोऽरण्यनिवासिनो भयव्याकुल-चिन्ताः समन्तात्पलायनक्रियां कुर्वन्ति । कथयन्ति च-‘न ज्ञायते ऽम्य कीटगिवचेष्टिं, पौरुषं च ? तद्वरतरं गच्छामः । उक्तच्च-

न यस्य चेष्टिं विद्याक्ष कुलं न पराक्रमम् ।

न तस्य विश्वसेव्याज्ञो यदीच्छेच्छ्यमात्मनः’ ॥ २८४ ॥

क्षुधाविष्टः=वृभुक्षितः । नगरान्तरे=नगरमध्ये । सारमेगाः=कुकुराः । सोऽपि=शृगालोपि । प्रत्यासन्नं=निकटवर्णं । रजकस्य=वस्त्रिनिर्णेयजकाशं (‘धोवा’ ‘रंगेज’) । महा भाण्डं=महत्पात्रम् । सज्जीकृतं=प्रगुणाकृत्य स्थापितम् । यथा भाण्डदिशं=स्वस्वस्थानाभिमुखम् । निजरङ्गः=नीलत्वं, (रंग) । वज्रलेपः=सन्धिपितानाय निर्मितो लेपमेदः । नीलों=नीलोरसः,- (नीला रंग) । पुको ग्रह इति । यदिमे गृह्णन्ति न तत्पुनः परित्यजन्ति-इत्याशयः ॥ २८५ ॥

हरस्य=शृम्भोः, गले-यद्वरलं, तच्च, तमालश्च-तापिच्छुश्च, तार्ख्यां समा प्रभा-कान्तिर्यस्य तम्,-हरगलगरलतमालसमप्रभं=गाढनीलवर्णं, तं=शृगालम् । अपूर्वम्=अट्ट-पूर्वं । सत्त्वं = जन्मुमेदम् । विचेष्टिं = स्वभावः । पौरुषं = पराक्रमः । तस्य = तं, प्राज्ञः=विदान् ; श्रियं=कल्याणम् ॥ २८५ ॥

चण्डरवोऽपि तान्भयव्याकुलितान्विज्ञायेद्माह—‘भो भोः श्रापदाः ! किं यूयं मां हृष्टैव सन्त्रस्ता ब्रजथ ? , तत्र भेतव्यम् । अहं ब्रह्मणाऽद्य स्वयमेव सुप्ताऽभिहितः—‘यच्छ्रापदानां मध्ये कविद्राजा नास्ति, तत्त्वं मयाऽद्य सर्वश्चापदप्रभुत्वेऽभिषिन्दः केकुद्गुमाभिधः, तनो गत्वा क्षितितले तान्सर्वान्परिपालय’ इति । ततोऽहमत्रागतः । तन्ममच्छुत्रच्छायायां सर्वैरेव श्रापदैर्वर्तितव्यम् । अहं कुद्गुमो नाम राजा त्रैलोक्येऽपि सञ्जातः । तच्छ्रुत्वा मिहव्याघपुरःसरा: श्रापदाः—‘म्वामिन ! प्रभो ! समादिश’—इति वदन्तस्तं परिवत्रुः ।

अथ तेन सिंहस्याऽमात्यपदवी प्रदत्ता । व्याघ्रस्य शश्यापालत्वम् । द्वीपिनस्ताम्बूलाधिकारः । वृक्षस्य द्वारपालकत्वम् । ये चात्मीयाः शृगालास्तैः सहाऽङ्गापमात्रमपि न कर्णति । शृगालाः मर्वेऽयर्धचन्द्रं दत्त्वा निःसारिताः ।

एवं तम्य राज्यक्रियायां वर्तमानस्य ते सिंहादयो मृगान्व्यापाश्य तन्पुरतः प्रक्षिपन्ति । सोऽपि प्रभुधर्मेण सर्वेषां प्रविभज्य तान् प्रयच्छति ।

एवं गच्छति काले कदाचित्तेन सभागतेन दूरदेशे शब्दायमानस्य शृगालवृन्दस्य कोलाहलोऽश्रावि । तं शब्दं श्रुत्वा पुलकिततनुगनन्दाश्रुपरिपूर्णनयन उत्थाय तारस्वरेण विरोतुमारव्यवान् ।

अथ ते मिहादयस्तं तारस्वरमाकर्ण्य ‘शृगालोऽय’मिति मत्वा मलज्जमधोमुखाः क्षणमेकं मिथित्वा मिथः प्रोचुः—भोः ! वाहिता वयमनेन क्षुद्रशृगालेन ! ‘तद्वध्यताम्’—इति ।

इवापदाः—सिंहादयो मृगाः । अभिहितः—उक्तः । श्वापदप्रभुत्वे—सर्वमृगाधिपत्ये । श्वरच्छायायां—ममाधिपत्ये । त्रैलोक्ये—स्वर्गभूपातालेषु त्रिष्वपि लोकेषु राजाहं संवृत्त इति भव्यन्धः । समादिश—आज्ञापय यत्कर्त्तव्यम् । परिवत्रुः—समन्ततस्तमावृत्य निषेदुः । नेन = कुद्गुमेन । शश्यापालत्वं = गत्रिक्षकत्वम् । आत्मीयाः = स्वजातीयाः । प्रभुधर्मेण = स्वामित्वेन । तान् = मुगान् । प्रयच्छति = ददाति । सभागतेन = सर्वश्चापदप्रभुत्वपरिगतेन । पुलकिततनुः = रोमाधितशरीरः । तारस्वरेण = उच्चैः । विरोतुं=शब्दकर्त्तम् । तारस्वरं = दीर्घं शृगालशब्दं । मिथः = परस्परं । वाहिताः = भृत्यत्वं कारिताः ।

१ ‘चण्डरवाभिधः । २ ‘भृत्यिका’=पान की छिक्की । ३ ‘आस्थानगतेन’ । पाठा०

सोऽपि तदाकर्ण्य पलायितुमिच्छेस्तत्र स्थान एव सिंहादिभिः
खण्डशः कृतो मृतश्च। अतोऽहं ब्रवीभि-‘त्यक्ताश्चाभ्यन्तरा येन-’इति।

तदाकर्ण्य पिङ्गलक आह-‘भो दमनक ! कः प्रत्ययोऽत्र विषये
यत्स ममोपरि दुष्टबुद्धिः ? ।’ स आह-‘यद्ग भमाप्रे तेन निश्चयः
कृतो यत्प्रभाते पिङ्गलकं विधिव्यामि, तदत्रैप प्रत्ययः,-प्रभातेऽवसर-
वेलायामारक्तमुखनयनः स्फुरिताऽवरो दिशोऽवलोकयन्तुचितस्थानो-
पविष्टस्त्रां क्रूरदृष्ट्या विलोकयिष्यति, एवं ज्ञात्वा यदुचितं तत्कर्तव्यम्’।

-इति कथयित्वा मञ्जीवकसकाशं गतम्तं प्रणम्योपविष्टः ।
सञ्जीवकोऽपि सोऽद्वेगाकारं भन्दगत्या स्मायानन्तं तमुद्वीक्ष्य सादरतर-
मुवाच-‘भो मित्र ! स्वागतं, चिराहुप्रोऽसि ? अपि शिवं भवतः ?,
तत्कथय येनाऽदेयमपि तुभ्यं गृहागताय प्रयच्छामि ? । उत्तरच्च-
ते धन्यास्ते विवेकज्ञाते सम्भ्या इह भूतले ।

आगच्छन्ति गृहे येषां कार्यार्थं सुहृदो जनाः ॥ २८५ ॥

दमनक आह-‘भोः ! कथं शिवं सेवकजनस्य ?,

सम्पत्तयः परायत्ताः सदा चित्तमनिर्वृतम् ।

स्वजीवितेऽप्यविश्वासस्तेषां-ये राजसेवकाः ॥ २८६ ॥

तथा च—सेवया धनमिच्छद्धिः सेवकैः पश्य यत्कृतम् ।

स्वातन्त्र्यं यच्छरीरस्य मूर्देस्तदपि हारितम् ॥ २८७ ॥

तावज्जन्माऽपि दुःखाय ततो दुर्गतना सदा ।

तत्रापि सेवया वृत्तिरहो ! दुःखपरम्परा ॥ २८८ ॥

क्षुद्रश्यालेन = जम्बुकाभेन । सः = शृगालः । तत् = सिंहादिवाक्यम् ।

प्रत्ययः = विश्वासजनकं प्रमाणम् । सः = सञ्जीवकः । अत्र = अस्मिन् महान्नने ।
‘प्रत्ययः’—इत्यस्य अदितिशेषः । अवसरवेलायाम् = राजदर्शनोचिते राजसभासमये ।
(‘दर्शन’ में)। आरक्तमुखनयनः=ईपदरक्तमुखलोचनः । स्फुरिताधरः = कम्पमानाधरोषः ।
दिशोऽवलोकयन्=शूल्यदृष्टिरितस्ततो विलोकयन् । सोऽद्वेगाकारं = व्याकुलं । (‘घबडाया
हुआ’)। शिवं = कल्पाणम् । अदेयमपि = दातुमयोग्यमपि । विवेकज्ञः = उचितानुचन-
क्षाः । सुहृदः = सङ्गानाः, मित्राणि, वाप्यवाश्च ॥ २८५ ॥

सम्पत्तयः = सम्पदः । परायत्ताः = परार्धानाः । अनिर्वृतम् = सुखशून्यम् । मृदः
सेवकैर्यत्कृतं तत्पश्य—यत् शरीरस्वातन्त्र्यमपि हारितमिति—सेवकनिदेयम् ॥ २८७ ॥

तावदिति । तावत्=प्रथमं, जन्मैव—अतिदुःखफलम्, ततोपि दुर्गतता=दारिद्र्यं दुःखाय,

जीवन्तोऽपि मृताः पञ्च श्रृंगे न्ते किल भारते ।
 दरिद्रो व्याधितो मूर्खः प्रवासी नित्यसेवकः ॥ २८९ ॥
 नाभाति स्वेच्छयौत्सुक्याद्विनद्रो न प्रबुध्यते ।
 नै निःशङ्कं वचो व्रते सेवकोऽप्यत्र जीवति ? ॥ २९० ॥
 सेवा श्वृत्तिराख्याता यस्त्वैमिथ्या प्रजल्पितम् ।
 स्वच्छन्दं चरति श्वात्र, सेवकः परशासनात् ॥ २९१ ॥
 भूशय्या व्रह्य चर्यञ्च कृशत्वं लघुभोजनम् ।
 सेवकस्य यत्तेष्टद्विशेषः पापधर्मजः ॥ २९२ ॥
 शीनातपादिकष्टानि सहते यानि सेवकः ।
 धनाय तानि चाऽल्पानि यदि धैर्माय, मुच्यते ॥ २९३ ॥
 मृदुनार्डपि सुखतेन सुमिष्टेनापि हारिणा ।
 मोदकेनापि किं ? तेन निर्पत्तिर्यन्य सेवया ॥ २९४ ॥

सञ्जीवक आह—‘अथ भवान्किवक्तुमनाः ?’ सोऽन्नवीन्—
 मित्र ! सचिवानां मन्त्रभेदं कर्तु न युद्यते । उक्तच्च—
 तत्रापि यदि परमेवया वृत्तः = जीवनं, तर्हि महत्तायं दुःखसन्ततिरित्यर्थः ॥ २८८ ॥
 भारते = महाभारताख्यं इत्ताहासे । प्रवासी = मदा परदेश निवसन् ॥ २८९ ॥
 वै-च्छया—ओत्सुक्यात् = औत्काष्ठात् । विनिद्रः = विगतनिद्रः । अरूपनिद्र एव
 कार्यभागान्मय एव खण्डतनिद्रो जायत्तोत्थाशयः । अत्र = संमारे । जीवति = प्राणधारण
 करोति । यदा काकुरियं—कि सेवकोऽपि जीवति ? नेत्र, मृततुल्य एवायमिन्याशयः ॥ २९० ॥
 सेवेति । ‘सेवा श्वृत्तिरात् येमन्वादेभिरुक्तं तैमिथ्यैवोक्तं, यतः शातु स्वतन्त्रश्वर्ति,
 परं सेवकस्तु तदपि स्वातन्त्र्यं न लभते, परशासनादेव प्रचलति—इति महदनयोर्वैष-
 म्यमिति भावः ॥ २९१ ॥ भूमिशय्यादिकं सर्वं मेवकस्य यतिना तुल्यमेव परं यतिर्थर्माय
 सर्वमेनत् करोति, सेवकस्तु—पराराधनरूपाय पापायेति पाप—पुण्याभ्यामेव तयोभेद इति
 भावः ॥ २९२ ॥ धनाय = धनार्थं सेवामाचरन् सेवकः—यानि शातातपादिकष्टानि सहते
 तानि कष्टानि यदि धर्माय = धर्मोपार्जनार्थं सहते, तद्वित्तत्प्रभावात्सधो मुक्त एव स्यात् ।
 परन्तु तादृशं कष्टं तपो धनाय सेवमानोऽपि न यथेच्छधनं लभते इति महता विडम्बनेत्या-
 शयः ॥ २९३ ॥ सुखतेन = गोलाकारेण, सुशीलेन च । हारिणा = मनोहरेण । मोदकेन =
 आनन्दप्रदेन धनेन, लड्हुकेन च । किं = किं, फलं, यस्य निष्पत्तिः=प्राप्तिः ॥ २९४ ॥
 सचिवानाम् = अस्मद्दिघानाम् ; (दमनको हि सिंहसचिव इति भावः) । येन मन्त्रवेन

१ व्यासेन परिकीर्तिता । २ ‘आहरक्षपि न स्वस्थः’ इति पा० । ३ ‘वक्ति न स्वेच्छया
 किञ्चित्सेवकोऽपीह जीवति ।’ पा० । ४ ‘यदि धर्माय मुच्यते’ इति मुद्रितपाठस्तु भष्ट प्रव ।

यो मन्त्रं स्वामिनो भिन्नात्साचिद्ये सन्नियोजितः ।
स हन्ति नृपकार्यं तस्त्वयं च नरकं ब्रजेत् ॥ २९५ ॥
'येन यस्य कृतो भेदः सचिवेन महीपतेः ।
तेनाऽशस्त्रवधस्तस्य कृत' इत्याह नारदः ॥ २९६ ॥

तथापि मया तव स्नेहपाशबद्धेन मन्त्रभेदः कृतः, यतस्त्वं
मम वचनेनाऽत्र राजकुले विश्वस्तः, प्रविष्टश्च । उक्तश्च ।
'विश्रम्भाद्यस्य यो मृत्युमवामोति कथञ्चन ।
तस्य हत्या तदुत्था सा' प्राहेदं वचनं मनुः ॥ २९७ ॥

तत्त्वोपरि पिङ्गलकोऽयं दुष्टबुद्धिः । कथितं चाऽग्नानेन मत्पुरन्
अनुपकर्णतया यन्—'प्रभाते सज्जीवकं हत्वा समस्तमृगपरिवारं
चिंगत्तृत्वं नेष्यामि ।' ततः स मयोक्तः—'स्वामिन् ! न युक्तमिन्दं
यन्मित्रद्रोहेण जीवनं क्रियते । उक्तश्च—

अपि ब्रह्मवधं कृत्वा प्रायश्चित्तेन शुद्ध्यति ।
तदर्हेण विचीर्णेन न कथञ्चित्तुहद्दुहः ॥ २९८ ॥

ततस्तेनाऽहं सामर्पणोक्तः—'भो दुष्टबुद्धे ! सज्जीवकस्ताव-
च्छब्धभोजी, वयं मांसाशिनः, तदस्माकं स्वाभाविकं वैरमिति कथं
रिपुमपेक्ष्यते ? । तस्मात्सामादिभिरुपायैर्हन्यते । न च हते तस्मि-
न्दोषः स्यात् । उक्तश्च—

— मन्त्रिणा । यस्य = राजः । तेन = मन्त्रिणा । तस्य = राजः । अशस्त्रेति । शस्त्रप्रयोगं
विनापि वधः = मारणमिव कृतम् । तत्कार्यनाशादित्यर्थः ॥ २९९ ॥ कृतः = कर्त्तुमारभ्यते ।
मन्त्रभेदं करोति—यत इति । विश्वस्तः = मद्भं चते विश्वासं कृत्वैव । यस्य—विश्रम्भाद्—
विश्वासात् । तदुत्था = तदधजन्या । तस्य = यस्य व चसि विश्वासं कुर्वन् स वधं प्राप्सतस्य ॥
चतुर्कर्णतया = कंवलमेकाकिनो ममाद्ये । चिरादिति । सज्जीवकसम्बन्धात्—चिर-
ममन्तुष्टं शापदकुलमिदानीं नृपि नेष्यामोत्यर्थः । भः = पिङ्गलकः । मया = दमनकेन ।
मित्रद्रोहेण = नुहद्दृत्तमसांब्रवकवधचिन्तनादिना । तदर्हेण = ब्रह्महत्यापापनाशकेन ।
विचीर्णेन = आचरितेन, प्रायश्चित्तेन—शुद्ध्यति । न कथित्वत् सुहद्दृहः = मित्रद्रोहा कथ-
मपि न शुद्ध्यताति सम्बन्धः । 'दुह' इति—इगुपथज्ञे तिकप्रत्ययान्तः ॥ २९८ ॥

सामर्पण = सक्रोपेन । रिपुः = शत्रुः सज्जीवकः । सामादिभिः = कपटयूणः
मान्त्रवचनादिभिरुपायैविश्वास्य । द्रवेति । यो रिपुरन्तैरूपायैर्न हन्तुं शक्यते स कन्यकां

दस्त्राऽपि कन्यकां वैरी निहन्तव्यो विपश्चिता ।
अन्योपायैरशब्दयो यो हते दोषो न विद्यते ॥ २९९ ॥
कृत्याऽकृत्यं न मन्येत क्षत्रियो युधि सङ्गतः ।
प्रसुसो द्रोणपुत्रेण धृष्टद्युम्हः पुरा हतः ॥ ३०० ॥

तदहं तस्य निश्चयं ज्ञात्वा त्वस्सकाशमिहागतः । साम्प्रतं मे
नास्ति विश्वासवातकदोपः । मया सुगुप्तमन्त्रस्तव निवेदितः, अथ
यत्ते प्रतिभाति तत्कुरुत्वं—इति ।

अथ सञ्जीवकस्तस्य तद्वज्रपातदारुणं वचनं श्रुत्वा मांहमुपा-
गतः । अथ चेतनां लक्ष्या सवैराग्यमिन्दमाह—‘भोः ! साध्यिदमुच्यते—

दुर्जनगम्या नार्यः प्रायेणाऽस्त्वेहवान्भवेति राजा ।
कृपणाऽनुसारि च धनं मेघो गिरिदुर्गवर्णयो च ॥ ३०१ ॥
‘अहं हि संमतो राज्ञो’ य पूर्वं मन्यते कुर्वीः ।
बलीवर्द्धः स विज्ञेयो विषाणपांशुवांजतः ॥ ३०२ ॥
वरं वनं वरं भैक्ष्यं वरं भारोपजीवनम् ।
वरं विपैन्मनुष्याणां नाऽधिकारेण सम्पदः ॥ ३०३ ॥

तद्वयुक्तं मया कृतं,—यदनेन सह मैत्री विहिता । उक्तव्य—

यथोरेव समं वित्तं यथोरेव समं कुलम् ।
तयोर्मैत्री विवादश्च, न तु पुष्टिविपुष्टयोः ॥ ३०४ ॥

—‘स्वपुत्रा’ दस्त्रापि हन्तव्यः । जामानुभावमागतो जातविश्वासो रिपुर्हन्तव्य इत्याशयः ।
हते = शत्रौ हते ॥ २९९ ॥ कृत्येति । क्षत्रियो युद्धे प्रवृत्तः सन्, कृत्यमकृत्यं वा न
मन्येत, येन केनाप्युपायेन शत्रुं हन्यादेवेत्यर्थः ॥ ३०० ॥

साम्प्रतम् = इदानीम् । वज्रपातदारुणं = वज्रपातवल्लुदःसहं, मोहं = मूर्च्छाम् ।
‘सर्वाग्रन्थमिति क्रियाविशेषणम् ।

दुर्जनगम्या=दुष्टजनानुरक्ताः । धनं = लक्ष्माः । कृपणाऽनुसारि = कृपणगमि । गिरि-
दुर्गवर्णं = निष्कलं गिरिदुर्गेषु वर्णति, न सस्यान्वितेषु क्षेत्रेषु—इति भावः ॥ ३०५ ॥

बलीवर्द्धः = बृषभः, मूर्खत्वात् । विषाणपरिबजितः = शृङ्गरहितः ॥ ३०२ ॥ भैक्ष्यं =
मिश्चाटनम् । भारोपजीवनम् = भृतिकर्म । विपत्त=दारिद्र्यादिना क्लेशः । अधिकारेण =
गतसेवया ॥ ३०३ ॥ अनेन = मिहेन । वित्तं = धनम्, मैत्री विवादश्च समानैरेव
करणीयः । पुष्टिविपुष्टयोः = वनिनिधनयोः, बलिनिर्बलयोश्च सख्यं विवादश्च न युक्त

१ ‘अपात्रभृद्भवति राजा’ । पा० । २ ‘गिरिजलधिवर्णं’ । ३ ‘व्याधिः’ पा० ।

तथा च-सूरा सूर्गैः सङ्गमनुव्रजन्ति गावश्च गोभिस्तुरगारतुरङ्गेः ।
 मूर्खश्च मूर्खैः सुधियः सुधीभिः समानशीलव्यसनेषु सख्यम् ॥३०५॥
 तद्यदि गत्वा तं प्रसाद्यामि, तथापि न प्रसादं यास्यति । उत्कच्च-
 निमित्तमुद्दिश्य हि यः प्रकृप्यति ध्रुवं स तस्याऽपगमे प्रशास्यति ।
 अकारणद्वेषपरो हि यो भवेत्कथं नरस्तं परितोपयिष्यति ॥३०६॥

अहो ! साधु चेदमुच्यते—

भक्तानामुपकारिणां परहितव्यापारयुक्तात्मनां
 सेवासंब्यवहारतत्त्वविदुषां द्वोहच्युतानामपि ।
 व्यापत्तिः स्वलितान्तरेषु नियता सिर्वद्भर्भवेद्वा न वा
 तस्मादम्बुपतेरिवाऽवनिपतेः सेवा सदाशङ्किनी ॥३०७॥
 तथा च-भावस्त्विन्द्रियैरुपकृतमपि द्वेष्यतां याति किञ्चि-
 च्छात्यादन्यरपकृतमपि ग्रीतिमेवोपयैर्याति ।
 दुर्ग्रह्यत्वात्क्षपतिमनसां नैकभावाश्रयाणां
 मेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ ३०८ ॥

इत्यर्थः ॥ ३०४ ॥ तुरगाः=अश्वाः । समान शीलं व्यसनश्च येषां तेषु = तुल्यन्भवामा-
 चारेषु, सख्यम् = मैत्री । ‘युज्यते’ इति शेषः ॥२०५॥ तं = सिंहम् । प्रसाद्यामि = अनु-
 नयादिभिः प्रसन्नं करोमि । प्रसादं = प्रसन्नताम् । निमित्तं = कारणम् । उद्दिश्य = अनु-
 मन्धाय । तस्य = कोपकारणस्य । अपगमे = नाशे । प्रशास्यति = प्रभीन्ति । कर्थमिनि ।
 न कथमपीत्यर्थः । सिंहश्चाकारणद्वेषीति भावः ॥ ३०६ ॥

परेति । परहितकारिव्यापारप्रसक्तानां, मेवाकर्ममर्मज्ञानाम्, सर्वभूतहितंपिणां
 अन्वलितान्तरेषु = अल्पीयस्यामपि त्रुटी । व्यापत्तिः = विषत्तिः । नियता = निश्चिन्नेव ।
 सिद्धिः = सम्पदादलाभस्तु, भवेद्वा, न वा भवेत् । न निश्चयः । अम्बुपतेरिव = समुद्रस्यव
 (‘मन्त्राना’ मित्यादिविद्येषणानि समुद्रपश्चेषपि योजयानि) । अवनिपतेः = भूपतेरपि नवा-
 अथिकारः । सदाशङ्किनी = शङ्कातद्वकलङ्किनीत्यर्थः ॥ ३०७ ॥

भावस्त्विन्द्रियैरुपकृतमपि = आराधितमपि, राजां किञ्चिन्मनः उपकारिण द्वेष्यतामेव=प-
 नेव धर्मे । यात्यादन्यरपकृतमपि च किञ्चिद्वाजां मनः प्राप्तिं यातात्यर्थः । ‘द्वेषमायाति’
 इति तु युक्तः पाठः । यद्वा-लोके-भावस्त्विन्द्रियैः=स्नेहास्त्वक्षमानमैर्भृत्यैः उपकृतमपि अवि-
 गण्यं राजा द्वेषपरो भवति, केषाचित् अनुपकृतमपि प्रीतये एव राजो भवति । दुरागाधना
 यत्वाद्राजश्चित्तानामित्यर्थः ॥ ३०८ ॥

१ ‘स्त्विन्द्रियैरेव ह्युपकृतिश्चतंद्वेष्यतामेति कश्चिच्छात्यादन्यरपकृतिश्चतं-
 ग्रीतिमेवोपयाती’ति । २. ‘लोक साक्षादन्यैरिति । ३. ‘प्रीतये’ इति पाठाऽ ।

तत्परिज्ञातं मया यत्प्रसादमसहमानैः समीपवर्तिभिरेष पिङ्गलकः
प्रकोपितः, तेनायं ममाऽद्वौषस्याय्वं वदति । उक्तच्च—

प्रभाः प्रसादमन्यम्य न सहन्तीह सेवकाः ।

सपत्न्य इव सङ्कुद्धाः सपत्न्याः सुकृतैरपि ॥ ३०९ ॥

भवति चैवं—यद्गुणवत्त्वं समीपवर्तिपु गुणहीनानां न प्रसादो
भवति । उक्तच्च—

गुणवत्तरपात्रेण च्छायन्ते गुणिनां गुणाः ।

रात्रौ दीपशिखाकान्तिर्बानादुदिते सति ॥ ३१० ॥

दमनक आह—‘भो मित्र ! यद्येवं तत्रास्ति तं भयम्, प्रकोपि-
ताऽपि स दुर्जनैमतव वचनरचनया प्रसादं यास्यति ।

स आह—‘भोः ! न युक्तमुक्तं भवता । लघूनामपि दुर्जनानां
मध्ये वस्तुं न शक्यते । उपायान्तरं विधाय ते नूनं ग्रन्ति । उक्तच्च—

बहवः पण्डिताः क्षुद्राः सर्वे मायोपजीविनः ।

कुरुः कृत्यमकृत्यं वा उद्धे काकादयो यथा ॥ ३११ ॥

दमनक आह—कथंमतन् ? । मोऽत्रवीन्—

११. उष्टुकाकादिकथा

कम्मिश्रिद्वनोहेशो भद्रोत्कटो नाम सिंहः प्रतिवसति स्म । तस्य
चाऽनुचरा अन्ये द्वीपिवायसगोमायवः सन्ति । अथ कदाचित्तैरित-

प्रसादं=मयि राजकृपाम् । अदोपस्थापि—‘सम्बन्धे इति शेषः । सपत्न्याः सुकृद्धि
रपि=विनयपगच्चित्तातुवर्तनादिगुणंरपि—संकुद्धाः=सपत्न्य इव—राजभूत्याः साधोरपि
गजसेवकस्योचति गजप्रसादच न सहन्ते—इत्यादयः । सपत्न्यो हि (स्वसप्तांपुस्वामिप्रसादः
दृष्ट्वा) गुणवत्तिष्वपि त्वसपत्नांपु द्रोहमेवाचरन्ति न रन्तहम् ॥ ३०९ ॥ गुणहीना-
नाम्—‘उपर्ग राशः’ इति शेषः । गुणवत्तरपात्रेण=उत्कृष्टगुणशालिना । सामान्यगुणिनः
गुणाः आचन्ते=अभिभूयन्ते । यतो रात्रौ दोपकान्तिर्भाति, न रवादुदिते सति प्रभादे
श्चिति भावः ॥ ३१० ॥

यद्येवं=यदि त्वं न दोषाः । वचनरचनया=वाक्यातुर्यादिगुणैर्मुखः, प्रसादं=प्रसद-
ताम् । ते=दुर्जनाः । मायोपजीविनः=कृत्कपटरचनाकुशलाः, दाम्भिकाः । कृत्यम-
करणायसुचितम् । अकृत्यम्=अनुचितमपि ॥ ३११ ॥ बनोहेशो=नप्रदेशो । द्वीपिवायस

स्ततो भ्रमद्धिः सार्थभ्रष्टः क्रथनको नामोप्तो हृष्टः । अथ सिंह आह—‘अहो ! अपूर्वमिदं सत्त्वं, तज्ज्ञायतां किमेतदारण्यकं प्राप्य वा’ ?—इति । तच्छ्रुत्वा वायस आह—‘भोः स्वामिन् ! प्राप्योऽयमुपृनामा जीविशेषमत्वं भोज्यः, तद्वापाद्यताम् ।’ सिंह आह—‘नाऽहं गृहमागतं हन्मि । उत्तम्ब—

गृहे शत्रुमपि प्राप्तं विश्वस्तमकुतोभयम् ।
यो हन्यात्तस्य पापं स्याच्छत्वाह्यण्डातजम् ॥ ३१२ ॥

तदभयप्रदानं दत्त्वा मत्मकाशमानीयतां—येनाऽस्यागमनकारणं पृच्छामि । अथाऽसौ सर्वैरपि विश्वास्याऽभयप्रदानं दत्त्वा मदोत्कटमकाशमानीतः, प्रणम्योपविष्टश्च । ततस्तस्य पृच्छतस्तेनाऽत्मवृत्तान्तः सार्थभ्रंशमुद्घवो निवेदितः ।

मिहेनोन्तम्—‘भोः क्रथनक ! मा त्वं प्राप्तं गत्वा भूयोऽपि भारं-द्वहनकपृभागी भूयाः, तदत्रैवाऽरण्ये निविशङ्को मरकतमहशानि शृण्याग्राणि भक्षयन्मया सह सदैव वस ।’ सोऽपि ‘तथा’—इत्युक्त्वा नेपां मध्ये विचरन्न कुतोऽपि भयमिति मुख्येनाऽस्ते ।

अथाऽन्यद्युर्मदोत्कटस्य महागजेनाऽरण्यचारिणा मह युद्धम-भवन् । ततस्तस्य दन्तमुशलप्रहारैर्व्यथा मञ्जाता । व्यथितः कथमपि प्राणैर्न वियुक्तः ।

अथ शारीराऽसामर्थ्यात् कुत्रचित्पदमपि चलितुं शक्नोति । नेऽपि सर्वे काकादयोऽप्रभुत्वेन क्षुधाविष्टाः परं दुःखं भेजुः ।

गोमायवः—व्याघ्रकाकजन्मुकाः । सार्थभ्रष्टः—वर्णिगजनसमूहभ्रष्टः । आरण्यकं—वनचारि । (‘जङ्कला’) । विश्वस्तं—विश्वासमुपगतम् । अकुत्तोभयम्—निविशङ्कम् ॥ ३१२ ॥

अस्य=उष्ट्रम्य । असौ=उष्ट्रः । सर्वे=वायसादिभिः । तस्य=सिहस्य । सार्थभ्रंशमसुद्धवः—वर्णिकसङ्घवियोगमूलः । भूयः—पुनरपि शृण्याग्राणि—धासाकुरान् । इति=इत्यस्मात्कारणात् । मिहरश्चित्वेन निर्भयः । अरण्यचारिणा—तन्येन । तस्य=सिहस्य । गजस्य—दन्ता एव मुमलाः, तैर्यें प्रहाराः—आघाताः, तैः । कथमपि=आयुः देशादेव । प्राणैर्न वियुक्तः—न वृतः । शारीराऽसामर्थ्यात्—चेष्टां । शारीरस्यासमर्थत्वात् । अप्रभुत्वेन=प्रभुप्रसादा-

अथ तान्सिहः प्राह—‘भोः ! अन्विष्यतां कुत्रचिकिच्छत्सत्त्वं, येनाहमेतामपि दशां प्राप्तस्तद्वत्वा युष्मझोजनं सम्पादयामि ।’

अथ ते चत्वारोऽपि भ्रमितुमारव्याः; यावत्त्र किञ्चिन्मत्त्वं पश्य-
न्ति तावद्वायसशृगालौ परम्परं मन्त्रयतः । शृगाल आह—‘भा-
वायम ! किं प्रभूतब्रान्तेन, अयमस्माकं प्रभोः क्रथनको विश्वस्त-
स्तिष्ठति, तदेन हत्वा प्राणयात्रां कुर्मः ।

वायस आह—‘युक्तमुक्तं भवता, परं स्वामिना तस्याऽभयप्रदानं
दत्तमैस्ति—‘न वध्योऽयं’मिति ।’ शृगाल आह—‘भो वायम ! अहं
भ्वामिनं विज्ञाप्य तथा करिष्ये यथा स्वामी वधं करिष्यति । तत्तिष्ठन्तु
भवन्तोऽत्रैव, यावदहं गृहं गत्वा प्रभोराज्ञां गृहीत्वा चाऽगच्छामि ।’

एवमभिधाय सत्वरं सिंहमुद्दिश्य प्रस्थितः । अथ सिंहमासाद्येद-
माह—‘स्वामिन् ! समस्तं वनं भ्रान्त्वा वयमागताः, न किञ्चि-
न्मत्त्वमासादिर्त, तत्किं कुर्मो वयम् ? । संप्रति वयं बुमुक्ष्या पद्मेक-
मपि प्रचलितुं न शक्नुमः । देवोऽपि पश्याशी वर्तने, तद्यदि देवा-
देशो भवति तदा क्रथनकपिश्चितेनाऽयं पश्यक्रिया क्रियते ।’

अथ सिंहस्त्वं तदामणं वचनमाकर्ण्य सकोपमिद्माह—
‘धिक्पापाधम ! यदेवं भूयोऽपि वदसि, ततस्त्वां तत्क्षणमेव वधिष्यामि,
यतो मया तस्याऽभयप्रदानं प्रदत्तं, तत्कथं स्वयमेव व्यापादयामि ? ।
उक्तज्ञ—न गोप्रदानं न महीप्रदानं न चाक्षदानं हि तथा प्रधानम् ।

यथा वदन्तीह बुधाः प्रधानं सर्वप्रदानेष्वभयप्रदानम् ॥ ३१३ ॥

तच्छ्रुत्वा शृगाल आह—स्वामिन् ! यद्यभयप्रदानं दत्त्वा वधः
क्रियते तदैष ते दोषो भवति, पुनर्यदि देवपादानां भक्त्या स आत्मनो
लाभेन । अशक्तत्वाच । भेजुः=प्रापुः । एतामपि=क्षीणामपि । तत=सत्त्वम् । मन्त्रयतः=
विचारं चक्रतुः । प्रभूतेन=बहुलेन । भ्रान्तेन=भ्रमणेन । प्रभोविश्वस्तः=राजानुगृहीतः ।
प्राणधारणां=शरीरयात्राम् । परं=किन्तु । वधं=क्रथनकवधं । पश्यादी=पश्यभोजा
(‘पश्य लेते हैं ’) । पिशितेन=रुधिरेण । पश्यक्रिया=भवतां पश्यस्य सम्पादनम् ।

दारुणं=कूरम् । तस्य=क्रथनकस्य । प्रधानम्=दत्तमत्त्वम् । एष दोषः=विश्वस्तवधं पापम् ।

१. ‘अरिति’ । २. ‘अनुमन्यते’ पाठो ।

जीवितव्यं स्वयमेव प्रयच्छति, ततो न दोषः । तद्यदि स स्वयमेवाभानं वधाय नियोजयति तदा वध्यः । अन्यथाऽस्माकं मध्यादेकतमो वध्ये—इति । यतो देवपादाः पश्याशिनः, क्षुन्निरोधादन्याहर्दी दशां यास्यन्ति, तत्किमेतैः प्राणैरस्माकं, ये स्वास्यर्थे न यास्यन्ति । अपरं—यदि स्वामिपादानां किञ्चिदनिष्टं भविष्यति तदा पश्यादप्यैस्माभिर्वहिप्रवेशः कार्य एव । उत्कृश्च—

यस्मिन्कुले यः पुरुषः प्रधानं सं सर्वथलैः परिरक्षणीयः ।
तस्मिन्विनष्टे हि कुलं विनष्टं न नाभिभङ्गे हारका वहन्ति ॥ ३१४ ॥

तदाकर्ण्य मदोक्टट आह—‘यद्येवं तत्कुम्ब्य यद्गोचरे (इनि) । नच्छ्रुत्वा स सत्वरं गत्वा तानाह—‘भोः ! स्वामिनो महत्यवस्था वर्तते, तक्ति पर्यटितेन ? तेन विना कोऽत्रास्मानक्षयिष्यति ? ।

तद्वत्वा नस्य क्षुद्रोगात्परलोकं प्रस्थितस्य स्वयं गत्वाऽत्मशरीरं दानं कुर्मः । येन स्वामिप्रसादस्याऽनृतानां गच्छामः । उत्कृश्च—

आपदं प्राप्नुयात्स्वामी यस्य भृत्यस्य पदयतः ।

शाणेषु विद्यमानेषु स भृत्यो न रक्तं बजेत् ॥ ३१५ ॥

तदनन्तरं ते मर्वे वाष्पपूरितदशो मदोक्टटं प्रणस्योपविष्टाः । नान्दप्रा मदोक्टट आह—‘भोः ! प्राप्तं हप्तं वा किञ्चित्मत्त्वम् ?

नः=उहः । जीवितव्य=प्राणान् । प्रयच्छति=समर्पयति । नियोजयति=ददाति । तद्=तदा । अन्यथा=यदि स्वयं न स आत्मानं वधाय ददाति तदा । एकतमः=एकः कक्षित् । देवादाः=भवन्तः । पूजायामत्र पादशब्दो वहुत्वच । पश्याशिनः=अन्तरनिर्मुक्तरोगाः । क्षुन्निरोधात्=वुभुक्षानिरोधात् । अन्यादृशीम्=अनिर्वचनीयाम्, शीणतगम् । एतैः=अस्मदार्थैः । पश्यादपि=भवन्मरणानन्तरमपि । वहिप्रवेशः=स्वामिप्रवेशोदयो पातः । अनिष्टं=मरणम् । प्रधानं=मुख्यः । तस्मिन्=प्रधाने । आशु=शीघ्रमैव । नश्येत्=विलयं गच्छेत् । नाभिभङ्गं=व्यचक्तमध्यपिण्डकाभङ्गे । अरकाः=रथाङ्गदण्डाः । अरा एव—अरकाः । स्वार्थिकः कर् । ‘अरो ना तु चक्रविक्षभदारुणीति केशवः । ‘अरो रथाङ्गदण्डेऽपार्ति कोशः । वहन्ति=पचलन्ति ॥ ३१६ ॥ महती=अतिविपक्षा । क्षुद्रोगात्=वुभुक्षास्परोगात् । प्रस्थितस्य=गन्तु-

१ ‘भक्षणीयः’ इति पा० । २ ‘अन्याम्’ । ३ ‘पृष्ठोऽपि’ । ४ ‘प्रधानः’ । ५ ‘सदैव वलेन स रक्षणीयः’ । ६ ‘तस्मिन्विनष्टे कुलसारभूते’ इति, ‘कुलं विनश्येत्’ इति च पा० ।

अथ तेषां मध्यात्काकः प्रोवाच—‘स्वामिन् ! वयं तावत्सर्वत्र पर्य-
टिताः, परं न किंचित्सत्त्वमासादितं, दृष्टं वा । तद्वय मां भक्षयित्वा
प्राणान्धारयतु स्वामी, येन देवस्याऽश्वासनं भवति, मम पुनः
म्वर्गप्राप्निरिति । उक्तच्च—

स्वाम्यर्थे यस्यजेत्प्राणान्मृत्यो भक्षिसमन्वितः ।

परं स पदमासोति जरामरणवर्जितम् ॥ ३१६ ॥

तच्छ्रुत्वा शृगाल आह—‘भोः ! म्वल्पकायो भवान्, तव भक्षणा-
स्वामिनम्तावत्प्राणयात्रा न भवति, अपरो दोषश्च तावत्समुत्पत्तयते ।
उक्तच्च—

काकमांस शुनोच्छिष्टं स्वल्पं तदपि दुर्लभम् ।

भक्षितेनाऽपि किं तेन ? तृप्तिर्येन न जायते ॥ ३१७ ॥

नहर्शिता स्वामिभक्तिर्भवता, गतं चाऽनृण्यं भर्तृपिण्डस्य,
प्राप्नश्चोभयलोके साधुवादः । तदप्सराऽप्रतः, येनाऽहमपि स्वामिनं
विज्ञाप्यामि’ । तथाऽनुप्रिते शृगालः सादरं प्रणम्य प्रोवाच—‘स्वा-
मिन ! मां भक्षयित्वा व्य प्राणयात्रां विद्याय ममोभयलोकप्राप्नि
कुरु । उक्तच्च—

स्वाम्यायत्ताः सदा प्राणा भृत्यानामर्जिता धनैः ।

यतस्ततो न दोषोऽस्ति तेषां ग्रहणसम्भवः’ ॥ ३१८ ॥

अथ तच्छ्रुत्वा द्वीप्याह—‘भोः ! साधूकं भवता । पुनर्भवानपि
म्वल्पकायः, स्वजातिश्च—नवायुधत्वादभद्र्य एव । उक्तच्च—

मुचुक्तस्य । आदिकर्मणि त्तः । प्राप्तं=लब्धम् । आश्वासनं=शरीरधारणम् । ‘आप्यायनम्’
‘आप्यायना’ इति च क्वचित्पाठः । स्वाम्यर्थे=प्रभोर्ये । सः—जरामरणवर्जितं=जरामृत्यु-
विवर्जितं ब्रह्मणः—परं पदं=ब्रह्मलोकम् ॥ ३१६ ॥ दोषः=अनौचित्यम् । काकमांस-
मपि—शुना=कुकुरेण । उच्छिष्टं=मुक्त्वा परित्यक्तम् ॥ ३१७ ॥

भर्तृपिण्डस्य=गजानस्य । गतं=लब्धम् । (‘नमकहलाल’) । उभयलोके=इह
लोके, परलोके च । साधुवादः=‘साधु काकेन भाषितमिति प्रशंसा । अथतः अपसर=
दूर्धामव । (‘आगेमे हटो’) । यतः-धनैः, अर्जिताः=उपार्जिताः भृत्यानां प्राणाः, अतः
स्वाम्यायत्ताः=राजार्थानाः । तेषां=प्राणानां शरीरस्य च, ग्रहणसम्भवः=भृत्यवधजन्यः ।
‘ग्रहणसम्भवे’इति पाठान्तरम् । न दोषोऽस्ति=राजो दोषो नास्ति ॥३१८॥ द्वीपी=न्यायः

१‘तथोच्छिष्टम्’ । २‘प्राप्ता लोकद्वयेऽपि साधुता’ । ३‘विज्ञाप्यामि’ । ४‘तेन न’ पाठ ।

नाऽभक्ष्यं भक्षयेत्प्राज्ञः प्राणैः कण्ठगतैरपि ।

विशेषात्तदपि स्तोकं लोकद्वयविनाशकम् ॥ ३१९ ॥

तदर्शितं त्वयात्मनः कौलीन्यम् । (अथवा) साधु चेदमुच्यते—

एतदर्थं कुलीनानां नृपाः कुर्वन्ति सङ्ग्रहम् ।

आदिमध्यावसानेषु न ते गच्छन्ति विक्रियाम् ॥ ३२० ॥

तदपसराप्रतः, येनाहमपि स्वामिनं विज्ञापयामि' । तथानुष्ठिते
द्वीपी प्रणम्य मदोत्कटमाह— स्वामिन् ! क्रियतामद्य मम प्राणैः प्राण-
यात्रा । दीयतामक्षयो वासः स्वर्गं । मम विस्तार्यतां श्लितिनलं
प्रभूततरं यशः । तत्रात्र विकल्पः कार्यः । उक्तच्च—

मृतोनां स्वामिनः कार्ये भूत्यानामनुवर्तिनाम् ।

भवेत्स्वर्गेऽक्षयो वासः कीर्तिश्च धरणीतले ॥ ३२१ ॥

तच्छ्रुत्वा क्रथनकश्चिन्तयामास—‘एतैस्तावत्सर्वैरपि शोभनानि
वाक्यानि प्रोक्तानि, न चैकोऽपि स्वामिना विनाशितः । तदहमपि
प्राप्तकालं विज्ञापयामि, येन मम वचनमेते त्रयोऽपि समर्थयन्ति ।
इति निश्चित्य प्रोवाच—‘भोः ! सत्यमुक्तं भवता, परं भवानपि
नखायुधः, तत्कथं भवन्तं स्वामी भक्षयति । उक्तच्च—

मनसाऽपि स्वजात्यानां योऽनिष्टानि प्रचिन्तयेत् ।

भर्वन्ति तस्य तान्येव इह लोके परत्र च ॥ ३२२ ॥

तदपसराऽप्रतः, येनाहं स्वामिनं विज्ञापयामि । तथानुष्ठिते
क्रथनकोऽप्ते स्थित्वा प्रणम्योवाच—‘स्वामिन् ! एते तावदभक्ष्या
पुनः=किन्तु । नाभक्ष्यमिति । यदा तदपि=अभक्ष्यमपि । विशेषात्=विशेषतः । स्तोकं=
यदि स्वत्पं भवेदिति समन्वयः ॥ ३१९ ॥ आदिमध्यावसानेषु=सम्पत्सु विपत्सु च ।
विक्रियां=विकारं, भावान्तरच ॥ ३२० ॥ विकल्पः=संशयः । अनुवर्तिनाम्=आज्ञा-
पालकानाम् ॥ ३२१ ॥

शोभनानि=प्रशंसापराणि चादूनि प्रार्थनावाक्यानि, प्राप्तकालम्=अवसरोच्चितम् ।
समर्थयन्ति=प्रशंसन्ति । ‘विघटयन्ती’ति पाठे खण्डयन्तीत्यर्थः । भवान्=व्याप्रः ।

१ ‘स्थितानाम्’ २ ‘त्रयोऽपि विघटयन्ती’ति लिखितपुस्तकपाठो मनोहरः । ३ ‘युक्तम्’ ।
४ ‘तस्य लोकद्वयं नास्ति भवेच्चाश्रयिकोटकः’ ।

भवतां, तन्मम प्राणैः प्राणयात्रा विधीयतां, येन ममोभयलोकप्राप्ति-
भवति । उत्तर्च—

न यज्वानोऽपि गच्छन्ति तां गतिं नैव योगिनः ।

यां योन्ति प्रोज्जितप्राणाः स्वाभ्यर्थे सेवकोत्तमाः ॥ ३२३ ॥

एवमभिहिते सिंहानुज्ञाताभ्यां शृंगालचित्रकाभ्यां विदागितो-
भयकुक्षिः, काकेनोत्पाटितनयनः क्रथनकः प्राणानन्याक्षीन् । ततश्च नैः
क्षुद्रारंपीडितैः मर्वैर्भक्षितः । अतोऽहं ब्रवीमि—‘वहवः पण्डिताः
क्षुद्राः’—इति ! *

तद्वद् ! क्षुद्रपरिवारोऽयन्ते राजा मया सम्यगज्ञातः, सतामसेव्यश्च।
उत्तर्च—

अशुद्धप्रकृतौ राज्ञि जनता नाऽनुरज्यते ।

यथा गृध्रसमासञ्चः कलहंसः समाचरेत् ॥ ३२४ ॥

तथा च गृध्राकारोऽपि सेव्यः रथादंसाकारैः सभासदैः ।

हंसाकारोऽपि सन्त्याज्यो गृध्राकारैः स तैर्नृपः ॥ ३२५ ॥

तन्मूनं ममोपरि केनचिद्दुर्जनेनायं प्रकोपितः, तेनैवं वदति ।
अयवा भवत्येतन् । उत्तर्च—

मृदुना सल्लेन हन्यमानान्यवृद्ध्यन्ति गिरेरपि स्थलानि ।

उपजापविदां च कर्णजापैः किमु चेतांसि मृदुनि मानवानाम् ? ॥ ३२६ ॥

मनसापीति । नानि=अनिष्टानि । परत्र=परलोके च ॥ ३२२ ॥ यज्वानः=यज्ञकर्त्तारः
‘यज्वा तु विधिनेष्टवा’नित्यमरः । प्रोज्जितप्राणाः=त्यक्तप्राणाः, मृताः ॥ ३२३ ॥

चित्रकः=व्याघ्रः । विदारितोभयकुक्षिः=विदारितोदरपार्श्वयुगलः । क्षुद्रारंपीडितैः=
क्षुधापीडितैः । पाठान्तरे—क्षुद्रपण्डितैः=नीचकर्मपद्मभिरत्यर्थः । क्षुद्रपरिवारः=क्षुद्रानुचर-
परिवृत्तः । अशुद्धाः—प्रकृतयः=अमात्यादयः परिवारा यस्यासौ—अशुद्धप्रकृतिः, तस्मिन्=
नीचपरिवृत्ते । गृध्रासञ्चो हंसो हि गृध्रवदेव समाचरति’ सङ्गवशात्, एवं नीचपरिवृत्तो राजा
स्वयं साखुरपि न प्रजारजक इति हंसो यथा ताङ्गशो दूरतः परिहायो भवति, तथा राजाऽपि
दुष्टगणपरिवृत्तरस्त्याज्य एवेत्याशयः ॥ ३२४ ॥

गृध्राकारः=दुष्टस्वभावः । हंसाकारैः=सङ्गिः । सभासदैः=अमात्यादिवर्गैः—उपल-
क्षितः—सेव्यः । तैः=अमात्यादिभिः ॥ ३२५ ॥ मृदुनेति । अवृद्ध्यन्ति=हीयन्ते । (गद्वे

१. ‘स्वाभ्यर्थे प्रोज्जितप्राणा यां गतिं यान्ति सेवकाः ।’ २. ‘ताभ्यां’ पा० ।

३. ‘क्षुद्रपण्डितैः’ पा० । ४. ‘खन्यमानान्यवपुष्यन्ती’ तिलिखितपुस्तकपाठः ।

कर्णविषेण च भगवः किं किं न करोति बालिशो लोकः ? ।
क्षणकतामपि धरो ! पिबति सुरां नरकपालेन ! ॥ ३२७ ॥

अथवा साधिवद्मुच्यते—

पादाहतोऽपि दृढदण्डसमाहतोऽपि यं दंष्ट्रया स्थृशति तं किल हन्ति सर्पः ।
कोऽप्येष एव पिशुनोऽस्त्यमनुप्यधर्मा कर्णे परं स्थृशति हन्ति परं समूलम् ॥ ३२८ ॥
तथा च—अहो खलभुजङ्गस्य विपरीतो वधकमः ।

कर्णे लगति चैकस्य प्राणैरन्यो वियुज्यते ॥ ३२९ ॥

तदेवं गतेऽपि किं कर्तव्यमित्यहं त्वां सुहङ्गावात्पृच्छामि ।'
दमनक आह—‘तदेशान्तरगमनं युज्यते, नैवंविधम्य कुम्हामिनः सेवां
विधातुम् । उत्तरच्च—

गुरोरप्यवलिस्त्य कार्याकार्यमजानतः ।

उत्पथप्रतिपञ्चस्य परित्यागो विर्धायते ॥ ३३० ॥

मर्जीवक आह—‘अस्माकमुपरि म्वामिनि कुपिते गन्तुं न शक्यते,
न चान्यत्र गतानामपि निर्वृतिर्भवति । उत्तरच्च—

महतां योऽपराध्येते ‘दूरस्योऽस्मि’ ति नाश्वसेत् ।

दीर्घौं बुद्धिमतो बाहू ताभ्यां हन्ति स हिंसकम् ॥ ३३१ ॥

पृ. जाते हैं ।) उपजापविदां=मेदकमुक्तश्लानां कर्णजापैः=निन्दावाक्यैः ॥ ३२६ ॥

कर्णविषेण=कर्णे दृष्टेः कथितेन द्वाराक्यजालेन । (ताना) । भझः=वर्धतः । विकारं
प्राप्तश्च, (‘बिंगडा हुआ’) । बालिशः=मूर्खः । क्षणकतां=नश्तां धरो, नरकपालेन मद्यध
पिवति, परप्रतारितो मूर्खलोकः । अनेन जैन-कापालिकमतमपि कटाक्षितम् ॥ ३२७ ॥

पादेति । पादताङ्गितो दण्डाहतश्च सर्पं दशति । परं विशुनः=खलस्तु कोऽपि—अमनुष्य-
वर्णां=अलौकिकसामर्थ्यशालीं—अस्ति यः—कर्णे—परम्=अन्यम् । अपरच्च—समूलम्=मानु-
न्यम् ॥ ३२८ ॥ खल एव भुजङ्गस्तस्य—खलभुजङ्गस्य=खलसंपर्य । विपरीतः=विरुद्धः ।
वधकमः=मारणप्रकारः ॥ ३२९ ॥ सुहङ्गावात्=मित्रत्वात् । ‘न सेवा विधातुं युज्यते’
इत्यन्यवः ।

अवलिस्त्य=मदोन्मत्तस्य । उत्पथप्रतिपञ्चस्य=कुमारगगामिनः । गुरोरपि त्यागश्चे
न्का वार्ताऽन्यरयेति भावः ॥ ३३० ॥ निर्वृतिः=मुखम् । महतामिति । महतामपरावृ
कुर्वन्—‘अहं दूरे तिष्ठामि, स मे किमपकरिष्यती’ति—नाश्वसेत्=न हृष्येत् ॥ ३३१ ॥

तदुद्धं मुक्त्वा मे नान्यदम्नि श्रेयस्करम् । उक्तच्च—
 न नान्ह तीर्थेस्तपसा च लोकान्स्वर्गेणिणो दानशतैः सुबृत्तैः ।
 शणेन यान् यान्ति रणेषु धीराः प्राणान्समुज्जन्ति हि ये सुशालाः ॥३३२॥
 मृतैः सम्प्राप्यते स्वर्गेण जीवन्निः कीर्तिरुत्तमा ।
 तदुभावपि श्राणां गुणावेतौ सुदुर्लभौ ॥ ३३३ ॥
 ललाटदेशे रुधिरं स्वतन्त्र शूरस्य यस्य प्रविशेषं वक्ते ।
 तत्सोमपानेन समं भवेच सङ्गामयज्ञे विधिवत्प्रदिष्टम् ॥ ३३४ ॥
 तथा च—होमार्थं विधिवत्प्रदानविधिना सद्ग्रीष्मवृन्दार्चने—
 यज्ञे भूरिसुदक्षिणः सुविहितैः संप्राप्यते यत्कलम् ।
 सर्त्तार्थाश्रमवासहोमनियमैश्चान्द्रायणाद्यैः कृतैः
 पुमिस्तत्कलमाहवे विनिहतैः सम्प्राप्यते तत्क्षणात् ॥ ३३५ ॥
 तदाकर्ण्य दमनकश्चिन्तयामास—युद्धाय कृतनिश्चयोऽयं हृत्यते
 दुरग्नमा, तद्यदि कदाचित्तीक्ष्णशृङ्खाभ्यां स्वामिनं प्रहरिष्यति—तन्म-
 हाननर्थः संपत्स्यते । तदेन भूयोऽपि स्ववुद्धया प्रबोध्य तथा करोमि
 यथा दंशान्तरगमनं करोति’ । आह च—‘भो मित्र ! मम्यगमिहिनं
 भवता, (परं) किन्तु कः स्वामिभृत्ययोः सङ्गामः ? । उक्तच्च—
 बलवन्तं रिपुं दैत्या नैवाऽस्त्मानं प्रकोपयेत् ।
 बलवद्विश करेत्या शरच्चन्द्रप्रकाशता ॥ ३३६ ॥
 अन्यच्च—शत्रोविक्रममज्ञात्वा वैरमारभते हि यः ।
 स पराभवमाप्नोति समुद्रायिद्विभाद्यथा ॥ ३३७ ॥
 सर्जीवक आह—‘कथमेतत् ?’ । सोऽत्रवीत—

१२. टिट्टिप-समुद्र-कथा

कस्मिंश्चित्समुद्रतीरैकदेशे टिट्टिपदम्पती प्रतिवसतः स्म । ततो

नतानिति । स्वर्गायिणः—स्वर्गायिनः । सुबृत्तैः—विधिवदाचरितैः, शोभनैराचरैश्च ॥
 ॥ ३३२ ॥ पती-गुणौ—स्वर्गौ, कारितश्च ॥ ३३३ ॥ सोमपानेन समं—सोमयशान्तविहित-
 मोमरसपानेन तुल्यं । प्रदिष्टं—धर्मशालोक्तम् ॥ ३३४ ॥ चान्द्रायणाद्यो—व्रतविशेषाः ।
 आहवे—युद्धे । तत्क्षणात्—सञ्च ॥ ३३५ ॥ बलवद्विश्वेति । बलवद्विः—तु—अधिकबलैरिति
 यावत् । शरच्चन्द्रप्रकाशता—शैत्यं । शान्तिरिति यावत् । अधिकबलेन सह क्रोधो न कार्याः
 किन्तु शैत्यमेवादरणीयम् । समानै रेव हि युद्धं सन्धिश्च युक्ताविति भावः ॥ ३३६ ॥

१. ‘किलात्मानं न कोपयेत्’ । पाठा.

गच्छति काले ऋतुसमयमासाद्य टिट्ठिभी गर्भमाधत्त । अथासञ्जप्रसवा सती सा टिट्ठिभमूचे—‘भोः कान्त ! मम प्रसवसमयो वर्तते, तद्विच्चिन्त्यतां किमपि निरुपद्रवं स्थानम्, येन तत्राऽहमण्डकविमोक्षणं करोमि’

टिट्ठिभःप्राह—‘भद्रे ! रम्योऽयं समुद्रप्रदेशः, तदत्रैव प्रसवः कार्यः’। साह—‘अत्र पूर्णिमादिने समुद्रबेला चरति, मा मत्तगजेन्द्रानपि समाकर्षति, तहरमन्यत्र किञ्चित्स्थानमन्विष्यताम् । तच्छ्रुत्वा विहस्य टिट्ठिभः प्राह—‘भद्रे ! न युक्तमुक्तं भवत्या, का मात्रा समुद्रम्य यो मम प्रसूति दूषयिष्यति । किं न श्रुतं भवत्या—

रुद्धाऽम्बरचरमार्गं व्यपगतधूमं सदा महद्यदम् ।

मन्दमतिः कः प्रविशति हुताशनं स्वेच्छया मनुजः ? ॥ ३३८ ॥

मत्तेभक्तमविदलनकृतश्रमं सुसमन्तकप्रतिमम् ।

यमलोकदर्शनेच्छुः सिंहं बोधयति को नाम ? ॥ ३३९ ॥

को गत्वा यमसदनं स्वयमन्तकमादिशत्यजातभयः ? ।

‘प्राणानपहर मत्तो यदि शक्तिः काचिदस्ति तत्र’ ॥ ३४० ॥

प्रालेयलेशमिश्रे मरुति प्राभातिके च वाति जडे ।

गुणदोषज्ञः पुरुषो जलेन कः शीतमपनयति ? ॥ ३४१ ॥

तस्माद्विश्रव्यथाऽत्रैव गर्भं मुच्च । उत्तरं—

यः पराभवसन्नन्नस्तः स्वस्थानं सन्त्यजेष्वरः ।

तेन चेत्पुत्रिणी माता तद्वन्ध्या केन कथयते ? ॥ ३४२ ॥

तच्छ्रुत्वा समुद्रश्चिन्तयामास—‘अहो गर्वः पक्षिकाटस्याम्य, अथवा साधिवदमुच्यते—

ऋतुसमयं=गर्भाधानसमयम् । टिट्ठिभः=पक्षिमेदः (‘टिट्ठिहरो’) । प्रसवसमयः=प्रसूतिकालः, वर्तते=सञ्जिहितो वर्तते । समुद्रबेला चरति=समुद्रजलभिहायाति, (‘ज्वार भाया’) । मात्रा=सामर्थ्यम् । दूषयिष्यति=अपहरिष्यति, प्रसूति=सन्ततिम् ॥ रुद्धाऽम्बरचरमार्गं=निरुद्धपक्षिमार्गं, व्यपगतधूमं=ज्वालामालिनम् ॥ ३३८ ॥ अन्तकप्रतिमं=मृत्युसदृशम् । अन्तकं=यमराजम् ॥ ३४० ॥ प्रालेयलेशमिश्रे=तुपारकणमन्पक्षीषणे, (‘वकानीं हवा’) । कोपनयति=न कोपात्यर्थः ॥ ३४१ ॥ दिश्रव्यथा=निश्चिन्ता । पक्षिकाटस्य=विहगापसदस्य । आस्ते=श्रेते । दिवः=गगनस्य । भज-

१. ‘ज्वालाशतरुद्धाऽम्बरमपगतधूमं सदा महाभयदम्’। पा.

उत्क्षिप्य टिट्ठिभः पादावास्ते भङ्गभयाहिवः ।
स्वचित्तकल्पितो गर्वः कस्य नात्रापि विद्यते ? ॥ ३४३ ॥

तन्मयाऽस्य प्रमाणं कूनूहलादपि द्रष्टव्यं, किं ममैषोऽण्डापहारे
कृतं करिष्यति ?'—इति चिन्तयित्वा स्थितः । अथ प्रसवानन्तरं
प्राणयात्रार्थं गतायाएषिट्ठिभ्याः समुद्रो वेलाव्याजेनाण्डान्यपजहार ।

अथाऽस्याता सा टिट्ठिभी प्रसवस्थानं शून्यमवलोक्य प्रलपन्ती
टिट्ठिभमूचे—'भो मूर्ख ! कथितमासीन्मया ते यत्समुद्रवेलयाऽण्डानां
विनाशो भविष्यति, तद्वरतरं ब्रजावः । परं मृढतयाऽहङ्कारमाश्रित्य
मम वचनं न करोपि । अथवा साध्विदमुच्यते--

सुहृदां हितकामानां न करोतीह यो वचः ।
स कूर्म इव दुर्बुद्धिः काषाढ्रष्टो विनश्यति ॥ ३४४ ॥

टिट्ठिभ आह—‘कथमेतत् ?’ । साऽब्रवीन्—

१३. काष्ठभ्रष्टकच्छपकथा

अस्ति कस्मिंश्चिज्जलाशये कम्बुग्रीवो नाम कच्छुपः । तस्य च
मङ्गलविकटनाम्नी मित्रे हंसजातीये परमस्नेहकोटिमाश्रिते नित्यमेव
मरम्तीरमासाद्य तेन सहानंकदेवर्षिमहर्षीणां कथाः कृत्वाऽस्तमयवे-
लायां स्वनीडसंश्रयं कुरुतः । अथ गच्छता कालेऽनाधिष्ठिवशात्सरः
शनैः शनैः शोपमगमत् । ततस्तद्वयुःखदुःखितौ तावृचतुः—‘भो मित्र !
जम्बालशेषमेतत्सरः सज्जातं, तत्कथं भवान्भविष्यतीति व्याकुलत्वं
नो हृदि वर्तते ।’ तच्छुत्वा कम्बुग्रीव आह—‘भो ! साम्रातं नाऽस्त्य-
स्माकं जीवितव्यं, जलाभावान्, तथाप्युपायश्चिन्त्यतामिति । उक्तञ्च—
भयात्=पतनभयात् ॥ ३४५ ॥ प्रमाणं=बलम् । प्राणयात्रार्थं=भोजनसामग्रोस्तथ्यार्थम् ।
वेलाव्याजेन=जलवृद्धिगमिषेण । न करोषि=नाकार्पां । वर्त्तमानसामीप्ये भूते लट् ।
‘न कृत्वानसीति’ परे पठन्ति । हंसजातीये=हंसजात्युत्पन्ने, हंसावितियावत् । स्वनीड-
संश्रयं=स्वकुलायाश्रयं, (नोड=‘धोर्सल’) । जम्बालशेषम्=पङ्कावशेषम् । निपद्रस्तु
जम्बालः पक्षोऽस्त्रौ शादकर्दमौ’ इत्यमरः । भविष्यति=प्राणान् धरिष्यति ।

त्याजयं न धैर्यं विषुरेऽपि काले धैर्यात्कदाचित्स्थितिमाप्नुयात्मः ।

जाते समुद्रेऽपि च पोतभङ्गे सांयात्रिको वाञ्छति तत्तुमेव ॥३४७॥
अपरद्व-मित्रार्थे बान्धवार्थे च दुद्धिमान् यतते सदा ।

जातास्वापत्सु यत्नेन जगादेदं वचो मनुः ॥ ३४६ ॥

तदानीयतां काचिद् दृढरज्जुलधु काष्ठं वा । अन्विष्यतां च
प्रभूतजलसनाथं सरः । येन मया मध्यप्रदेशे दन्तैर्गुहीते सनि युवां
कोटिभागयोन्मत्काष्ठं मया सहितं संगृह्य तत्सरो नयथः ।'

तावूचतुः—‘भो मित्र ! पञ्चं करिष्यावः, परं भवता मौनब्रतं न
स्थातव्यम्, नो चेत्तव काप्रात्पातो भविष्यति ।’

तथाऽनुष्टुते गच्छता कम्बुग्रीवेणाऽधोभागव्यवस्थितं किंचिन्पुर-
मालोकितं, तत्र ये पौरास्ते तथा नीयमानं विलोक्य मविस्मयमिद-
मृच्युः—अहो ! चक्रोक्तारं किमपि पक्षिभ्यां नोयते, पश्यत ! पश्यत !

अथ तेपां कोलाहलमाकर्ण्य कम्बुग्रीव आह—‘भोः, ! किमप
कोलाहलः ? । इति वक्तुमना अर्धोक्तिपतितः पौरैः खण्डशः कृतश्च ।
अनोऽहं त्रवीमि—‘मुहूर्दां हितकामानाम्—’इति ॥ कः

तथा च—अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिस्तथा ।

द्वावेनौ सुखमेधेते यद्यविष्यो विनश्यति ॥ ३४७ ॥

टिट्रिभ आह—कथमेतन् ? । साऽत्रवीन्—

१४. अनागतविधात्रादिमन्त्यत्रयकथा

कस्मिंश्चिज्जलाशयेऽनागतविधाता प्रत्युत्पन्नमतिर्यद्यविष्यश्चेति

विषुरे=विपत्तिकालेऽपि । स्थिति=विपत्तिविनाशम् । गतिमिति पाठान्तरम् । समुद्रे
पोतभङ्गे=वहिवनाशे जातेऽपि । तत्तुमेव=पुनरपि वाणिज्यार्थं समुद्रगमनमेव । वाञ्छनि-
इच्छति, करोति च । धनधोपार्जयतात्याशैयः ॥ ३४८ ॥

मित्रार्थे इति । विपत्तिपु जातान्तु दुद्धिमान् मित्रावर्ये सुहृदं यतेतेत्यर्थः ॥ ३४६ ॥
लघु=स्वर्ण, (हलका) । कोटिभागयोः=भयकोणमागयोः । तथाऽनुष्टुते=लघुकाष्ठदण्डे
आनाते । पौराः=पुरवासिनः । अर्धोक्तिपतितः=अर्धवक्तनानन्तरमेव पतितः । सुखं यथा
स्यात्तथा एथेते=सुखेन निवसतः, जावितश्च । यद्यविष्यति तद्यविष्यतं ति वार्दा—यद्यविष्यः ।
॥ ३४७ ॥ इति=इतिनामानः । मन्त्यजीविभिः=धांवरैः । (अथ तावत्—‘आज तो’)

त्रयो मत्स्याः प्रति वसन्ति स्म । अथ कदाचित्तं जलाशयं हृष्ट्वा गच्छ-
द्विर्मत्स्यजीविभिरुक्तं यत्—‘अहो ! बहुमत्स्योऽयं हृदः, कदाचिदपि
नास्माभिरन्वेषितः, तदन्य तावदाहारवृत्तिः सञ्जाता, सन्ध्याममयश्च
संवृत्तः, ततश्च प्रभातेऽत्रागन्तव्यमिति निश्चयः ।’

अतस्तेषां तत्कुलिशपातोपमं वचः समाकर्ण्योऽनागतविधाना
सर्वान्मत्स्यानाहृयेदमूचे—‘अहो ! श्रुतं भवद्विर्यन्मत्स्यजीविभिरभिहितं,
नद्रात्रावपि गम्यतां किञ्चन्निकटं सरः । उक्तच्च-

अशक्त्वैर्बलिनः शत्रोः कर्तव्यं प्रपलायनम् ।

संश्रितव्योऽथवा दुर्गें नान्या तेषां गतिर्भवेत् ॥ ३४८ ॥

तन्नन्नं प्रभातसमये मत्स्यजीविनोऽत्र समागम्य मत्स्यसंश्लयं
करिष्यन्ति—एतन्मम मनसि वर्तते । तत्र युक्तं साम्प्रतं क्षणमत्यत्रा-
वस्थातुम् । उक्तच्च-

विद्यमाना गतिर्येषामन्यत्रापि सुखावहा ।

ते न पश्यन्ति विद्वांसो देशभङ्गं कुलक्षयम् ॥ ३४९ ॥

तदाकर्ण्य प्रत्युत्पन्नमितिः प्राह—‘अहो ! सत्यमभिहितं भवता.
ममात्म्यभीष्टमेतत्, तदन्यत्र गम्यताम्’—इति । उक्तच्च-

परदेशभयाद्दोता बहुमाया नपुंसकाः ।

स्वदेशे निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः ॥ ३५० ॥

यस्यास्ति सर्वत्र गतिः स कस्मात्स्वदेशरागेण हि याति नाशम् ।

‘तातस्य कूपोऽयं’मिति श्रवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति ॥ ३५१ ॥

अथ तत्समाकर्ण्य प्रोच्चैर्विहस्य यद्विष्यः प्रोवाच—‘अहो ! न
भवद्वचां मन्त्रितं सम्यगेतदिति । यतः किं वाड्गात्रेणापि तेषां पितृ-
आहारवृत्तिः—भोजनसामांगलाभः । बलिनः शब्दोरित्यस्य ‘आक्रमणे सति प्रतिविधा’
मिति शेषः । अशक्त्वैः—असमर्थैः । तेषां=निर्वलानाम् ॥ ३४८ ॥ विद्यमानेति । तेषा
मन्यत्रापि सुखावहा गतिविधाना भवत्—ते विद्वांसो देशभङ्गं=देशनाशं, कुलक्षयत् न
पश्यन्ति ॥ ३४९ ॥ बहुमायाः—परपराः । निधनं=मरणम् ॥ ३५० ॥ स्वदेशरागेण-
‘मम स्वदेशोऽयं’मित्यनुरागेण । यस्य पुंसः सर्वत्र=सर्वेषु देशेषु गतिः=गमन
शक्तिरस्ति स स्वदेशरागेण करमाशां याति । तातस्य=पितुः कूप । इति=इत्यश्रवाणाः—
प्रशंसापराः कापुरुषाः=मूर्खाः अलसाश्च क्षारं=कठुतरं कूपोदकं पिबन्ति ॥ ३५१ ॥ भवद्वचा-

पैतामहिकमेतत्सरस्यकर्तुं युज्यते । । यद्यायुःक्षयोऽस्ति तदन्यत्र
गतानामपि सूत्युर्भविष्यत्येव । उक्तच्च-

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति ।

जीवन्यनाशोऽपि वने विसर्जितःकृतप्रयत्नोऽपि गृहे विनश्यति ॥ ३५२ ॥

तदहं न याम्यामि, भवद्वयां च यत्प्रतिभाति तत्कर्तव्यम् ।'

अथ तस्य तं निश्चयं ज्ञात्वाऽनागतविधाता प्रत्युतपन्नमतिश्च-
निष्क्रान्तौ सह परिजनेन । अथ प्रभाते तैर्मत्स्यजीविभिर्जालै-
म्तज्जलाशयमालोङ्ग्य यद्विष्येण सह तत्सरो निर्मत्स्यतां नीतम् ।
अतोहं ब्रवीमि-अनागतविधाता च-इति । ॥५६॥

तच्छ्रुत्वा टिट्ठिभ आह-‘भद्रे ! किं मां यद्विष्यमद्वशं संभाव-
यसि ? । तत्पश्य मे द्विद्विभावं यावदेन दुष्टसमुद्रं स्वचक्ष्वा
शोपयामि ।’ टिट्ठिभ्याह-अहो ! कस्ते समुद्रेण सह विप्रहः ? । तत्र
युक्तमस्योपरि क्रोपं करुम् । उक्तच्च-

पुंसामसमर्थानामुपद्रवायात्मनो भवेत्कोपः ।

पिठरं ज्वलदतिमात्रं निजपार्श्वनेव दहतितराम् ॥ ३५३ ॥

तथा च--अविद्वित्वाऽस्तमनः शक्तिं परस्य च समुत्सुकः ।

गच्छच्चभिमुखो नाशं याति वह्नौ पतङ्गवत् ॥ ३५४ ॥

टिट्ठिभ आह-‘प्रिये ! मा मैवं वद, येषामुत्साहशक्तिर्भवति ने
म्वल्पा अपि गुरुनिव्रक्तमन्ते । उक्तच्च-

मनस्यहन् मन्त्रितम् । कि-तेषां=धावराणां । वाञ्छात्रेण=वचनश्वणमात्रादेव । पिन्पैते-
महिकं=कुलपरम्पराप्राप्तम्-(‘पुरुत्तर्ना’) । किं युज्यते=न युज्यते । आयुःक्षयः=जोवनकाल-
नमासिः । विसर्जितः=त्यक्तः ॥ ३५२ ॥ प्रतिभाति=रोक्तते । निष्क्रान्तौ=चलितौ । सह
परिजनेन=कुदुम्बेन सहैव । यद्विष्येणैति । यद्विष्यः-अये च तत्रत्या मत्स्या
हना इत्यर्थः । भद्रे!=सुमुखिः ; सुमगे ! । विप्रहः=युद्धम् । अस्य=समुद्रस्य ।
अमर्थानां कोपः-आत्मन उपद्रवाय भवति । यथा-पिठरं=स्थाली (‘बडुवा’) । अविन-
म्बन्धात्-अतिमात्रं ज्वलत् । निजपार्श्वनेव दहति, न पानकार्द्दानिति भावः ॥ ३५३ ॥
समुत्सुकः=सहसा युद्धाय प्रवर्तमानः ॥ ३५४ ॥ गुरुनपि विक्रमन्ते=तैः सहापि

विशेषात्परिपूर्णस्य याति शत्रोरमर्थं ।
 आभिमुखं शशाङ्कस्य यथाऽद्यापि विभुन्तुदः ॥ ३५३ ॥
 तथा च—प्रमाणादधिकस्यापि गण्डशयाममद्युतेः ।
 पदं मूर्धिन समाधते केसरी मत्तदन्तिनः ॥ ३५६ ॥
 तथा च—बालस्यापि रवेः पादाः पतन्त्युपरि भूभृताम् ।
 तेजसा सह जातानां वयः कुत्रोपयुज्यते ? ॥ ३५७ ॥
 हस्ती स्थूलतरः स चाङ्कुशवशः किं हस्तिमात्रोऽङ्कुशो ?
 दीपे प्रज्वलिते प्रणश्यति तमः किं दीपमात्रं तमः ? ॥
 वज्रेणापि हताः पतन्ति गिरयः किं वज्रमात्रो गिरि—
 स्तेजो यस्य विराजते स बलवान् स्थूलेषु कः प्रत्ययः ? ॥ ३५८ ॥
 तदनया चञ्च्याऽस्य सकलं तोयं शुष्कस्थलतां नयामि ।'
 टिटिभ्याह—‘भो कान्त ! यत्र जाह्वी नवनदीशतानि गृहीत्वा नित्य-
 मेव प्रविशति, तथा मिन्द्युश्च; तत्कथं त्वमप्नादशनदीशनैः पूर्यमाणं
 तं विप्रुपवाहिन्या चञ्च्या शोपयिष्यति ?, तत्किमश्रद्धेयेनोक्तेन ।
 टिटिभ आह—प्रिये !
 अनिर्वेदः श्रियो मूलं चञ्चलं लोहसज्जिभा ।
 अहोरात्राणि दीघाणि समुद्रः किं न शुष्यति ? ॥ ३५९ ॥
 दुरधिगमः परभागो यावत्पुरुषेण पौरुषं न कृतम् ।
 जयति तुलामधिरूढो भास्वानपि जलदपटलानि ॥ ३६० ॥

युव्यते । विभुन्तुदः=राहुः, विशेषान्=विशेषतः पूर्णं चन्द्रमेव वाधते न क्षाणमिति—अमर्षणा
 उत्साहशक्तिमन्तो महतामपि शत्रूणामुपरि क्रुद्धाः प्रचलन्त्येवत्याशयः ॥ ३५५ ॥ प्रमा-
 णात्=कायप्रमाणात् । गण्डान् इयामस्य मदस्य च्युतियस्यादी—तथ्य=मदमलिङगण्ड-
 स्थलस्य, मत्तदन्तिनः शिरसि—पदं=चरणम् । धत्ते=स्थापयति ॥ ३५६ ॥ भूभृतां=
 पवतानाम् । हस्तिमात्रः=हस्तिप्रमाणः । दीपमात्रं किं=न दीपमात्रं । किन्तवति—
 प्रमाणम् । किं वज्रमात्रः (नंव, किन्तवतिमहान् । अतः स्थूलेषु=त्रिपाठधिकेषु) कः प्रत्ययः=
 का खल्वास्था ? (कः प्रत्ययः = क्या रखता है ?) ॥ ३५८ ॥

अस्य=समुद्रस्य । शुष्कस्थलतां=भूमितुल्यतां । कान्त=प्रिय । जाह्वी=गङ्गा ।
 तथा=नवनदीशतानि गृहीत्वा । सिन्धुः=सिन्धुनदः । (अष्टादशनदीशतैः=६८०
 नदियों से) । तं=समुद्रम् । विप्रुपवाहिन्या=विन्दुमात्रजलवहनसमर्थया । अश्रद्धेयेन=
 विश्वासायोग्येन । अनिर्वेदः=अकातरत्वं । मूलं=कारणम् । लोहसज्जिभा=दृढतरा ॥ ३५९ ॥
 परभागः=महन्व, विजयश्च । पौरुषं=पराक्रमः, साहस्रच । तुलां=तुलाराशि, दिव्यशयथ-

टिटिभ्याह—यदित्वयावश्यं समुद्रेण सह विप्रहानुष्ठानं कार्यम्,
तदन्यानपि विहङ्गमानाहूय सुहृज्जनसहित एवं समाचर । उक्तच्च-

बहूनामप्यसाराणां समवायो हि दुर्जयः ।

तृणीरावेष्टयते रज्ञुर्येन नागोऽपि बच्यते ॥ ३६१ ॥

तथा च--चटका काष्ठकुट्टेन मक्षिका ददुरेस्तथा ।

महाजनविरोधेन कुञ्जरः प्रलयं गतः ॥ ३६२ ॥

टिटिभ आह—‘कथमेतत् ?’ । सा प्राह—

१३. चटकदम्पतिकुञ्जरकथा

कस्मिंश्चिद्गुनोहेऽत्रो चटकदम्पती तमालतरुकृतनिलयौ प्रतिवभतः
स्म । अथ तयोर्गच्छता कालेन मन्ततिरभवत् । अन्यस्मिन्नहनि
प्रमत्तो वनगजः कश्चित्तं तमालवृक्षं धर्मार्तिश्छायार्थी ममाश्रितः ।
ततो मदोत्कर्पात्तां तस्य शाखां चटकात्रितां पुष्करात्रेणाकृत्य वभज्ज ।
तस्या भङ्गेन चटकाण्डानि भर्वाणि विश्वार्णानि ।—आयुःशेषतया च
चटकौ कथमपि प्राणैर्न वियुक्ताँ ।

अथ चटका म्वाउण्डभङ्गमिभूता प्रलापान्कुर्वाणा न किञ्चि-
त्सुखमासमाद । अत्रान्तरं तम्यामानप्रलापावश्चत्वा काष्ठकुट्टो नाम
पक्षी तस्याः परमसुहन् तद्वःखदुःखितोऽभ्यन्त्य तामुवाच—भगवति
किं वृथा प्रलापेन ? । उक्तच्च--

भेदं च । जलदपलानि=मेषधृन्दानि ॥ ३६० ॥ विहङ्गमान्=पक्षिणः । एवं=समुद्रेण
विग्रहम् । वृक्षनाम्-अमागाणां=तुच्छानामपि । समवायः=समूहः । आवेष्टयते=निमायते ।
यया=रज्जवा । नागः=गजः ॥ ३६१ ॥ चटका=पक्षिमंदः । (निक्षिया) । काष्ठकुट्टेन=
नदारुपक्षिभेदेन (कठोरो) । ‘काष्ठकुट्टेन’ति क्वचित्पाठः । ‘मिलिते’ति शेषः ।
मक्षिका ददुरेः—‘मिलिते’ति द्वेषः । इत्यं-महाजनविरोधेन=अनेकजनविरोधात् । कुञ्जरः=
गजः । प्रलयं=प्रस्तुम् ॥ ‘ददुरेण चे’त्वपि पाठः ॥ ३६२ ॥ तमालतरुकृतनिलयौ=
नमालवृक्षकृतनांडी । गच्छना कालेन=व्यर्थीतेन वहुतिथेन कालेन (कुछ दिन के बाद) ।
मदोत्कर्पात्तां=मदावेशात् । चटकाश्रितां=चटकनीडाश्रितां=पुष्करात्रेण=शुण्डात्रेण । तस्या
=शाखायाः । विश्वार्णानि=विकीर्णानि, भग्नानि वा । (‘विखर गण’ ‘फृथगण’) ।
चटकौ=चटकदम्पती । कथमपि=यथाकथश्चित् । (किसी तरह से) । तस्याः=चटकायाः ।
तान्=करुणान् । विलापान्=परिदेवनानि । श्रुत्वा=आकर्ण्य । तद्वःखदुःखितः=

नष्टं सृतसतिक्रान्तं नाऽनुशोचन्ति पण्डिताः ।

पण्डितानां च मूर्खाणां विशेषोऽयं यतः स्मृतः ॥ ३६३ ॥

तथा च—अशोच्यानीह भूतानि यो मूढस्तानि शोचति ।

स दुःखे लभने दुःखं द्वावनर्थां निषेवते ॥ ३६४ ॥

अन्यत्र—क्षेष्माऽश्रु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुज्ञते यतोऽवशः ।

तस्माच्च रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याद्वा शक्तिः ॥ ३६५ ॥

चटका प्राह—‘अस्त्येतत् । परं दुष्टगजेन मदान्मम सन्तान-
क्षयः कृतः, तद्यदि मम त्वं मुहूर्सत्यम्तदस्य गजापसदस्य कोऽपि
वर्योपायश्चिन्त्यताम्,—यस्यानुष्टानं न मन्ततिनाशादुःखमपसरति ।
उत्तरं—

आपदि येनाऽपकृतं येन च हसितं दशासु विषमासु ।

अपकृत्य तयोरुभयोः पुनरपि जातं नरं मन्ये ॥ ३६६ ॥

काप्दकुट्ठ आह—‘भगवति ! सत्यमभिहितं भवत्या । उत्तरं—

स सुहृद्यसने यः न्यादन्यजात्युद्दोऽपि सत् ।

वृद्धौ सर्वोऽपि मित्रं स्यात्सर्वेषामेव देहिनाम् ॥ ३६७ ॥

स सुहृद्यसने यः स्यात्स पुत्रो यस्तु भक्तिमान् ।

स भृत्यो यां विषेयज्ञः, सा भार्या यत्र निवृतिः ॥ ३६८ ॥

तत्पश्य मे बुद्धिप्रभावम् । परं ममापि सुहृद्याता वीणारबा
नाम मक्षिकामिति, तत्त्वामाहृयागच्छामि, येन स दुरात्मा दुष्टगजो
वध्यते । अथाऽसौ चटकया सह मक्षिकामासाद्य प्रोवाच—‘भद्रं !

नव्यादुर्बेन दुःखितः । अभ्येत्य=आगत्य । प्रलापेन=निरर्थकशोकशब्दः । अशोच्यान
भूतानि इह यः शोचति स दुःखेषि पुनर्दुर्बेन लभते । अशोच्यशोचनं दुःखे पुनर्दुर्बेन समन्वय-
रूपमेवत्याश्रयः ॥ ३६४ ॥

बान्धवैर्मुक्तं—क्षेष्माशु=कफानिवत्मशुजालं, प्रेतः=मृतः, अवशः=परवशः, । क्रियाः
=अध्वर्देहिकं कर्म । शक्तिः=यथाशक्तिः ॥ ३६५ ॥ गजापसदस्य=अस्य दुष्टहस्तिनः ।
विषमान्=कठिनासु । दशासु=अवस्थासु । तयोरुभयोः=अपकारिण उपहासकर्त्तृश,
पुनरपि जातं=पुनर्लभ्यत्वानाम् ॥ ३६६ ॥ भगवति=सुभगे ।

स इति । अन्यजात्युत्पन्नोऽपि यः—व्यसने=विषदि, स्यात्=सञ्चिहितो भवेत्, स एव
मुहूर्त । वृद्धौ=सम्पत्तौ तु सर्वोपि सर्वेषामपि मित्रतां भजेवेति भावः ॥ ३६७ ॥

विषेयज्ञः=कर्त्तव्यक्षशः । भार्या=उत्तमा भार्या । निवृतिः=सुखम् ॥ ३६८ ॥

ममेष्टेयं चटका केनचिहुष्टुगजेन पराभूताऽण्डस्फोटनेन । तत्स्य
वधोपायमनुतिष्ठतो मे साहाय्यं कर्तुमहसि ।'

मक्षिकाऽप्याह—‘भद्र ! किमुच्यतेऽत्र—विषये । उक्तच्च—

उनःप्रत्युपकाराय मित्राणां क्रियते प्रियम् ।

यत्पुनर्मित्रमित्रस्य कार्यं मित्रैर्न—किङ्कृतम् ? ॥ ३६९ ॥

मत्यमेतत् । परं भमापि भेको मेघनादो नाम मित्रं तिष्ठति,
तमायाहृय यथोचितं कुर्मः । उक्तच्च—

हितैः साधुसमाचारैः शाष्ट्रज्ञैर्मतिशालिभिः ।

कथंचिच्च विकल्पन्ते विद्वद्विद्विश्चिन्तिता नयाः ॥ ३७० ॥

अथ ते त्रयोऽपि गत्वा मेघनादस्याऽप्ये समस्तमपि वृत्तान्तं
निवेद्य तस्युः । अथ स प्रोवाच—कियन्मात्रोऽमौ वराको गजो महा-
जनस्य कुपितम्याप्ते ? । तन्मदीयो मन्त्रः कर्तव्यः । मक्षिके ! त्वं
गत्वा मध्याह्नमये तस्य मदोऽनुष्टुप्तस्य गजस्य कर्णे वीणारवसद्वद्यां
शब्दं कुरु, येन श्रवणमुखलालसो निमीलितनयनो भवति । ततश्च
काष्ठकुट्टचञ्चवा स्फोटितनयनोऽन्धीभूतस्तृपार्तो भम गर्ततटाश्रितस्य
मपरिकरस्य शब्दं श्रुत्वा जलाशयं मत्वा समभ्येति, ततो गर्तमासाद्य
पतिष्यति, पञ्चत्वं यास्यति चेत्येवं समवायः कर्तव्यो यथा वैर-
साधनं भवति ।'

अथ तथाऽनुष्ठिते स मन्त्रगजो मक्षिकागेयमुखान्निमीलितनेत्रः

इष्टा=सुहङ्गना । पराभूता=अपमानिता । अण्डस्फोटनेन=अण्डसञ्चर्णनेन । तस्य=गजस्य ।
पुनरपीति । मित्राणां प्रियं यन्मित्रेण क्रियते, तत्पुनः प्रत्युपकाराशाशृन्यतया करणीयं तद्यदि, मित्रैर्न कृतं तदा
वद मित्रैः किं कृतम् ?, न किमपीत्यर्थः? अतो मित्रमित्राणां कार्यं मित्रकार्यापेक्षयाऽपि औत्सुक्येन
करणीयमवेत्याशयः ॥ ३६९ ॥ हितैविद्वद्विद्विश्चिन्तिताः— नयाः=नानिविनश्चयाः, न कथ-
विदपि विकल्पन्ते=न सन्देहेनान्यथाकर्तुं शक्यन्ते । अवश्यं फलनीत्यर्थः ॥ ३७० ॥

कियन्मात्रः=कियत्प्रमाणः (क्या चांज है ?) । वराकः=पामरः । (बेचारा) ।
मन्त्रः=उपदेशः । श्रवणमुखलालसः=गानमुखप्रसक्तः । गर्ततटाश्रितस्य=कस्यचिन्महतो
गर्तस्य तटमाश्रितस्य । सपरिकरस्य=सकुट्टस्य । भम=मण्डूकस्य । पञ्चत्वं=मृत्युम् ।

काष्टकुट्टहतचक्षुर्मध्याह्नसमये भ्राम्यन्मण्डूकशब्दानुसारी गच्छन्म-
द्रतीं गर्तामासाद्य पतितो, मृतश्च । अतोऽहं ब्रवीमि—‘चटका काष्ट-
कुट्टेन—’इति । ४८

टिट्टिभ आह—भद्रे ! एवं भवतु सुहद्वर्गसमुदायेन समुद्रं शोप-
यिष्यामि ।”—इति निश्चित्य बक्तमारसमयूगादीन्समाहृय प्रोवाच—
‘भाः ! पराभूतोऽहं समुद्रेणाऽण्डकापहारेण, तच्चिन्त्यतामस्य शोप-
णोपायः ?’ । ते संमन्त्र्य प्रोचुः—अशक्ता वयं समुद्रशोषणे, तत्कि
वृथाप्रयासेन ? । उक्तच्च—

अबलः प्रोक्षतं शत्रुं यो याति मद्मोहितः ।

युद्धार्थं स निवर्तेत शीर्णदन्तो गजो यथा ॥ ३७१ ॥

तदस्माकं स्वामी वैनतेयोऽस्ति, नत्तस्मै सर्वमेतत्परिभवस्थानं
निवेदनाम्, येन स्वजातिपरिभवकुपितो वैरानुग्रहं गच्छति । अथ-
वाऽत्रावलेपं करिष्यति तथापि नाम्नि वो दुःखम् । उक्तच्च—

सुहृदि निरन्तरचित्ते गुणवत्ति भृत्येऽनुवर्तिनि कलने ।

स्वामिनि शक्तिसमेते निवेद्य दुःखं सुखी भवति ॥ ३७२ ॥

तथामो वैनतेयसकाशां—यतोऽसावस्माकं स्वामी । तथानुष्ठिते
सर्वं ते पक्षिणो विषण्णवदना वाष्पपूरितहशो वैनतेयसकाशामासाद्य
कमणस्वरेण फूल्कर्तुमारध्या—‘अहो ! अब्रह्मण्यम् !! अब्रह्मण्यम् !!!
अधुना सदाचारस्य टिट्टिभस्य भवति नाथे सति समुद्रेणाऽण्डान्यप-
हतानि, तत्प्रनष्टमधुना पक्षिकुलम् । अन्येऽपि स्वेच्छया समुद्रेण
व्यापादयिष्यन्ते । उक्तच्च—

मगवायः—सङ्घः । मक्षिकागेयसुखात्=माक्षिकागातश्रवणसुखात् । गर्त्त=श्वभ्रम् ('गड्ढा') :

अबलः—निर्बलः । प्रोक्षतं=प्रबलम् । मद्मोहितः=मदोन्मत्तः । शीर्णदन्तः=भग्ददन्तः ।

परिभवस्थानम्=अपमानप्रसङ्गः । सः=गरुडः । जातिपरिभवकुपितः=पक्षिजाति-
पराभवकुट्टः । वैरानुग्रहं=वैरपरिशोर्ध्वं । गच्छति=विषच्चे । समुद्रं दण्डयतात्यर्थः । अवले-
पम्=उपेक्षाम् । फूल्कर्त्तुं=रोदितुं, ('रोने और चिलाने लगे') । अब्रह्मण्यम्=महान-
र्थः, महदनीचित्यम् । सम्ब्रमे दिवक्षिः । सदाचारस्य=अनपराधिनः । भवति=श्रीगरुडे ।
नाथे=प्रभमी । सति=विद्यमाने सति । तत्=तस्मात्, अन्येऽपि=मदतिरिक्ता अन्येऽपि पक्षिणः ।

एकस्य कमे संवेद्य करोत्यन्योऽप्य गांहतम् ।
 गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः ॥ ३७३ ॥

नथा च-चाटुतस्करदुर्बृत्तैस्तथा साहसिकादिभिः ।
 पीड्यमानाः प्रजा रक्ष्याः कृटच्छशादिभिस्तथा ॥ ३०४ ॥

प्रजानां धर्मपङ्कागो राज्ञो भवति रक्षितुः ।
 अधर्मादपि पङ्कागो जायते यो न रक्षति ॥ ३७५ ॥

प्रजापीडनसन्तापात्समुद्धतो हुताशनः ।
 राज्ञः श्रियं कुलं प्राणाङ्गाऽदग्ध्वा विनिवर्तते ॥ ३७६ ॥

राजा बन्धुरबन्धूनां राजा चक्षुरचक्षुषाम् ।
 राजा पिता च माता च सर्वेषां न्यायवर्तिनाम् ॥ ३७७ ॥

फलार्थीं पार्थिवो लोकान्यालयेदत्मस्थितः ।
 दानमानादितोयेन मालाकारोऽकुरानिव ॥ ३७८ ॥

यथा बीजाङ्कुरः सूक्ष्मः प्रयत्नेनाभिरक्षितः ।
 फलप्रदो भवेत्काले तद्वलोकः सुरक्षितः ॥ ३७९ ॥

हिरण्यधान्यरत्नानि पानानि विविधानि च ।
 तथान्यदपि यत्किञ्चित्प्रजाभ्यः स्याच्चृपस्य तन् ॥ ३८० ॥

अथैवं गरुडः समाकर्ण्य तद्वाख्यातुःस्थितः कोपविष्टुश्च व्यचि-
 न्तयत्—‘अहो ! सत्यमुक्तमेतैः पक्षिभिः, तदन्य गत्वा तं ममुद्रं
 शोषयामः ।’ पर्वं चिन्तयतस्तस्य विष्णुदूतः समागत्याऽह-
 कर्म=अनुचितं । मंवाद्य=दृष्ट्वा । गहितम्=अनुचितम् । गतानुगतिकः=परमागानुसारी ।
 पारमार्थिकः=विचारपरः ॥ ३७३ ॥ चाटवः=कपटिनः, प्रियवत्तारः । (चापलस) ।
 तरकराः=चौराः । दुर्बृत्ताः=दुश्शालाः । (‘बदचलन’) । साहसिकाः=कृतकर्माणः, ।
 दस्यवशः । (‘विगड़ल’ ‘दाकृ’ ‘गुण्डा’) । तैः । कृटच्छशादिभिः=मायाकपटादिभिश्च-
 पीड्यमानाः प्रजा राजा रक्ष्या इत्यर्थः ॥ ३७४ ॥ प्रजानामिति । प्रजाभिराचरिताद्मार-
 न्यष्ठो भागो यथा तद्रक्षकस्य राशो भवति, तथा—यथावत्पालनमकुवेतो राशश्च प्रजाकृतस्य
 पापस्यापि वष्टो भागो भवतीत्यर्थः ॥ ३७५ ॥ प्रजापीडनसन्तापात्-प्रजापीडनरूपात्सन्ता-
 पात् समुद्धतः=उत्पत्तो वहि:-राजो लक्ष्मां कुलं प्राणांश्च दग्धवैव निवर्तते=शास्यति नान्यथा । ३७६ ॥ अबन्धूनाम्=बन्धुहितानामनाथादीनाम् । अचक्षुषाम्=अन्धानाम् ॥ ३७७ ॥
 फलार्थी=पर्याणी, फलार्थी च । लोकान्=प्रजाः । दानमानादिकमेव तोयं तेन ।
 मालाकारः=मालिकः । (माली) ॥ ३७८ ॥ सूक्ष्मः=स्वल्पः । काले=अवसरे, वृक्ष-
 भावमापद्धः सन् । लोकः=प्रजाः ॥ तत्=धनधान्यभोजनासनविहारादिकम् ॥ ३८० ॥

‘भो गरुत्मन् ! भगवता नारायणेनाऽहं तत्र पार्श्वे प्रेपितः । ‘द्वकार्याय
भगवानमग्रावत्यां यास्यनी’ति । तत्सत्वरमागम्यताम् ।’ तच्छ्रुत्वा गरुडः
माऽभिमानं प्राह—‘भो दृत ! किं मया कुभृत्येन भगवान्करिष्यति ?
तद्रूत्वा तं वद,—यदन्यो भृत्यो वाहनायाऽस्मस्थाने क्रियताम् । मदीयो
नमस्कारो वाच्यो भगवतः । उत्तरञ्च—

यो न वेति गुणान्यस्य न तं सेवेत पण्डितः ।
न हि तस्मात्कलं किञ्चित्सुकृष्टादृपरादिव’ ॥ ३८१ ॥

दृत आह—‘भो वैनतेय ! कदाचिदपि भगवन्तं प्रति त्वया
नैनदभिहितमीहक्, तत्कथय किं ते भगवताऽपमानस्थानं कृतम् ?’ ।

गरुड आह—‘भगवदाश्रयभूतेन समुद्रेणाऽस्मद्विभाण्डान्यपहृ-
नानि, नद्यदि तस्य निग्रहं न करोति, तद्रहं भगवतो न भृत्यः—इत्येष
निश्चयस्त्वया वाच्यः । तद्रूततरं गत्वा भवता भगवतः समीपं वक्तव्यम् ।’

अथ दृतमुखेन प्रणयकुपितं वैनतेयं विज्ञाय भगवांश्चिन्तया-
माम—‘अहो ! स्थाने कोपो वैनतेयस्य, तस्वयमेव गत्वा सम्मान-
पुरःसरं तमानयामि । उत्तरञ्च—

भक्तं शक्तं कुलीनं च न भृत्यमपमानयेत् ।
पुत्रबलालयेच्छित्यं य इच्छेच्छित्यमात्मनः ॥ ३८२ ॥
अन्यच—राजा तुष्टोऽपि भृत्यानामर्थमात्रं प्रयच्छति ।
ते तु सम्मानितास्तस्य प्राणैरप्युपकुर्वते ॥ ३८३ ॥

इत्येवं सम्प्रधार्य रुक्मपुरे वैनतेयसकाशं सत्वरमगमत् । वैन-
तेयोऽपि गृहागतं भगवन्तमवलोक्य त्रपाऽधोमुखः प्रणम्योवाच—
‘भगवन् ! त्वदाश्रयोन्मत्तेन समुद्रेण मम भृत्यस्याऽण्डान्यपहृत्य

गरुत्मन्=हे गरुड ! अमरावत्यां=देवपुर्याम् । वैनतेय=गरुड ! । ईदृक्=ईदृशम् ।
भगवता=नारायणेन । सुकृष्टादपि=जघरात्=कृष्यनर्हभूमेन्फलंसम्भवतीत्यर्थः ॥ ३८१ ॥

अपमानस्थानम्=अनादरव्यवहारः । भगवदाश्रयभूतेन=नारायणाश्रयेण । विष्णुहि
समुद्रे देते । निग्रहं=शासनम् । तत्=तहिं ।

प्रणयकुपितम्=कृतकुपितम्, मानिनम् । स्थाने=उचितेऽवसरे । सम्प्रधार्यं=
निश्चित्य । रुक्मपुरे=तत्राचिं गरुडनगरे । त्रपया=लज्जया । अधः=अवनतं मुखं, यस्यासौ

ममावमाननं विहितम् । परं भगवहज्जया मया विलभितं, नोचेदेनमहं स्थलत्वमद्यैव नयामि । स्वामिभयान्छुनोऽपि प्रहारो न दीयते । उक्तच्च—

येन स्यालघुता वाऽथ पीडा चित्ते प्रभोः कचित् ।
प्राणत्यागेऽपि तत्कर्म न कुर्यात्कुलसेवकः ॥ ३८४ ॥

तच्छ्रुत्वा भगवानाह—‘भो वैनतेय ! सत्यमभिहितं भवता । उक्तच्च-
भृत्योऽपराधजो दण्डः स्वामिनो जायते यतः ।
तेन लज्जाऽपि तस्यैव न भृत्यस्य तथा पुनः ॥ ३८५ ॥

तदागच्छ येनाऽण्डानि समुद्रादादाय टिटिभं सम्भावयावः, अमरावर्तीं च गच्छावः । ’ तथाऽनुष्ठिते समुद्रो भगवता निर्भर्त्याऽऽप्येयं शरं सन्धायाऽभिहितः—‘भो दुरात्मन ! दीयन्तां टिटिभाऽण्डानि, नो चेत्थलतां त्वां नयामि ।’

ततः समुद्रेण सभयेन टिटिभाऽण्डानि तानि प्रदत्तानि । टिटिभेनापि भार्यायै समर्पितानि । अतोऽहं ब्रवीमि—‘शत्रोर्वलमविज्ञाय—इति । क्षै तस्मात्पुरुषेणोद्यमो न त्याज्यः ।

तदाकर्ण्य सञ्जीवकस्त्वं च भूयोऽपि प्रपञ्च—‘भो मित्र ! कथं ज्ञेयो मयाऽसौ दुष्टबुद्धिरिति ? । इयन्तं कालं यावदुत्तरोत्तरमनेहेन तथा=लज्जितोऽवनतमुखः । भगवलज्जया=अंगमद्धयेन लज्जया वा । विलभितम्=अद्ययावत्स्यानुशासनं मया न विहितम् । एनं=समुद्रम् । स्थलत्वं नयामि=तदायजलशोषणेन स्थलवन्निर्जलं करोमि । स्वामिनः=कुकुरस्वामिनो बलवतः । शुनः=कुकुरस्याऽपि । येन कर्मणा प्रभोर्लघुता=मानहार्नानः, चित्ते पीडा वा स्यात्तत्कर्म सेवकेन न कार्यमित्यर्थः ॥ ३८६ ॥

तेन = भृत्यदण्डेन । तस्यैव = स्वामिन एव । तथा पुनः = ताङ्गशीस्वामिनो लज्जा, भृत्यस्य न । ‘तस्योत्थे’ति पाठे तु—पञ्चम्यर्थे पष्ठी, तस्मात=भृत्यापराधात, उत्था = उत्पश्चा, लज्जापि—‘स्वामिन एव’तिशेषः ॥ ३८७ ॥ सम्भावयावः = सान्तवयावः । तथाऽनुष्ठिते=भगवता सहैव गरुडे चलिते सति । शरं = वाणम् । सन्धाय = धनुध्यारोप्य । अभिहितः=उक्तः । दुरात्मन् = असर्मीक्षकारिन् ।

१ ‘तदा भृत्यापराधेन स्वामिन दण्डयेत्क्लिल ।

यदि कृत्वा दुष्टज्ञ स्वामी भृत्यं न मुक्षति ॥’ इत्यपि पाठः ।

प्रसादेन चाहं दृष्टः, न कदाचित्तद्विकृतिर्दृष्टा । तत्कथ्यतां येनाहमा-
त्मरक्षार्थं तद्वधायोदयमं करोमि ।' दमनक आह—'भद्र! किमत्र ज्ञेयम्? प्रत्ययः—, यदि रक्तनेत्रशिखिलां श्रुकुटिं दधानः, सृक्षिणी परिलेलिहत्वां दृष्टा भवति, तद्वृद्धिः, अन्यथा सुप्रसादश्चेति । नदाङ्गापय मां स्वाश्रयं प्रति गच्छामि । त्वया च यथाऽयं मन्त्रभेदो न भवति तथा कार्यम् । यदि निशामुखं प्राप्य गन्तुं शक्नोपि, तदेवत्यागः कार्यः । यतः—

त्वजेदेकं कुलस्याऽर्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्वजेत् ।
ग्रामं जनपदस्याऽर्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्वजेत् ॥ ३८६ ॥
आपदर्थे धनं रक्षेदारान्तक्षेद्वैरेपि ।
आत्मानं सततं रक्षेदारैरेपि धनैरेपि ॥ ३८७ ॥

वलवताऽभिभूतस्य विदेशागमनं, तदनुप्रवेशो वा नीतिः । तदेव-
त्यागः कार्यः । अथवाऽस्मा सामादिभिरुपायैरभिरक्षणीयः । उत्तर्वच-
अपि पुत्रकलत्रैर्वा प्राणान् रक्षत पण्डितः ।
विद्यमानैर्यतस्ते: स्यात्सर्वं भूयोपि देहिनाम् ॥ ३८८ ॥
तथा च—येन केनाद्युप्युपायेन शुभेनाप्यशुभेन वा ।
उद्धरेदीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ॥ ३८९ ॥
यो मायां कुरुते मूढः प्राणत्यागे धनादिषु ।
तस्य प्राणाः प्रणश्यन्ति तैर्नेन्द्रियमेव तत् ॥ ३९० ॥

एवमभिधाय दमनकः करटकसकाशमगमन् । करटकोऽपि
तमायान्तं दृष्टा प्रोवाच—'भद्र ! किं कृतं तत्र भवता ?'

असौ = सिहः । कथ्यतां = 'सिहो मयि दुष्टुद्धिरेत्यत्र प्रत्ययोऽभिधायताम् । दद्य-
पाय = सिहवधाय । विशिखां = विशिखकुटिलां । श्रुकुटिं = श्रुकुटि । सृक्षिणी = ओष्ठ-
प्रान्तभागं । सुप्रसादः = सुप्रसबः । अवं = मदुक्तः । 'मन्त्रो—भिन्नो न भवति तथा कार्यं'-
मिति युक्ततरः पाठः । निशामुखं = प्रदोपम् । (रात में चुपचाप) । आत्मार्थे = स्वात्म-
रक्षणाय । दारैरेपि = दारादित्यागेन यदि स्वरक्षणं शक्यत, तदापि तदिधेयमित्यर्थः ॥ ३८७ ॥

तद्वृद्धप्रवेशः = तेन सह सनिधः, तत्सेवा वा । नीतिः=राजनीतिः । सामादिभिरु-
पायैः=सामदानादिभिरुपायैः, सिंहं प्रसन्नं कृत्वा । आत्मा=स्वदेहः । रक्षणीयः=पालनीयः ।
तैः=प्राणैः । सर्वं=दारधनादिकम् । भूयः=पुनरेपि । दीनं=विपद्गतम् । समर्थः=
शक्तः । प्राणत्यागे=प्राणत्यागावसरे समुपस्थिते । धनादिषु—मायां=ममत्वं । तैः=प्राणैः ।

दमनक आह—‘मया तावनीतिवीजनिर्वापणं कृतम् , परतो दैव-
विहिताऽऽयत्तम् । उक्तच्च यतः—

पराञ्जुखेऽपि दैवेऽत्र कृत्यं कार्यं विपश्चिता ।

आत्मदोपविनाशाय स्वचित्स्तम्भनाय च ॥ ३९१ ॥

नथा च— उच्योगिनं पुरुषसिंहसुपैसि लक्ष्मी—

दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति ।

दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या

यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽन्न दोषः ॥ ३९२ ॥

करटक आह—‘तत्कथय कीदृक्त्वया नीतिबीजं निर्वापितम् ? ।
मोऽत्रबीन—‘मयाऽन्योन्यं ताभ्यां मिश्याप्रजल्पनेन भेदस्तथा विहितो
यथा भूयोपि तौ मन्त्रयन्तावेकस्थानस्थितौ न द्रश्यसि ।’ करटक
आह—‘अहो ! न युक्तं भवता विहितं यन्परम्परं तौ स्नेहाद्वहदयौ
सुखाश्रयौ कोपसागरे प्रक्षिप्तौ । उक्तच्च—

अविरुद्धं सुखस्थं यो दुःखमार्गे नियोजयेत् ।

जन्मजन्मान्तरं दुःखी स नरः स्यादसंशयम् ॥ ३९३ ॥

अपरं—त्वं यद्देवमात्रेणापि तुष्टस्तदायुयुक्तम् । यतः सर्वोऽपि
जनो विरूपकरणे समर्थो भवति, नोपकर्तुम् । उक्तच्च—

धातयितुमेव नीचः परकार्यं वेत्ति न प्रसाधयितुम् ।

पौतयितुमस्ति शक्तिवर्योर्वृक्षं न चोक्षमितुम् ॥ ३९४ ॥

नन्=धनादि ॥ ३९० ॥ नातिबाजनिर्वपणम्=भेदनातिबीजारोपणम् । ‘निर्वापण’मिति
पाठान्तरम् । परतः=फलादिकम् । दैवविहितायत्तम्=भाश्ययेष्टाधीनम् । अत्र=लोके ।
त्वे पराञ्जुखेऽपि—आत्मदोषविनाशाय=अलसत्वं—निरुद्धमित्वादिदोषसम्भावनानिवृत्ये ।
स्वचित्स्तम्भनाय=स्वमनसः सन्तोषाय च—कृत्यं कार्यमेव ॥ ३९१ ॥ पुरुषसिंहं=
पुरुषप्रेषम् । दैव=दैववादं । निहत्य=दूरोकृत्य । पौरुषम्=उच्योगं । न सिध्यति=
कार्यं न सिध्यति चेत्, कोऽन्न दोषः=कस्त्व दोषः ? न कोऽपि पुंसो दोष इत्याश्रयः ।
॥ ३९२ ॥ भूयोपि=पुनरपि । तौ=सिंहवृपमौ । कवचित्ताविति न पठ्यते । स्नेहाद्वह-
दयौ=स्नेहप्रसकन्नमानसौ । सुखाश्रयौ=सुखमनुभवन्तौ । कोपसागरे=परस्परविरोधमहोदधौ ।
अविरुद्धं=सरलम् । अजातश्चूम् । सुखस्थं=सुखिनम् । दुःखमार्गे=दुष्टे मार्गे । अस-
शयं=ध्रुवम् ॥ ३९३ ॥ भेदमात्रेण=मित्रभेदकरणचातुर्येणैव । विरूपकरणे=विरोधसम्पा-

१. पातयितुमेव शक्तिर्नात्मोरुदर्त्तमक्षपितम्’ इति पा० ।

दमनक आह—‘अनभिज्ञो भवानीतिशास्य, तेनैतद्वीपि ।
उक्तच्च यतः—

जातमात्रं न यः शश्रुं व्याधिद्वा प्रशमं नयेत् ।

महाबलोऽपि तेनैव कृदिं प्राप्य स हन्यते ॥ ३९५ ॥

तच्छ्रुभूतोऽयमस्माकं, - मन्त्रिपदापहरणान् । उक्तच्च —

पितृपैतामहं स्थानं या यस्याऽत्र जिगीषति ।

स तस्य सहजः शशुरुच्छेयोऽपि प्रिये स्थितः ॥ ३९६ ॥

यन्मया म उदासीनतया समानीतोऽभयप्रदानेन यावन्-ताव-
दहमपि तेन साचिव्यात्प्रच्यावितः । अथवा साच्चिदमुच्यते—

दद्यात्साधुर्यदि निजपदे दुर्जनाय प्रवेशं

तत्राशाशय प्रभवति ततो वाङ्मानः स्वयं सः ।

तस्मादेयो विपुलमतिभिन्नावकाशोऽधमानां

जारोऽपि स्याद्वप्तिरिति श्रूयते वाक्यतोऽत्र ॥ ३९७ ॥

तेन मया तस्योपरि वर्धापाय एष विरक्त्यते, देशात्यागाय वा
भविष्यति । तच्च त्वां मुक्तवाऽन्यो न ज्ञास्यति । तद्युक्तमेतत्
स्वार्थायानुष्टितम् । उक्तच्च यतः—

निष्ठिंशं हृदयं कृत्वा वाणीमिष्ठुरसोपमाम् ।

विकल्पोऽत्र न कर्तव्यो—हन्यादेवाऽपकारिणम् ॥ ३९८ ॥

दने, विकृतिमध्यादने च । धातयितुं=विनाशयितुं । प्रसाधयितुं=सम्पादयितुम् ॥ ३९४ ॥
तेनैव=शश्रुणा, रोगेण च ॥ ३९५ ॥ पितृपैतामहं=वंशपरम्पराप्राप्तं, स्थानम्=अधिकारादि । जिगीषति=जेतुमिच्छति । जिधृक्षतात्पर्यः । सहजः=स्वाभाविकः । प्रिये=हिते ।
स्थितः=उद्युक्तोऽपि ॥ ३९६ ॥ सः=सज्जीवकः । उदासीनतया=अपरिचित भावेन । समानीतः=सिंहसमीपं प्राप्तिः । तेन=सज्जीवकेन । माचिव्यात्=मन्त्रिपदात् । प्रच्यावितः=दूरीकृतः । निजपदे=स्वस्थाने । तत्राशाशय=साधुजननाशय । प्रभवति=प्रयतते । वाङ्मानः=तत्पदं वाङ्मान् । (तान्त्रील्ये चानश्) । अत्र=जगति । जारोपि गृहपतिः=गृहस्वामी,
'सातां' इति शेषः । इति=इत्यं । वाक्यतः=वृद्धवाक्यतः । श्रूयते=आकर्णयते ।
कर्मयमन्यतोऽनुसन्धेया ॥३९७॥ तस्य=वृषभस्य । एष=मेदरूपः, मुक्त्वा=विहाय, स्वार्थाय
=स्वकार्यसिद्धये । निष्ठिंशं=खड्डसम्भ् । 'नृशंस'मिति पाठे—नृशंसं=क्रमित्यर्थः ।
वाणी=वचनम्, इक्षुरसोपमाम्=सितोपमाम् (मिश्री'की तरह भीठो') । विकल्पः=मन्देहः । हन्यादेव न त्वजेदित्यर्थः ॥ 'हन्यात्पूर्वोपकारिण'मत्यपि पाठः ॥ ३९८ ॥

अपरं—मृतोऽव्यस्माकं भोज्यो भविष्यति । तदेकं तावद्वैर-
साधनम्, अपरं साचिद्व्यञ्च भविष्यति, तृप्तिश्च—इति । तद्विषये—
स्मिन्नुपग्निते कस्मान्मां दूषयसि-त्वं जाङ्ग्यभावान् ? । उक्तच्च—

परस्य पीडनं कुर्वन्स्वार्थसिद्धिं च पण्डितः ।
गृद्बुद्धिर्न लक्ष्येत वने चतुरको यथा ॥ ३९९ ॥

करटक आह—‘कथमेतन् ? । स आह—

१६. सिंह-शृगाल-कथा

अस्ति कस्मिन्निद्वन्नोहेशो वज्रदंष्ट्रो नाम सिंहः । तस्य चतुरक-
क्रव्यमुखनामानौ शृगाल—वृक्षो भृत्यभूतौ सदंवानुगतौ तत्रैव वने
प्रतिवसतः । अथेऽन्यदिने मिहेन कदाचिद्वामन्नप्रमवा प्रमववेदनया
म्बव्यथाद्वप्ता उप्रथुपविष्टा कस्मिन्निद्वन्नगहने समाप्तादिता । अथ तां
व्यापाद्य यावदुदरं स्फोटयति, तावज्जीवैल्लयुदासेरकशिशुनिष्क्रान्तः ।
सिंहोऽपि द्वासेरक्याः पिशितेन सपरिवारः परां तृप्तिसुपागतः । परं
स्नेहाद्वालदासेरकं त्यक्तं गृहमानीयेदमुवाच—‘भद्र ! न तेऽस्ति मृत्यो-
र्भयं मत्तो, नान्यस्मादपि । ततः म्बेच्छयाऽत्र वने भ्राम्यताम् ।
यतस्ते शङ्कुसदृशौ कर्णौ, ततः शङ्कुकर्णो नाम भविष्यति ।’ (इति)
एवमनुष्ठिते चत्वारोऽपि ते एकस्थाने विहारिणः परस्परमनेक-

साचिद्व्यञ्चं = मन्त्रित्वम् । गुणवये = लाभवये । जाङ्ग्यभावात् = मौर्यात् ॥ परस्य
= शत्रोः । स्वार्थसिद्धिं = स्वकार्यसिद्धिं कुर्वन् । गृद्बुद्धिः = कपटनातिपदुः । न लक्ष्यते
= न ज्ञायेत, कैश्चिदपीर्यथ्यः । ‘चतुरक’ इति शृगालनामव्ययम् ॥ ३९९ ॥

‘क्रव्यमुख’ इति वृक्षस्य नामव्ययम् । सृष्ट्यभूतौ = सेवकौ । आसन्नप्रसवा
= प्रसवोन्मुखां । स्वव्यथात् = उष्णवृद्धात् । (कंटों की कतारमें से) । उपविष्टा =
अवस्थिता । व्यापाद्य = हत्वा । स्फोटयति = विद्वरयति । (फाढ़ने लगा) । जीवन् =
प्राणान्दधत् । लघुः = वालः । दासेरकः = उष्टः । दासेरक्याः = उष्णथाः । पिशितेन =
मासेन । स्नेहात् = वात्सल्यात् । त्यक्तम् = अहतम् । शङ्कुसदृशौ = कोलकाकारी । शङ्कु-
कर्णो नाम = नामना शङ्कुकर्ण इति प्रसिद्धो भविष्यसि । नामेति प्रसिद्धर्थकमव्ययम् ।
एवमनुष्ठिते=सिहेनाभयदाने दत्ते । चत्वारः = सिंहगोमायुवृक्षासेरकाः । विहा-

प्रकारगोप्तीसुखमनुभवन्तस्तिपुन्ति । शङ्कुकर्णोऽपि यौवनपदवीमास्तः
क्षणमपि न तं सिंहं मुच्चति ।

अथ कदाचिद्वृजदंप्रस्य केनचिद्वन्यंन मत्तगजेन सह युद्धमभवन् ।
तेन मदवीर्यात्स दन्तप्रहारैतथा क्षतशरीरो विहितो,-यथा प्रचलितुं
न शकोति । तदा श्रुत्कामकण्ठस्तान्प्रोवाच-भोः ! अन्विष्यतां
किञ्चित्सत्त्वं येनाहमेवंस्थितोऽपि तत्रापादात्मनो युप्माकं च श्रुत्प्र-
णाशं करोमि । तच्छ्रूत्वा ते त्रयोऽपि वने मन्ध्याकालं यावद्ग्रान्ताः,
परं न किञ्चित्सत्त्वमासादितम् ।

अथ चतुरक्तिन्तयामास—यदि शङ्कुकर्णोऽयं व्यापाद्यते ततः
मर्वेणां क्रतिचिह्नानि तृप्तिर्भवन्ति, परं नैनं स्वामी भित्रन्वादाश्रय-
समाधितत्वाच्च विनाशयिष्यति । अथवा-बुद्धिप्रभावेण स्वामिनं
प्रतिवाद्य तथा करिष्ये यथा व्यापाद्यिष्यति । उत्तर्व-

अवध्यं चाथवाऽगम्य मकृत्यं नास्ति किञ्चन ।

लोके बुद्धिमतां बुद्धेस्तस्मात्तां विनियोजयेत् ॥ ४०० ॥

एवं विचिन्त्य शङ्कुकर्णमिदमाह—‘भा: शङ्कुकर्ण ! स्वामी
तावत्पश्यं विना क्षुधया परिपीड्यते, स्वाम्यभावादस्माकमपि ध्रुवं
विनाश एव, ततो वाक्यं किञ्चित्स्वाम्यर्थे वदिष्यामि, तच्छ्रूयताम् ।

शङ्कुकर्ण आह—भोः ! शीघ्रं निवेदयतां येन ते वचनं शीघ्रं
निर्विकल्पं करोमि । अपरं स्वामिनो हिते कृते मया सुकृतशतं कृतं भवि-
ष्यति । अथ चतुरक आह—‘भो भद्र ! आत्मशरीरं द्विगुणलाभेन स्वामिने
प्रयत्नल्ल, येन ते द्विगुणं शरीरं भवति, स्वामिनः पुनः प्राणयात्रा
रिणः = क्रोडन्तः । यौवनपदवी = युवावस्थाम् । आस्तः = प्राप्तः । मदवीर्यात्=मदोदेक-
मूलकपराक्मातिशयात् । तान्—बृक्षग्रालदासेरकान् । एवंस्थितः=क्षतविशीणन्नोपि ।
नन्=मत्तवम् । क्षुत्प्रणाशं=तुभुक्षाशान्तिम् । सन्ध्याकालं यावत्-सन्ध्याकालपर्यन्तम् ।

चतुरकः=शृगालः, एनम्=उष्म् । प्रतिबोध्य=सम्यक् बोधयिता (‘समझाकर’) ।
अवध्यमिति । बुद्धिमतां बुद्धः—अवध्यम्, अप्राध्यम्, कर्त्तुमशक्यवच्च किमपि नास्ति.
विनियोजयेत्=कर्मसु योजयेत् ‘योजयाम्यह’ मित्यपि पाठः ॥ ४०० ॥

स्वाम्यर्थे=राजप्रियचिकीर्पया । निविकल्पं=निःसंशयम् । लुकृतशतं=पुण्यशतम् ।

भवति ।' तदाकर्ण्य शङ्कुकर्णः प्राह—'भद्र ! यद्येवं तन्मदीयमेव प्रयोजन-
मेतन ! उच्यतां स्वामी,—'एतदेवं क्रियता'मिति; परमत्र धर्मःप्रतिभूः
करणीयः ।'

—इति निश्चित्य ते सर्वे सिंहसकाशमाजग्मुः । ततश्चतुरक
आह—'देव ! न किञ्चित्सत्त्वं प्राप्तम् । भगवानादित्योऽप्यस्तं गतः ।
तद्यदि स्वामी द्विगुणं शरीरं प्रयच्छति, ततः शङ्कुकर्णोऽयं द्विगुण-
वृद्ध्या स्वशरीरं प्रयच्छति धर्मप्रतिमुवा ।'

सिंह आह—'भोः ! यद्येवं तत्सुन्दरतरं, व्यवहारम्याऽप्य धर्मः
प्रति भूः क्रियताम्'—इति ।

अथ सिंहवचनानन्तरं वृक्षभृगालाभ्यां विदारितोभयकुञ्जः
शङ्कुकर्णः पञ्चत्वमुपागतः । अथ वज्रदंपश्चतुरकमाह—'भोश्चतुरक !
यावद्वहं नदां गत्वा स्थानं, देवार्चनविधिं कृत्वा आगच्छामि, ताव
त्वयाऽत्राऽप्रमत्तेन भाव्यम्' । इत्युक्त्वा नदां गतः । अथ तम्भिन गतं
चतुरकश्चिन्नयामास—'कथं ममैकाकिनो भोज्योऽयमुष्टो भविष्यति' ?
इति विचित्य क्रव्यमुखमाह—'भोः क्रव्यमुव ! क्षुधालुभवान .
तद्यावदसौ स्वामी नागच्छति, तावत्त्वमस्योप्रस्य मांसं भक्षय, अहं
त्वां स्वामिने निर्देषं प्रतिपादयिष्यामि ।'

सोऽपि तच्छ्रुत्वा यावत्किञ्चन्मांसमाख्यादयति तावच्चतुर-
केणोक्तम्—'भोः क्रव्यमुव ! समागच्छति स्वामी, तत्यक्त्वैनं
दूरे तिष्ठ, येनास्य भक्षणं न विकल्पयति ।' तथानुष्टिते सिंहः
समायातो यावदुप्रं पश्यति तावदिक्तीकृतहृदये दासेरकः ।

ततो भ्रुकुटिं कृत्वा पमपतरमाह—'अहो ! केनैष उप्रं उच्छिष्टतां
द्विगुणलाभेन=द्विगुणलाभार्थ,—('दूने व्याज पर') । प्रयच्छ=देहि । मदीयं प्रयोजनं=
द्विगुणश्चारंगलाभस्थम् । उच्यतां=क्रियताम् । प्रतिभूः=मध्यस्थः साक्षी । ('जामिन
दार' 'गवाही') । धर्मप्रतिभुवा=धर्म मध्यस्थीकृत्य । व्यवहारस्य=ऋणधरणस्यपरस्य
व्यवहारस्य । अप्रमत्तेन=रक्षायां सावधानेन । नदां=नदां प्रति । 'स्नानाशर्वं'-
मिति शेषः । क्षुधालुः=तुमुक्षितः । स्वामिने=सिंहय । 'स्वामिन' इति पाठे—'पुरत' इति
शेषो वोध्यः । सम्बन्धसामान्ये वा षष्ठी । एनम्=उष्टम् । अस्य=उद्घृत्य । विकल्पयति=

नीतो येन तमपि व्यापाद्यामि ।' एवमभिहिते स क्रव्यमुखमवलोक्यति—'किल तद्वद् किञ्चिद्गेन मम शान्तिर्भवति' ।

अथ चतुरको विहस्योवाच—'भो ! मामनाहन्य पिशितं भक्षयित्वा उधुना मन्मुखमवलोकयसि ? । तदास्वाद्य तस्य दुर्णयतरोः फलम्'—इति । तदाकर्ण्य क्रव्यमुखो जीवनाशभयाद्गदेशं गतः ।

एतमिन्नन्तरे तेन मार्गेण दासेरकसार्थो भागाक्रान्तः नमायातः । नस्याग्रमरोष्टस्य कण्ठे महती घण्टा वद्धा । तस्याः शब्दं दूरतोऽप्याकर्ण्य सिंहो जम्बुकमाह-भद्र ! ज्ञायनां किमेप गैद्रः शब्दः श्रूयतेऽश्रुतपूर्वः ? । तच्छ्रुत्या चतुरकः किञ्चिद्द्वनान्तरं गत्वा मत्वरमभ्युपेन्य प्रोवाच—स्वामिन ! गम्यनां गम्यतां, यदि शकोपि गन्तुम् ।' सोऽव्रवीन्—'भद्र ! किमेवं मां व्याकुलयसि ? तत्कथय किमेतन् ? - इति ।

चतुरक आह-स्वामिन ! एष धर्मराजस्तत्वोपरि कुपितः—'यद-नेनाऽकाले दासेरकोऽयं मदीयो (मां प्रतिभुवं दत्त्वा) व्यापादितः न त्सहस्रगुणमुष्टमस्य सकाशाद्वर्हीप्यामि'—इति निश्चित्य बृहदुष्टमान-मादायाऽभेसरस्योष्टस्य श्रीवायां घण्टां वद्धा वश्यदासेरकसक्तानपि पितृपितामहानादाय वैरनिर्यातनार्थमायात एव ।'

वितर्कयति । रिक्ताकृतहृदयः—हृदयशस्यः । परुपतरमिति क्रियाविशेषणम् । तत्=तथा । किञ्चिद्दद येन=यथा । मम शान्तिः=ममोपरि सिंहजातस्य कोपस्य शान्तिः । येनायमुपशास्यतीति लिखितपुरतकपाठः । मामनाहन्य=मदुक्तमविगणर्थैव । पिशितम्=मांसम् । तस्य=एकाकिमांसभक्षणरूपदुर्णयनरोः=अनीतिपादपत्य ।

किं=कुतः ? रौद्रः=भयङ्करः । किञ्चिद्द्वनान्तरं गत्वा=किञ्चिद्द्वं वनमध्ये गत्वा । दासेरकसार्थः=उष्टवृन्दम् । तस्य=उष्टसार्थस्य । किमेतत्=किमिदम् ! (यह क्या बात है?)

अकाले=मृत्युकालेऽनुपस्थिते एत् । अस्य=सिंहस्य । उष्टमानं=दासेरकप्रमाणम् । उष्टवृन्दमिति यावत् । अभेसरस्य =पुरोवर्तिनः । वश्यदासेरकसक्तान्=हत-

१ 'अभ्येत्य सावेगम्—' । २ 'एतदायपितृपितामहानपि गवेषयितुकाम इति एव-सञ्चिदितोऽन्युपैति' । पा०

सिंहोऽपि तच्छ्रुत्वा—सर्वतो दूरादेवावलोक्य—मृतमुष्टं परित्यज्य प्राणभयात्प्रनष्टः । चतुरकोऽपि शनैः शनैस्तस्योप्रस्य मांसं चिरं भक्षयामास । अतोऽहं ब्रवीभि—‘परस्य पीडनं कुर्वन्’—इति । ॥
अथ दमनके गते सञ्जीवकश्रित्यामास—‘अहो ! किमेतन्मया कृतम्, यच्छृष्टादोऽपि मांसाशिनस्तस्याऽनुगः संवृत्तः ।

अथवा साध्विदमुच्यते—

अगम्यान् यः पुमान् याति असेव्यांश्च निषेवते ।

स मृत्युमुपगृह्णति गर्भमश्वतरी यथा ॥ ४०१ ॥

तस्मि करोमि ?, क गच्छामि ? कथं मे शान्तिर्भविष्यति ? ।
अथवा तमेव पिङ्गलकं गच्छामि.—कृदाचिन्मां शरणागतं रक्षति,
प्राणैर्न वियोजयति । यत उक्तच्च—

धर्मार्थं यत्तामपीह विपदो दैवाद्यदि स्युः कृचि-

तत्त्वासामुपशान्तये सुमतिभिः कार्यो विशेषाच्चयः ।

लोके ख्यानिमुपागताऽन्न सकले लोकोक्तिरेषा यतो-

‘दग्धानां किल वर्द्धना हितकरः सेकोऽपि तस्योद्धवः’॥४०२॥

तथा च—

लोकेऽथवा तनुभृतां निजकर्मपाकं नित्यं समाश्रितवतां विहितक्रियाणाम् ।
भावार्जितं शुभमथाप्यशुभं निकामं यद्भावित तद्भवति, नाऽन्न विचारहेतुः॥४०३॥

शुद्धकर्णसम्बन्धिनः । वरनियोत्तार्थ = वेरशोधनाय (बदला लेनेको) । प्रनष्टः = पलायितः ।

शुष्पादः = शासगक्षकोऽप्यहम् । अनुगः = अनुचरः ॥ ॥ अगम्यान् = अनुपसर्प-
गीयान्, उपगृह्णति = मृत्युमुपादत्ते । अथतरी = गर्दंभीविशेषः । (खचरी) । ‘अश-
नी यदाऽरम्भप्रसवा भवति तदा साधियने’ इति लोकविदः ॥ ४०३ ॥

शान्तिः = चित्तनिर्दृतिः, रक्षा च । तमेव = विकृतमतिमपि पिङ्गलकमेव ।

धर्मार्थमिति । इह=जोके । तासां=विपदाम् । विशेषात्=विशेषतः । नयः=
वक्ष्यमाणा नीतिः । नयमेवाह—लोक इति । तस्योद्धवः=वक्षिप्रभवः,—उष्ण इति यावत् ।
सेकः=तापः । (सेकना) ॥ ४०२ ॥ तनुभृतां=देहिनाम् । निजेति । स्वकृतशुभा-
शुभकर्नफलं समाश्रितानां । विहितक्रियाणां=शुभाशुभकर्म कुर्वताम् । भावार्जितं=ताम-
नाकलितं । यद्वा—भावः—क्रिया—स्वस्वकर्मेव । ‘पूर्वार्जित’मिति परे पठन्ति । नदुत्थि-
नम्,—शुभमशुभं वा फलं स्वयमेव नितरां भवति, अत्र चिन्तया न किमपि कर्तुं शक्यत

अपरच्च—अन्यत्र गतस्यापि मे कस्यचिदुग्रसत्त्वस्य मांसाशिनः
मकाशान्मृत्युर्भविष्यति, तद्वरं सिंहान् । उत्तच्च—

महाद्विः स्पर्धमानस्य विपदेव गरीयसा ।

दन्तभङ्गोऽपि नागानां श्लाघयो गिरिविदारणे ॥ ४०४ ॥

तथा च—महतोऽपि क्षयं लड्ब्धा श्लाघां नीचोऽपि गच्छति ।

दानार्थी मधुपो यद्वद्वजकर्णसमाहतः ॥ ४०५ ॥

एवं निश्चित्य स स्वलितगतिर्मन्दं-मन्दं गत्वा सिंहाश्रयं पद्य-
नपठन्—‘अहो ! साधिवदमुच्यते—

अन्तौर्लीनभुजङ्गमं गृहमिव, व्यालाकुलं वा वनं,

ग्राहाकीर्णमिवाऽभिरामकमलच्छायासनार्थं सरः ।

नित्यं दुष्टजनैरस्त्यव्यवचनाऽसकैरनायैवृतं

दुःखेन प्रतिगम्यते प्रचकितै राज्ञां गृहं वार्धिवत् ॥ ४०६ ॥

एवं पठन्दमनकोक्ताऽकारं पिङ्गलकं हृष्टा प्रचकितः संवृत्त-
शरीरे दूरतरं प्रणामकृतिं विनाप्युपविष्टः । पिङ्गलकोऽपि तथाविधं
तं विलोक्य दमनकवाक्यं श्रद्धानाः कोपात्स्योपरि पपात ।

इत्यथः ॥ ४०३ ॥ उग्रसत्त्वस्य=व्याघ्रादेः । गिरिविदारणे=पर्वतमेदने । नागानां=
गजानाम् महतः सकाशात्-क्षयं=पाण्डा, विनाशध । श्लाघां=प्रशंसाम् । ‘श्लाघ्य’भिन्न
पाठं-श्रेष्ठं पदं, यथश्च । नाचोपि=लघुरुपि । दानार्थी=मदलुब्धः । गजकर्णतालाऽतस्य
भ्रमरस्य प्रशंसा, गजस्य निन्दा च कविभिः काव्ये क्रियत एतेति भावः ॥ ४०५ ॥

स्वलितगतिः=भग्नगमनः, कम्पितचरणः । सिंहाश्रयं=सिंहभवनम् । भुजङ्गमाः=सप्ताः, विद्याश । ‘भुजङ्गो विटसर्पयो’रिति कोशः । व्यालाः=सिंहाः, दुष्टगजाः, सप्ताः,
खलाश । ‘व्यालो दुष्टगजे सर्पे खले श्लापदसिंहयो’रिति विश्वः । अभिरामकमलच्छाया-
सनार्थं=सुन्दरपश्चातपत्रशोभितम् । सरः=सरोवरं । ग्राहाकीर्णमिव=दुष्टजल नराकान्त-
मिव । राजगृहपक्षे=ग्राहसाटश्याद्ग्राहाः=वशकाः खलाः । वार्धिः=समुद्रः । सोऽपि-
प्रत्यन्तवासिम्लेच्छैः परिवृतो भवति । राजकुलेष्वपि प्रायो दुष्टा निवसन्त्वेवेति तयोः साम्यम् ।
प्रचकितैः=मीतैः ॥ ४०६ ॥

प्रचकितः=मीतः । संवृतश्चरीरः=च्छुगढ़कायः । प्रणामकृतिः=राजोचिनो नमस्का-
१ ‘अन्तर्गृद’ । २ ‘असत्यवन्नैः क्षुद्रैरनायांकृतं, दुःखेनेह विगाहते सुनकिनै राज्ञां
मनः सेवकैः’ । पा०

अथ सञ्जीवकः खरनखरविकर्तिपृष्ठः शृङ्गाभ्यां तदुदरमुलिष्वय
कथमपि तस्मादपेतः शृङ्गाभ्यां हन्तुमिच्छन् युद्धायाऽवस्थितः ।

अथ द्वावपि तौ पुष्पितपलाशप्रतिमौ परम्परं वधकाङ्क्षिणौ
दृष्टा करटकः साक्षेपं दमनकमाह—‘भो मृढमते ! अनयो-
विरोधं वितन्वता त्वया साधु न कृतम् । न च त्वं नीतितत्त्वं वेत्सि ।
नीतिविद्विरुक्तच्च —

कार्याण्युत्तमदण्डसाहसफलान्यायासाध्यानि ये

प्रीत्या संशमयन्ति नीतिकुशलाः साम्बैव-ते मन्त्रिणः ।

निःसाराऽल्पफलानि ये त्वविधिना वाञ्छन्ति दण्डोद्यमे-

स्तेषां दुर्नयचेष्टैनरपतेरारोप्यते श्रास्तुलाम् ॥ ४०७ ॥

तद्यदि स्वाम्यभिघातो भविष्यति तत्किं त्वदीयमन्त्रबुद्ध्या
क्रियते ? । अथ सञ्जीवको न वध्यते तथाऽप्यभव्यम् । यतः
प्राणसन्देहात्तस्य च वधः । तन्मृढ ! कथं त्वं मन्त्रिपदमभि-
लपसि ? । सामंसिद्धिं न वेत्सि । तद्वृद्धा मनोरथोऽयं ते दण्डमचेः ।
उत्तरच्च —

सामादिर्दण्डपर्यन्तो नयः प्रांक्षः स्वयम्भुवा ।

तेषां दण्डस्तु पापीयांस्ते^३ पश्चाद्विनियोजयेत् ॥ ४०८ ॥

गादिः । तथाविधं—दमनकोक्ताकारम् । तस्य=सञ्जीवकस्य । गवाः=तांक्षणाः । नग्वराः=नग्वाः । उक्षिष्वय=विदार्य । तस्मात्=मिहात् । अपेतः=अपमृतः । पुष्पितपलाशप्रतिमौ=कुलुमितपलाशवृक्षसदृशो । रक्तसदृशानि हि पलाशकुमानांति तत्साम्यम् । दण्डोपायसाध्यानि कठिनतराण्यपि महान्ति कायोणि ये—प्रार्थ्यव=सामोपायेनवे-
साध्यन्ति त एव खलु मन्त्रिणः—मन्त्रिणः, ये तु—नान्त्वमायान्यपि तुच्छान्पि च कायोणि
दण्डोद्यमेनैव साधयितुमिच्छन्ति—तेषां मन्त्रिणां दुर्नयचेष्टैः—दुष्टनांतिचेष्टैः राजः
श्रास्तुलायामारोप्यते,=संशये स्थाप्यते ॥ ४०७ ॥

मन्त्रबुद्ध्या=मेदोपायप्रयोगेण । अभव्यम्=न युक्तम् । सामसिद्धिः=साभोपायेन
कायंसिद्धिम् । दण्डरुचेः=दण्डोपायप्रियस्य । युद्धप्रियस्येति यावत् । सामादिः=सान्तव-
प्रधानः । दण्डपर्यन्तः=युद्धपर्यन्तः । नयः—नानिमार्गः । स्वयम्भुवा=ब्रह्मणा । पापीयान्=

१ ‘यदनयोविरोधस्त्वया कृतः, तत्र साधु विहितम् । यतः सकलमपि वनमिदमाकुलं-
कृतं भवता । ततस्त्वं न नीतितत्त्वं वेत्सि । पा० । २ ‘सामनामार्गपि न जानासि’ ।
३ ‘तस्मादण्ड विवर्जयेत्’ इति लिखिते रम्यः पाठः ।

तथा च—साम्नैव यत्र सिद्धिर्न तत्र दण्डो बुधेन विनियोज्यः ।

पितं यदि शर्करया शास्यति—कोऽर्थः पटोलेन ? ॥ ४०९ ॥

तथा च—ओढ़ी साम प्रयोक्तव्यं पुरुषेण विजानता ।

सामसाध्यानि कार्याणि विक्रियां यान्ति न क्वचिन् ॥ ४१० ॥

न चेन्द्रेण न चौपद्ध्या न सूर्येण न बहिना ।

साम्नैव विलयं यानि विद्वेषिग्रभवं तमः ॥ ४११ ॥

तथा यत्त्वं मन्त्रित्वमभिलपसि, तदप्ययुक्तम्,—यतस्त्वं मन्त्रगति न वेत्सि । पञ्चविधो हि मन्त्रः । स च (१) कर्मणामारम्भोपायः । (२) पुरुपद्रव्यसम्पत् । (३) देशकालविभागः । (४) विनिपातप्रतीकारः । (५) कार्यसिद्धिश्चेति । सोऽयं स्वास्यमात्रयोरेकतरस्य किं वा द्वयोरपि विनिपातः समुत्पद्यते लग्नः ? तद्यदि काचिच्छक्तिरस्ति तद्विचिन्त्यतां विनिपातप्रतीकारः । भिन्नमन्धाने हि मन्त्रिणां बुद्धिपरीक्षा । उत्तरः—

अथमः । तं=दण्डम् । पश्चात्=सर्वोपायैः सिद्धयमावं ॥ ४०८ ॥ पितं=पित्तप्रकापः । शर्करया=मधुरया सितया । पटोलेन=तिर्त्तापधिमेदेन । किं प्रयोजनं ? =न प्रयोजनमित्यर्थः । विजानता=पण्डितेन । ‘सामसिद्धानी’ति गाँडाः पश्चान्ति । विक्रियां=विकारम् ॥ ४१० ॥ विद्वेषिग्रभवं=रिपुसमुद्गतं । तमः=देपः, अन्धकारश्च । चन्द्रादिभिर्नापयाति, किन्तु साम्नैवेनैते भावः ॥ ४११ ॥ मन्त्रगतिं=मन्त्रविधिं, मन्त्रप्रकारांश्च ।

कर्मणामिति । अभीष्टानां कार्याणाम्—आरम्भे=साधने । उपायाः=सन्धिविद्यहादयः । कार्याणां साधने सहाय्यभूताश्च—धनं·पुरुषादयः, तैपां सम्पत्तिः—समृद्धिः । कार्यसाधने देशस्य कालस्य च विभागः—‘अस्मिन् काले इदं कर्तव्यम्’ ‘अस्मिन्देशे इदं कर्तव्यमिति । विनिपातस्य=कार्यसाधन मार्गे आगताया विपत्तेः-प्रतीकारः=समाधानम् । कार्यस्य साधने मन्धिविद्यहादौ या विपदः सम्भाव्यन्ते तासामादावेव निराकरणमित्यर्थः । कार्यस्य=अभीष्टस्य सिद्धिश्चेत्यर्थः । तदुक्तं कामन्दकीये—‘सहायाः साधनोपाया विभागो देशकालयोः । विनिपातप्रतीकारः सिद्धिः पदाङ्गमिष्यते’ ॥ इति ।

सोऽर्थं=पुरोनुभूयमानः । एकतरस्य=द्वयोर्मध्ये एकस्य । विनिपातः=विनाशः । लग्नः समुत्पद्यते=मन्त्रप्रयोगानन्तरमेव संलग्न इव समुपदृश्यते । शक्तिः=विनिपातप्रतीकारचिन्तने तव शक्तिरस्ति चेत् । तद्=तद्हि । भिन्नसन्धाने=विकृतसमाधाने (विगड़ा

१ ‘साम्नैवादौ प्रयोक्तव्यं कार्यकार्यविचक्षणैः’ । २ ‘नोन्मयूखेन रत्नेन नातपेन न वहिना’ इति पाठान्तरम् ।

मन्त्रिणां भिज्ञसन्धाने भिषजां साक्षिपातिके ।

कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा स्वस्ये को वा न पण्डितः ? ॥ ४१२ ॥

तन्मूर्ख ! तत्कर्तुमसमर्थस्त्वं । यतो विपरीतबुद्धिगमि ।

उक्तम्—धातयितुमेव नीचः परकार्यं वेत्ति न प्रसाधयितुम् ।

पातयितुमेव शक्तिर्नाखोरुद्धर्तुमश्चपिटम् ॥ ४१३ ॥

अथवा न ते दोपोऽयं । स्वामिनो दोपः, यस्ते वाक्यं श्रहधाति । उक्तच्च-

नराधिपा नीचज्ञनानुवर्त्तिनो दुष्योपदिष्टेन पथा न यान्ति ये ।

विशन्ति ते दुर्गममार्गनिर्गमं सपल्संवाधमनर्थपञ्चरम् ॥ ४१४ ॥

तत्रादि त्वमम्य मन्त्री भविष्यसि,—तदान्योऽपि कश्चिन्नाम्य समीपं साधुजनः समेत्यग्नि । उक्तच्च-

गुणालयोऽप्यसन्मन्त्री नृपतिनार्थिगम्यते ।

प्रसन्नस्वादुसलिलो दुष्टग्राहो यथा हृदः ॥ ४१५ ॥

तथा शिष्टजनरहितस्य स्वामिनोऽपि नाशो भविष्यति ।

उक्तम्—चित्रास्वादकथैर्मूर्त्यैरनायासितकार्मुकैः ।

ये रमन्ते नृपास्तेयां रमन्ते रिपवः श्रियेभ् ॥ ४१६ ॥

वात को बनाने में) । नत्=विकृतसमीकरणम्,—(यतः=‘वयोंकि’) विपरीतबुद्धिः—अममांश्यकारी, अतत्त्वदशां च । धातयितुं=नाशयितुम् । कन्चित्तथैव पाठः आख्योः=मूर्पिकस्य । अत्रपिटम्=अत्रपिटकम् । (पिटक=‘पेटी’ ‘सन्दृढ़’ ‘बखार’) । ‘अत्र वट’ मिति पाठे—मूलकर्त्तनादिना वटवृक्षं पातयितुं मूषकः प्रभवति, नोत्थापयितुमित्यर्थो बोध्यः॥४१६ ॥

श्रहधाति=विश्वसिति । नराधिपा:—राजानः । नीचज्ञनानुवर्त्तिनः=दुष्टजनानुविधायिनः सन्तः—दुष्योपदिष्टेन=सद्गुपणिष्टोपदिष्टेन । पथा=मार्गेण । अमार्गनिर्गमम्=मार्गानुसन्धानशून्यम्—अतएव दुर्गं=दर्गमं, सपल्संवाधार्थं=शून्यसङ्कलम्, अनर्थपञ्चरम्—विपद्गार्लं—प्रविश्यन्तीति सम्बन्धः । (पञ्चर=पिंजरा)॥४१६॥ गुणालयः=गुणवान् । कन्चित् ‘गुणवान्’ इत्येव पाठः । असन्मन्त्री=दुष्टमन्त्रिमनवितः । नाधिगम्यते=नाश्रीयते । ‘विद्धि’—गति शेषः । दुष्टग्राहः=दुष्टग्राहाश्रितः ॥ ४१५ ॥

चित्रास्वादकथैः=नानारसाश्रयस्तुतिकथमात्रसारः । (‘गुशामदी’—‘जी हुज़’ ‘गर्वा’) । अनायासितकार्मुकैः=अनभ्यस्तकोदण्डाकर्पणैः । अक्षातशक्ताख्यप्रयोगैरिति यावत् । रमन्ते=प्रसीदन्ति । तेषां क्रियमिव—श्रियं=राजलक्ष्मीम्, रिपवो रमन्ते । तस्य गत्यं नश्यताति यावत् ॥ ४१६ ॥

? ‘नीचमतानुवर्त्तिनः’ ‘नीचमनोऽनुवर्त्तिनः’ इति । २ ‘नित्रचाडकरैरिति । ३ ‘रमन्ते रिपवः श्रिया’पा० ।

तत्कि मूर्खोपदेशेन ? । केवलं दोषं प्रव न गुणः । उक्तच्च—
नाऽनास्यं नमते द्वारु नाश्मैनि स्यालक्षुरकिया ।
सूचीमुखं विजानीहि नाशिष्यायोपदिश्यते ॥ ४१७ ॥
दमनक आह—‘कथमेतत् ? । सोऽब्रवीन्—

१७. सूचीमुखवानरकथा

अस्ति कम्मित्वित्पर्वतैकदेशो वानग्यूथम् । तच्च कदाचिद्द्वेमन्त-
ममयेऽतिकठोरवात्संस्पर्शविपमानकलेवरं तु पारवर्पोद्धतप्रवर्पद्धन-
धागानिपातममाहतं न कथच्चिन्छान्तिमगमन् । अथ केचिद्वानगा
वहिकणसहशानि गुञ्जाफलान्यवचित्य वहिवाच्छ्रुया फृत्कुर्वन्तः
ममन्तात्तस्थुः ।

अथ सूचीमुखो नाम पक्षी तेपां तं वृश्यायासमवलोक्य प्रोवाच
'भोः ! सर्वे मूर्खा यूयम्, नैते वहिकणाः, गुञ्जाफलानि प्रतानि ।
तत्कि वृथा श्रमण ? । नैतस्माच्छीतरक्षा भविष्यति, तदन्विष्यतां
कश्चिन्निर्वातो वनप्रदेशो, गुहा वा, गिरिकन्दरो वा अद्यापि साटोपा
मेघा हृश्यन्ते ।

अथ तेपामेकतमो वृद्धवानरस्तमुवाच—‘भो मूर्ख ! किं तवानेन
व्यापारेण । तद्रम्यताम् । उक्तच्च—

मुहुर्विद्वितकर्माणं द्यतकारं पराजितम् ।
नालापयेद्विवेकज्ञो यदीच्छेत्सिद्धिमात्मनः ॥ ४१८ ॥

अश्मनि=पाषणे । क्षुरकिया=क्षुरकर्म । 'सूचीमुख' इति पक्षिविशेषनामध्यम् ।
अशिष्याय=उपदेशायोग्याय ॥ ४१७ ॥ तच्च=कपियूथच । अतिकठोरस्य वातस्य यः संस्पर्शः=
सम्पर्कस्तेन वेपमानं कलेवरं=त्रपुर्यस्य तत्त्वाः । तु पारवर्षेण उद्धतः=दुःसहः शब्दायमानश्च
प्रवर्षन् यो धनः=मेवः, तस्य धारणां निपातेन=पतनेनाहतं=ताङ्गितमिति वानरयूथविशेष-
णम् । हिमवर्षाधातपीडितवपुरित्यर्थः । अतोऽन्यथाऽपि समाससम्भवः । समन्तात्=सर्वतः ।
यूथं—वानरा । निर्वातः=जातरहितः । गुहा=गिरिगङ्गारमकृत्रिमम् । कन्दरः=कृत्रिमं गिरि-
गङ्गारम् । सांटोपाः=प्रवृद्धबीर्याः, वर्षणप्रवणाः । (अटोप=‘जोश’ । अनेन=प्रोपदेशरूपेण ।

मुहुः=भृशं । विद्वितकर्माणं=निष्फलप्रयत्नम् । पराजितं—द्यतकारच (‘हारा हुआ

१ 'न शक्तं क्रमेऽइमनि । सूचीमुख्या इवाऽशिष्ये नोपदेशःसुखावहः'
'न शक्तं वहतेऽइमनि । सूचीमुखं विजानीहि योऽशिष्यायोपदिष्टवान्' इति पा० ।

तथा च—आखेटकं वृथाक्लेशं मूर्खं व्यसनसंस्थितम् ।

आलापयति यो मूढः स गच्छति पराभवम् ॥ ४१९ ॥

सोऽपि तमनाहत्य भूयोऽपि वानरानवरतमाह—भोः ! किं वृथा क्लेशेन ? । अथ यावद्सौ न कथमिच्चत्प्रलपन्विरमनि तावदेकेन वानरेण—व्यर्थश्रमन्वात्कुपितेन — पक्षाभ्यां गृहीत्वा शिलायामास्फालित उपरतश्च । अनोऽहं ब्रवीमि—‘नानान्यं नमते दारु—’ इत्यादि ॥ तथा च—

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये ।

पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम् ॥ ४२० ॥

अन्यच्च—उपदेशो न दातव्यो यादृशे तादृशे जने ।

पश्य वानरमूर्खेण सुगृही निर्गृही कृतः ॥ ४२१ ॥

दमनक आह—‘कथमतन् ? । सोत्रबीन्—

१८. वानर-चटकदम्पनि-कथा

अस्ति कमिंश्चिद्गुणोदेशे शमीवृक्षः । तस्य लम्बमानशाखायां कुतावामावरण्यचटकदम्पतो वस्तः स्म । अथ कदाचित्तयोः सुखसंस्थयोर्हेमन्तमेघो मन्दं-मन्दं वर्षितुमारवधः । अत्रान्तरे कश्चिच्छाखामृगो वातामागसमाहतः प्रोद्धुषितशरीरो दन्तबीणां वादयन्वेपमानस्तच्छमीमूलमासाद्योपविष्टः । अथ तं तादृशमवलोक्य चटका प्राह—‘भो भद्र !

जुआरा’) । न आलापयत् = न संभाषेत् । वृथाक्लेशः=निष्कलप्रयत्नम् । आखेटकं=मृगयुम् । (‘शिकारा’) । व्यसनसंस्थितं=विपत्तिग्रस्तं, मूर्खं यो मूर्खः—आलापयति=तेन सह वार्तालापं करोति, स पराभवं गच्छत्यात्यर्थः ॥ ४१९ ॥ तं=वृद्धवानरम्, अना दृत्य=तदुक्तमविगण्य । अनवरतं=निरन्तरं । व्यर्थश्रमत्वात्=अग्निप्रज्वालनव्यापारस्य तस्य वृथाभूतत्वात् । पक्षाभ्यां गृहीत्वा=पक्षयोर्गृहीत्वा (‘पांख पकड़कर’) । आसफालित=पातितः (‘पटका गया’) । उपरतः=मृतः । यादृशे तादृशे=पामराय अविज्ञातकुलशालायन । चतुर्थ्येण सप्तमा । (चाहे जिसको) । निर्गृही=गृहविहानः ॥ ४२१ ॥

उद्देशे=प्रदेशे । शमीवृक्षः=सक्तुफलावृक्षः, (‘जांट’ का पेड़) । हेमन्तमेघः=हेमन्त काले भवो मेघः । शाखामृगः=वानरः । वातासारसमाहतः=शीतेन वायुना बलवता वर्येण च ताडितः । प्रोद्धुषितशरीरः=सङ्कुचितगात्रः शुद्धायमानवपुश्य । दन्तबीणां वादयन्=इन्तान्

हस्तपादसमायुक्तो हृष्टसे पुरुषाकृतिः ।
शीतेन भिद्यसे मूढ़ ! कथं न कुरुये गृहम् ? ॥ ४२२ ॥

एतच्छ्रुत्वा तां वानरः सकोपमाह—‘अथमे ! कस्मात्र त्वं मौन-
ब्रता भवसि ? । अहो ! धाष्ठर्थमस्याः, अद्य मासुपहसति ! ।

सूचीमुखी दुराचारा रण्डा पण्डितवीदिनी ।
नाशङ्कते प्रजल्यन्ता तत्किमेनां न हन्त्यहम् ॥ ४२३ ॥

एवं विचिन्त्य तामाह—‘मुग्धे ! कि तव ममोपरि चिन्तया ? ।
उक्तच्च—

वाच्यं श्रद्धासमेतस्य पृच्छतश्च विशेषतः ।
प्रोक्तं श्रद्धाविर्वानस्य अरण्यरुदितोपमम् ॥ ४२४ ॥

तत्कि वहुना तावन्,—इदानीमनुभव निजस्य धाष्ठर्थस्य फल’-
मिल्युक्त्वा यत्कुलायमित्यत्या नयाऽभिहितः स तावत्तां शर्मी-
मारुह्य तस्यास्तं कुलायं शतधा खण्डशोऽकरोन् । अतोऽहं ब्रवीमि—
‘उपदेशो न दातव्यः,—’ इति ॥

तन्मूर्ख ! शिक्षापितोऽपि न शिक्षितस्त्वम् । अथवा न ने
दोषोऽस्ति, यतः साधोः शिक्षा गुणाय संपद्यते, नाऽसाधोः । उक्तच्च—
कि कैरोत्येव पाण्डित्यमस्थाने विनियोजितम् ।
अन्धकारप्रतिच्छब्दे घटे दीप इवाहितः ॥ ४२५ ॥

तद्वार्थपाण्डित्यमाश्रित्य मम वचनमशृण्वन्नाऽत्मनः शान्तिमपि
वेत्सि । तन्मूर्खपजातस्त्वम् । उक्तच्च—

दन्नैर्वादयन् (जाङ्के मारे दांत कटकदाता हुआ) । हस्तपादसमायुक्तः=उद्योगसमर्थो-
इविकलहस्तपादयुतः । भिद्यसे=पीड्यमें । ‘खिद्यसे’ इति गौड़ाः पठन्ति । अथमे !पापे :
मौनब्रता=वाचयमा (‘चुप’) । धाष्ठर्थ=निर्लङ्घत्वम् । विशेषतः=अवश्यमेव । अरण्यरु-
दितोपमम्=वने रोदनमिव निरर्थकम् ॥ ४२५ ॥ कुलायः=नीडम् । अभिहितः=
प्रार्थितः । शिक्षापितः=उपदेशोऽपि । त्वं=दमनकः । पाण्डित्यम्=उपदेशादिकौशलम् ।
पिधानसहिते घटे स्थापितो दीपो यथा न गृहान्धकारनाशकस्तथा मूर्खेऽपात्रे योजित उप-
देशो व्यर्थं एवेत्यर्थः ॥ ४२५ ॥ मम=करटकस्य । आत्मनः शान्तिमपि न वेत्सि=वृथेवा-

१ ‘पण्डितमानिनी’ । २. ‘शिक्षां ग्राहितोऽपि’ । ३ ‘कि करिष्यति पाण्डित्यमपात्रे
प्रतिपादितम् । सपिधानघटान्तस्थः प्रदीप इव वेदमनि । इति पाठाऽ ।

जातः पुत्रोऽनुजातश्च अतिजातस्तथैव च ।
 अपजातश्च लोकेऽस्मिन्मन्तव्यः शास्त्रवेदिभिः ॥ ४२६ ॥
 मातृतुल्यगुणो जातस्वच्छनुजातः पितुः समः ।
 अतिजातोऽधिकस्तस्मादपजातोऽधमाधमः ॥ ४२७ ॥
 अप्यात्मनो विनाशं गणयति न खलः परव्यसनहृष्टः ।
 प्रायो मस्तकनाशो समरमुखे नृत्यति कबन्धः ॥ ४२८ ॥
 अहो ! साधिवद्मुच्यते—
 धर्मबुद्धिः कुबुद्धिश्च द्रावेतौ विदितौ सम ।
 पुत्रेण व्यर्थपाणिडत्यात्पिता धूमेन घातितः ॥ ४२९ ॥
 दमनक आह—कथमेतत् ? । सोऽत्रवीन—

१९. धर्मबुद्धि—पापबुद्धि—कथा

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने धर्मबुद्धिः पापबुद्धिश्चेति द्वे मित्रे प्रतिवसतः स्म । अथ कदाचित्पापबुद्धिना चिन्तितम्—‘अहं तावन्मूर्खो दारि-
 त्र्योपेतश्च, तदेन धर्मबुद्धिमादाय देशान्तरं गत्वाऽस्याश्रयेणार्थोपार्जनं
 कृत्वैनमपि वच्चयिन्वा सुखी भवामि ।’

अथान्यस्मिन्नहनि पापबुद्धिर्धर्मबुद्धिं प्राह—‘भो मित्र ! वार्धक-
 भावे किं त्वमात्मविचेष्टितं स्मरसि ?, देशान्तरमहृष्टा कां शिशु-
 जनस्य वार्तां कथयिष्यसि ? । उत्तरच—

देशान्तरे पु बहुविधभाषावेशादि येन न ज्ञातम् ।
 अमता धरणीपीठे तस्य फलं जन्मनो व्यर्थम् ॥ ४३० ॥
 तथा च—विद्या वित्तं शिल्पं तावज्ञाप्रोति मानवः सम्यक् ।
 यावद्भूजति न भूमौ देशादेशान्तरं हृष्टः ॥ ४३१ ॥

त्वानं छेश्यसि । विलयं गच्छन्तीमात्मनः शान्तिं न गणयसि ? अतोऽपजातः=अथमा-
 धमोऽसि । नतुविधानुप्रानाह—जात इति । तस्मात्=पितुः । अपजातः=पितुर-
 धमाधमः, पितुरोऽतिन्यूनगुणः ॥ ४२७ ॥ स्वसम्बन्धिनो मस्तकस्य नाशे कबन्धः=
 मस्तकरहितो देहः, नृत्यति, इति हन्त ! परस्य=शिरसो नाशे हर्षः खलकबन्धस्य ॥ ४२८ ॥

अधिष्ठाने=नगरे । वार्धकभावे=वृद्धावस्थायाम् । आत्मविचेष्टिं=स्वकृत्यम् ।
 स्मरसि=स्मरिष्यसि । शिशुजनस्य=स्वपुत्रादिवालेभ्यः । धरणीपीठे=भूतले ॥ ४३० ॥

१ ‘तनयेनाऽतिपाणिडत्या ‘दिति ‘मारित’ इति चोत्तरार्थे पाठान्तरम् । २ ‘स्मरिष्यसि’ ।

अथ तस्य तद्वचनमाकर्ण्य प्रहृष्टमनाम्तेनैव सह गुरुजनानुज्ञातः
शुभेऽहनि देशान्तरं प्रमिथतः । तत्र च धर्मबुद्धिप्रभावेण अमता-
पापबुद्धिना प्रभूततरं वित्तमासादितम् । ततश्च द्वावपि तौ प्रभूतो-
पार्जितद्वयौ प्रहृष्टौ स्वगृहं प्रत्यौत्सुक्येन निवृत्तौ । उक्तच्च-

प्रापविद्यार्थशिल्पानां देशान्तरनिवासिनाम् ।

कोशमात्रोऽपि भूभागः शतयोजनवद्भवेत् ॥ ४३२ ॥

अथ म्वस्थानसर्मापर्वातिना पापबुद्धिना धर्मबुद्धिरभिहितः—
'भद्र ! न सर्वमंतद्वनं गृहं प्रति नेतुं युज्यते, यतः कुदुम्बिनो वान्ध-
वाश्च प्रार्थयिष्यन्ते, तदत्रैव वनगहने कापि भूमौ निश्चिय किञ्चित्त-
न्मात्रमादाय गृहं प्रविशावः । भूयोऽपि प्रयोजनं सञ्जाते तन्मात्रं
ममेत्याऽस्मान्स्थानान्नेष्यावः । उक्तच्च-

न वित्तं दर्शयेत्प्राज्ञः कस्य चित्स्वलपमप्यहो !

मुनेरपि यतस्तस्य दर्शनाच्चलते मनः ॥ ४३३ ॥

तथा च—यथाऽस्मिं जले मत्स्यर्भक्ष्यते शापदैर्भुवि ।

आकाशे पर्क्षिभिश्चैव तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥ ४३४ ॥

तदाकर्ण्य धर्मबुद्धिराह—'भद्र ! एवं क्रियताम् ।' तथानुष्ठिते
द्वावपि तौ स्वगृहं गत्वा सुखेन संस्थितवन्तौ । अथाऽन्यस्मिन्नहनि
पापबुद्धिर्निर्शाथेऽटव्यां गत्वा तत्सर्वं वित्तं समादाय गर्त्त पूरयित्वा
स्वभवनं जगाम । अथाऽन्येयुर्धर्मबुद्धिं समध्येत्य प्रोवाच—'सखे !
वहुकुदुम्बा वयं वित्ताभावात्सीदामः, तद्वत्वा तत्र स्थाने किञ्चित्तन्मात्रं
धनमानयावः ।' सोऽत्रवीत्—भद्र ! एवं क्रियताम् ।'

सम्यक्—प्रभूतम् । हृष्टः—समुत्सुकः ॥ ४३५ ॥ प्रभूततरं—विपुलं । वित्तं—धनम् ।
आसादितम्—उपार्जितम् ।

औत्सुक्येन=उल्कण्ठया । प्रापाः अर्थाः विद्या शिल्पं च यैस्तेषां=कृतकृत्यानाम् ।
भूभागः—प्रदेशः । सआते—उपस्थिते । तन्मात्रम्—अवशिष्टं धनं । 'तावन्मात्रं मिति पाठे—
यथावश्यकमित्यर्थः । तस्य=वित्तस्य ॥ ४३३ ॥ आस्मिष्वं=मांसं । शापदैः—हिंसजन्तुभिः ।
तथा सर्वत्र वित्तवान् । 'भक्षयते' इति शेषः ॥ ४३४ ॥ एवं=यथा तु भ्यं रोचते तथा ।
सीदामः—झेयमनुभवामः । यत इति । यदि चौरेण हृतं स्यात्तदा पुनर्गर्त्तपूरणं तेन न

अथ द्वावपि गत्वा तत्स्थानं यावत्खनतस्तावद्विक्तं भाण्डं हृष्टवन्तौ । अत्रान्तरे पापबुद्धिः शिरस्ताडयन्प्रोवाच—‘भो धर्मबुद्धे ! त्वया हृतमेतद्धनं नान्येन, यतो भूयोऽपि गर्ताऽपूरणं कृतम् । तत्प्रयच्छ मे तस्याऽर्थम् । अथवाऽहं राजकुले निवेदिष्यामि ।’

स आह—‘भो दुरात्मन् ! मैवं वद,—धर्मबुद्धिः खल्वहम्, नैतज्ञैरकर्म करोमि । उक्तच्च—

मातृवत्परदाराणि परद्रव्याणि लोष्टवत् ।

आत्मवत्सर्वभूतानि वीक्षन्ते धर्मबुद्धयः ॥ ४३५ ॥

एवं द्वावपि तौ विवदमानौ धर्माधिकारिणं गतौ—प्रोचतुश्च परस्परं दृपयन्तौ । अथ धर्माधिकरणाऽधिष्ठितपुरुषैर्दिव्यार्थे यावन्नियोजितौ तावत्पापबुद्धिग्रह—‘अहो ! न सम्यग्गङ्गोऽयं न्यायः । उक्तच्च—

विवादेऽनिव्यते पञ्च नदभावेऽपि साक्षिणः ।

साक्षयभावात्ततो दिव्यं प्रवदन्ति मनोपिणः ॥ ४३६ ॥

तदत्र विपये मम वृक्षदेवताः साक्षीभूतान्तिष्ठन्ति’ ता अप्यावयोरेकतरं चौरं साधुं वा कथयिष्यैन्ति ।’ अथ तैः सर्वेंगभिहितम्—‘भोः ! युक्तमुक्तं भवता । उक्तच्च—

अन्त्यज्ञोऽपि यदा साक्षी विवादे सम्प्रजायते ।

न तत्र विद्यते दिव्यं किं पुनर्यत्र देवताः ! ॥ ४३७ ॥

तदस्माकमप्यत्र विषये महत्कौतूहलं वर्तते । प्रत्यूषसमये युवाभ्यामप्यस्माभिः सह तत्र वनोद्देशो गन्तव्यम्—इति । एतस्मिन्नन्तरे पापबुद्धिः स्वगृहं गत्वा स्वजनकमुवाच—‘तात ! प्रभूतोऽयं मयाऽर्थो कृतं स्यात् । त्वयेवैतदगृहतमतो गर्त्तपूरणं त्वया चौर्यगोपनाय कृतमित्यर्थः । तस्य=हृतस्य धनम् । लोष्टः=मृत्खण्डम् । वीक्षन्ते=पश्यन्ति ॥ ४३५ ॥ धर्माधिकारी=विवादनिर्णेता, (‘जज’) । धर्माधिकरणम्=राजकुलम् (‘कर्नहरी’ ‘अदालत’) । दिव्यार्थे=अग्निस्पर्शं—भुजग्रहण—तुलारोहण—विषपानाद्यन्यतमरूपदिव्यशपथकरणाय । नियुक्तः=आदिष्टः । न सम्यग्गङ्गः=न यथाविनियोगः (ठाक फैसला नहीं हुआ) । विवादे=कलहे (‘मुक्तमा’) । पञ्च=लेखः । अनिव्यते=प्रमाणतया अनिव्यते गृह्णते च । ‘साक्षिणः—अनिव्यते’—

१ ‘धर्माधिकरण’ । २ ‘धर्माधिकरणकैः’ । ३ ‘करिष्यन्ति’ । पा० ।

धर्मबुद्धेश्चोरितः । स च तव वचनं परिणति गच्छति । अन्यथाऽस्माकं प्राणैः सह यास्यति ।

स आह—‘वत्स ! द्रुतं वद येन प्रोच्य तदव्यं स्थिरतां नयामि ।’ पापबुद्धिराह—‘तात ! अस्ति तत्प्रदेशे महाशार्मी । तस्यां महत्कोटर-मस्ति, तत्र त्वं साम्प्रतमेव प्रविश । ततः प्रभाते यदाहं सत्यश्रावणं करोमि, तदा त्वया वाच्यं, यद—“धर्मबुद्धिश्चोरः”—इति ।

तथानुषिते प्रत्यूष स्वात्वा पापबुद्धिर्धर्मबुद्धिपुरः सरो धर्माधिकरणकैः सहतां शर्मीमभ्येत्य तारम्बरेण प्रोवाच—

‘आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च और्भुमिरापो हृदयं यमश्च ।

अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥ ४३८ ॥

भगवति वनदेवते । आवयोर्मध्ये यश्चौरस्तं कथय ।’ अथ पापबुद्धिपिता शर्मीकोटरस्थः प्रोवाच—‘भोः ! शृणुत शृणुन ! धर्मबुद्धिना हन्तम-तद्वनम् ! तदाकर्ण्य सर्वे ते राजपुरुषा विस्मयोत्पुख्लोचना यावद्वर्म-बुद्धेविन्नहरणोचितं निघ्रहं शास्त्रहस्त्याऽवलोकयन्ति तावद्वर्मबुद्धिना तच्छर्मीकोटरं वहिभोज्यद्रव्यैः परिवेष्टय वहिना सन्दीपितम् । अथ ज्वलति तस्मिन्शर्मीकोटरेऽर्धदग्धशरीरः स्फुटितेक्षणः कर्णं परिदेवय-न्यापबुद्धिपिता निश्चक्राम । ततश्च तैः सर्वे पृष्ठः—‘भोः किमिदम् ?’—इत्युक्ते स ‘पापबुद्धिविचेष्टिं सर्वमिद्’मिति निवेदयित्वोपरतः ।

अथ ते राजपुरुषाः पापबुद्धिं शर्मीशास्त्रायां प्रतिलम्ब्य धर्मबुद्धिं प्रशस्येदमूचुः—‘अहो ! साधिवदमुच्यते—

उपायं चिन्तयेत्प्राज्ञस्तथाऽपायं च चिन्तयेत् ।

पश्यतो बकमूर्खस्य नकुलेन हता बकाः ॥ ४३९ ॥

इति सम्बन्धः । साधुम्=अचोरं (‘साहूकार’) । परिणति=स्थिरताम् । (‘पूर्ण अधिकार में आ जाता है’) । प्राणैः सह=मृत्युना सह । तत्प्रदेशे=वनप्रदेशे । कोटरं=निष्क्रुहः । (‘खोखला भाग’) । साम्प्रतम्=इतनीमेव । सत्यश्रावणं=सत्यासत्यनिर्णयप्रार्थनां । (‘धर्मकी दुहाई देना’) । तथानुषिते=तत्पितरि तत्र गते । प्रत्यूहे=प्रभाते । वृत्तम्=चरि-तम् ॥ ४३८ ॥ विस्मयोत्पुख्लोचना:=आश्वर्यविस्फारितनयनाः । निघ्रहं=दण्डम् । वहिभोज्यद्रव्यैः=आज्ञाविदाहितृणाक्षादिद्रव्यैः । स्फुटितेक्षणः=विनष्टनेत्रः । परिदेवयन्=

धर्मबुद्धिः प्राह—‘कथमेतत् ? । ते प्रोचुः—

२० मूर्खवक्नकुलकथा

अस्मि कस्मिश्चिद्गनोदेशो वहुवक्ननाथो वटपादपः । तस्य कोटरे
कृष्णसर्पः प्रतिवसति स्म । स च वकवालकानजातपक्षानपि सदैव
भक्षयन्कालं नयति स्म । अथैको वकस्तेन भक्षितान्यपत्यानि हृष्टा
शिशुवैराग्यात्सरस्तीर्मासाद्य वाष्पपूरपूरितनयनोऽधोमुखस्तिष्ठति ।
तच्च ताहृक्चेष्टिमवलोक्य कुलीरकः प्रोवाच—‘माम ! किमेवं रुद्यते
भवताऽन्य ?’ । स आह—‘भद्र किं करोमि ? मम मन्दभाग्यम्य
वालकाः कोटरनिवासिना सर्पेण भक्षिताः । तहुःखदुःखितोहं
गोदिमि । तत्कथय मे—यद्यस्ति कश्चिदुपायम्तद्विनाशाय ?’ ।’

तदाकर्ण्य कुलीरकश्चिन्तयामास—‘अयं तावदस्मज्जातिसहजवैरी,
अतमत्तत्तथा सत्यानृतमुपदेशं प्रयच्छामि, यथान्येऽपि सर्वे वकाः
संक्षयमायान्ति । उक्तच्च—

नवनीतसमां वाणीं कृत्वा चित्तं तु निर्दयम् ।

तथा प्रबोध्यते शत्रुः सान्वयो छ्रियते यथा ॥ ४४० ॥

आह च—‘माम ! यद्येवं तन्मत्यमांसखण्डानि नकुलस्य विल-
द्वारात्सर्पकोटरं यावत्प्रक्षिप, यथा नकुलस्तन्मार्गेण गत्वा तं दुष्टसर्पं
विनाशयति ।’ अथ तथानुष्टिते मत्यमांसानुसारिणा नकुलेन तं कृष्ण-
सर्पं निहत्य सोऽपि तदृक्षाश्रयाः सर्वे वकाश्च शनैः शनैर्भक्षिताः ।
अतो वयं ब्रूमः—‘उपायं चिन्तयेत्—’इति ।’*

तदनेन पापबुद्धिना उपायश्चिन्तितो नाऽपायः, ततस्तत्फलं
प्राप्तम् । अतोऽहं ब्रवीमि—‘धर्मबुद्धिः कुबुद्धिश्च—’ इति ॥

विलपन् । उपरतः—मृतः । प्रतिलम्ब्य=तदालम्बनपूर्षकं घातयित्वा । प्रशस्य=पारितोषि-
कादिदानेन सकृत्य । अपायम्=विनाशं, हानिष्व ॥ ४३९ ॥

तेन—सर्पेण । शिशुवैराग्यात्=पुत्रमरणशोकात् । वाष्पपूरपूरितनयनः=अशुजाला-
विलळोचनः । कुलीरकः=कर्कटकः । (माम=मम्मा । भद्र=मैथा) । तदिनाशय=—
सर्पनाशय । सत्यानृतं=कपटपूर्णं सत्यं, सत्यमिव=हितकारकमिव=भासमानमपि परिणामे

१‘तथोपदेशं प्रयच्छामि सत्यानृतं ‘तथाविधं सत्यानृतं’ पा० ।

एवं मूढ ! त्वयाऽप्युपायश्चिन्तितो नापायः, पापवुद्धिवत् ।
तन्न भवसि त्वं सज्जनः, केवलं पापवुद्धिरसि । ज्ञातो भया स्वामिनः
प्राणसन्देहानयनान् । प्रकटीकृतं त्वया स्वयमेवात्मनो दुष्टत्वं,
कौटिल्यच्च । अथवा साधिवद्मुच्यते—

यत्नादपि कः पश्येच्छिखिनामाहारनिःसरणमार्गम् ।

यदि जलदध्वनिमुदितास्त पूर्व मङ्गा न नृत्येयुः ॥ ४४१ ॥

यदि त्वं स्वामिनमेनां दशां नयसि ! तदस्मद्विघस्य का गणना ? ।
तस्मान्ममासन्नेन भवता न भाव्यम् । उत्कच्च—

तुलां लोहसहस्रस्य यत्र खादन्ति मूषिकाः ! ।

रौजंस्तत्र हरेच्छयेनो बालकं नात्र संशयः ॥ ४४२ ॥

दमनक आह—‘कथमेतत् ?’ । सोऽत्रवीन—

२१. लोहतुलावणिकपुत्रकथा

अस्ति कम्मिश्चिदधिष्ठाने जीर्णधनो (नाडुको) नाम वणि-
कपुत्रः । स च विभवक्षयाहंशान्तरगमनमना व्यचिन्तयन्—

यत्र देशोऽथवा स्थाने भोगा भुक्ता स्ववीर्यतः ।

तस्मिन्विभवहीनो यो वसेत्स पुरुषाधमः ॥ ४४३ ॥

नथा च येनाहङ्कारयुक्तेन चिरं विलसितं पुरा ।

दीनं वदति तत्रैव यः परेषां-स निन्दितः ॥ ४४४ ॥

हानिकारकम् । नवनोतं=ईयङ्कर्वीनं= (‘नीनो धा’ ‘मक्खन’) । सान्वयः=सपुत्रकलन
भृत्यपरिवारः ॥ ४४० ॥ त्वया=दमनकेन । स्वामिनः=पञ्जलकस्य । युद्धे हि प्राणानां
मन्देहः रुद्ध पेत्याशयः । शिखिनाम्=मयूराणाम् । आहारनिस्सरणमार्गः=मलनिर्गमन-
दारं-गुदम् । वहंभारावृत्तावदगुदस्थेति भावः । जलदध्वनिमुदिताः=मेघध्वनि श्रवणहर्षिताः ।
नृत्ये वहंभारस्योच्चरुत्थापनामलनिर्गमनमार्गं (स्वच्छंद्र) तैः स्वयमेवात्मनश्चाभ्य-
प्रकटीक्रियते इत्याशयः ॥ ४४५ ॥

तुलां=तोलनमाधनम् (‘तराज्’ ‘तखड़ी’) । लोहसहस्रस्य=लोहपलसहस्रस्य,
(पल=१ छांक, १००० पल=१ मण २२॥ सेर) हे राजन् । तत्र=तस्मिन् देशं ग्राम
वा ॥ ४४२ ॥ अधिष्ठाने=ग्रामे । ‘जीर्णधनः’ इत्यस्य स्थाने ‘नाडुक’ इति पुस्तका-
नरे पाठः । विभवक्षयात्=धनक्षयात् । विलसितं=सुखेन स्थितम् परेषां पुरतो दीनं

? ‘इयेनः कुञ्जरहत्तग्र, किं चित्रं यदि पुत्रहत्’ इति पा० ।

तस्य च गृहे लोहपलसहस्रघटिता पूर्वपुरुषोपार्जिता तुलाऽऽसीन् ।
तां च कस्यचिच्छेष्ठिनो गृहे निक्षेपभूतां कृत्वा देशान्तरं प्रस्थितः ।
ततः सुचिरं कालं देशान्तरं यथेच्छया भ्रान्त्वा पुनः स्वपुरमागत्य
तं श्रेष्ठिनमुवाच-भोः श्रेष्ठिन ! दीयतां मे सा निक्षेपतुला ।'

म आह—‘भोः ! नास्ति सा त्वदीया तुला, मृषिकैर्भक्षितेति ।’ जीर्ण
धन आह—‘भोः ! श्रेष्ठिन ! नास्ति दोषस्ते यदि मृषिकैर्भक्षितेति ।
डंडगेवायं संसारः, न किञ्चिदत्र शाश्वतस्मस्ति । परमहं नद्यां स्नानार्थ
गमित्यामि, तत्त्वमात्मीयं शिशुमेनं धनदेवनामानं मया सह स्नानो-
पकरणहस्तं प्रेपय’—इति । मांडपि निजचौर्यशङ्कितः स्वपुत्रमुवाच—
‘वत्म ! पितृब्योऽयं तव स्नानार्थं यास्यति, तद्रम्यतामनंन सार्धं
मनानोपकरणमादाय’—इति । अहो ! साधिवदमुच्यते—

न भक्त्या कस्यचिन्कोऽपि ग्रियं प्रकुरुते नरः ।

मुक्त्वा भर्यं प्रलोभं वा कार्यकारणमेव वा ॥ ४४५ ॥
तथा च-अत्यादरो भवेद्यत्र कार्यकारणवर्जितः ।

तत्राशङ्का प्रकर्तव्या परिणामे मुखावहा ॥ ४४६ ॥

अथाऽसौ वणिकिशशुः स्नानोपकरणमादाय प्रहृष्टमनास्तेनाऽ-
भ्यागतेन महं प्रस्थितः । तथानुष्ठिते स वणिकस्त्रात्या तं शिशुं गिरि-
गुहायां प्रक्षिण्य तद्द्वारं ब्रह्मच्छिलयाऽच्छात्य सत्वरं गृहमागतः ।

पृष्ठश्च तेन वणिजा—‘भोः ! अभ्यागत ! कश्यतां कुत्र मे शिशु-
यस्त्वया सह नदीं गतः ?’—इति । स आह—‘नदीतटात्स इयेनेन
हृतः’—इति । श्रेष्ठचाह—‘मित्यावादिन ! किं कविच्छ्वच्येनो बालं हर्तु
शक्नोति ? तत्समर्पय मे सुतम्, अन्यथा राजकुले निवेदयिष्यामि’—

वस्ति=निष्ठिति । वस्तिंत्यत्र ‘वदतः’ति पाठान्तरम् ॥ ४४४ ॥ ‘लोहपलसहस्रघटिते’
न्यस्य स्थाने-लोहभारघटिते’ति क्वचित्पाठः । निक्षेपः=न्यासः । (‘धरोहर’) ।
निक्षेपतुला=निक्षेपभूता तुला । शाश्वतं=स्थिरम् । तत्=तस्मात् । स्नानोपकरणं=
यौतवश्चादि । कार्यकारणम्=प्रयोजनादिकम् (‘मतलव’) ॥ ४४५ ॥ इयेनः=पत्रा ।

? ‘चौर्यभयात्तस्य शङ्कितः’ इति मुद्रितः पाठः । २ ‘भयावहा’ ‘असुखावहा’ ‘अभया-
वहे’ति च पाठान्तरगणि । ३ (न्यास=‘गहना धरना’, कर्जा लेनेके लिप) ।

इति । स आह ‘भोः ! सत्यवादिन् ! यथा श्येनो वालं न नयति,—
तथा मूषिका अपि लोहतुलासहस्रघटितां तुलां न भक्षयन्ति, तद-
पय मे तुलाम् । यदि दारकेण प्रयोजनम् ।’

एवन्तौ विवद्मानौ द्वावपि राजकुलं गतौ । तत्र श्रेष्ठी तागस्वरेण
प्रोवाच—‘भोः अब्रहाण्यम् ! अब्रहाण्यम् ! मम शिशुगनेन चैरेणा-
उपहृतः’ । अथ धर्माधिकारिणस्तम्भुः—‘भोः ! समर्व्यतां श्रेष्ठिसुतः ।’

स आह—‘किं करोमि ? पश्यतो मे नदीतटाच्छयेनापहृतः
शिशुः ।’ तच्छ्रूत्वा ते प्रोचुः—‘भोः ! न सत्यमभिहितं भवता,
किं श्येनः शिशुं हर्तुं समर्थो भवति ?’ । स आह । ‘भो भोः !
श्रूयतां मद्वचः—

तुलां लोहसहस्रस्य यत्र खादन्ति मूषिकाः ।

‘राजस्तत्र हरेच्छयेनो बालकं नात्र संशयः’ ॥ ४४७ ॥

ते प्रोचुः—‘कथमेतन् ?’ । ततः स (श्रेष्ठि-)-सभ्यानामप्रे
आदितः सर्व वृत्तान्तं निवेदयामास । ततस्तैर्विहस्य द्वावपि तौ परस्परं
संयोध्य तुलाशिशुप्रदानेन सन्तोषितौ । अतोऽहं त्रिमि—‘तुलां
लोहसहस्रस्य—’ इति । क्षेत्रमूर्ख ! सर्जीवकप्रसादमसहमानेन
त्वयैतकृतम् । अहो साधिवदमुच्यते—

प्रायेणाऽत्र कुलान्वितं कुकुलजाः, खीवल्लभं दुर्भगा,

दातारं कृपणा, ऋजूननृजवस्तेजस्त्विनं कातराः ।

वैरूप्योपहताश्च कान्तवपुरं, सौख्यस्थितं दुःस्थितौ,

नानाशाखविचक्षणञ्च पुरुणं निन्दन्ति मूर्खाः सदा ॥ ४४८ ॥

तथा च—मर्खाणां पण्डिता द्वेष्या निर्धनानां महाधनाः ।

ब्रतिनः पापशीलानामसतीनां कुलस्त्रियः ॥ ४४९ ॥

तन्मूर्ख ! त्वया हितमप्यहितं कृतम् । उत्कृच—

(‘बाज’) । दारकेण=बालकेन । अब्रहाण्यम्=महानन्यायः । (‘दुहाई सरकार की’) ।

सभ्यानां=निर्णेतृणां (‘जज मजिस्ट्रेट’) संबोध्य=उपदिश्य (‘समझा-तुझाकर’) ।

खीवल्लभं=खीप्रियं, दुर्भगाः=कुलटाः, असौभाग्यशालिन्यश्च ॥ ४४९ ॥

१ ‘वित्ते स्थितं निर्धनाः’ । २ ‘धर्माध्रयं पापिनः ।

पण्डितोऽपि वरं शशुर्न् मूर्खो हितकौरकः ।
वानरेण हतो राजा विप्राश्वैरेण रक्षिताः ॥ ४५० ॥
दमनक आह—‘कथमेतत् ? । सोऽब्रवीत्—

२२. नृप-सेवकवानर-कथा

कम्य चिद्राज्ञो नित्यं वानरोऽतिभक्तिपरोऽङ्गसेवकोऽन्तःपुरे-
ऽप्रतिषिद्धप्रभरोऽतिविश्वासस्थानमभूत् । एकदा राज्ञो निद्रागतम्य
वानरे व्यजनं नीत्वा वायुं विद्धनि राज्ञो वक्षःस्थलोपरि मक्षिको-
पविष्टा । व्यजनेन मुहुर्मुहुर्निपिध्यमानापि पुनःपुनस्तत्रैवोपविश्वानि ।
ततस्तेन स्वभावचपलेन मूर्खेण वानरेण क्रुद्धेन सता तीक्ष्णं गङ्गा-
मादाय तस्या उपरि प्रहारो विहितः । ततो मक्षिकोड्डीय गता । तेन
शितधारेणाऽसिना राज्ञो वक्षो द्विधा जानं, राजा मृतश्च । तस्मा-
चिंगयुरिच्छता नृपेण मूर्खोऽनुचरो न रक्षणीयः ।

अपरम्—एकमिन्नगरे कोऽपि विप्रो महाविद्वान्—परं पूर्वजन्म-
योगेन चौगो वर्तते । स तस्मिन्पुरेऽन्यदेशादागतांश्चतुरो विप्रान्वहूनि
वस्त्रूनि विक्रीणतो हप्त्वा चिन्तितवान्—‘अहो ! केनोपायेनैषां धनं
लभं ?’—इति विचिन्त्य तेषां पुरोऽनेकानि शास्त्रोक्तानि चाति-
प्रियाणि मधुराणि वचनानि जलपता नैषां मनसि विश्वासमुत्पाद्य सेवा
कर्तुमारवद्या । अथवा साधिविद्मुच्यते—

असर्ता भवति सलज्जा क्षारं नीद्वा शीतलं भवति ।

दम्भी भवति विवेकी प्रियवक्ता भवति धूर्तजनः ॥ ४५१ ॥

अथ तस्मिन्सेवां कुर्वति तैर्विष्रैः सर्ववस्तुनि विक्रीय बहु-
मूल्यानि रक्तानि क्रीतानि । तत स्तानि जड्हामध्य तत्समक्षं प्रज्ञिप्य
म्बदेऽपि गन्तुमुद्यमो विहितः । ततः स धूर्तविप्रस्तान्विप्रान
गन्तुमुद्यतान्प्रेक्ष्य चिन्ताव्याकुलितमनाः सज्जातः ।

अङ्गसेवकः=शरीररक्षकः । अप्रतिषिद्धः प्रभरो यस्यासौ तथा=अनवरुद्धगमनः ।
नत्रैव=वक्षनि । तस्याः=मक्षिकायाः ।

? ‘न तु मित्रमपण्डितम् । स्ववध्यार्थे मृतश्वैरो वानरेण हतो नृपः’ । पा० ।

‘अहो ! धनमेतन्न किंचिन्मम चटितम् । अथैमि: सह यामि, पथि कापि विषं दत्तैतान्निहत्य सर्वरत्नानि गृह्णामि ।’—इति विचिन्त्य तेषामग्रे सकरुणं विलयैवमाह—‘भो मित्राणि ! यूयं मामेकाकिनं मुक्त्वा गन्तुमुद्याताः, तन्मे मनो भवद्विः सह स्नेहपाशेन बद्धं भवद्विरहनान्नेवतथाऽऽकुलं सज्जातं, यथा धृतिं क्वापि न धत्ते, यूयमनुग्रहं विधाय सहाय्यभूतं मामपि सहैव नयत ।’ तद्वचः श्रुत्वा ते करुणार्द्धचित्तास्तेन समर्मव स्वदेशं प्रति प्रस्थिताः ।

अथाध्वनि तेषां पञ्चानामपि पल्लीपुरमध्ये ब्रजतां ध्वाङ्गाः कथयितुमारवधाः—‘रे रे किराताः ! धावत धावत ! सपादलक्ष्मधनिनो यान्ति, एतान्निहत्य धनं नयत ！！！ ततः किरातैधर्वाङ्गवचनमा-कर्ण्य सत्वरं गत्वा ते विप्रा लगुडप्रहारैर्जर्जरीकृत्य वस्त्राणि मोचयित्वा विलोकिताः, परं धनं किञ्चिन्न लब्धम् । तदा तैः किरातैरभिहितम्—‘भोः पान्थाः ! पुरा कदापि ध्वाङ्गवचनमनृतं नासीन्, ततो भवतां सन्निधौ क्वापि धनं विद्यते तदर्पयत, अन्यथा सर्वेषामपि वधं विधाय चर्म विदार्य प्रस्त्रं प्रेक्ष्य धनं नेष्यामः—’इति ।

तदा तेषामीदशं वचनमाकर्ण्य चौरविप्रेण मनसि चिन्तितम्—‘यदैषां विप्राणां वधं विधायाऽङ्गं विलोक्य रत्नानि नेष्यन्ति, तदा मामपि वधिष्यन्ति । ततोऽहं पूर्वमेवात्मानमरत्नं समर्प्यतान् रक्षामि । उक्तच-

मृत्योर्बिभेदि किं बाल ! न स भीतं विमुच्छति ।

अद्य वाऽङ्गदशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः ॥ ४५२ ॥

तथा च-गवार्थे ब्राह्मणार्थे च प्राणत्यागं करोति यः ।

सूर्यस्य मण्डलं भित्त्वा स याति परमां गतिम् ॥ ४५३ ॥

—इति निश्चित्याऽभिहितच्च—‘भोः किराताः ! यद्येवं ततो मां पूर्वं निहत्य विलोकयत’—इति ।’ ततस्तैस्तथाऽनुष्ठिते तं धनरहितम-

पुरः=अये । तत्समक्षं=पश्यतश्चौरस्य पुरतः । चटितम्=इस्ते लग्नम् । ‘चटित्’-मिति पाठान्तरम् । (‘हमारे हाथ कुछ भी न चढ़ा’) । धृति=धैर्यम् । पल्लीपुरमध्ये=किरातपुरमध्ये । ध्वाङ्गक्षाः=काकाः । (सपादलक्ष्मधनिनः=सवालाख के धनी) मोचयित्वा=पृथक्त्वा (‘तलासी लेकर’) । अनृतं=मिथ्या । अरतं=रक्षरहितम् । तथानुष्ठिते=पण्डित-

वलोक्याऽपरे चत्वारोऽपि मुक्ताः । अतोऽहं ब्रवीमि—‘पण्डितोऽपि वरं शत्रुः—‘इति । *

अथैव संवद्गतोस्तयोः सञ्जीवकः क्षणमेकं पिङ्गलकेन सह युद्धं कृत्वा तस्य व्यरनव्यग्रहारभिहतो गतासुर्वसुन्धरापीठे निपपात ।

अथ तं गतासुमवलोक्य पिङ्गलकस्तद्गुणस्मरणाद्रहदयः प्रोवाच—‘भोः ! अयुक्तं मया पापेन कृतं सञ्जीवकं व्यापादयता । यतो विश्वासधानादन्यनास्ति पापतरं कर्म । उक्तच्च-

मित्रद्वोही कृतज्ञश्च यश्च विश्वासधानकः ।

ते नरा नरकं यान्ति यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥ ४५४ ॥

भूमिक्षये राजविनाश एव भृत्यस्य वा दुष्टिमतो विनाशे ।

नो युक्तमुक्तं ह्यनयोः समत्वं नष्टापि भूमिः सुलभा न भृत्याः ॥ ४५५ ॥

तथा मया सभामध्ये म सदैव प्रशंसितः । तस्मिं कथयि-
प्यामि तेपामग्रतः । ? उक्तच्च-

उक्तो भवति यः पूर्वं ‘गुणवा’ निति संसदि ।

न तस्य द्रोघो वक्तव्यः प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा ॥ ४५६ ॥

एवंवहुविधं प्रलपन्तं दमनकः समत्वं महर्षपिदमाह—
‘देव ! कातरतमस्तवैष न्यायो, यद्-द्रोहकारिणं शत्रुभुजं हत्वेत्थं
शोचमि ! । तत्रैतदुपपन्नं भूमुजाम । उक्तच्च-

पिता वा यदि वा आता पुत्रो भार्याऽथवा सुहृत् ।

प्राणद्वोहं यदा गच्छेद्वन्तव्यो नास्ति पातकम् ॥ ४५७ ॥

तथा च-राजा शृणी ब्राह्मणः सर्वभक्षी स्त्री चाऽत्रपा दुष्टमतिः सहायः ।

प्रेष्यः प्रतीपोऽधिकृतः प्रमादी त्याज्या अमी यश्च कृतं न वेत्ति ॥ ४५८ ॥

चारे हते सति । गतासुः=सृतः सन् । पापेन=पापश्चालेन । भूमिक्षये=सति राजविनाश एव=राजो विनाश एव मन्तव्यः । किञ्च योग्यस्य भृत्यस्य विनाशे च राजविनाशो मन्तव्यः । परमनयोर्भूमिभृत्ययोर्विनाशयोः समता न, यतो नष्टापि भूमिः सुलभा, परं नष्टाभृत्या न सुलभा इति सम्बन्धः ॥ ४५५ ॥ तेषां=सभ्यानाम् । यदा राजप्राणद्वोहं गच्छेत्=राजवधोधतः स्थानदा सोऽवदयं हन्तव्यः, तत्र हते पातकं नास्तीत्यर्थः ॥ ४५७ ॥ शृणी=दयावान् । अत्रपा=निलैज्ञा । सहायः=अनुचरः, मित्रवृत्तः, प्रेष्यः=भृत्यः । प्रतीपः=विरुद्धः । अधिकृतः=अधिकाराहृदः । प्रमादी=अनवधानपरः । ('बेपरवाह') कृतं न वेत्ति-कृतव्यः ॥

अपि च—सत्याऽनृता च परुषा प्रियवादिनी च
हिंसा दयालुरपि चाऽर्थपरा वदान्या ।

भूरिव्यया प्रचुरवित्समागमा च
वेश्याङ्कनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥ ४५९ ॥

अपि च—अङ्गतोपद्रवः कश्चिन्महानपि न पूज्यते ।
पूज्यन्ति नरा नागाश ताक्ष्यं नागधातिनम् ॥ ४६० ॥

तथा च—अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषमे ।
गतासूनगतासून्त्वं नाऽनुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ४६१ ॥

एवन्तेन सम्बोधितः पिङ्गलकः सञ्जीवकशोकं त्यक्त्वा दमनक-
माचिव्येन राज्यमकरोन् ॥ ५१ ॥

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रे मित्रभेदं नाम प्रथमं तन्त्रम् ।

‘सत्या—सत्यवद्वभासमानाऽपि । अनृता—कृत्कप्तकुटिला । प्रियवादिनी—प्रियं
वदाऽपि, परुषा—कठोरा । दयालुः—दयापराऽपि । हिंसा—हिंसापरा । अर्थपरा—धनलोलुपा ।
वदान्या—दानपरा च । नित्यव्ययेन पाठान्तरम् । भूरिव्यया, बहुलायवती च । नृप-
नीतिः—राजनीतिः । अनेकरूपा—विरोधिनानागुणवती ॥ ४५९ ॥ महानपि—पूजनीय-
गुणोपेतोऽपि । अङ्गतोपद्रवः—अङ्गेशदः । नागान्—सर्पान् । ताक्ष्यं—गरुदम् ॥ ४६० ॥

प्रज्ञावादान्—पाण्डित्यपूर्णानि वाक्यानि । | (‘बहुत बढ़ बढ़ कर बोलते हो’) ।
गतासून्—सूतान् । अगतासून्—जीवतोऽपि लोकान् ॥ ४६१ ॥

तेन—दमनकेन । संबोधितः—सम्बूक् प्रबोधितः । सान्त्वितः । दमनकसाचिव्येन—
दमनकं सचिवं कृत्वा । राज्यम्—काननसाम्राज्यम् ।

मित्रभेदमिति ।—मित्रयोर्भेदो यस्मिस्तन्त्रे तन्मित्रभेदमिति विग्रहः । मित्रभेद इति
पाठे तु मित्रयोर्भिर्त्रिणां वा मेदः—मित्रभेदः । उपचाराच्च कथांशोऽपि मित्रभेद इत्युच्यते
इत्यवधेयमिति शिवम् ॥

इति श्रीजगद्विदितमाहात्म्य-पद्मास्त्रवाचस्पति-मरुमण्डलमार्त्तण्ड-पण्डितराज-
ओस्तेहिरमशास्त्रिणां पौत्रेण, ‘प्रतिवादिभयङ्कर’ भयङ्कर-विद्यावाच-
स्पति—न्यायशास्त्राचार्य—श्री शिवनारायणशास्त्रिणां पुत्रेण,

श्रागुहप्रसादशास्त्रिणा विरचितायां पञ्चतन्त्रा-

अभिनवराजलक्ष्म्यां मित्रभेदं नाम

प्रथमं तन्त्रम् । *

ॐ अथ मित्रसम्प्राप्तिः ॥३॥

अथेद्भारभ्यते मित्रसंप्राप्तिर्नाम द्वितीयं तन्त्रं, यस्यायमादिमः
श्लोकः—

असाधना अपि प्राज्ञा बुद्धिमन्तो बहुश्रुताः ।

साधयन्त्यात्मु कार्याणि काकाऽसुमृग्गूर्मवत् ॥ १ ॥

तद्यथाऽनुश्रूते—‘अस्मि दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम
नगरम् । तस्य नातिदूरस्थो महोच्छ्रायवान्, नानाविहङ्गोपभुक्त-
फलः, कीटैरावृतकोटरश्छायाश्वासितपथिकजनसमृहो न्यग्रोधपादपां
महान् । अथवा युक्तम्—

छायासुसष्टुगः शकुन्तनिवहैविष्वेषिष्व तच्छुदः

कीटैरावृतकोटरः कपिकुलैः स्कन्धे कृतप्रश्रयः ।

विश्रब्धं मधुपैर्णिपीतकुसुमः इलाघ्यः स एव ह्रुमः

सर्वाङ्गीर्बहुसत्त्वसङ्गसुखदो भूमारभूतोऽपरः ॥ २ ॥

* श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिविरचिता अभिनवराजलक्ष्मीः *

वाचस्पत्यवतारश्वीस्नेहिरामजिशास्त्रिणाम् ।

मरुमण्डलमार्तण्डपादपङ्कजयोर्भजे ॥ १ ॥

असाधना:=साधनोपायहीनाः । बहुश्रुताः=व्यवहारकुशलाः । श्रुतसम्पत्ताः ॥ १ ॥
महोच्छ्रायवान्=अतिविश्वालः । ‘नगाद्यारोह उच्छ्राय’ इत्यमरः । नानाविहङ्गोपभुक्त-
फलः=अनेकपक्षिवृन्दास्त्वादितफलः । छायया आशासिताः=सन्तोषिताः=पथिकजनसमृहा
येनासौ तथा । छायायामाशासिताः=पश्चिमान्ता इति वा । न्यग्रोधपादपः=वटवृक्षः । छायेति ।
छायाविश्रान्तहणिः । शकुन्तानां=पक्षिणां, निवहैः=वृन्दैः, विष्वकू=समन्ताव, विलुपाः=
छिङ्गाः, छदाः=पूर्णानि यस्यासौ तथाभृतः । कोटैः=सर्पादिभिः आवृतानि=पूर्णानि,
कोटराणि यस्यासौ तथा । कपिकुलैः=वानरयूर्ध्वैः, स्कन्धे=प्रकाण्डे, कृतः—प्रश्रयः=प्रणयो
निवासश्च यस्यासौ तथा । मधुपैः=भृडैः । ‘विश्रब्ध’मिति क्रियाविशेषणम् । स एव ह्रुमः

? ‘काककूर्मसुगाम्युवत्’ २ ‘निवहैरालीननीलच्छुदः’ इति पाठान्तरम् । आली

तत्र च लघुपतनको नाम वायमः प्रतिवमति म्म । स कदा-
चित्प्राणयात्रार्थं पुग्मुहित्य प्रचलितो यावत्पद्यति, तावज्ञालहस्तो-
उतिकृष्णतनुः स्फुटितचरण ऊर्ध्वकेऽग्ने यमकिङ्गराकारो नरः मम्मुखो
धभूव । अथ तं हृष्टा शङ्खितमना व्यचिन्तयत्—‘यद्यं दुरात्माऽद्य
ममाश्रयवटपादपसंमुखोऽभ्येति, तन्न ज्ञायते, किमद्य वटवामिनां
विहङ्गमानां मङ्ग्लयो भविष्यति ?’ । एवं बहुविधं विचिन्त्य तत्क्षणा-
न्निवृत्य तमेव वटपादपं गत्वा सर्वान्विहङ्गमान्प्रोवाच—‘भोः !
अयं दुरात्मा लुधधको जालतण्डुलहस्तः समभ्येति, तत्मर्वथा तस्य
न विश्वसनीयम्, एष जालं प्रसार्य तण्डुलान्प्रक्षेप्यति, ते तण्डुला
भवद्धिः सर्वैरपि कालकूटसहशा द्रष्टव्याः’ । एवं बदतस्तस्य स
लुधधकमत्र वटतले आगत्य जालं प्रमार्य सिन्दुवागमहशांम्तण्डुला-
न्प्रक्षिय नातिदूरं गत्वा निभृतः ग्निथः । अथ ये पक्षिणमत्र
ग्निथास्ते लघुपतनकवाक्यार्गलया निवागितास्तांम्तण्डुलान् हालाहला-
डुरानिव वीक्ष्माणा निभृतास्तस्युः ।

अत्रान्तरे चित्रप्रीवो नाम कपोतगाजः महापरिवारः प्राण-
यात्रार्थं परिभ्रमस्तांस्तण्डुलान्दूरतोऽपि पश्यैलघुपतनकेन निवार्यमा-
णोऽपि जिह्वालौल्याद्वक्षणार्थमपतन्, सपरिवारो निवद्वश्च । अथवा
माध्विदमुच्यते—

जिह्वालौल्यप्रसक्तानां जलमध्यनिवासिनाम् ।

अचिन्तितो वधोऽज्ञानां मीनानामिव जायते ॥ ३ ॥

शाध्यो यः सर्वाङ्गैः—बहुसत्त्वसक्तसुखदः=नानाजन्तुविश्रामसुखदः । अपरः=इतोऽन्याद्वृश्वरु
भूभारभूत पवेत्यर्थः ॥ २ ॥ वायसः=काकः । प्राणयात्रार्थं=भोजनोपार्जनाय । स्फुटित-
चरणः=विदीर्णपादः । यमेति । यमदूतसक्तिम इत्यर्थः । आश्रयेति । मन्त्रिवासव-
वृक्षसम्मुख इत्यर्थः । संद्ययः=विनाशः । तमेव=स्वनिवासभूतम् । लुधधकः=व्याधः । काल-
कूटः=तोषणविषमेदः । सिन्दुवारसहशान्=निर्गुणीसहशान्, -ईषदक्तान् । निभृतः=
प्रच्छन्नः । तत्र=वटपादे । लघुपतनकवाक्यमेव—अर्गला—निरोधदण्डः,—तया । हालाहलाडु-
रानिव=तीक्ष्णविषाङ्गुरानिव । निभृताः=विनीता इव । (चुप चाप) । ‘निभृतविनीत-
प्रश्रिताः समाः’ इत्यमरः ।

जिह्वालौल्यप्रसक्तानाम् अज्ञानां जलमध्यनिवासिनां मीनानामिव जडमध्यनिवासिनाम् ।

उक्तज्ञ-पौलस्यः कथमन्यदारहरणे दोषं न विज्ञातवान् ?
 रामेणापि कथं न हेमहरिणस्यासम्भवो लक्षितः ? ।
 अक्षैश्चापि युधिष्ठिरेण सहसा प्रासो हनथः कथं ?
 प्रत्यासञ्चविपत्तिमूढमनसां प्रायो मतिः क्षीयते ॥ ४ ॥
 तथा च—कृतान्तपाशब्दानां दैवोपहतचेतसोम् ।
 बुद्धयः कुञ्जगामिन्यो भवन्ति महतामपि ॥ ५ ॥

अत्रान्तरे लुभ्यकस्तान्यद्वान्विज्ञाय प्रहृष्टमनाः प्रांच्चतयप्ति-
 स्तद्वधार्थं प्रधावितः । चित्रग्रीवोऽप्यात्मानं सपरिवारं वद्धं मत्वा
 लुभ्यकमायान्तं हृष्टा तान्कपोतानूचं—अहो न भेतव्यम् ! उक्तच्च—
 व्यसनेष्वेव सर्वेषु यस्य बुद्धिर्न हीयते ।
 स तेषां पारंभ्येति तत्प्रभावादसंशयम् ॥ ६ ॥
 संपत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ।
 उद्यये सविता रक्तो रक्तश्चाऽस्तमये तथा ॥ ७ ॥

तत्सर्वे वयं हेलयोर्द्वय सपाशजाला अभ्याऽदर्शनं गत्वा मुक्ति
 प्राप्नुमः । अथ चेद्वयविकृवाः सन्तो हेलया समुत्पातं न करिष्यथ,
 ततो मृत्युमवाप्यथ । उक्तच्च—

तनवोऽप्यायता नित्यं तन्तवो बहुलाः समाः ।
 बहून्वहुत्वादायासान्सहन्तीत्युपमा सताम् ॥ ८ ॥

तथाऽनुप्रिते लुभ्यको जालमादायाऽकाशो गच्छतां तेषां पृष्ठतो
 भूमिस्थोऽपि पर्यथावन् । तत ऊर्ध्वाननः श्लोकमनमपठन्—

(जल=जड) अन्ननिति=अतकितः, वधो जायते ॥३॥ पौलस्यः=रावणः । अन्यदारहरणे—
 सांताहरणे । लक्षितः=शातः । अर्द्धः=पाशर्कः । अनर्थः=राजनाश्रूपः । क्षीयते=नश्यति ॥४॥
 कृतान्तः=थमः । कुञ्जगामिन्यः=विकलगमनाः, विपरीताः, कुणिठता इति यावत् ॥५॥
 तद्वधार्थं=कपोतवधार्थम् । हायते=अवसाददति । तेषां=व्यसनानाम् । तत्प्रभावात=बुद्धिमा-
 भृथ्यांत ॥ एकरूपता=साहृदयम् । रक्तः=रक्तवर्णः, अनुरक्तश्च ॥ ७ ॥ हेलया=अन-
 ज्ञया, अनायासेन च । अस्य=लुभ्यकस्य । ‘हेलावशाविलासयोरिति कोशः । यथा—
 तनवः=सूक्ष्माः । आयताः=दर्शाः । तनवः=मूत्राणि । बहुलाः=बहवः । समाः=समानाः ।
 बहुत्लात्=अनेकत्वात् मिलितत्वाच्च । यथा बहूत् आयासान्=घर्षणादिभारादिलेशान् ।
 सहन्ति=सहन्ते । तथा लोकेऽपि संहतिः कार्यसाधिकेत्यर्थः ॥८॥ तथाऽनुष्ठिते=हेलयोर्द्वा

१ ‘दैवेनाविष्टचेतसा’मिति पाठान्तरम् । २ ‘पारमभ्येत्य प्राप्नोति परमं द्वज्ञम्’मिति पा० ।

जालमादाय गच्छन्ति संहताः पक्षिणोऽप्यमी ।
यावच्च विवदिव्यन्ति पैतिव्यन्ति न संशयः ॥ ९ ॥

लघुपतनकोऽपि प्राणयात्राक्रियां त्यक्त्वा ‘किमत्र भविष्यती’ति
कुनूहलात्तपृष्ठतोऽनुसरति । अथ दृष्टेरगोचरतां गतान् विज्ञाय
लुभ्यको निराशः श्लोकमपठन् । उक्तच्च,—

नहि भवति यज्ञ भाव्यं भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन ।
करतलगतमपि नश्यति यस्य हि भविष्यता नास्ति ॥ १० ॥
तथा च—पराद्युखे विधौ चेत्याकथंचिद्विणोदयः ।
तत्सोऽन्यदपि संगृह्य याति शङ्खनिधिर्यथा ॥ ११ ॥

तदाम्तां तावद्विहङ्गामिषलाभो यावत्कुदुम्बवर्तनोपायभूतं जाल-
मपि मे नष्टम् । चित्रग्रीवोऽपि लुभ्यकमदर्शनीभूतं ज्ञात्वा तानु-
वाच—‘भोः ! निवृत्तः स दुरात्मा लुभ्यकः । तत्सर्वैरपि स्वस्थै-
र्गम्यतां महिलारोग्यस्य प्रागुत्तरदिग्भागे । तत्र मम सुहृद्विरण्यको
नाम मूषकः सर्वेषां पाशन्द्वेदं करिष्यति । उक्तच्च—

सर्वेषामेव मर्त्यानां व्यसने समुपस्थिते ।
वाद्यात्रेणापि साहाय्यं मित्रादन्यो न सन्दधे ॥ १२ ॥

एवन्ते कपोताश्चित्रग्रीवेण संबोधिता महिलारोग्ये नगरे
नेतु पक्षिषु । यत्कार्यं न माव्यं, तत्र भवत्येव, यच्च खल भाव्यं=मावि, तदिनापि यत्नेन
भवत्येव : यस्य=पुंसः, धनादेवा भविष्यता=माव्यं, भवनावसरो वा ॥ १० ॥ विधौ=
दंवे । पराङ्मुखे=अननुकूले । द्रविणोदयः=यनलाभः । तत्=तदा । सः=द्रविणोदयः ।
अन्यदपि=स्वनिकटस्थमपि धनम् । शङ्खनिधिरिति । केनचिद्वैश्येन कस्यचन द्विजस्य
शिवार्थिः शङ्खनिधिः—शङ्खाकारो निधिरपहतः, ततो दुःखितेन विप्रेण प्रार्थितः
शम्भुर्मुष्याशङ्खं पूर्वशङ्खादपि गुणवत्तरतया भाव्यमानं दत्तवान् । तदुणाकर्णनलुभ्येन
वणिजा स्वद्रविणसहितं पूर्वं गृहीतं शङ्खनिधिं दत्त्वा स मृषाशङ्खो (लपोडशंख)
गृहीतः, स च केवलं वदति, न किञ्चिदपि ददार्ति सर्वाधनापहारो वैश्यस्य शङ्खनिधि-
चीर्यफलतया जात इति लौकिकी कथा ।

विहङ्गामिषस्य=पक्षिमांसस्य लोभः । कुदुम्बवर्तनं=कुदुम्बजीविका (‘रोजी’) ।
स्वस्थैः=अव्याकुलैः, संदधे=विधत्ते ॥ १२ ॥ हिरण्यकस्य विलम्बे दुर्गं, (‘किला’) ।

हिरण्यकविलदुर्गं प्रापुः । हिरण्यकोऽपि सहस्रविलदुर्गं प्रविष्टः
सन्नकुतोभयः सुखेनास्ते । अथवा साधिवद्मुच्यते—

अनागतं भयं दृष्टा नीतिशास्त्रविशारदः ।

अवसन्मूषकस्तत्र कृत्वा शतमुखं विलम् ॥ १३ ॥

दंष्ट्राविरहितः सर्पो मदहीनो यथा गजः ।

सर्वेषां जायते वश्यो दुर्गाहीनस्थथा नृपः ॥ १४ ॥

नथा च—न गजानां सहस्रेण न च लक्षणेण वाजिनाम् ।

तत्कर्म साध्यते राज्ञां दुर्गेणैकेन यद्गणे ॥ १५ ॥

शतमेकोऽपि सन्धते प्राकारस्थो धर्नुधरः ।

तस्मादुर्गं प्रशंसन्ति नीतिशास्त्रविदो जनाः ॥ १६ ॥

अथ चित्रग्रीवो विलमासाद्य तारस्वरेण प्रोवाच—‘भो ! भाँ !
मित्र हिरण्यक ! सत्वरमागच्छ, महती मे व्यसनावस्था वर्तते’

तच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि विलदुर्गान्तर्गतः सन्प्रोवाच—‘भो ! को
भवान् ? किमर्थमायातः ? किं कारणम् ? कीहक्ते व्यसनावस्था-
नम् ? तत्कथ्यताम्’—इति ।

तच्छ्रुत्वा चित्रग्रीव आह—‘भो ! चित्रग्रीवो नाम कपोत-
गजोऽहं ते सुहृत्, तत्सत्वरमागच्छ, गुरुतरं प्रयोजनमस्ति । तदा-
कर्ण्य पुलकिततनुः प्रहृष्टात्मा स्थिरमनास्त्वरमाणो निष्कान्तः ।
अथवा साधिवद्मुच्यते—

सुहृदः स्नेहसंपदा लोचनानन्ददायिनः ।

गृहे गृहवतां नित्यमागच्छान्ति महात्मनाम् ॥ १७ ॥

आदित्यस्योदयस्तात ! ताम्बूलं भारती कथा ।

हृष्टा भार्या सुमित्रज्ञ अपर्वाणि दिने-दिने ॥ १८ ॥

सहस्र विलानि यस्मिन् दुर्गे, तत् । अकुतोभयं=निर्भयः । अनागतमपि=अनुपस्थि-
तमपि, दृष्ट्वा=तुद्यथा पूर्वमेव विभाव्य । दंष्ट्र=विषदंष्ट्रा (‘जहर के दांत’) ॥ १४ ॥
‘साध्यते’ इत्यत्र ‘जायते’ इत्यपि पठन्ति ॥ १५ ॥ सन्धते=युध्यते ॥ १६ ॥

तारस्वरेण=उच्चैः स्वरेण । व्यसनावस्था=विपत्तिदशा । सत्वरं=शीघ्रम् । गुरु-
तरम्=अतिमहत् । पुलकिततनुः=हर्षरीमार्घितदेहः । स्थिरमनाः=निःशङ्खचित्तः । महा-
त्मनां=मात्रयशालिनाम् । गृहवतां=गृहीणाम् ॥ १७ ॥ हे तात=हे वत्स । भारती

सुहृदो भवने यस्य समागच्छन्ति नित्यशः ।
चित्ते च तस्य सौख्यस्य न किञ्चित्प्रतिमं सुखम् ॥ १९ ॥

अथ चित्रमीवं सपरिवारं पाशवद्वमालोक्य हिरण्यकः सविषाद्-
मिदमाह—‘भोः ! किमेतत् ?’ । स आह—‘भोः ! जानन्नपि
किं पृच्छसि ?’ । उक्तच्च यतः—

यस्माच्च येन च यदा च यथा च यच्च यावच्च यत्र च शुभाशुभमात्मकर्म ।
तस्माच्च तेन च तदा च तथा च नन्द तावच्च तत्र च कृतान्तवशादुपैति ॥ २० ॥

तप्राप्तं मयैतद्वन्धनं जिह्वालौल्यात् । साम्प्रतं त्वं सत्वरं पाश-
विमोक्षं कुरु ।’ तदाकर्ण्य हिरण्यकः प्राह—

‘अर्धार्धार्थोजनशताद्रामिषं वीक्षते खगः ।

सोऽपि पार्वीस्थितं दैवद्वन्धनं न च पश्यति ॥ २१ ॥

तथा च—रविनिशाकरयोग्रहपीडनं गजभुजङ्गविहङ्गमवन्धनम् ।

मतिमतां च निरीक्ष्य दरिद्रां ‘विधिरहो बलवा’ निति मे मतिः ॥ २२ ॥

तथा च—घोमैकान्तविहारिणोऽपि विहगाः संप्रामुचन्यापदं

बध्यन्ते बडिशैरगाधसलिलान्मीनाः समुद्रादपि ।

दुर्णीतं किमिहास्ति ? किञ्च सुकृतं ? कः स्थानलाभे गुणः ?

कालो हि व्यसनप्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि ॥ २३ ॥

एवमुक्त्वा चित्रमीवस्य पाशं छेत्तुमुद्यतं स तमाह—‘भद्र !
मा मैव कुरु, प्रथमं मम भृत्यानां पाशच्छेदं कुरु, तदनु ममाऽपि
च !’ तच्छ्रुत्वा कुपितो हिरण्यकः प्राह—‘भोः ! न युक्तमुक्तं भवता,
यतः—स्वामिनोऽनन्तरं भृत्याः ।’ स आह—भद्र ! मा मैवं वद, मदा-
कथा=महाभारतस्येयं कथा । हषा=प्रिया । अपूर्वाणि=नवीनवद्वासन्ते । प्रतिमं=तुल्यम्
॥ १९ ॥ यत्र यथायर्थं शुभाशुभं=शुभं दुष्टं वा, आत्मकर्म=स्वभोग्यं फलं, तत् तथैव—तत्रैव
कृतान्तवशात्=अदृष्टवशात्, उपैति=आगच्छति । उपैति=तं जनोभुड्के इति वा ॥ २० ॥

अर्धार्धार्थात्=पादभितात् योजनशतात् । (२५ योजन=१०० कोश) । आमिषं=स्वभक्ष्यं मासम् । खगः=गृभादिः ॥ २१ ॥ ग्रहपीडनं=राहुग्रहणक्षेत्रः । गजभुजङ्गविह-
ङ्गानां=हस्तसर्पपक्षिणाः । बन्धनं=जालादिना बन्धनम् । अहो ! =आश्वये, विधिः=देवम् ॥ २२ ॥ घोमेति । गगनमात्रसञ्चारिणोपि पक्षिणः, बन्धनरूपामापदं प्रामुचन्ति ।
बडिशैः=मत्स्यग्रहणसाधनैर्जलान्तःस्था अपि मस्त्या बध्यन्ते । किं दुष्कृतं ? पापं, किं वा
सुकृतं=पुण्यं ? विशिष्टजलादिदुर्गमस्थानलाभे वा को गुणः ? । न किमपि । हा ! केवलं

श्रयाः सर्वं पते वराकाः, अपरं स्वकुदुम्बं परित्यज्य समागताः, तत्कथमेतावन्मात्रमपि सम्मानं न करोमि । उत्कृच्छ—

यः संमानं सदा धत्ते भृत्यानां क्षितिपोऽधिकम् ।

विज्ञाभावेऽपि तं हृष्टास्ते त्यजन्ति न कर्हचित् ॥ २४ ॥

तथा च—विश्वासः सम्पदां मूलं तेन यूथपतिर्गजः ।

सिंहो मृगाधिपत्येऽपि न मृगैः परिवार्यते ॥ २५ ॥

अपरं—मम कदाचित्याशाच्छ्रेदं कुर्वतस्ते दन्तभङ्गे भवति, अथवा दुरात्मा लुभ्यकः समभ्येति, तन्नूनं मम नरकपात एव । उत्कृच्छ—

सदाचारेषु भृत्येषु संसीदत्सु च यः प्रभुः ।

सुखी स्याज्ञरकं याति परत्रेह च सांदर्ति ॥ २६ ॥

तच्छ्रुत्वा प्रहस्तो हिरण्यकः प्राह—‘भोः ! वेद्याच्यहं राजधर्मं, परं मया तव परीक्षा कृता, तत्सर्वेषां पूर्वं पाशच्छ्रेदं करिष्यामि । भवानन्यनेन विधिना बहुकपोतपरिवारो भविष्यति । उत्कृच्छ—

कारुण्यं संविभागश्च यस्य भृत्येषु सर्वदा ।

सम्भाव्यः स महीपालखौलोक्यस्याऽपि रक्षणे ॥ २७ ॥

एवमुक्त्वा सर्वेषां पाशच्छ्रेदं कृत्वा हिरण्यकश्चित्रश्रीवमाह—‘मित्र ! गम्यतामधुना स्वाश्रयं प्रति, भूयोऽपि व्यसने प्राप्ते समागन्तव्यम्’—इति । तान्सम्ब्रेष्य (हिरण्यकः) पुनरपि दुर्गं प्रविष्टः ।

चित्रश्रीवोऽपि सपरिवारः स्वाश्रयमगमत् । अथवा साच्चिदमुच्यते

मित्रान्साधयत्यर्थान्दुःसाधानपि वै यतः ।

तस्मान्मित्राणि कुर्वीत समानान्येव चाऽत्मनः ॥ २८ ॥

न्यसनव्याजेन=विपत्तिच्छुलेन—कालो जगत्कर्त्तीत्यर्थः ॥ २३ ॥ भृत्याः—इस्यस्य ‘सम्भाव्या’ इति शेः । सल्कार्या इत्यर्थः ।

तेन=विश्वासेनेव । मृगाधिपतिरपि न मृगैः ‘संब्यतेऽविश्वासात् । विद्वासाच्चपुनः—यूथपो गजो गजैः परिवार्यते ॥ २५ ॥ परत्र=परलोके । नरकं याति=नरके वसति । इह=अस्मिन् लोके । सांदर्ति=क्षेत्रमनुभवति ॥ २६ ॥ राजधर्मं=राजनीतिश् । अनेन विधिना=कारुण्यपूर्णव्यवहारादिना । कारुण्यं=करुणा । संविभागः=आत्मतुल्योपचारः, सम्यग-नेश्वरणं, यथायोग्यं सल्कारश्च । स महीपालखौलोक्यस्याऽपि रक्षणे—सम्भाव्यः=त्रैलोक्य-

? समान्येव अभियाऽऽत्मनः’ इति पाठ ।

लघुपतनकोऽपि वायसः सर्वं तं चित्रग्रीववन्धमोक्षमवलोक्य विस्मितमना व्यचिन्तयन्—‘अहो ! बुद्धिग्रस्य हिरण्यकस्य शक्तिश्च, दुर्गसामग्री च । तदीहगेव विधिर्विहङ्गानां वन्धनमोक्षात्मकः । यदाप्यहं न कस्य चिद्रिश्वसिमि, चलप्रकृतिश्च, तथायेनं मित्रं करोमि । उक्तच्च—

अैपि सम्पूर्णतायुक्ते: कर्तव्याः सुहृदो बुधैः ।

नदीशः परिपूर्णोऽपि चन्द्रोदयमपेक्षते ॥ २९ ॥

एवं सम्प्रधार्य पादपादवर्तीर्य विलद्वारमाश्रित्य चित्रग्रीववच्छब्देन हिरण्यकं समाहूतवान्—‘एहोहि भो हिरण्यक ! एहि । तच्छब्दं श्रुत्वा हिरण्यको व्यचिन्तयन्—‘किमन्योऽपि कश्चित्कपोतो बन्धनशेषस्तिप्रुति येन मां व्याहरति ।’ आह च—भोः ! को भवान् ?’ म आह—‘अहं लघुपतनको नाम वायसः ।’

तच्छ्रुत्वा विशेषादन्तर्लीनो हिरण्यक आह—‘भोः ! द्रुतं गम्यताम्मात्स्थानात् ।’ वायस आह—‘अहं तव पार्श्वे गुरुकार्येण समागतः, तत्कि न क्रियते मया सह दर्शनम् ? ।’

हिरण्यक आह—‘न मेऽस्ति त्वया सह सङ्गमेन प्रयोजनम्’—इति । स आह—‘भोः ! चित्रग्रीवस्य मया तव सकाशात्पाशमोक्षणं दृष्टम्, तेन मम महती प्रीतिः सञ्जाता । तत्कदाचिन्ममापि बन्धने जाते तव पार्श्वान्मुक्तिर्भविष्यति । तत्क्रियतां मया सह मैत्री ।’

हिरण्यक आह—‘अहो ! त्वं भोक्ता, अहं ते भोज्यभूतः, तत्का पालकोऽयं भविष्यताति सम्भावनीयः ॥ २७ ॥ शक्तिः—सामर्थ्ये । दुर्गसामग्री—दुर्गादिरक्षासामग्री च । ‘अस्ती’ति शेषः । विहङ्गानां—पक्षिणाम् । इ॒द॑गिति । यथा चित्रग्रीवेण धैर्यमवलम्ब्य हिरण्यकसाहाय्येनात्मा मोचितो बन्धनादेवं सर्वैरेव पक्षिभिरुद्दिः—मित्रादिवलेनात्मा विपत्तेमोचनीय इत्यर्थः । बन्धमोक्षप्रसङ्गश्च पक्षिणां प्रायो भवत्येवेति मयाऽपि स्ववन्धमोक्षार्थमेव मित्रतयाऽऽश्रयणीय एवेत्याशयः । एनं—हिरण्यकम् । सम्पूर्णतायुक्ते—समृद्धैः । शक्तिशालिभिश्च ॥ २९ ॥ सम्प्रधार्य—निश्चित्य । पादपात—वृक्षात् । विशेषात—पूर्वापेक्षयाप्यविकम् । अन्तर्लीनः—विलान्तनिंगृदः सन् । तव सकाशात—त्वया कुतम् । भोक्ता—१ ‘सम्पूर्णेनापि कर्तव्यं मित्रमभ्युदयायिना । उदधिः परिपूर्णोपि स्वातोर्जलमपेक्षते ॥’ पा० ।

त्वया सह मम मैत्री ? । तद्रम्यताम् । मैत्री विरोधभावात्कथम् ? ।
उक्तच—ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम् ।

तयोर्मैत्री विवादश्च न तु पुष्टविपुष्टयोः ॥ ३० ॥

तथा च—यो मित्रं कुस्ते मूढ आत्मनोऽसदृशं कुधीः ।

हीनं वाऽप्यधिकं वापि हास्यतां यात्यसौ जनः ॥ ३१ ॥

तद्रम्यताम्—इति ! वायस आह—‘भो हिरण्यक ! एषोऽहं तव दुर्गद्वारे उपविष्टः, यदि त्वं मैत्रीं न करोषि—ततोऽहं प्राणमोक्षणं तवाये करिष्यामि,—अद्यारभ्य प्रायोपवेशनं मे स्यात्’इति । हिरण्यक आह—‘भो : ! त्वया वैरिणा सह कथं मैत्रीं करोमि ? । उक्तच ।

वैरिणा न हि सन्दध्यात्सुशिष्ठेनापि सन्धिना ।

सुतसमपि पानीयं शमयत्येव पावकम् ॥ ३२ ॥

वायस आह—भोः ! त्वया सह दर्शनमपि नास्ति,—कृतो वैरम् । तत्किमनुचितं वदसि ? । हिरण्यक आह—‘द्विविधं वैरं भवति, सहजं, कृत्रिमच्च । तत्सहजवैरी त्वमस्माकम् । उक्तच—

कृत्रिमं नाशमन्येति वैरं द्वाक कृत्रिमैर्गुणैः ।

प्राणदानं विना वैरं सहजं याति न क्षयम् ॥ ३३ ॥

वायस आह—‘भो : ! द्विविधस्य वैरस्य लक्षणं श्रोतुमिच्छामि, तत्कथ्यताम् ।’ हिरण्यक आह—‘भो : ! कारणेन निर्वृत्तं कृत्रिमम् । तत्तदहोपकारकरणाद्वच्छति । स्वाभाविकं पुनः कथमपि न गच्छति । तद्यथा—‘नकुल-सर्पाणाम्, शृणुभुङ्गत्याग्युधानाम्, जल-वहशोः, देव-देवत्यानाम्, मारग्येयमार्जीराणाम्, इश्वर-दरिद्राणाम्, सपलीनाम्,

मक्षकः । विरोधभावात्=विरोधात्,=मैत्री, कथं ? । न कथमपुचितेति भावः । पुष्टविपुष्टयोः=अधिकबल-हीनबलयोः ॥ ३० ॥ प्राणमोक्षणं=प्राणत्यागः । प्रायोपवेशनं=मरण-पर्यन्तमन्त्यागः, (‘अनशन’ ‘धरना’) । सन्दध्यात्=मेलनं कुर्यात् । सुशिष्ठेन=अतिष्ठेन, स्वानुकूलतमेन च ॥ ३२ ॥ सहजं=स्वाभाविकम् । कृत्रिमैः=कल्पितैः । गुणैः=सन्धिविग्रहदिगुणैः, आर्जवक्षान्त्यादिभिश्च । नाशमायातीत्यपि पाठः । प्राणदानं विना=शत्रु-वर्त्म विना । क्षय=नाशम् ॥ ३३ ॥ निर्बृतम्=उत्पदम् । तत्=कृत्रिमं । तदहोपकारकरणात्=यथायोग्योपकारकरणात् । यथा—पटादिवस्तुनाशनं वैरं कृत्रिमं—ताइशदिगुणसुन्दर-तरपदानादिना निवर्तयितुं क्षयते । शृणुभुजः=गवादयः । नखायुधः=च्याप्रादयः ।

१ ‘अथवा’ पा० ।

मिंहगजानाम्, लुब्धक-हरिणानाम्, श्रोत्रिय-भष्टक्रियाणाम्, काको-
लूकानाम्, मूर्ख-पण्डितानाम्, पतित्रता-कुलटानाम्, सज्जन-दुर्ज-
नानाच्च नित्यं वैरं भवति। न कस्य चित्केनापि कोऽपि व्यापादितः,
तथापि प्राणान्ताय यंतन्ते।' वायस आह-भोः! अकारणमेतत्।
श्रूयतां मे वचनम्—

कारणान्मित्रतां याति कारणादेति शशुताम्।

तस्मान्मित्रत्वमेवाऽन्न योज्यं वैरं न धीमता॥ ३४ ॥

तम्मात्कुरु मया सह समागमं मित्रधर्मार्थम्। हिरण्यक आह-
भोः! त्वया सह मम कः समागमः?। श्रूयतां नीतिसर्वस्वम्—
सङ्कहुष्टव्य यो मित्रं पुनः सन्धानुमिच्छति।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमध्यरीय यथा॥ ३५ ॥

अथवा—‘गुणवानहं, न मे कश्चिद्वैरनिर्यातैनं करिष्यति’—एतदपि
न मम्भाव्यम्। उत्तच्च—

सिंहो व्याकरणस्य कतुंहरत्प्राणान्प्रयान्पाणिने-

मीमांसाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम्।

चन्दोज्ञाननिधि जघान मकरो वेलातटे पिङ्गल-

मज्जाना तचेतसामतिरूपां कोऽर्थस्तिरश्चां गुणः?॥ ३६ ॥

वायस आह—अस्त्येतत्। तथापि श्रूयताम्—

मारमेयः—कुकुरः। ईश्वराः—धनिनः। लुब्धकः—व्याधः। श्रोत्रियः—वैदविहितकर्मकुशलः।
भष्टक्रियाः—अनाचाराः। न कश्चिदिति। एषां काकोलूकादीनामकृतपरस्परापकाराणामपि
परस्परं महानयं विरोधः सहज एवेति भावः। व्यापादितः—मारितः। ‘प्राणान्सन्तापय-
न्तीति पाठे—सन्तापयन्ति=परस्परं पीडयन्ति। समागमं—दर्शनादिकम्। मित्रधर्मार्थं=
मैत्रीकरणार्थम्। पाठान्तरे—इहं=प्रियमपि। सङ्कहुष्टम्=एकवारमपि विकृतम्॥ ३५॥ गुण-
वान्=साधुः, विद्वांश्। वैरनिर्यातैनं=वैरशोधनम्। (बदला)।

सिंह इति। प्रियान् प्राणानहरत्वत्तं जघान। उन्ममाथ=जघान। वेलातटे=समुद्र-
वेलाकूले। (वेला=जलघुदिमर्यादा)। अतिरूपाम्=क्रूराणम्। तिरश्चां=पश्चादीनाम्।
गुणः=पाण्डित्यादिभिः। को गुणः? =कः स्नेहः?। न कोपीत्यर्थः॥ ३६ ॥

१. न च कश्चित् केनापि व्यापादितः, तथापि प्राणान्सन्तापयन्ति। इति पा०।

२. ‘सङ्कहुष्टमपोषं यश्चति पाठा०। ३. ‘वैरयातनां’ पा०।

उपकाराच लोकानां, निमित्तान्मृगपक्षिणाम् ।
 भयालोभाच मुख्याणां मैत्री स्यादशनात्सताम् ॥ ३७ ॥
 मृद्घट इव सुखभेदो दुःसन्धानश्च दुर्जनो भवति ।
 सुजनस्तु कनकघट इव दुर्भेदः सुकरसन्धिश्च ॥ ३८ ॥
 इक्षोरग्राक्षमशः पर्वणि पर्वणि यथा रसविशेषः ।
 तद्वत्सज्जनमैत्री विपरीतानान्तु विपरीता ॥ ३९ ॥
 तथा च—आरम्भगुर्वा क्षयिणी क्रमेण लघ्वा पुरा वृद्धिमती च पश्चात् ।
 दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिज्ञा छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥ ४० ॥

तत्सर्वं या साधुरेवाहम् । अपरं त्वां शपथादिभिर्निर्भयं कैरोमि ।
 हिरण्यक आह—‘न मेऽस्ति ते शापयैः प्रत्ययः । उक्तच्च—

शापयैः सन्धितस्यापि न विश्वासं ब्रजंद्रिपोः ।
 अथते शापथं कृत्वा वृत्रः शक्रेण सूदितः ॥ ४१ ॥
 न विश्वासं विना शयुदेवानामपि सिद्ध्यति ।
 विश्वासात्रिदशेन्द्रेण दितंर्गभो विद्वारितः ॥ ४२ ॥
 अन्यच—वृहस्पतेरपि प्राज्ञस्तस्मान्नैवाऽत्र विश्वसेत् ।
 य इच्छेऽत्मनो वृद्धिमायुष्यच्च सुखानि च ॥ ४३ ॥
 तथा च—सुसूक्ष्मेणापि रन्ध्रेण प्रविशत्यन्तरं रिषुः ।
 नाशयेच शनैः पश्चात्प्लवं सलिलपूरवत् ॥ ४४ ॥

लोकानां=साधारणजनानाम् । निमित्तात्=सहवासादिना । सतां—दर्शनमात्रा-देवेति सम्बन्धः ॥ ३७ ॥ कनकघटः=स्वर्णकलशः । तद्वत्=प्रत्यहं वर्धमानरमा सतां मैत्री । खलानान्तु—प्रत्यहं विरसेति भावः ॥ ३९ ॥

आरम्भेति । दिनस्य पूर्वभागे यथा वृक्षादिच्छाया—आरम्भे दीर्घा भवति, पश्चात्क्रमशो हीयते । तथा खलानां मैत्री आदौ महती, पश्चात्क्षीणा च भवति । एवमपराह्नकालं वृक्षादिच्छाया पूर्व लघ्वी भवति, क्रमशाश्च वर्धते, एवं सङ्ग्रहमैत्री क्रमशो वर्धते इत्यर्थः ॥ प्रत्ययः=विश्वासः । वृत्रः=वृत्रासुरः । सूदितः=हतः ॥ ४१ ॥ सिद्ध्यति=वशमेति । त्रिदशेन्द्रेण=इन्द्रेण । विश्वास्य त्रिदशेन्द्रेणेति पाठान्तरम् । दितेः=दैत्यमातुः । विद्वारितः=बृणिङ्गतः ॥ ४२ ॥ तस्मात्=विश्वासस्यानर्थहेतुत्वात् ॥ ४३ ॥ मूलं=भग्नन्तं पोतं । सलिलपूरः=जलधारा ॥ ४४ ॥

१. ‘द्रवत्वात्सर्वलोहाना’मिति पाठान्तरम् । २ ‘तत्साधुरहम्’ पा० । ३ ‘करिष्यामि’ पा० । ४ ‘त्वदीयशपयैः । ५ ‘प्रविशयाभ्यन्तरं’ ।

न विश्वसेदविश्वस्तं विश्वस्तं नातिविश्वसेत् ।
 विश्वासाऽऽयमुपश्च मूलान्यपि निकृन्ततिः ॥ ४५ ॥
 न वध्यते ह्यविश्वस्तो दुर्बलोऽपि मदोत्कटैः ।
 विश्वस्ताश्चाशु वध्यन्ते बलवन्तोऽपि दुर्बलैः ॥ ४६ ॥
 सुकृत्यं विष्णुगुप्तस्य मित्राऽस्तिभार्गवस्य च ।
 वृहस्पतंरविश्वासो नीतिसन्धिविश्वा स्थितः ॥ ४७ ॥
 नथा च—महताप्यर्थसारेण यो विश्वसिति शब्दुषु ।
 भार्यांसु च विरक्तासु तदन्तं तस्य जीवितम् ॥ ४८ ॥

तच्छ्रुत्वा लघुपतनकोऽपि निरक्तरश्चिन्तयामास—‘अहो !
 वुद्धिप्रागलभ्यमस्य नीतिविषये । अथवाऽत एवास्योपरि मैत्री-
 पक्षपातः ।’ आह च—‘भो हिरण्यक !—

‘सख्यं सासपदीनं स्या’दि न्याहुर्विश्वधा जनाः ।
 तस्मात्वं मित्रातां प्राप्तो वचनं मम तच्छृणु ॥ ४९ ॥

—‘दुर्गस्थेनापि त्वया मया मह नित्यमेवालापो गुणदोपसुभाषित-
 गोष्ठीकथाः सर्वदा कर्तव्याः । यद्येवं न विश्वसिषि ।’

तच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि व्यचिन्तयन्—‘विद्वधवचनोऽयं दृश्यते
 लघुपतनकः, भत्यवाक्यश्च, तद्युक्तमनेन मैत्रीकरणम्’। आह च—भोः—
 भवत्वेवं,—त्वया परं कदाचिन्मम दुर्गे चरणपातोऽपि न कार्यः । उक्तच्च

निकृन्ततिः=विनाशयति ॥ मदोत्कटः=अतिवलशालिभिः ॥ ४६ ॥ सुकृत्यं—
 यथावदुपायकरणं—विष्णुगुप्तस्य=चाणक्यस्य—नीतिः । भार्गवस्य=शुक्राचार्यस्य, नीतिरिति
 सम्बधः । अविश्वासो-वृहस्पतेनांतिः । सन्धिः=मार्गः । शृङ्खला । विधास्थितः=विप्रकारः ॥ ४७ ॥

अर्थसारेण=अतिधनबलसम्पन्नोपि । इत्थम्भूतलक्षणे तृतीया । तदन्तं=तावत्पर्यन्तम् ।
 नतो वध्यते इत्यर्थः ॥ ४८ ॥ सतां=सज्जनानां । सख्यं=मैत्री । सासपदीनं=सासमिरपि
 पदैः—सह गमनैनिध्यते । त्वया तु मम एतावान् वार्तालापो जातः, अतस्त्वमनिच्छ-
 न्तपि मे सुहृद्ग्रात एव । त्वं=हिरण्यकः । तत्=तस्मात् ॥ ४९ ॥ वचनमेवाह वायसः—
 दुर्गेनि । दुर्गस्थेन=स्वबिलस्थेन । गुणदोषविचारपरा या सुभाषितगोष्ठी तस्यां कथाः=

? ‘सतां सासपदं मैत्र’मिति । ‘बलात्वं मित्रता’ मिति च पाठान्तरम् । २ इतः पूर्व-
 ‘आह च—भोः । भवत्वेवं, त्वया”—इत्यर्थकः पाठः खण्डित इवाभाति ।

भीतभीतः पुरा शशुभूदं मन्दं विसर्पति ।

भूमौ प्रहेलया पश्चाजारहस्तोऽङ्गनास्त्विव ॥ ५० ॥

तच्छ्रुत्वा वायस आह—‘भद्र ! एवं भवतु ।’ ततः प्रभृति तौ द्वावपि सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन्तौ तिष्ठतः । परस्परं कृतोपकारौ कालं नयतः । लघुपतनकोऽपि मांसशकलानि मेध्यानि बलिशेषाण्य-न्यानि वात्सल्याहृतानि पकाशविशेषाणि हिरण्यकार्थमानयति ।

हिरण्यकोऽपि तण्डुलानन्यांश्च भद्र्यविशेषैऽलघुपतनकार्थं रात्रा-वाहृत्य तत्कालायातस्यार्पयति । अथवा युज्यते द्वयोरप्येतन् । उक्तच्च-

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति ।

भुङ्क्ते भोजयते चैव पङ्किधं प्रीतिलक्षणम् ॥ ५१ ॥

नोपकारं विना प्रीतिः कथञ्चित्कस्य चिद्रवेत् ।

उपयाचितदानेन यतो देवा अभीष्टदाः ॥ ५२ ॥

तावत्प्रीतिर्भवेष्टोके यावदारं प्रदीयते ।

वत्सः क्षीरक्षयं दृष्ट्वा परिस्यजति मातरम् ॥ ५३ ॥

पश्य दानस्य माहात्म्यं सद्यः प्रत्ययकारणम् ।

यत्प्रभावादपि द्वेषी मित्रतां याति तत्क्षणात् ॥ ५४ ॥

पुत्रादपि प्रियतरं खलु तेन दानं मन्ये पशोरपि विवेकविवर्जितस्य ।

दत्ते खले नु निखिलं खलु येन दुर्गमं नित्यं ददाति महिषी सुसुतापि पश्य ॥ ५५ ॥

किं बहुना—प्रीतिं निरन्तरां कृत्वा दुर्भेदां नखमांसवः ।

मूषको वायसश्चैव गतावेकान्तमित्रताऽः ॥ ५६ ॥

आलापाः । विदग्धवचनः—चतुरः । भूमौ—मन्दं मन्दं—शनैः शनैः; शत्रुः प्रसर्पति—चेष्टते, पश्चात्,—प्रहेलया—चरया, अवश्या,—सत्वरमिति यावत् । यथा जारस्य हस्तः—पराङ्गनावपुषि पूर्वं शनैः शनैः; पश्चाजाते विश्रम्ये सरभसं प्रवर्तते तथेत्यर्थः ॥ ५० ॥

एवं भवतु=‘नाहं तव दुर्गे चरणपातं करिष्यामा’त्येवं मे प्रतिज्ञेत्यर्थः । सुभाषितगोष्ठीसुखं=परस्परमधुरालापसुखम् । मांसशकलानि=मांसखण्डानि । मेध्यानि=पवित्राणि, बलिशेषाणि=काकबल्यादिशेषाणि । वात्सल्याहृतानि=स्नेहानीतानि । पकाशविशेषाणि=खण्डखायानि (‘मिठाईं ‘लड्डू-पेढा’’) । आहृत्य=आनीय । तत्कालायातस्य=रात्रावागतस्य । (रात्रौ=रात्रिसुखे-प्रदोषे) । गुणं=रहस्यम्, आख्याति=श्रूते । पृच्छति=‘रहस्य’मिति शेषः ॥ ५१ ॥

उपयाचितम्=उपहारः । (मनोतीं ‘भोग’ ‘प्रसाद’) ॥ ५२ ॥ वस्मः=तर्णकः । ‘बछडा’ । क्षीरं=दुर्गम् ॥ ५३ ॥ प्रत्ययः=विश्वासः; । द्वेषी=शत्रुः ॥ ५४ ॥ पशोरपि दानं प्रियतरं, । यतो सवत्साऽपि महिषी (‘मैसर’) । खले=तिलकलके (‘खलो’) दत्तेऽशेषे दुर्गं ददाति, वत्सार्थमपि

एवं स मूपकस्तदुपकारगच्छितस्तथा विश्वस्तो यथा तस्य पक्ष-
मध्ये प्रविष्टस्तेन सह सर्वेऽद्व गोष्ठीं करोनि । अथान्यमित्रहनि
वायसोऽश्रुपूर्णनयनः समभ्यत्य सगद्वदं तमुवाच—‘भद्र ! हिरण्यक !
विरक्तिः सज्जाता मे साम्प्रतं देशस्थाम्योपरि, तदन्यत्र यास्यामि ।’

हिरण्यक आह—‘भद्र ! कि विरक्तेः कारणम् ?’ । स आह—‘भद्र !
श्रूयताम्,—अत्र देशो महत्याऽनावृष्ट्या दुर्भिक्षं सज्जातम् । दुर्भिक्षत्वा-
ज्जनां वुमुक्षार्पीडितः कोऽपि वलिमात्रमपि न प्रयच्छति । अपरं-
गृहे गृहे वुमुक्षितजनैविहङ्गानां वन्धनाय पाशाः प्रगुणीकृताः सन्ति ।
अहमप्यायुःशेषतया पाशे न पतितोऽस्मि—एतद्विरक्तेः कारणम् ।
तेनाहं विदेशं चलित इति—वाष्पमोक्षं करोमि ।’

हिरण्यक आह—‘अथ भवान् क प्रस्थितः ?’ । स आह—‘अस्ति
दक्षिणापथे वनगहनमध्ये महासरः । तत्र त्वत्तोऽधिकः परमसुहृत्कूर्मो
मन्थरको नाम । स च मे लघुमत्स्यमांसखण्डानि दास्यति । तद्व-
क्षणात्तेन सह सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन्सुखेन कालं नेष्यामि ।
नाहमत्र विहङ्गानां पाशबन्धनेन क्षयं द्रेष्टुमिच्छामि । उक्तच—

अनावृष्टिहते देशे शस्ये च प्रलयझते ।

धन्यास्तात ! न पश्यन्ति देशभज्जं कुलक्षयम् ॥ ५७ ॥

न शेषयतीत्यर्थः ॥५५॥ नखर्मासवत्=नखाहुलीसम्बन्धवत् । (जैसे ‘अंगुलियों से नख
दूर नहीं होते हैं’) । एकान्तमित्रतां=टूटमैत्रीम् । ‘अकृतिमित्रतामि’ति पाठान्तरे—
स्वाभाविकी मैत्रीम् ॥५६॥ उपकाररचितः=उपकारावर्जितस्वान्तः । पक्षमध्ये=
च्छदमध्ये (‘पांखों में’) । गोष्ठींकथां (‘गप—सप’) । साम्प्रतम्=इदानीम् । अनावृत्या=
अवर्षणेन । दुर्भिक्षम्=दुष्कालम् । (सूखा, ‘अकाल’) । वलिमात्रमपि=काकवलिमपि ।
विहङ्गानां=पक्षिणाम् । पाठान्तरे—उद्धारितः=उन्मुक्तः । इति=अस्मात्कारणात् ।
वाष्पमोक्षम्=अश्रुमोचनम् । वनगहनमध्ये=दुर्गमवनमध्ये । कूर्मं=कच्छपः । तेन=
कच्छपेन । क्षयं=विनाशम् । शस्ये=धान्ये । प्रलयं=विनाशम् । देशभज्जं=प्रजापलायना

१ ‘पाशेन बद्ध उद्धारितोऽस्मि’ इति मुद्रितपाठः । २ ‘शक्तोमि’ । ३ ‘धन्यास्तात न
पश्यन्ति देशभज्जं कुलक्षयम् । परहस्तगता भार्या मित्रच विषमस्थितम् ’ पा०

कोऽतिभारः समर्थानां ? , किं दूरं व्यवसायिनाम् ?
को विदेशः सविद्यानां ? , कः परः प्रियवादिनाम् ? ॥ ५८ ॥
विद्वस्वज्ञ नृपत्वज्ञ नैव तुल्यं कदाचन ।
स्वदेशो पूज्यते राजा विद्वान्सर्वत्र पूज्यते ॥ ५९ ॥

हिरण्यक आह—‘यदेवं तदहमपि त्वया सह गमिष्यामि,
ममापि महङ्कुःखं वर्तते’ । वायस आह—‘भोः ! तव किं दुःखम् ?
तत्कथय ।’

हिरण्यक आह—‘भोः ! वहु वक्तव्यमस्त्यत्र विपर्ये, तत्तत्रैव
गत्वा सर्वं सविस्तरं कथयिष्यामि ।’ वायस आह—‘अहं तावदा-
काशगतिः, तत्कथं भवतो मया सह गमनम् ?’ । स आह—‘यदि
मे प्राणान्तक्षसि तदा स्वपृष्ठमारोप्य मां तत्र प्रापय, नान्यथा मम
गतिरस्ति ।’ तच्छ्रुत्वा सानन्दं वायस आह—‘यदेवं तद्वन्योऽहं,
यद्वतापि सह तत्र कालं नयामि । अहं सम्पातादिकानष्टावुडीन-
गतिविशेषान्वेदिः । तत्समारोह मम पृष्ठम् । येन सुखेन त्वां तत्सरः
प्रापयामि ।’

हिरण्यक आह—‘उडीनानां नामानि श्रोतुमिन्छामि ।’ स आह—
सम्पातज्ञ विपातज्ञ महापातं निपातनम् ।
वकं तिर्थकथा चोर्ध्वमष्टमं लघुसंज्ञकम् ॥ ६० ॥

तच्छ्रुत्वा हिरण्यकस्तत्क्षणादेव तदुपरि समारूढः । सोऽपि
श्नैः—श्नैःस्तमादाय सम्पातोङ्गयनेन प्रस्थितः सन् क्रमेण तत्सरः
प्राप्तः । ततो लघुपतनकं मूषकाधिष्ठितं विलोक्य दूरतोऽपि देशकाल-
विन्—‘असामान्यकाकोऽय’ मिति ज्ञात्वा सत्वरं मन्थरको जले प्रविष्टः ।

लघुपतनकोऽपि तीरस्थतरुकोटरे हिरण्यकं मुक्त्वा शाखाप्रमा-
रुष्य तारस्वरेण प्रोवाच—‘भो मन्थरक ! आगच्छ आगच्छ, तव मित्र-
महं लघुपतनको नाम वायसश्चिरात्सोत्कण्ठः समायातः । तदागत्या-
लिङ्गय माम् । उक्तञ्च—

दशभङ्गम् ॥ ५७ ॥ उडीनगतिः=विहायसा गमनम् । (‘उडान ’) । असामान्यकाकः=

१ ‘सम्पातादिकान्वश्चाङ्गयनामी’ति पा० ।

किं चन्दनैः सकर्पौरैस्तुहिनैः किं च शोतलैः ? ।
सर्वे ते भिन्नगात्रस्य कलां नार्हन्ति पोडशीम् ॥ ६१ ॥

तथा च—केनामृतमिदं सृष्टं ‘मित्र’मित्यक्षरद्रव्यम्’ ।
आपदां च परिनाणं शोकसन्तापभेषजम् ? ॥ ६२ ॥

तच्छ्रुत्वा निपुणतरं परिज्ञाय सत्वरं मलिलान्निष्कम्य पुलकित-
तनुगानन्दाश्रुपूरितनयनो मन्थरकः प्रौवाच—‘एहोहि मित्र ! आलि-
ङ्ग्य माम्, चिरकालान्मया त्वं न मम्यक्षपरिज्ञातः । तेनाहं
सलिलान्तः प्रविष्टः । उक्तच्च-

‘यस्य न जायते वीर्यं न कुलं न विचेष्टितम् ।
न तेन सङ्गतिं कुर्यादित्युवाच शृहस्पतिः ॥ ६३ ॥

एवमुक्ते लघुपतनको वृक्षादवतीर्यं तमालिङ्गितवान् । अथवा
साधिद्भुन्यते—

अमृतस्य प्रवाहैः किं कायक्षालनसम्भवैः ? ।
चिरान्मित्रपरिष्वङ्गो योऽसौ मूल्यविवर्जितः ॥ ६४ ॥

एवं द्वावपि तौ विहितालिङ्गनौ परस्परं पुलकितशरीरौ वृक्षा-
दधः समुपविष्टौ प्रोचतुग्रात्मचरित्रवृत्तान्तम् । हिरण्यकोऽपि मन्थर-
कम्य प्रणामं कृत्वा वायसाभ्याशे समुपविष्टः ।

अथ तं समालोक्य मन्थरको लघुपतनकमाह—‘भोः ! कोऽयं
मूषकः ? कस्मात्त्वया भद्र्यभूतोऽपि पृष्ठमारोप्याऽनीतः ?’ तत्रात्र
म्बल्पकारणेन भाव्यम् !’ । तच्छ्रुत्वा लघुपतनक आह—‘भोः ! हिर-
ण्यको नाम मूषकोऽयं, मम सुहृद—द्वितीयमिव जीवितम् । तर्कि
बहुना—

विशिष्टोयं काकः । मुक्त्वा=नंस्थाप्य । तुहिनैः=तुषरैः (‘बर्फ’) । परिनाणं=रक्षणम् ।
शोकसन्तापस्य सन्तापस्य=रोगस्य शोकसन्तापयोर्बा-भेषजम्=ओषधम् ॥ ६२ ॥

निपुणतरं=नितराम् । (अच्छी तरह से) । चिरकालात्=चिरक्योगाद्यतोः ।
वीर्यं=पराक्रमः । विचेष्टिं=व्यापारादिः ॥ ६३ ॥ कायक्षालनसम्भवैः=शरीरमात्र-
सुखदैः ॥ ६४ ॥ विहितालिङ्गनौ=कृतपरिष्वङ्गो । पुलकितशरीरौ=रोमाभितदेही ।

पर्जन्यस्य यथा धारा यथा च दिवि तारकाः ।
 भूतले रेणवो यद्ग्रस्तङ्गयथा परिवर्जिताः ॥ ६५ ॥
 गुणाः सङ्ग्रामापरित्यक्तास्तद्ग्रस्य महात्मनः ।
 परं निवेदमापत्तः सम्प्राप्तोऽयं तवान्तिकम्' ॥ ६६ ॥

मन्थरक आह—‘किमस्य वैराग्यकारणम्’? । वायस आह—पृष्ठो
 मया तत्रैव, परमनेनाभिहितम्,—‘यद्ग्रहु वक्तव्यमस्ति, तत्तत्रैव गत्वा
 कथयिष्यामि’ इति—ममापि न निवेदितम् । तद्वद्! हिरण्यक! इदानीं
 निवेद्यतामुभयोरप्यावयोरस्तदात्मनो वैराग्यकारणम् । सोऽत्रवीत्-

१. हिरण्यक-ताम्रचृड-कथा

अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम् । तस्य
 नातिदूरे मंठायतनं भगवतः श्रीमहादेवस्य । तत्र च ताम्रचृडो
 नाम परित्राजकः प्रतिवर्मति स्म । म च नगरे भिक्षाटनं कुत्वा
 प्राणयात्रां समाचरति । भिक्षाशेषच्च तत्रैव भिक्षापात्रे निधाय
 तद्विक्षापात्रं नागदन्तेऽवलम्ब्य पश्चाद्रात्रौ स्वपिति । प्रत्यूषे च
 तदन्तं कर्मकरणां दत्वा सम्यक्तत्रैव देवतायतनं संमार्जनोपलेपन-
 मण्डनादिकं सम्यक्कारयति ।

अन्यस्मिन्नहनि मम वान्धवैर्निवेदितम्—‘स्वामिन्! मठायतने
 सिद्धमन्तं मूषकभयात्तत्रैव भिक्षापात्रे निहितं नागदन्तेऽवलम्बितं
 तिष्ठति सर्दैव, तद्वयं भक्षयितुं न शक्नुमः । स्वामिनः पुनरगम्यं
 किमपि नास्ति, तत्किं वृथाऽटनेनान्यत्र, अद्य तत्र गत्वा यथेच्छं
 भुज्जमहे भवत्प्रसादात् ।’

आत्मनः—चरित्रस्य=शीलस्य, आचरणस्य । वृत्तान्तं=वार्ताम् । वायसाभ्याशे=काकसभीषे ।
 भूतले रेणवः=बालुकाकणाः । ‘सिकतारेणवो यद्’ दिति पाठान्तरम् । परं=किन्तु—सर्वगुण-
 वानप्यर्यं महात्मा । निवेद=शोकं, ग्लानिच्च । वौपत्तः=उपगतः । अयं=हिरण्यकः । तत्र=
 कच्छपस्य । अन्तिकं=समीपम् ॥ ६६ ॥ मठायतनं=देवागरम् । प्राणयात्रां=जीवन-
 निर्वाहं । नागदन्ते=भित्तिकाष्ठे (‘खंटी पर’) । प्रत्यूषे=प्रभाते । कर्मकरा:=भूत्याः ।
 संमार्जनादयः—गृहसंस्कारमेदाः (‘झाहू’ ‘लिपाई’ ‘पुताई’) । वान्धवै=मूषकैः । सिद-

१. ‘महायतनं भगवतो महेश्वरस्य । तत्प्रत्यासम्भे मठे’ इति । २. ‘समाकापयति’ । पा० ।

तदाकर्ण्योऽहं सकल्युथपरिवृत्तमत्क्षणादेव तत्र गतः । उत्पत्त्य च नम्मिन भिक्षापात्रे समाप्त्वः । तत्र भद्र्यविशेषोपाणि सेवकानां दत्त्वा पश्चात्स्वयमेव भक्षयामि । सर्वपां तुम्हौ जातायां भूयः स्वगृहं गच्छामि । एवं नित्यमेव तदन्नं भक्षयामि । परिव्राजकोऽपि यथाशक्ति रक्षति,—परं यदेव निद्रान्तरितो भवति—तदाहं तत्रानहात्मकृत्यं कर्गंमि ।

अथ कदाचित्तेन मम त्रामार्थं महान्यन्तः कृतः । जर्जरवंशः ममानीनः । तेन सुप्रोऽपि मम भयाद्विक्षापात्रं ताडयति । अहमप्य-भक्षितेऽप्यन्ने प्रहारभयाद्वप्सर्पामि । एवं तेन सह सकलां गत्रिं विग्रहपरम्यं मे कालो त्रजति ।

अथाऽन्यमित्तन्नहनि तस्य मठे बृहस्पितिङ्गामा परिव्राजकस्तस्य मुहूर्तार्थयात्राप्रसङ्गेन प्राष्टुणिकः(पान्थः)ममायातः । तं दृष्ट्वा प्रत्युत्थान-विधिना संभाव्य प्रतिपत्तिपूर्वकमभ्यागतक्रिया नियोजितवान् । ततश्च गत्रावेकत्र कुशम्भूतरे द्वावपि प्रसुम्हौ धर्मकथां कथयितुमारवधौ ।

अथ बृहस्पितकथागोष्ठीपु स ताम्रचूडो भूपकत्रामार्थं व्याक्षिम-मना जर्जरवंशेन भिक्षापात्रं नाडयंस्तस्य शून्यं प्रतिवचनं प्रयच्छति, तन्मयो न किञ्चिदुदाहरति ।

अथासावभ्यागतः परं कोपमुपागतस्तमुवाच—‘भोस्ताम्रचूड ! परिज्ञातस्त्वं सम्यङ् न सुहृत्, तेन मया सह माहादं न जल्पसि ।

मञ्चं=पकमञ्चं (‘रोटी’ आदि) । स्वामिनः=हिरण्यकस्य भवतः । निद्रान्तरितः=निद्रापरिवृतः । ‘निद्रान्तित’ इति पाठान्तरम् । आत्मकृत्यं=भिक्षाभक्षणम् । तेन=जर्जरवंशेन (दृष्टे बांससे) । विग्रहपरस्य=कलहपरस्य । बृहस्पत्नी स्फित्ती यस्यासौ बृहस्पितक् । ‘न्नियां स्फित्ती कटिप्रोथा’वित्यमरः । (‘फान्न’दृग्गा) प्राष्टुणिकः=अतिथिः (‘पाहुना’) । मभ्याव्य=सत्कृत्य । प्रतिपत्तिपूर्वकम्=सादरम् । अभ्यागतक्रिया=अतिथियोग्यभोजनादिकर्मणा । नियोजितः=सन्तप्तितः । कुशत्वस्तरे=कुशास्तरणे । ‘संस्तरे’ हस्यपि पाठः । बृहस्पितचा सह याः कथागोष्ठयः=वार्ताप्रसङ्गाः—तासु—बृहस्पितकथागोष्ठीपु । व्याक्षिम-मनाः=व्याकुलचित्तः । शून्यं=केवलं वाड्मात्रेण प्रतिवचनम्=उत्तरम् (हुंकारा) । प्रयच्छति=ददाति । तन्मयः=मूषकाक्षिमचित्तः । उदाहरति=बृते ।

तद्रात्रावपि त्वदीयं मठं त्यक्त्वाऽन्यत्र मठे यास्यामि । उक्तच्च-

‘एहागच्छ, समाश्रयासौनमिदं, कस्माच्चिराद् दृश्यसे !
का वार्ता ? न्वतिदुर्बलोऽसि !, कुशलं ?, प्रातोऽस्मि ते दर्शनात्’ ।

एवं ये समुपागतान्प्रणयिनः प्रह्लादयन्त्यादरा-
त्तेषां युक्तमशङ्कितेन मनसा हर्म्याणि गन्तुं सदा ॥ ६७ ॥

गृही यत्रागतं दृष्टा दिशो वाक्षेत वाप्यधः ।

तत्र ये सदने यान्ति ते शङ्करहिता वृष्टाः ॥ ६८ ॥

नाभ्युत्थानक्रिया यत्र नालापा मधुराक्षराः ।

गुणदोषकथा नंव तत्रं हर्म्ये न गम्यते ॥ ६९ ॥

तदेकमठप्राप्त्याऽपि त्वं गर्वितस्त्यक्तसुहृत्संहो नैतद्वेद्स्मि यन्वया
मठाश्रयव्याजंन नरकोपार्जनं कृतम् । उक्तच्च-

नरकाय मतिस्ते चेत्पौरोहित्यं समाचर ।

वर्षं यावत्क्रमन्येन मैठचिन्तां दिननत्रयम् ॥ ७० ॥

तन्मूर्ख ! शोचितव्येऽप्यर्थं त्वं गर्वितः । तदहं त्वदीयं मठं
रात्रावपि परित्यज्य यास्यामि’। अथ तच्छ्रुत्वा भयत्रस्तमनास्ताम्रचृद्-
स्तमुवाच—‘भो भगवन् ! मैवं वद, न त्वत्समोऽन्यो मम सुहृत्क-
शिदस्ति, परं तच्छ्रूयतां गोष्ठीशैथित्यकारणम् । ‘एष दुरात्मा मूषकः
प्रोक्तस्थाने धृतमपि भिक्षापात्रमुत्प्लुत्यारोहति, भिक्षाशेषच्च तत्रस्य
भक्षयति । तदभावादेव मठं मार्जनक्रियापि न भवति । तन्मूषक-
त्रासार्थमेतेन वंशेन भिक्षापात्रं मुहुर्मुहुस्ताडयामि ।’ नान्यत्कारण-

अभ्यागतः=अतिथिः । साहारां=सुसनेहं । कुशलम्=अपि तव कुशलम् ? । एवं
ये प्रणयिनः=सुहृदः । प्रह्लादयन्ति=हर्षयन्ति, तेषामेव हर्म्याणि=गृहान् प्रति गन्तुमुचितम् ।
नान्येषामित्यर्थः ॥ ६७ ॥ गृही=गृहस्वामी । दिशो वाक्षेत, अधः=भूमि वा वीक्षेत, तेषां
गृहे गच्छन् पुरुषः शङ्करहितो वृष्टः=बलीवदो मूर्खं एव ॥ ६८ ॥ मठनिन्तां=मठक्षादिकम् ।
पाठान्तरे माठपत्थं=मठाखिपतित्वं (‘महन्ता’) । ‘पत्थन्तुपुरोहिताखिभ्यो य’ गिति यक् ॥ ७० ॥

१ ‘समाविश्यासनमिदं’ ‘समाश्रयसा’ । २ ‘कावार्ताऽप्तिसुदुर्बलोऽसि पा० । ३ ‘प्रत्यान-
पत्यादरात्’ पा० । ४ ‘नालापमधुरा गिरः’ । ५ ‘तस्य हर्म्ये’ । ६ ‘माठपत्थमिति पा० ।
७ ‘शोचितव्यस्वं गर्वे गतः’ । पा० ।

मिति । अपरमेतन्कुनूहलं पश्यास्य दुरात्मनो-यन्मार्जारमर्कटादयोऽपि
तिरम्भुता औम्योत्पत्तनेन ।'

बृहत्स्फुगाह—‘अथ ज्ञायते तस्य विलं कस्मिंश्चित्प्रदेशो ? ।
तथा चूड आह—‘भगवन् ! न वेद्यि सम्यक्’ । स आह—‘नूनं निधा-
नम्योपरि तस्य विलम् । निधानोषमणा निश्चितं प्रकृद्देतेऽसौ । उत्तच्च—
ऊपरापि वित्तजो बृद्धिं तेजो नवनिं देहिनाम् ।

किं पुनस्तस्य सम्भोगस्त्यागकर्मसमन्वितः ॥ ७१ ॥
तथा च—नाकस्माच्छाण्डिली मातविकीणाति तिलैस्तिलान् ।
लुभितानितरैर्येन हेतुरत्र भविष्यति ॥ ७२ ॥

ताम्रचूड आह—कथंमेतन् ? । स आह—

२. शाण्डिली-तिलकल्कविक्रियकथा

एकदाऽहं कस्मिंश्चित्स्थाने प्रावृट्काले ब्रतप्रहणनिमित्तं कच्चि-
द्वाह्यणं वासार्थं प्रार्थितवान् । ततच्च तद्वचनात्तेनापि शुश्रूषितः
सुखेन देवार्चनपरमितप्राप्तमि । अथान्यस्मिन्नानि प्रत्यूषे प्रवुद्धोऽहं
ब्राह्मणब्राह्मणीसंवादे दत्तावधानः शृणोमि ।

तत्र ब्राह्मण आह—‘ब्राह्मण ! प्रभाते दक्षिणायनसङ्कान्तिरनन्त-
दानफलदा भविष्यति । तदहं प्रतिप्रहार्थं ग्रामान्तरं यास्यामि ।
त्वया ब्राह्मणस्यैकस्य भगवतः सूर्यस्योदेशेन किञ्चिद्द्वौजनं दातव्यम्’ ।

तद्भावान्=भृत्यादिदानाय भिक्षाशेषस्यागावात् । अस्य=मूषकस्य । मर्कटः=
वानरः । उत्पत्तमेन=उत्पुत्तमेन, (कूदने में) । अथेति-प्रश्ने । निधानस्य=भूमिस्थ-
धनस्य (‘गडा—हुआ खजाना’) । निधानोषमणा=निधानबलेन (‘धन की गर्मी में’) । हे
मातः ! शाण्डिलं=शाण्डिल्यगोत्रा कानन ब्राह्मण । अक्समात्=व्यर्थमेव । लुभितान्=
कुटिलांस्तिलान् । अन्यैः—अस्वाण्डिलैः । न विक्रीणाति, किन्तु-अत्र कश्चन हेतुर्भविष्यतीत्यर्थः ।
‘नूनं हेतुरत्रे’ति पाठो युक्ततरः ॥ शाण्डिलस्य गोत्रापत्यं स्त्री शाण्डिली ॥ ७२ ॥

प्रावृट्काले=वर्षतीं । ब्रतप्रहणनिमित्तं=वर्षासु मासचतुष्टयमेकत्रावस्थानाय ।
(‘चौमासा’ करनेको) । यतीनां वर्षतीं चतुर्पुर्व मासेषु एकत्रावस्थानं हि ब्रतम् ।
तद्वचनात्=ब्राह्मणवचनात् । तेन=ब्राह्मणेन । दक्षिणायनसङ्कान्तिः=कर्कसङ्कान्तिः ।
सूर्यस्योदेशेन=सूर्यमुद्दिश्य, सूर्यप्रातये ।

अथ तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणी परमपतरवचनैस्तं भर्त्सयमाना प्राह—
‘कुतस्ते दारिद्र्योपहतस्य भोजनप्राप्तिः ? , तकिं न लज्जसे एवं
ब्रवाणः ? । अपि च—‘न मया तव हस्तलग्नयः क्वचिदपि लक्ष्यं
मुखम् . न मिष्टानम्याम्बादनम् , न च हस्तपादकण्ठादिभूपणम् ।’

तच्छ्रुत्वा भयत्रम्तोऽपि विप्रो मन्दं-मन्दं प्राह—ब्राह्मणि !
नैतद्वृज्यते वक्तुम् । उत्तर्व—

प्रासादापि तदर्थं च कम्माक्षो दीयतेऽर्थिषु ।

इच्छानुरूपो विभवः कदा कस्य भविष्यति ? ॥ ७३ ॥

‘हृष्वरा भूरिदानेन यज्ञभन्ते फलं किल ।

दरिद्रस्तव्य काकिण्या ग्रास्युया’दिति नः श्रुतंम् ॥ ७४ ॥

दाता लघुरपि सेव्यो भवति न कृपणो महानपि समृद्धया ।

कृपोऽन्तःस्वादुजलः प्रीन्यै लोकस्य—न समुद्रः ॥ ७५ ॥
तथा च—अकृतत्वागमहिङ्गा मिथ्या कि ‘राजराज’शब्देन ?

गोप्तारं न निधीनां कथयन्ति महेश्वरं वितुधाः ॥ ७६ ॥

अपि च—सदा दानपरिक्षणाः शस्त एव करीष्वरः ।

अदानः पीनगात्रोऽपि निन्द्य एव हि गर्दभः ॥ ७७ ॥

सुशीलोऽपि सुवृत्तोऽपि यात्यदानादधो घटः ।

पुनः कुञ्जापि काणापि दानादुपरि कर्करी ॥ ७८ ॥

दारिद्र्योपहतस्य=रादिद्यविकल्प्य । भोजनप्राप्तिरपि नास्ति, कुतो ब्राह्मण-
भोजनस्यावसर इत्थर्थः । तव हस्तलग्नया=नव पाणिगृहीत्या भायंया । आस्वादनं—
‘लक्ष्यमिति शेषः । पतत=इत्थम् । अर्थिषु=यात्केभ्यः । विभवः=धनसम्पत्तिः—न भवि-
ष्यतीत्यर्थः ॥ ७२ ॥ हृष्वराः=राजानो धनिनश्च । भूरि दानेन=वहु दानेन । काकिण्या=
कपर्दिक्याऽपि (‘कौड़ी’) । श्रुतं=वेदधर्मशास्त्रादिनिर्णयोऽस्माभिं श्रुतः॥७३॥ दाता लघुरपि
सेव्यते कृपवत् । कृपणो महाधनोपि समुद्रवत्—न लोकमन्तोषाय भवतीत्याशयः ॥ ७५ ॥

दानशक्तिविकलं निधीनां गोप्तारं—कुवेरं सर्वनिधिपतिमपि राजराजपदवाच्यमपि च
लोका महेश्वरं न कथयन्ति । किन्तु गिरिशं त्यागशीलं—महेश्वरं—कथयन्ति । ‘राजराजो धना-
थिषः’ ‘शिवः शूली महेश्वरः इत्यमरः ॥ ७६ ॥ ‘दानं=मदः, त्यागशः । शस्तः=शोभनः ।
करीष्वरः=हस्तियूधपतिः । पीनगात्रः=पीवरतनुः ॥ ७७॥ प्रपादौ=घटः—जलादानात्—अथो

१ ‘न मया तव हस्ताद्रं प्राप्य लक्ष्यं क्वचिस्मुखम् ।

नास्वादितव्य मिष्टाक्षं का कथा भूषणादिषु ? ॥’

२ ग्रामादर्थमपि ग्रासमथिभ्यः कि न दीयते’ । ३ ‘श्रुतिः’ पा० ।

यच्छञ्जलमपि जलदो वल्लभतामेति सकललोकस्य ।
नित्यं प्रसारितकरो मित्रोऽपि न वीक्षितुं शक्यः ॥ ७९ ॥

एवं ज्ञात्वा दारिद्र्याभिभूतैरपि भ्वल्पात्म्वल्पतरं काळं पात्रे च
देयम् । उत्तरः—

सत्पात्रं महता श्रद्धा देशः कालो यथोचितम् ।
यर्हायते विवेकज्ञस्तदानन्द्याय कल्पते ॥ ८० ॥
तथा च—अर्तिनृणा न कर्त्तव्या तृणां नैव परित्यजेत् ।
अर्तिनृणाऽभिभूतस्य शिखा भर्वति मस्तके ॥ ८१ ॥

त्राप्यण्याह—‘कथमेतत् ?’ । म आह—

३. पुलिन्द-शूकर-सर्प-शृगालकथा

अस्ति कम्भिश्चिद्वनोद्देशो कश्चित्पुलिन्दः । म च पापद्विं कर्तुं वनं
प्रनि प्रमिथतः । अथ तेन प्रसर्ता महान् अञ्जनपर्वतशिखराकारः
क्रोडः समासादितः । तं हप्त्वा कर्णान्ताकृष्टबाण इमं श्लोकमपठन्—
न मे धनुर्नार्डपि च बाणयोजनं दृष्टाऽपि शङ्कां समूपैति शूकरः ।
यथा च पश्याम्यहमस्य निश्चयं यमेन नृन् प्रहितो ममान्तिकम् ॥

अधासौ तेन निश्चितसायकेन समाहतः ।

अथ शूकरेणाऽपि कोपाविष्टचेतसा वालेन्दुशुतिना दंष्ट्रा-
ग्रेण पाटितोदरः पुलिन्दो गतासुभूतले न्यपतन् । अथ लुधधकं
व्यापाद्य शूकरोऽपि शरप्रहारवेदनया पञ्चत्वं गतः । एतस्मिन्न-
याति=नौचैरेव तिष्ठति । कर्करी=गलन्तिका तु (‘करी’ ‘तूतिया’) । पान्येभ्यो जलादिदाने-
साधनांभूता अत उपरि=घटसुखोपरि तिष्ठति । प्रपादौ घोपरि शारवं निधाय तदुपरि कर्करा
स्थाप्यते ॥ ७८ ॥ प्रसारितकरः=भिक्षार्थं प्रसारितपाणिः, विस्तारितमूखश्च । मित्रः=
सूर्यः, मित्रं=सुहृत्, =अपि शब्दात् ॥ ७९ ॥

पुलिन्दः=शूकरः । पापद्विं=मृगया । ‘पापद्विंमृगयाऽप्येवो मृगव्याच्छोदने अपा’ति
हैमः । (‘शिकार’) । प्रसर्ता=गच्छता । अञ्जनपर्वतशिखराकारः=सौबीरा अनपर्वतशिखर-
तुल्यकृष्णवर्णः । क्रोडः=शूकरः । कर्णान्तमाकृष्टबाणः=कर्णान्तकृष्णशरः । निश्चितेन=
ताक्षणेन । सायकेन=बाणेन । समाहतः=ताङ्गितः । वालेन्दुशुतिना=खण्डचन्द्रकान्तिना ।

न्तरे कश्चिदासन्नमृत्युः शृगाल इतस्ततो निराहारतया पीडितः
परित्रमस्तं प्रदेशमाजगाम । यावद्वराहपुलिन्दौ द्वावपि पश्यति
तावत्प्रहृष्टो व्यचिन्तयन्—‘भोः ! सानुकूलो मे विधिः, तेनैवैत-
दचिन्तितं भोजनमुपमिथतम । अथवा साधिवदमुच्यने—

अकृतेऽप्युद्यमे पुंसामन्यजन्मकृतं फलम् ।

शुभाशुभं समभ्येति विधिना संनियोजितम् ॥ ८२ ॥

तथा च—यस्मिन्देशो च काले च वयसा यादेशेन च ।

कृनं शुभाऽशुभं कर्म तत्था तेन भुज्यते' ॥ ८३ ॥

तदहं तथा भक्षयामि यथा बहून्यहानि में प्राणयात्रा भवति ।
तत्त्वदेनं स्नायुपादां धनुष्कोटिगतं भक्षयामि । उत्तरं—

शनैः शनैश्च भोक्तव्यं स्वयं वित्तमुपाजितम् ।

रसायनमिव प्राज्ञैर्हेलया न कदाचन' ॥ ८४ ॥

—इत्येवं मनमा निश्चित्य चापचटिनां कोटिं मुख्यमध्ये प्रक्षिप्त्य
स्नायुं भक्षितुं प्रवृत्तः । ततश्च त्रुटिं पाशे तालुदेशं विदार्य चाप-
कोटिर्मस्तकमध्येन शिखावन्निक्रान्ता । मोऽपि तद्वेदनया तत्क्षणा-
न्मृतः । अतोऽहं ब्रवीमि—‘अतितृष्णा न कर्तव्या—’ इति । *

स पुनरप्याह—‘ब्राह्मणि ! न श्रुतं भवत्या ?--

आशुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च ।

पञ्चतानि हि सूज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥ ८५ ॥ (इति)

अथैवं सा तेन प्रतोधिता ब्राह्मण्याह—यद्येवं तदस्ति मे गृहे

दंष्ट्राप्रेण=दन्ताप्रेण । पुलिन्दः=शवरः । गतामुः=मृतः । लुभ्यकं=शवरं । व्यापाद्य=हत्या ।
पश्चलं=मृत्युम् । निराहारतया=भोजनालाभेन । तैनैव=अनुकूलेन भाग्येनैव । अन्न-
नितम्=अतकितम् । वयसा=अवस्थया । ‘ब्रह्मे’ति केचित्पठन्ति ॥८३॥ प्राणयात्रा=
जीवननिर्वाहः, भोजनम् । स्नायुपादां=स्नायुनिधिर्भितां धनुपो मौर्वां । (‘धनुप की डोरी’)
कोटि=कोणः । शिखावत्=चूडावत् । (चोटी की तरह) । वित्तं=धनम् । हेलया=पहसा,
एकपद एव ॥८४॥ चापचटिनां कोटिम्=अविज्यस्य धनुपः कोटि=प्रान्तभागं (चटित=
प्रत्यक्षा चढ़ी हुई) । सः=ब्राह्मणः । ‘किं ‘न श्रुतं’मित्यस्य अग्रिमेण श्लोकेन सम्बन्धः ।

स्तोकस्तिलराशि: । ततस्तिलाँलुच्चित्वा तिलचूर्णेन ब्राह्मणं भोज-
यिष्यामि—’ इति । ततस्तद्वचनं श्रुत्वा ब्राह्मणो ग्रामङ्गनः ।

सापि ताँस्तिलानुष्णोदकेन संमर्द्दे लुच्चित्वा सूर्यातपे दत्त-
वती । अत्रान्तरे तस्या गृहकर्मव्यग्रायास्तेषां तिलानां मध्ये कश्चि-
त्सारमेयो मूर्त्रोत्सर्गं चकार । तं ह्यप्ता सा चिन्तितवती—‘अहो !
नैपुण्यं पश्य पराञ्चुर्खीभूतस्य विधे:—यदेतेऽपि तिला अभोज्या:
कृताः । तदहमेतान्समादाय कम्यचिद्गृहं गत्वा लुच्चितैरलुच्चिताना-
नयामि ।—सर्वोऽपि जनोऽनेन विधिना प्रदास्यति’—इति ।

अथ तान शर्पे निधाय गृहादृहं प्रविशन्तीदमाह—‘अहो गृहानु
कश्चिदलुच्चितैर्लुच्चितांस्तिलान’ ।

अथ यस्मिन गृहेऽहं भिक्षार्थं प्रविष्टम्भव गृहे सापि तिला-
नादाय प्रविष्टा विक्रयं करुम । आह च—‘गृहानु कश्चिदलु-
च्चितैर्लुच्चितांस्तिलान’ । अथ तद्वागृहिणी प्रहप्ता यावदलुच्चितै-
र्लुच्चितान्यगृहाति, तावदम्याः पुत्रेण कामन्दकीयशास्त्रं ह्यप्ता
व्याहृतम्—‘मातः ! अप्राह्णाः ग्वलिवमेति तिलाः । नास्या अलुच्चितै-
र्लुच्चिता प्राह्णाः । कारणं किञ्चिद्द्विष्यति—यैनैषाऽलुच्चितैर्लुच्चिता-
न्प्रयन्त्वा ।’ तच्छ्रुत्वा तया परित्यक्तास्ते तिलाः ।

अतोऽहं ब्रवीमि—‘नाकस्माच्छाण्डली माताः !—’ इति । *

एतदुक्त्वा स भ्रूयोऽपि प्राह—‘अथ ज्ञायते तस्य क्रमणमार्गः ?’ ।
ताम्रचूड आह—‘भगवन् ! ज्ञायते, यत एकाकी न समागच्छति,
किन्त्वसंख्ययूथपरिवृतः पश्यतो मे परिभ्रमन्नितस्तः सर्वजनेन सहा-
निधनं=मरणम् । सञ्जन्ते=निर्माणन्ते ॥ ८५ ॥ स्तोकः=स्वल्पः । लुच्चित्वा=कण्ठ-
यित्वा,—संशोध्य, चूर्णयित्वा (‘छांट पछोड़ कर ।) । सारमेयः=कुकुरः । विधे:—दैवस्य ।
अलुच्चितान्=अवण्डितान् । विधिना=मार्गेण । गृहिणी=गृहस्वामिना । ‘तदगृहिणा’त्यपि
पाठः । अस्याः=गृहिण्याः । कामन्दकीयशास्त्रं=अर्थनातिशास्त्रम् । सः=अतिथिः ।

१ ‘नाकस्माच्छाण्डलीमाता’ इत्यपि पाठः । तत्र शाण्डलीमातेति तस्या-
नामधेयम् ।

इगच्छति, याति च ।' अभ्यागत आह—'अस्ति किंचित्वनित्रकम् ?' । स आह—'वाढम् । अस्ति । पपा सर्वलोहमयी सुहस्तिका ।' (गृह्णताम्)।

अभ्यागत आह—तर्हि, प्रत्युपे त्वया मया सह स्थातैव्यम्, येन द्वावपि जनैचरणाऽमलिनायां भूमौ तत्पदानुसारेण गच्छावः ।

मयापि तद्वचनमाकर्ण्य चिन्तितम्—'अहो ! विनष्टोऽम्मि, यतोऽस्य मौभिप्रायवचांसि श्रूयन्ते । नूनमनेन यथा निधानं ज्ञातं तथा दुर्गमप्ययमम्माकं ज्ञास्यनि । एतदभिप्रायादेवास्य ज्ञायते । उक्तच्च—

स कृदपि दृष्टा पुरुपं विबुधा जानन्ति सारतां तस्य ।

हस्ततुल्यार्पि निषुणः पलप्रमाणं विजानन्ति ॥ ८६ ॥

वाञ्छेव सूचयति-पूर्वतरं, भाविष्यत् पुंसां यदन्यतनुजं त्वशुभं शुभं वा ।

विज्ञायते शिशुरजातकलापचिह्नः प्रत्युदृतैरपैसरन्सरसः 'कलापी' ॥ ८७ ॥

ततोऽहं भयत्रस्तमनाः सपरिवारो दुर्गमार्गं परित्यज्यान्यमार्गेण गन्तुं प्रवृत्तः । ततः सपरिजनो यावद्ग्रतो गच्छामि तावत्संमुखीनो ब्रह्मकायो मार्जारः समायाति । स च मूपकवृन्दमवलोक्य तन्मध्ये सहस्रांतपात । अथ ते मूपका मां कुमार्गामिनमवलोक्य गर्हयन्तो

ब्रह्मिकः । अस्य=मूपकस्य । क्रमणमार्गः=यातायातमार्गः । अर्थति-प्रश्ने । खनित्रकम्=खननसाधनम् । वाढः=नूनं, ('हा अवश्य है') । सुहस्तिका—खननोपकरणमेदः । ('कुशली 'फावड़ा') 'स्वहस्तिके'ति पाठान्तरम् । अस्ताति शेषः । जनैचरणामलिनायां=मनुष्यसच्च-राऽमलिनितायाम् । तत्पदानुसारेण=मूषकपदानुसारेण ('चूहोंके खोज पहिचान कर') । साभिप्रायवचांसि=दृढमनोरथसूचकानि वचनानि । नूनम्=अवश्यम् । 'ज्ञास्यती'त्यस्य 'इति'ति शेषः । एतदभिप्रायात्=वृहस्तिकाशयादेव । हस्ततुल्या=हस्तस्य प्रत्युत्पादिता । पलप्रमाण=पलादिप्रमाणम् । (अन्दाज से ही तौल जान लेते हैं) ॥ ८६ ॥ भविष्यत=भावि । पूर्वतरं च शुभाशुभम्—पुंसां वाञ्छयैव=इच्छादिना शालाचरणादिनैव च ज्ञायते । यथा—मयूरशिशुः—कलापैः—मयूरपिच्छैरहितोर्पि—उत्सुख्य सरसं गच्छन् विशिष्टेन गमने-नैव—मयूरोद्यमिति लोकैक्षयते । भाविकलापस्य गतिविशेषणानुमानमिति भावः । 'प्रत्युत्पदैः परिसरन् सरसः' इति पाठान्तरम् ॥ ८७ ॥ संमुखीनः=संमुखायातः । उत्पपात=

? 'प्रबोद्धव्यम्' । २. 'चरणमलितायां भूमौ' । पा० मलिता=मूषकपादमर्दितेत्यर्थः । ३. 'साभिप्रायाण्यस्य वचांसि' । पाठान्तरम् ।

हतशेषा मधिगप्तावितवसुन्धरास्तमेव दुर्गं प्रविष्टाः । अथवा साध्यदमुच्यते-
छित्वा पाशमपास्य कूटरचनां भड़न्त्वा बलाद्वागुरां
पर्यन्ताग्निशिखाकलापजटिलाक्षिर्गत्य दूरं वनान् ।
व्याधानां शरणोचरादपि जवेनोपत्य धावन्मुगाः
कृपान्तः पतितः, करोतु विश्रुते किंवा विद्यौ पौरुषम् ? ॥८८॥

अथाहमेकोऽन्यत्र गतः । शेषा मृढतया तत्रैव दुर्गं प्रविष्टाः ।
अत्रान्तरे स दुष्टपरित्राजको ऋद्यरविन्दुचर्चितां भूमिमवलोक्य नेनैव
मार्गेण दुर्गमुपगतः । ततश्च सुहस्तिकया खनितुमारव्यः । अथ नेन
खनता प्राप्तं तत्रिधानं यस्योपरि सद्दंवाऽहं कृतवसतिर्यस्योपमणा
महादुर्गमपि गच्छामि । ततो हृष्टमनास्ताम्रचूडमिदमूर्च्चेऽभ्यागतः—
‘भो भगवन् ! इदानीं स्वपिहि निःशङ्कः । अस्योपमणा मूपकम्ने
जागरणं संपादयति ।’

एवमुक्त्वा तत्रिधानमादाय मठाभिसुखं प्रमित्तौ द्वावपि । अहमपि
यावत्त्रिधानरहितं स्थानमागच्छामि, तावद्रमणीयमुद्वेगकारकं तत्स्थानं
वीक्षितुमपि न शक्नोमि । अचिन्तयं च ‘किं करोमि ? क गच्छामि ?,
कथं मे स्यान्मनसः प्रशान्तिः ?’ । एवं चिन्तयतो मे महाकष्टेन स
द्विसो व्यतिक्रान्तः । अथास्तमितेऽर्के सोद्वेगो निरुत्साहस्तस्मिन्मठे
सपरिवारः प्रविष्टः ।

अथास्मत्परिग्रहशब्दमाकर्ण्य ताप्रचूडोऽपि भूयो भिक्षापात्रं
आक्रमणं चक्ने । कुर्मार्गगमिनः=दुर्गमार्गातिरिक्तायोऽयमार्गगमिनम्-दुष्टश्च । रुधिरेण
साविता बसुन्धरा यैस्ते तथाभूताः ।

छित्वेति । कूटरचनां=उन्माधारास्यकूटन्त्रमायारचनाम् । अपास्य=दूरीकृत्य ।
वागुरा=सृगवन्धनसाधनमेदः । पर्यन्ताग्निशिखाकलापजटिलात्=समन्ततो दावाग्निज्वाला-
बलयतान्, वनादूरं निर्गत्य, व्याधवाणविषयादपि वेगादुमृत्य, निर्गतः—धावन्, मृगो—
दैवात्कृपे पतितः ? । हा हन्त । भाव्ये विपरीते सति न किमपि पौरुषेण सिद्ध्यति ॥ ८८ ॥

शेषाः=हतशेषा मूरकाः । आरक्षः=आरब्धवान् । यस्य=निधानस्य । कृष्णणा=
प्रभावेण । (‘गर्भीं से’) । अरमणीयम्=असुन्दरम् । उद्वेगकारकम्=अरतिप्रदम् । परिग्रह-

१ ‘करोती’ति पाठे—पौरुष किं करोतीत्यन्ययः ।

जर्जरवंशेन ताडयितुं प्रवृत्तः । अथाऽसावभ्यागतः प्राह—‘सखे ! किम-
द्यापि निःशङ्को न निद्रां गच्छसि ?’ । स आह—‘भगवन् ! भूयोऽपि
समायातः सपरिवारः स दुष्टात्मा मूपकः । तद्याज्जर्जरवंशेन
भिक्षापात्रं ताडयामि ।’ ततो विहम्याऽभ्यागतः प्राह—‘सखे ! मा
भैर्णीः, वित्तेन सह गतोऽस्य कूर्दनोत्साहः । सर्वेषामपि जन्तूनामिय-
मेव स्थितिः । उक्तच्च—

यदुन्साही सदा मर्त्यः पराभवति यज्ञनान् ।
यदुद्धतं वदेद्वाक्यं तत्सर्वं वित्तजं बलम् ॥ ८९ ॥

अथाऽहं तच्छ्रुत्वा कोपाविष्ठो भिक्षापात्रमुहित्य विशेषादुक्त्वर्दितो-
ऽप्राप्त एव भूमौ निपतितः । तच्छ्रुत्वासौ मं शत्रुर्विहम्य ताम्रचृड-
मुवाच—‘भो ! पद्य कौतूहलम् !’ । आह च—

अर्थेन बलवान्सर्वोऽप्यर्थयुक्तश्च पण्डितः ।
पश्यैनं मूपकं व्यर्थं स्वजातेः समनां गनम् ॥ ९० ॥

तत्स्वपिहि त्वं गतशङ्कः, यदस्योत्पत्तनकारणं तदावयोर्हम्तगतं
जातम् । अथवा साधिवदमुच्यते—

दंष्टाविरहितः सर्पो मद्हर्हानो यथा गजः ।
तथाऽर्थेन विहीनोऽत्र पुरुषो नामधारकः ॥ ९१ ॥

तच्छ्रुत्वाहं मनसा विचिन्तितवान्—‘अहो सत्यमाह ममैष शत्रुः ।
यतो ममाऽङ्गुलिमात्रमपि कूर्दनशक्तिर्नास्ति । तद्विगर्थहीनम्य पुरुपस्य
जीवितम् । उक्तच्च—

अर्थेन च विहीनस्य पुरुषस्याऽल्पमेधसः ।
उच्छियन्ते क्रियाः सर्वां ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥ ९२ ॥
यथा काकयवाः प्रोक्ता यथाऽरण्यभवास्तिलाः ।
नाममात्रा न सिद्धयै स्युर्धनहीनास्तथा नराः ॥ ९३ ॥

शब्दः=मूषकपरिवारपदशब्दम् । वित्तेन=निधानेन । कूर्दनोत्साहः=उत्सवनमाहसम् ।
उद्धतं=मगर्वम् ॥ ८९ ॥ व्यर्थम्=अर्थशून्यम् । रवजातेः=मूषकजातेः ॥ ९० ॥ अत्=
धनम् । नामधारक इति । केवलमर्थशत्र्यं ‘पुरुष’इति नाम धारयति, पौरुषन्तु तत्र न
भवतीत्यर्थः ॥ ९१ ॥ अर्थहीनपुरुषस्य जीवितं धिगिति सम्बन्धः । काकयवः=निष्फल-

सन्तोऽपि ने हि राजन्ते दरिद्रस्येतरे गुणः ।
 आदित्य इव भूतानां श्रीर्गुणानां प्रकाशिनी ॥ ९४ ॥
 न तथा बाध्यते लोके प्रकृत्या निर्धनो जनः ।
 यथा द्रव्याणि संप्राप्य तैर्विहीनः सुखोचितः ॥ ९५ ॥
 शुद्धकस्य कीटखातस्य वह्निदग्धस्य सर्वतः ।
 नरो रथ्यूषरस्थस्य वरं जन्म-न चाऽर्थिनः ॥ ९६ ॥
 शङ्कनीया हि सर्वत्र निष्प्रतापा दरिद्रता ।
 उपकर्त्तमपि प्राप्तं निःस्वं सन्त्यज्य गच्छति ॥ ९७ ॥
 उच्चम्योच्चम्य तत्रैव निर्धनानां मनोरथा ।
 हृदयेष्वेव लीयन्ते विधवास्त्रोस्तनाविव ॥ ९८ ॥
 व्यक्तेऽपि वासरे नित्यं दीर्घन्यतमसाहृतः ।
 अग्रतोऽपि स्थितो अत्यन्तं केनार्पाह दृश्यते ॥ ९९ ॥

एवं विल्प्याऽहं भग्नोत्माहस्तनिधानं गण्डोपधानीकृतं द्वप्ना
 व्यर्थश्रमः स्वं दुर्गं प्रभाते गतः । ततश्च मद्भूत्याः प्रभाते गच्छन्तो
 यवजातिभेदः । अरण्यभवास्तिलाः—जस्तिलाः । बन्ध्यतिलाः । उभयत्र तिलयवनामसत्त्वे
 यथा न ते तिलयवकार्यकरणममर्थास्तथा निर्धनः पुमानिति भावः । सिद्धौ=कार्यसिद्धयुप-
 योगिनः । ‘सिद्धौ हि-इति पाठं तु-सिद्धौ=कार्यसिद्धौ, न=न ममर्थः ॥ ९३ ॥

सन्तः=वर्तमानाः । राजन्ते=प्रकाशन्ते । इतरे=दारिद्रयातिरित्ताः । श्रिया तु गुणः
 प्रकाशन्ते इति लक्ष्म्याः सूर्यवत्प्रकाशकरेति भावः ॥ ९४ ॥ बाध्यते=दुःखितो भवति ।
 प्रकृत्या=स्वभावेन द्रव्याणि संप्राप्य=पूर्वं धनवान् भूत्वा, पश्चात्क्रिधनस्तु वलवदः खमनुभ-
 वति ॥ ९५ ॥ कीटभुक्तस्य=कीटनाशितस्य । ‘कीटखातस्ये’ति पाठं—कीटविदारितस्येत्यर्थः ।
 ऊषरस्थस्य=अयोग्यभूमिस्थस्य । (ऊसर में उत्पन्न) । वरम्=ईपत् श्रेष्ठम् । अर्थिनः=
 यात्कक्षस्य ॥ ९६ ॥ निष्प्रतापा=निष्प्रभावा । निःस्वं=दरिद्रम् । सन्त्यज्य=दूरतः
 परित्यज्य । लोकोऽपयातीत्यर्थः ॥ ९७ ॥

निर्धनानां मनसि मनोरथा उत्थाय उत्थाय विलोयन्ते, धनाभावात् ॥ ९८ ॥

व्यक्ते=सुप्रकाशेऽपि । वासरे=दिनेऽपि । दीर्घन्यं=दारिद्रयभेद । तमः=अन्धकारः ।
 तेन-आवृत्तः=छन्नः—दरिद्र इति यावत् । समोपस्थितोऽपि न केनापि वीक्ष्यते इति भावः ॥
 पाठान्तरे—भास्वान्=सूर्यः, समुज्ज्वलश्वेत्यर्थः ॥ ९९ ॥ निधानं=स्वधनम् । गण्डोपधा-
 नाकृतम्=गेन्दुकस्थाने स्थापितम् । (गण्डोपधानं=‘गेन्दुवा’ तकिया ‘गालमसुरिया’) ।

१ ‘न विराजन्ते’ पा० । २ ‘सुखे स्थितः’ । पा० । ३ ‘कुञ्जस्य कीटखातस्य दाव-
 निष्पुष्टितत्वचः’ । पा० । ४ भास्वानपि न दृश्यते’ । पा०

मिथो जल्पन्ति—‘अहो ! असमर्थोऽयमुद्रपूरणोऽस्माकं । केवलमस्य पृष्ठुलग्नानां विडालादिभ्यो विपत्तयः । तत्किमनेनाऽराधितेन ? ।

यत्सकाशाङ्गं लाभः स्यान्केवलाः स्युर्विपत्तयः ।

स स्वामी दृतस्तथाज्ये विशेषादेनुजोविभिः’ ॥ १०० ॥

एवं तेषां वचांसि मार्गं शृण्वन् स्वदुर्गं प्रविष्टोऽहम् । यावत्त्रिर्धन-त्वात्परिजनमध्यात्कथित्वा पि मम न मंसुखेऽभ्येनि तावन्मया चिन्त-तम्—‘अहो धिगियं दरिद्रता । अथवा साधुचेदमुच्यते—

मृतो दरिद्रः पुरुषो, मृतं मैथुनमप्रजम् ।

मृतमश्रोत्रियं श्राद्धं, मृतो यज्ञस्वदक्षिणः’ ॥ १०१ ॥

एवं मे चिन्तयतस्ते भृत्या मम शत्रूणां सेवका जाताः । ते च मामेकाकिनं हृष्टा विडम्बनां कुर्वन्ति । अथ मर्येकाकिना योगनिद्रां गतेन भूयो विचिन्तितम्—‘यत्तस्य कुतपस्विनः समाश्रयं गत्वा तद्दण्डो-पधानवर्तिकृतां वित्तपटां शर्नैः शर्नैविदार्यं तस्य निद्रावशङ्कतस्य म्वदुर्गे तद्वित्तमानयामि, येन भूयोऽपि मे वित्तप्रभावेणाग्निपत्यं पूर्ववद्विष्यति । उत्तर्च—

व्यथयन्ति परं चेतो मनोरथशतैर्जनाः ।

नाऽनुष्टानैर्धनैर्हीनाः कुलजा विधवा हृत्व ॥ १०२ ॥

अयं=हिरण्यकः । पृष्ठलग्नानाम्=अनुचराणां—सेवकानाम् । विडालादिभ्यो विपत्तयः=मार्जारादिजन्या आपदः । कथित्=सेवकः । मृतः=मृतवत् व्यर्थः । अप्रजं=सन्तानशूल्यम् । अश्रोत्रियं=वेदाध्यायित्राक्षणशूल्यम् । मृतः=व्यर्थः । अदक्षिणः=दक्षिणारहितः ॥ १०१ ॥

विडम्बनाम्=उपहासम् । योगनिद्रां=मावधाननिद्रां, कृतकनिद्रां वा (‘जागते हुए सोना’ या ‘आंख बन्द किए पड़े रहना’) । कुतपस्विनः=दृष्टसंन्यासिनः । समाश्रयं=मठं । तद्दण्डोपथानवर्तिकृताम्=उपवर्हाभ्यन्तरे स्थापिताम् । (‘गेंडुवे में छिपाइ रुई’) । वित्तपेटां=धनमज्जाणां । विदार्य=खण्डयित्वा ।

धनैर्हीना लोका मनोरथशतानि कुर्वन्ति, न च कार्यानुष्टानं कर्तुं शब्दनुवन्ति । यथा-कुलीना विधवा रतिविषये नानामनोरथान् निष्कलानेव मनसि रचयन्ति, परन्तु न तासां ते मनोरथाः सफलीभवन्ति, पत्युरभावादिस्यर्थः ॥ १०२ ॥

दौर्गेत्यं देहिनां दुःखमपमानकरं परम् ।
 येन स्वैरपि मन्यन्ते जीवन्तोऽपि मृता द्वा ॥ १०३ ॥
 दैन्यस्य पात्रतासेति पराभूतेः परं पदम् ।
 विपदामाश्रयः शश्वद्वैर्गन्यकलुर्याकृतः ॥ १०४ ॥
 लज्जन्ते बान्धवास्तेन सम्बन्धं गृह्णयन्ति च ।
 मित्राण्यमित्रां यान्ति यम्य न स्युः कपर्दकाः ॥ १०५ ॥
 मूर्त्ति लाघवमेवैतदपायानामिदं गृहम् ।
 पर्यायो मरणस्याऽयं निर्धनल्वं शरीरिणाम् ॥ १०६ ॥
 अजाधूलिरिव ग्रस्तैर्मर्जनीरेणुवज्जनैः ।
 दीपख्योतछायेव त्यज्यने निर्धनां जनः ॥ १०७ ॥
 शौचावशिष्टयाऽप्यस्ति किञ्चित्कार्यं क्वचिन्मृदा ।
 निर्धनेन जनेनैव न तु किञ्चित्प्रयोजनम् ॥ १०८ ॥
 अधनो दातुकामोऽपि सम्प्राप्तो धनिनां गृहम् ।
 मन्यन्ते 'याचकोऽयं' विगदादित्यं खलु देहिनाम् ॥ १०९ ॥

अनो विच्चापहारं विद्धतो यदि मे मृत्युः स्यात्तथापि शोभनम् ।

उक्तद्वा— स्वविच्चहरणं द्वाया यो हि रक्षन्येमूलरः ।
 पितरोऽपि न गृह्णन्ति तद्वत् सलिलाञ्जलिम् ॥ ११० ॥

तथा च—गवार्थे ब्राह्मणार्थे च शौचिविच्चहरणे तथा ।
 प्राणांस्यजति यो युद्धे तस्य लोकाः सनातनाः ॥ १११ ॥

दौर्गेत्यं=दारिद्र्यं परमापमानकारकम्, येन स्वजनेरपि-दरिद्रा जीवन्तोपि मृत-वंडेव मन्यन्ते ॥ १०३ ॥ दैन्यस्य=दीनतायाः । पराभूतेः=पराभवस्य । पदं=स्थानम् ।
 शश्वद्=नित्यमेव ॥ १०४ ॥ तेन=दरिद्रेण । गृह्णयन्ति=अपहृते । कपर्दकाः=काकिण्यः ।
 ('कौड़ी'- 'पैसा-टका') ॥ १०५ ॥ मूर्त्ति=मृतिंमत् । लाघवं=तुच्छत्वम् । अपायानां=नाशानां, हानेश । मरणस्य पर्यायः=रूपान्तरम् ॥ १०६ ॥ अजाधूलिः, मार्जनीरजः, दीपख्योतयोदछाया च-पुण्यविनाशकतया धर्मशास्त्रेषु कथिता, अतो लोकास्ततो यथा पलायन्ते, पवसेव दरिद्रादपीत्यर्थः ॥ १०७ ॥ शौचावशिष्टया=हस्तशोधनाद्वचिष्टया अशुचिभूतयापि । मृदा=मृत्तिकया ॥ १०८ ॥ दातुमुपागतोऽपि दरिद्रो याचकोऽयमिति मन्यते=शायते, अतो दारिद्र्यं थिक् ॥ १०९ ॥

विच्चापहारं=स्वधनानयनम् । अमून्=प्राणान् ॥ ११० ॥ गवार्थे=गोरक्षणार्थे ।
 ब्राह्मणार्थे=ब्राह्मणरक्षणार्थे । लोकिविच्चहरणे=स्वकान्यक्षेपनादिहरणसमये तद्रक्षणार्थे यो युद्धे

? 'गोपयन्ति' इति पाठे-'युप गोपने' इत्यस्य रूपम् । २ 'कातरो यस्तितिक्षते' पाठ ।

एवं निश्चित्य रात्रौ तत्र गत्वा निद्रावशमुपागतस्य पेटायां याव-
न्मया छिद्रं कृतं तावत्प्रबुद्धो दुष्टतापसः । ततश्च र्जर्वंशप्रहा-
रेण शिरसि ताडितः कथचिदायुपः सावशेषतया निर्गतोऽहं, न
मृतश्च । उक्तच्च—

प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो देवोऽपि तं लङ्घयितुं न शक्तः ।
तस्माच्च शोचामि न विस्मयो मे यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम् ॥ ११२ ॥

काककूमोऽपृच्छतः—‘कथमेतन् ?’ । हिरण्यक आह—

४. प्राप्तव्यमर्थवणिकपुत्रकथा ।

अस्ति कस्मिंश्चिन्नगरे सागरदत्तो नाम वणिक । तलमूतुना रूपक-
शतेन विक्रीयमाणः पुस्तको गृहीतः । तस्मिंश्च लिखितमस्ति—

‘प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो देवोऽपि तं लङ्घयितुं न शक्तः ।
तस्माच्च शोचामि न विस्मयो मे यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम् ॥ ११३ ॥

तदृष्ट्वा मागरदत्तेन तनुजः पृष्ठः—‘पुत्र ! कियता मूल्येनैष
पुस्तको गृहीतः ?’ सोऽत्रवीन्—‘रूपकशतेन ।’ तच्छ्रुत्वा सागरदत्तो-
ऽत्रवीन्—‘धिङ् मूर्ख ! त्वं लिखितैकश्लोकं रूपकशतेन यदृग्लासि,
एतया बुद्ध्या कथं द्रव्योपार्जनं करिष्यसि ?’ । तदृशप्रभृति त्वया मं
गृहं न प्रवेष्टव्यम्’ । एवं निर्भत्स्य गृहान्निःसारितः ।

स च तेन निर्वेदेन विप्रकृष्टं देशान्तरं गत्वा किमपि नगरमा-
साद्याऽवस्थितः । अथ कतिपयदिवसैस्तन्नगरनिवासिना केनचिदसौ
पृष्ठः—‘कुतो भवानागतः ? किञ्चामधेयो वा ?’ इति । असावत्र-
वीत्—‘प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः ।’ इति । अथान्येनापि पृष्ठेनानेन
प्राणांस्याजेत् तस्य सनातनाः=नित्या ब्रह्मलोकादयः ॥ ११४ ॥ आयुःशेषतयेतिपाठ-
जीवितकालावशेषतया । प्राप्तव्यं=अवद्यलयुम् । देवः=विधरपि । लङ्घयितुं=विनाशयि-
तुन्—अन्यथाकर्तुम् । विस्मयः=आश्रयम् ॥ ११२ ॥

रूपकशतेन=रूपकशतेन (?०० रूपये में) पुस्तकः=पुस्तकम् । (पोर्षा) । गृहान्नः=
क्रातः । निर्भत्स्य=तिरस्कृत्य । निर्वेदेन=शोकेन । विप्रकृष्टं=दूरतरम् । तस्याः=इन्द्रमत्याः ।

१ इयं कथा काशिकपरीक्षापाठ्यातो वहिष्ठृताऽश्वीलत्वात् ।

तथैवोत्तरं दत्तम् । एवं यः कश्चित्पुच्छति, तस्येदमेवोत्तरं ददाति । एवं च तस्य नगरस्य मध्ये 'प्रापत्यमर्थं' इति प्रसिद्धं नाम जातम् ।

अथ गजकन्या इन्दुमती नामाऽभिनवरूपयौवनस्म्पन्ना सखी-द्वितीयैकस्मिन्महोत्सवशिवसे नगरं निर्गिक्षमाणाऽन्ति । तत्रैव च कश्चिद्राजपुत्रोऽतीवरूपस्म्पन्नो मनोरमश्च कथमपि तस्या हृषि-गोचरञ्जतः ।

तदर्शनसमकालमेव कुमुमवाणहतया तथा निजसख्यभिहिता—'हले' ! यथा किलाऽनेन सह समागमो भवति तथाऽद्य त्वया यतितत्त्वम् । एवं श्रुत्वा सा सखी तत्सकाशं गन्त्वा शीघ्रमत्रवीनृ—'यदहं चन्द्रवत्या तवान्तिकं प्रेषिता, भणित च त्वां प्रति तथा—यत्—'मम त्वदर्शनान्मनोभवेन पश्चिमावस्था कृता, तद्यदि शीघ्रमेव मदन्तिके न समेत्यसि तदा मे मरणं शरणम्' । इति श्रुत्वा तेनाभिहितम्—यदवश्यं यथा तत्रागत्वयं, तत्कथय केनोपायं न प्रवेष्टव्यम् ? ।

अथ सख्याभिहितम्—'गात्रौ सौधावलमित्रतया दृढवगत्रया त्वया तत्रारोदव्यम्' । सोऽब्रवीन्—'यद्येवं निश्चयो भवत्याम्तदहंमेवं कगिष्यामि ।' इति निश्चित्य सखी चन्द्रवतीमकाशं गता । अथागतायां रजन्यां स राजपुत्रः स्वचेतसा व्यचिन्तयन्—'अहो ! महदकृन्यमेतत् ।

उक्तज्ञ—गुरोः सुतां मित्रभार्या स्वामिसेवकगेहिनीम् ।

यो गच्छति पुरुषोळोके तमाहुर्बल्लभातिनम् ॥ ११४ ॥

अपरञ्ज—अयशः प्राप्यते येन येन चाऽपगतिर्भवेत् ।

स्वार्थाच्च अश्यते येन तत्कर्म न समाचरेत् ॥ ११५ ॥

—इति सम्यग्विचार्य तत्सकाशं न जगाम । अथ प्रापत्यमर्थः

कुमुमवाणः=कामः । हले=हेसखि । कच्चित्तथैव पाठः । अनेन=राजपुत्रेण । मनोभवेन=मदनेन । पश्चिमा=कामस्यान्तिमा दशा नष्टनेष्टत्वादिरूपा । मदन्तिके=मन्त्रिकटे । तत्र=राजपुत्रीसज्जिधी । सौधावलमित्रतया=राजप्रासादावलमित्रन्या । वरत्रा=स्थूल रङ्गः । ('बही' 'मोटी रस्सो' 'कमन्द') । अकृत्यम्=अनुचितं कर्म । गेहिनी=पत्नी । गच्छति-सेवते ॥ ११४ ॥ तत्=व्यभिचारादि दुष्टं कर्म ॥ ११५ ॥ तत्सकाशं=स्नुमतीसज्जिधी ।

१ 'चन्द्रमती' ति पाठान्तरम् । २ 'सखि' । पा० ३ 'स्वर्गाच्च' । पा० ।

दर्थटन्धवलगृहपार्श्वे रात्राववलम्बितवरत्रां हृष्टा कौतुकाविष्टहृदय-
मतामालम्ब्याऽधिमृष्टः । तया च राजपुत्र्या ‘स एवाय’—मित्या-
श्रस्तचित्तया स्त्रानखादनपानाच्छादनादिना संमान्य तेन सह शयन-
तलमाश्रितया तदङ्गमंभग्नामज्ञातहर्षोरोमाच्चित्तगात्रयोक्तम्—‘युध्म-
इर्णमात्रानुरक्तया मयात्मा प्रदत्तोऽयं, त्वद्वर्जमन्यो भर्ता मनस्यपि
मं न भविष्यति’ इति—तत्कम्मान्यया सह न ब्रवीपि ?’। सोऽब्रवीन्—
‘प्रापत्यमर्थं लभते मनुष्यः’ इत्युक्ते तया ‘अन्योऽय’ मिति मत्वा धवल-
गृहादुत्तार्य मुक्तः । स तु खण्डदेवकुले गत्वा सुप्रः । अथ तत्र क्याचि-
न्त्वैरिष्या दत्तसङ्केतके यावदण्डपाशिकः प्राप्तः, तावदसौ पूर्वसुप्रमत्तेन
दृष्टो रहस्यमंरक्षणार्थमभिहितश्च—‘को भवान ?’। सोऽब्रवीन्—
‘प्रापत्यमर्थं लभते मनुष्यः’ । इति श्रुत्वा दण्डपाशिकेनाभिहितं यन्—
‘शून्यं देवगृहमिदं, तदत्र मदीयस्थानं गत्वा स्वपिहि’ । तथा प्रतिपद्य
म मतिविपर्यासादन्यशयने सुप्रः । अथ तस्य आरक्षकम्य कन्या
विनयवती नाम स्त्रयौवनसम्पन्ना कस्यापि पुरुषम्याऽनुरक्ता—सङ्केतं
दत्त्वा तत्र शयने सुप्राप्तमीन् ।

अथ सा तमायान्तं हृष्टा ‘स एवायमस्मद्वलभ’ इति रात्रौ घनतरा-
न्धकारव्यामोहितोत्थाय भोजनाच्छादनादिक्रियां कारयित्वा गान्धर्व-
विवाहेनात्मानं विवाहयित्वा तेन समं शयने स्थिता । विकसित-
वदनकमला नमाह—‘किमद्यापि मया सह विश्रदधं भवान् ब्रवीनि ?’।

मोऽब्रवीन्—‘प्रापत्यमर्थं लभते मनुष्यः’ । इति श्रुत्वा तया चिन्ति-
तम्—‘यन्कार्यमसमीक्षितं क्रियते तस्येहकफलविपाको भवति’ इति ।

ववलगृहं—सौधः । (महल) । मः—मदभिलपितः । आश्रस्तचित्तया=विश्रस्तचित्तया ।
भया=राजपुत्र्या । आत्मा=दहः । त्वद्वर्ज=त्वां विहाय । खण्डदेवकुले=अपूर्णदेवमन्दिरे,
जीर्णमन्दिरे वा । स्वैरिष्या=श्चमित्रारिष्या । दत्तसङ्केतकः=कृतसङ्केतः । दण्डपाशिकः=नग-
ररक्षकमेनाध्यक्षः (‘फौजदारः ‘कोतबाल’) । प्रतिगद्य=स्वीकृत्य । मतिविपर्यासात=भ्रान्त्या ।
आरक्षकरथ=दण्डपाशिकस्य । इति=शर्थं मत्वा । घनतरान्धकारव्यामोहिता=गाढान्ध-
कारेणोपहतलोचनशक्तिर्भ्रमसुपगता, विषिता । विश्रब्धं=सखेहं, निर्भयेष । असमीक्षितम्=

एवं विमुद्द्य सविपाद्या तथा निःसारितोऽसौ । स च यावद्वीथी-
मार्गेण गच्छति तावदन्यविषयवासीं वरकीर्तिर्नाम वरो महता वाद्य-
शब्देनागच्छति । प्राप्तव्यमर्थोऽपि तैः सह गन्तुमागद्यवान् ।

अथ यावत्प्रत्यासन्ने लग्नसमये गजमार्गसन्नश्रेष्ठिगृहद्वारे
रचितमण्डपवेदिकायां कृतकौतुकमङ्गलवेशा वणिकमुता निष्ठति, ताव-
नमङ्गलमन्तो हस्त्यारोहकं हस्त्वा प्रणैश्यज्ञनकोलाहलेन लोकमाकुलय-
मनसंवोदेशं प्राप्तः । तं च हृष्टा सर्वे वगनुयायिनो वरेण मह प्रणव्य
दिशो जग्मुः । अथास्मिन्नवसरे भयनगललोचनामकाकिनीं कन्यामव-
लोक्य ‘मा भैषीः—अहं परित्राता’—इति सुधीरं स्थिरीकृत्य दक्षिण-
पाणीं सङ्गत्य महामाहसिकतया प्राप्तव्यमर्थः परुपवाक्यैर्हम्निनं
निर्भर्त्सिन्नत्यान् ।

ततः कथमपि दैवयोगादपयाते हस्तिनि यावत्सुहृद्रान्धवो
वरकीर्तिरतिक्रान्ते लभसमये समागच्छति तावद्वधूरन्येन हस्ते गृहीता
तिष्ठति । तद् हृष्टा वरकीर्तिनाऽभिहितम्—‘भोः शशुर ! विरुद्धमिदं
त्वयाऽनुष्ठितं यन्महायं प्रदाय कन्याऽन्यस्मै प्रदत्ता’—इति। सोऽत्रवीन्—‘भोः !
अहमपि हस्तिभयपलायितो भवद्द्विः सहाऽयातो-न जाने किमिदं
वृत्तम् ? । इत्यभिधाय दुहितरं प्रष्टुमागद्यवान्—‘वत्से ! न त्वया
सुन्दरं कृतम्, तत्कृत्यतां कोऽयं वृत्तान्तः ?’

असम्याख्यवाचारितं सत् । सविपाद्या=दुर्खितया । वीथीमार्गेण=नगररक्ष्यामार्गेण । अन्य-
विषयवासीं=देशान्तरनिवासीं । वरः=वैवाक्यः (‘दुलहा’ ‘बांद’) । तैः=वैपक्षायैः ।
लग्नसमये=विवाहलघ्यसमये । राजमार्गसन्नश्रेष्ठिगृहद्वारे=गजपथनिकट्वत्तिथनिगृहद्वारे ।
(मण्डप=‘मांडा’) । वेदिका=‘वेदी’) । कृतकौतुकमङ्गलवेशा=रचितविवाहोचित-
मङ्गलवेशा । हस्ती=गजः । आरोहकं=महामात्रम् (‘महावत’) । प्रणव्यतां=पलायमाना-
नां—लोकानां कोलाहलेन=कलकलेन । ‘प्रणव्यति’ पाठे—प्रणव्य=पलायत्यर्थः ।
(माग कर) । लोकं=नगरवासिजनम् । उदेश्यं=स्थानम् । प्रणव्य=प्रपलाय (‘भागकर’) ।
दिशो जग्मुः=यत्र तत्र गताः ।

भयेन तरले चध्ले लोचने यस्यास्ताम् । परित्राता=रक्षकः । सुधीरं=महता

१ ‘प्रणव्य’ पा० ।

सोऽब्रवीत्—‘यदहमनेन प्राणसंशयाद्रक्षिता, तदेन मुक्त्वा मम जीवन्त्या नान्यः पाणि ग्रहीत्यति’—इति । अनेन वार्ताव्यतिकरणे रजनी व्युष्टा । अथ प्रातस्तत्र सज्जाते महाजनसमवायेतं वार्ताव्यति-करं श्रुत्वा राजदुहिता तसुहेशमागता । कर्णपरम्परया श्रुत्वा दण्डपा-शिक्षुतापि तत्रैवागता । अथ तं महाजनसमवायं श्रुत्वा राजापि नत्रैवाजगाम,—प्राप्तव्यमर्थं प्राह च—‘भोः विश्रद्धं कथय, कीह-शोऽसौ वृत्तान्तः’ ? ।

अथ सोऽब्रवीत्—‘प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः’—इति । राज-कन्या स्मृत्वा प्राह—‘द्वोऽपि तं लङ्घयितुं न शक्तः’—इति । ततो दण्डपाशिक्षुताऽब्रवीत्—‘तमान्न शोचामि न विस्मयो मं’—इति । तमखिललोकवृत्तान्तमाकर्ण्य वणिक्षुताऽब्रवीत्—‘यदस्मदीयं न हि तत्परेपाम्’—इति ।

अभयदानं दत्त्वा राजा पृथक्पृथग्वृत्तान्ताऽज्ञात्वाऽवगत-तत्त्वस्तस्मै प्राप्तव्यमर्थाय स्वदुहितरं सवहुमानं प्रामसहस्रेण समं सर्वालङ्घारपरिवारयुतां दत्त्वा ‘त्वं मे पुत्रोऽस्मी’ति नगरविदितं तं यौवराज्येऽभिपिक्तवान् । दण्डपाशिकेनापि स्वदुहिता स्वशक्त्या वस्त्रदानादिना सम्भाव्य प्राप्तव्यमर्थाय प्रदत्ता ।

अथ प्राप्तव्यमर्थेनापि स्वीयपितृमातरौ समस्तकुटुम्बावृतौ नस्मिन्नगरे सम्मानपुरःसरं समानीतौ । अथ सोऽपि स्वगोत्रेण सह विविधभोगानुपभुजानः सुखेनावस्थितः । अतोऽहं ब्रवीमि—‘प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः’—इति ।

वेयेण । रिथरीकृत्य=आश्वास्य । अपयाते=गते । शशुर=हे कन्यापितः । प्रदाय=वाचा दत्त्वा । प्राणसंशयात्=जीवनसङ्कटात् । मुक्त्वा=विहाय । वार्ताव्यतिकरण=वार्तालापप्रसङ्गेन । (‘इस खबर को सुनके’) । व्युष्टा=व्यतिक्रान्ता । प्रभातमभूदित्यर्थः । महाजनसमवाये=पौरजनसेलापकः । (भाड़) । वार्ताव्यतिकरं=जनकथाकोलाहलं, (गडबड) । रमृत्वा=रववृत्तान्तं रमृत्वा । विस्मयः=कौतुकम् । पृथक् पृथक्—राजकन्यादेः । अवगततत्त्वः=शातसकलवृत्तान्तः । प्राप्तव्यमर्थाय=तरमै वणिक्षुत्राय । ‘पुत्रोऽसी’ति=नगरलोकविदितसुक्त्वा । सम्भाव्य=सकृत्य । सः=वणिक्षुतः, वणिक् च ।

तदेतत्मकलं सुग्रदुःखमनुभूय परं विपादमुपागतोऽनेन मित्रेण
न्वन्मकाशमानीतः । तदेतन्मे वैराग्यकारणम् ।'

मन्थरक आह—‘भड ! भवति सुहृदयमसन्दिग्धं, यन क्षुत्क्षा-
मोऽपि शत्रुभूतं त्वा भक्ष्यस्थानं स्थितमेवं पृष्ठमारोप्यानयति’—न
मार्गेऽपि भक्षयति । उक्तच्च यतः—

विकारं याति नो चित्तं वित्ते यस्य कदाचन ।

मित्रं स्यात्सर्वकाले च कारथेन्मित्रमुत्तमम् ॥ ११६ ॥

विद्वद्विद्धिः सुहृदामत्र चिह्नेरतेरसंशयम् ।

परीक्षाकरणं प्रोक्षं होमाग्नेरिव पण्डितैः ॥ ११७ ॥

तथा च—आपल्काले तु सम्प्राप्ते यन्मित्रं मित्रमेव तन ।

वृद्धिकाले तु सम्प्राप्ते दुर्जनोऽपि सुहङ्गवेत् ॥ ११८ ॥

तन्ममाप्यवाऽन्य विपये विश्रामः समुत्पन्नोऽयतो नीतिविरुद्धेयं
मैत्री मांमाशिभिर्वायसैः सह—जलचरणाम् । अथवा साधिवदमुच्यते—

मित्रं कोऽपि न कस्यापि नितान्तं न च वैरकृत् ।

दृश्यते मित्रविध्वस्तात्कार्याद्वैरी परीक्षितः ॥ ११९ ॥

तन्म्वागतं भवतः, स्वगृहवदास्यनामत्र सरस्तीरे । यच्च वित्त-
नाशो [विदेशावासश्च] ते सज्जातमत्र विपये सन्तापो न कर्तव्यः ।

उक्तच्च— अब्रच्छाया खलप्रीतिः सिद्धमक्षञ्च योषितः ।

किञ्चित्कालोपभोग्यानि यौवनानि धनानि च ॥ १२० ॥

नुग्रदुःखं=सुखच दुःख । सुख—महितमिति वा विश्राहः । अनेन मित्रेण=वायसेन ।
न्वत्मकाशं=मन्थरकसज्जिती । हिरण्यको मृषकराजोऽहम् । अयम्=वायसः । असन्दिग्धं
यथा स्यात्तथा,—सुहृत्=मित्रम् । क्षुत्क्षामः=क्षुत्क्षातुरः । तथा च=तथाहि । ईदृशैश्चिह्नै-
मित्रपाक्षा कार्येत्यर्थः । मित्रमेव—न दुर्जनः । वृद्धिकाले=समृद्धिकाले ॥ ११८ ॥

अस्य=वायसस्य । अथ यावत्तु मम इदौ विश्वासो नासात् । यतः=यस्मादेतोः
(‘क्योंकि’—) जलचरणामिति । मम कञ्जपस्येति यावत् । नितान्तं=सर्वदा ।
मित्रेण=मित्रनामधारिणा । विध्वस्तात्=विनाशितात् । कार्यात्=कार्येण । परीक्षितः
=कृतपरीक्षः । वैरी दृश्यते=वैरात्युच्यते । कार्यहान्यादिचिह्नैमित्रनामधारी शत्रु-
त्युच्यते इति यावत् । अन्येतु ‘दृश्यते मित्रमुहिष्टात्कार्याद्वैरी विरोधत’ इति
पठन्ति ॥ ११९ ॥ अब्रच्छाया=मेवच्छाया । सिद्धं=पक्षम् । किञ्चिदिति । शीघ्रमेव

अत एव विवेकिनो जितात्मानो धनमपृहां न कुर्वन्ति । उक्त अच—
सुसञ्चिनैर्जीवनवस्युरक्षिनैर्निर्जेऽपि देहे न नियोजितैः क्रचिन् ।

पुंसो यमाऽन्तं ब्रजतोऽपि निष्ठुरे गतेर्थनैः पञ्चपदी न दीयते ॥ १२१ ॥
अन्यच—यथाऽस्मिष्यं जले मन्त्यैर्भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि ।

आकाशे पक्षिभिर्श्वैव तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥ १२२ ॥

निर्दोषपमपि वित्ताद्यं दोषैर्योजयते नृपः ।

निर्धनः प्रासदोपोऽपि सर्वत्र निरुपद्रवः ॥ १२३ ॥

अर्थानामर्जने दुःखमजितानाश्च रक्षणे ।

नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान्कष्टमंश्रयान् ॥ १२४ ॥

अर्थार्थी यानि कष्टानि मूढोऽयं सहते जनः ।

शनांशेनाऽपि मोक्षार्थी नानि चंन्मोक्षमानुयान् ॥ १२५ ॥

अपरं विदेशावासजमपि वैगम्यं त्वया न कार्य । यनः—
को धीरस्य मनस्त्वनः स्वविषयः ? को वा विदेशः समृतो ?

यं देशं श्रयते नमेव कुरुते बाहुप्राणापाजितम् ।

यद्वानखलाङ्गलप्रहरणः सिंहो वनं गाहते

तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्रश्चिरैस्तुष्णां छिनत्यात्मनः ॥ १२६ ॥

अर्थहीनः परदंशे गनोऽपि यः प्रज्ञावान्भवनि म कथचिदपि
न सीदति । उक्त अच—

कोऽतिभारः समर्थानां ? किं दूरं व्यवसायिनाम् ? ।

को विदेशः सविद्यानां ? कः परः प्रियवादिनाम् ? ॥ १२७ ॥

तत्प्रज्ञानिधिर्भवान्न प्राकृतपुरुपतुल्यः । अथवा—

उत्साहसम्पन्नमन्तर्धर्षसूत्रं क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम् ।

शूरं कृतज्ञं दृढसोऽहदद्व लक्ष्मीः न्वयं यांति निवासहेतोः ॥ १२८ ॥

धनर्योवनादिकं विनश्यतीत्यर्थः ॥ १२० ॥ जितात्मानः=वर्णाकृतेन्द्रियाः । नियोजिनैः=स्वशारीरार्थमपि न व्ययोऽकृतैः । यमान्तं=यमराजसन्निधिः । पथपदी=पथपदान्यपि सह तेन न गम्यत इत्यर्थः ॥ १२१ ॥ आमिषं=मांसम् । 'तानि चेत्—मोक्षार्थीं सहते' इति सम्बन्धः ॥ १२५ ॥ स्वविषयः=स्वदेशः । न कोपात्यर्थः । श्रयते=आश्रयते । बाहुप्रता-पाजितम्=बाहुवलोपाजितम् । दंशानखलाङ्गलप्रहरणः सिंहः यद्वनं गाहते=श्रयते, तस्मिन्नेव वनेहत गजश्चिरैः स्वतुष्णां शमयतीत्यर्थः ॥ १२६ ॥

प्रज्ञावान्=पण्डितः । सादति=क्लिश्यते । प्रज्ञानिधिः=अतिबुद्धिमान । प्राकृतः=

१ 'प्रहरणैः' रिति पाठे उपलक्षणे तृतीया । तैर्युत इत्यर्थः । २ 'मार्गति वासहेतोः' पाठो

अपरं प्राप्तोऽप्यर्थः कर्मप्राप्त्या नश्यति । तदेतावन्ति
दिनानि त्वदीयमासीन् । मुहूर्तमप्यनामीयं भोक्तुं न लभ्यते ।
स्वयमागतमपि विधिनाऽपहित्यते ।

अर्थस्योपार्जनं कृत्वा नैवाभाग्यः समश्चनुते ।

अरण्यं महदासाद्य मूढः सोमिलको यथा ॥ १२९ ॥

हिरण्यक आह—‘कथंसतत् ?’ स आह—

३. सोमिलकगुप्तयनोपमुक्त्यनकथा

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने सोमिलको नाम कौलिको वसति भ्व । स
चानेकविधपटूरचनारजितानि पार्थिवोचितानि वस्त्राण्युत्पादयति ।
परं तस्य चानेकविधपटूरचनानिपुणस्यापि न भोजनाच्छादनाभ्यधिकं
कथमप्यर्थमात्रं सम्पश्यते । अथान्ये तत्र सामान्यकौलिकाः स्थूल-
वस्त्रसम्पादनविज्ञानिनो महद्विसम्पन्नाः । तानवलोक्य स स्वभार्या-
माह—‘प्रिये ! पद्यैतान्स्थूलपटूरकागकान्धनकनकसमृद्धान् । तदधा-
रणकं ममैतत्स्थानम् । तदन्यत्रोपार्जनाय गच्छामि ।’

सा प्राह—‘भोः प्रियतम ! मिश्या प्रलयिनमेतद्यदन्यत्र गतानां
धनं भवति, स्वस्थाने न भवती’ति । उक्तच्च—

उत्पत्तन्ति यदाकाशे निपत्तन्ति महीतले ।

धरण्यन्तमपि प्राप्ता नाऽदत्तमुपतिष्ठनि ॥ १३० ॥

माधारणः । अर्द्धार्धमूत्रम्=अचिरक्रियम् । ‘दीर्घार्धमूत्रश्चरक्रिय’ इत्यपरः ॥ १२८ ॥ कर्म-
प्राप्त्या=अदृष्टवशात् । ‘कर्माऽप्राप्त्ये’ति केचित्पत्तन्ति । फलप्रदकर्माभावादिति च तदर्थः ।
तनु-न्धनम् । विधिना=भाग्येन ।

अधिष्ठाने=नगरे । पटूरचना=विधिकृतिमनोहरश्चेष्वखरचना । काष्ठयन्त्ररचना
वा । (‘छापा’) । तया रजितानि (रंग विरंगे छपे हुए) । पार्थिवोचितानि=राजोपभोगा-
दीणि । पटूरचनानिपुणस्य=श्रेष्ठवस्त्रनिमाणन्तुरस्य । नानाविधवस्त्ररञ्जनदास्यन्त्रैव स्व-
रञ्जनकर्मणि चतुरस्य वा । तत्र=अधिष्ठाने । धनसमृद्धान्=महाधनिनः । अधारणकम्=
अननुकूलम्—अशुभम् ।

१ “उत्पत्ततोऽप्यन्तरिक्षं गच्छतोऽपि महीतलम् । धावतः पृथिवीं सर्वा नाऽदत्तमुप-
तिष्ठति ॥” इति पा० ।

तथा च—न हि भवति यज्ञ भाव्यं भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन ।
 करतलगतमपि नश्यनि यस्य तु भवितव्यता नास्ति ॥ १३१ ॥
 यथा धेनुसहस्रेषु वन्सो विन्दति मातरम् ।
 तथा पुराकृतं कर्म कर्त्तारमनुगच्छति ॥ १३२ ॥
 शेते सह शायानेन गच्छन्तमनुगच्छनि ।
 नराणां प्राक्तनं कर्म तिष्ठत्यथ सहात्मना ॥ १३३ ॥
 यथा छायातपौ निन्यं सुसम्बद्धौ परस्परम् ।
 पुंवं कर्म च कर्ता च सक्षिष्टावितरेतरम् ॥ १३४ ॥

तम्मादत्रैव व्यवसायपरो भव ।' कौलिक आह—'प्रिये ! न
 मम्यगभिहितं भवत्या, व्यवसायं विना कर्म न फलति । उक्तं च—

यथैकेन न हस्तेन नालिका सम्प्रपद्यते ।
 तथोद्यमपरित्यकं न फलं कर्मणः स्मृतम् ॥ १३५ ॥
 पश्य कर्मवशात्प्राप्तं भोज्यकालेऽपि भोजनम् ।
 हस्तोद्यमं विना वक्त्रे प्रविशेज्ञ कथञ्चन ॥ १३६ ॥
 तथा च—उद्योगिनं पुरुषसिंहसुपैति लक्ष्मी-
 देवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति ।
 देवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
 यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ? ॥ १३७ ॥
 तथा च—उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।
 नहि सिंहस्य सुसस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥ १३८ ॥
 उद्यमेन विना राजन् ! न सिद्ध्यन्ति मनोरथाः ।
 कातरा इति जल्पन्ति 'यद्याव्यं तद्विष्यति' ॥ १३९ ॥
 स्वशक्त्या कुर्वतः कर्म न चेत्सिद्धि प्रयच्छति ।
 नोपालभ्यः पुमांस्तत्र दैवान्तरितपौरुषः ॥ १४० ॥
 'तन्मयाऽवश्यं देशान्तरं गन्तव्यम्'—इति निश्चिन्य वर्धमान-

उत्पत्तीति । आकाशपानालपृथिव्यन्तेषु भ्रमताऽपि पूर्वजं-मोपाजितातिरिक्तं न
 लभ्यते इत्यर्थः ॥ १३० ॥ विन्दति=लभते । पुराकृतं=पूर्वजन्माजितम् । आत्मना सह
 तिष्ठति=आत्मानं न जहाति ॥ १३३ ॥ (छायातपौ='धूप-छांह') । कर्त्ता=आत्मा, पुरुषः ।
 कर्म=अदृष्टम् ॥ १३४ ॥ यद्यावित तद्विष्यति कि प्रयत्नेनेति कातरा=अनुष्ठोगिनः—
 र्हीवाः जल्पन्ति न शूराः ॥ १३९ ॥ दैवेनान्तरितः=विफलोऽकृतः—पौरुषो यस्यासौ—

पुरं गतः । तत्र च वर्षत्रयं स्थित्वा सुवर्णशतत्रयोपार्जनं कृत्वा भूयः मध्यगृहं प्रस्थितः । अथाऽर्धपथे गच्छतम्तस्य कदाचिद्टटव्यां पर्यटतो भगवान्नरविगम्नमुपागतः । तदाऽसौ व्यालभयात्स्थूलतर-वटम्कन्धमाल्हय यावत्प्रसुप्तनावन्निशीथे मध्ये द्वौ पुरुषौ रौद्राकारौ परम्परं प्रजल्पन्नावशृणोन् । तत्रैक आह—‘भोः कर्तः ! त्वं किं मम्यङ्गु वेत्सि यद्भ्यं सांमिलकस्य भोजनाच्छादनाभ्यधिका समृद्धि-नाम्नि, तत्किं त्वयाम्य सुवर्णशतत्रयं प्रदत्तम् ?’ । स आह—भोः कर्मन ? मयाऽवश्यं दातव्यं व्यवसायिनाम् । तत्र च तस्य परिणति-स्त्रदायत्ता’ इति । अथ यावद्सौ कौलिकः प्रवुद्धः सुवर्णग्रन्थि-मवलोकयति तावद्विक्तं पद्यति । ततः साक्षेपं चिन्तयामाम—‘अहो ! किंमत्महता कष्ठेनोपार्जितं वित्तं हेलया कापि गतम् ? । तद्वार्थ-श्रमोऽकिञ्चनः कथं स्वपत्न्या भित्रागच्च मुखं दर्शयिष्यामि ।’ इति निश्चित्य तदेव पत्तनञ्जनः । तत्र च वर्षमात्रेणापि सुवर्णशत-पञ्चकमुपार्ज्य भूयोऽपि मध्यस्थानं प्रति प्रस्थितः । यावदर्धपथे स्थित-मटवीगतन्नं वटं भूयः ममामादयति तावदस्य भगवान्भानुरस्तं जगामै ।

अथ सुवर्णनाशभयात्सुश्रान्तोऽपि न विश्राम्यति, केवलं कृतगृहोऽकण्ठः सत्वरं ब्रजति । अत्रान्तरे द्वौ पुरुषौ ताहशौ हस्तिदेशो ममागच्छन्तौ जल्पन्तौ चाऽशृणोन् । तत्रैकः प्राह—‘भोः कर्तः ! किं त्वयैतस्य सुवर्णशतपञ्चकं प्रदत्तम् ? तत्किं त्वं न वेत्सियद्वाजनाच्छादनाभ्यधिकमस्य किञ्चिनास्ति !’ । स आह—भोः कर्मन ! मयाऽवश्यं देयं व्यवसायिनाम्, नस्य परिणामस्त्वदायत्तः, तत्किं मासुपालम्भयसि !’ तच्छ्रुत्वा सोमिलको यावद्वन्धिमव-नथाभूतः ॥ १४० ॥ अर्धपथे=अर्धमार्गे । (‘आधा दूर आनेपर’) । अटव्यां=वने । पर्यटतः=गच्छतः । व्यालभयात्=सिंहादिभयात् । रौद्राकारौ=भीषणाकृतिधारिणौ । कर्मन्=हे अटु ! । व्यवसायिनाम्=उच्चोगिनाम् । तस्य=धनस्य । परिणति=परिणामः, निष्ठीभावः, उपभोगश्च । रिक्षं=सुवर्णखण्डरहितम् । साक्षेपं=आत्मनो निन्दापूर्वकम् । हेलया=सहसा । व्यर्थश्रमः=निष्फलप्रयासः । अकिञ्चनः=दरिद्रः । कृता गृहं प्रति उत्कण्ठा

१ ‘यावदर्धपथे भूयोऽटवीगतस्य भगवान्भानुरिति मुद्रितः पाठः ।

लोकयति तावत्सुवर्णं नास्ति । ततः परं द्वुःखमापन्नो व्यचिन्तयन्—
‘अहो ! किं मम धनग्रहितस्य जीवितेन ? तदत्र वटवृक्षे आत्मान-
सुदृश्य प्राणांस्त्यजामि ।’

एवं निश्चिन्य दर्भमर्यां रज्जुं विधाय स्वकण्ठे पादां नियोज्य
आख्यायामात्मानं निवध्य यावत्प्रक्षिपति तावदेकः पुमानाकाञ्चन्थ
एवेदमाह—‘भो भोः सोमिलक ! मैवं माहसं कुम, अहन्ते विना-
पहारकः, न ते भोजनाच्छ्रादनाभ्यधिकां वराटिकामपि सहं, तदृच्छ
स्वगृहं प्रति । अन्यच्च भवदीयमाहमेनाहं तुष्टः, यथा मे न स्यात्तर्थं
दर्शनं, तत्राग्यतामभीष्टो वरः कश्चिन् !’ सोमिलक आह—‘यद्येवं
नहेहि मे प्रभूतं धनम् ।’ स आह भोः ! किङ्गरियमि भोगग्रहितेन
धनेन ? । यतमतव भोजनाच्छ्रादनाभ्यधिका प्राप्तिरपि नास्ति ।

किन्तया क्रियते लक्ष्या ? या वधूरिव केवला ।

या न वेश्येव सामान्या पथिकैस्त्पुज्यते ॥ १४१ ॥

सोमिलक आह—‘यद्यपि तस्य धनस्य भोगो नास्ति, तथापि
तद्वत् । उक्तच्च—

कृष्णोऽप्यकुर्लीनोऽपि तदानाश्रितमानसैः ।

सेव्यते स नरो लोकैर्यस्य स्थाद्वित्तसञ्चयः ॥ १४२ ॥

तथा च—शिथिलौ च सुबुद्धौ च पतनः पततो न वा ।

निरीक्षितौ मया भद्रे ! दश वर्षाणि पञ्च च’ ॥ १४३ ॥

पुरुष आह—‘किमेतन् ? । सोऽव्रवीन्—

येनासौ तथा । तादृशौ=भाषणाकारौ । उद्वध्य=ऊर्ध्वे वर्ष्वा । प्रक्षिपति=शरारं
पात्रयति । (फांसी परं लटकना चाहता हा था कि’) वराटिकां=कपटिकां (=‘कौडी’) ।

अन्यच्च=किन्तु । प्रभूतं=विगुलम् । केवला=स्वमात्रोपभोया । सामान्या=
मकलोपभोगार्हा । पथिकैः=मार्गांगतैरपि । भुज्यते=सेव्यते ॥ १४१ ॥ तदानाश्रितमानसैः=
‘कदाचिदिथं दास्यतो’त्याशापाशवद्देः । विच्चसञ्चयः=धनराशिः ॥ १४२ ॥ शिथिलौ=श्व-
वधनौ । सुबुद्धौ=नितरां इदिङ्गतौ । पतेन पतनयोग्यता धवनिता । सुबुद्धावितिपाठं-इत्तो ।
पुष्टावित्यर्थः । पततो न वा । शीघ्रं पतिष्यतः ? नवा=नवा पतिष्यतः ? इत्येवं विचार्य ।
‘भद्रे इति स्वभार्यास्मोधनम् । मया पञ्चदश वर्षाणि यावदाशया निरीक्षतौ तदापि न
पतिताविति भावः । एव आशावद्वा लोका अदातारमपि धनिनमन्मरन्त्येवेति भावः ॥ १४३ ॥

६. वृपभृपणानुसारिश्रूगालकथा

कस्मिंश्चिद्विषयाने तीक्ष्णविषयाणां नाम महावृपभः प्रतिवसन्ति एम् । स च मदानिरेकात्परित्यक्तनिजयूथः शृङ्गाभ्यां नदीतटानि विदारयन्वेच्छया मरक्तसहजानि शृपाणि भक्षयन्नरप्यचरो वभूव ।

अथ तत्रैव वने प्रैलोभको नाम श्रूगालः प्रतिवसन्ति एम् । स कदाचित्स्वभार्यया महा नदीर्तारं सुखोपविप्रमितिष्ठन्ति । अत्रान्तरे स नीक्षणविषयाणो जलार्थं तदेव पुलिनमवतीर्णः । ततश्च तस्य लम्बमानौ वृपणावलोक्य श्रूगालोऽभिहितः—‘म्वामिन ! पश्याऽम्भ्य वृपभम्य मांसपिण्डौ लम्बमानौ । यथा स्थितौ—तदेतौ क्षणेण प्रहरण वा पतिष्यतः, एवं ज्ञात्वा भवता पृष्ठानुयायिना भाव्यम् ।’

श्रूगाल आह—‘प्रिये ! न ज्ञायते कदाचिदेतयोः पतनं भविष्यति वा, न वा, ? तत्किं वृथा श्रमाय मां नियोजयसि, ? अत्रम्भ-स्तावज्जलार्थमागतान्मूपकान्भक्षयिष्यामि मम त्वया, मार्गोऽयं यत-मत्तेपाम् । अपरं यदि त्वां मुक्तवाम्य तीक्ष्णविषयाणस्य वृपभस्य गृष्टे गमिष्यामि, तदागत्यान्यः कञ्चिदेतत्स्थानं समाश्रयिष्यति, तत्रैतत्त्वाज्जने कर्तुम् । उत्कच्च—

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते ।

ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव च ॥ १४४ ॥

श्रूगाल्याह—‘भोः कापुरुषस्त्वं, यत्किञ्चित्प्राप्तं तेनैव सन्तोपं करोपि । उत्कच्च—

मदातिरेकात्=गवांतिशयात् । यूथं=वृद्धम् । शष्पाणि=धासाहुरान् । वृषणौ=अण्डकीशी । मांसपिण्डौ=मांसखण्डावण्डकोशी । यथास्थिताविति । अनयोः स्थितिविशेषणं ज्ञायते यच्छीघ्रं पतिष्यते हत्यर्थः । यतः=यस्मात्कारणात् । तेषां=मूपकाणाम् । मुक्त्वा=परित्यज्य । ध्रुवाणि=निश्चितानि । अध्रुवाणि=अनिश्चितानि,—केवलमाशया—निषेवते । तस्य ध्रुवाण्यपि नश्यन्ति । अध्रुवाणि तु नष्टान्येवेत्यर्थः ॥ १४४ ॥

१ ‘प्रलम्बवृषणो नाम षण्डः’ (=पण्डः=सांड) । २ ‘प्रलोभिकः’ पा०

सुपूरा स्यात्कुनदिका सुपूरो मूषिकाजलिः ।

सुसन्तुष्टः कापुरुषः स्वल्पकेनापि तुष्यति ॥ १४५ ॥

तम्मात्पुरुषेण सदैवोत्साहवता भाव्यम् । उच्च-

यत्रोत्साहसमारभ्मो यत्रालस्यविहीनता ।

नयविक्रमसंयोगस्तत्र श्रारचला ध्रुवम् ॥ १४६ ॥

न ‘दैव’ मिति सञ्चिन्त्य त्यजेन्नोद्योगमात्मनः ।

अनुयोगेन नो तैलं तिलेभ्योपि हि जायते ॥ १४७ ॥

अन्यच्च-यः स्तोकेनापि सन्तोषं कुरुते मन्दर्धाजेनः ।

नस्य भाग्यविहीनस्य दक्षा श्रीरपि मार्ज्यते ॥ १४८ ॥

यच्च त्वं वदसि—‘एतौ पनिष्यतो न वे’ति ? तदप्यगुल्मम् । उच्च-

कृतनिश्चयिनो वन्द्यास्तुक्षिमा न प्रशस्यते ।

चातकः को वराकोऽयं ! यस्येन्द्रो वारिवाहकः ॥ १४९ ॥

अपरं—मूषकमांसस्य निर्विणाऽहम्, एतौ च मांसपिण्डौ पतन-
प्रायौ हृश्यते, तत्सर्वथा नान्यथा कर्तव्यम्”—इति ।

अथासौ तदाकर्ण्य मूषकप्राप्तिस्थानं परित्यज्य तीक्ष्णविपाणम्य
पृष्ठमन्वगच्छन् । अथवा साधिवद्मुच्यते—

तावस्यात्सर्वकृत्येषु पुरुषोऽत्र स्वयं प्रभुः ।

खीवाक्याङ्कुशविक्षुण्णो यावज्ञो हियते बलान् ॥ १५० ॥

अकृत्यं मन्यते कृत्यमगम्यं मन्यते सुगम् ।

अभक्ष्यं मन्यते भक्ष्यं खीवाक्यप्रेरितो नरः ॥ १५१ ॥

एतं स तस्य पृष्ठतः सभायैः परिभ्रमंश्चिरकालमनयन् । न च
तयोः पतनमभूत्, ततश्च निर्वेदात्पञ्चदशे वर्षे शृगालः स्वभायामाद-

यत्रेति । उत्साहेन—समारभ्मः=कायोरभ्मः; ‘समालम्ब’ इत्यपि पाठः । नयस्य-
नातेविनयस्य च संयोगः=प्रमवायः । तत्र=महात्मनि पुरुषे नेति । ‘ना-उद्योग’मिति-
च्छेदः । देवमस्तीत्येवं विचार्य—ना=पुरुषः, आत्मन उद्योगं न त्यजेत् । तिलेभ्योपि तैलमु-
षोगेन विना न कर्म्मते, अन उद्योग आवश्यक एवेत्यर्थः ॥ १४७ ॥ दक्षा=भाग्यप्राप्तिपि ।
मार्ज्यते=श्रीयते ॥ १४८ ॥ तुक्षिमा=शूरीरमहर्वत् । वारिवाहकः=जलवाहकः (‘पनिहारा’) ॥ १४९ ॥ निर्विणा=लिङ्गा । ग्लानिमुपगता । खीवाक्याङ्कुशेन=खीवाक्यान्येवाङ्कुशान्तेन
विशेषेण क्षुण्णः=ताडितः । यावद्वाज न हियते=निर्गृहते । क्षुण्ण=सुगमम् ॥ १५१ ॥

‘शिथिलौ च सुवृद्धौ च पततः पततो न वा ।
निरोक्षितौ मया भद्रे ! दश वर्णाणं पञ्च च ॥ १३२ ॥

तयोस्तत्पश्चादपि पातो न भविष्यति, तत्तदेव स्वस्थानं
गच्छावः । अतोऽहं ब्रवीमि—‘शिथिलौ च सुवृद्धौ च—’इति । *

पुमप आह—‘यद्येवं तदृच्छ भूयोऽपि वर्धमानपुरं, तत्र द्वौ
वणिकपुत्रौ वसतः । एको गुप्रधनः, द्वितीय उपमुक्तधनः । ततस्तयोः
म्बरूपं बुद्धैकस्य वरः प्रार्थनीयः । यदि ते धनेन प्रयोजनमभक्षि-
तेन,—ततस्त्वामपि गुप्रधनं करोमि । अथवा दत्तभोग्येन धनेन ते
प्रयोजनं तदुपमुक्तधनं करोमि’—इति ।

एवमुक्त्वाऽदर्शनं गतः । मोमिलकोऽपि विस्मितमना भूयोऽपि-
वर्धमानपुरं गतः । अथ सन्ध्यामये श्रान्तः कथमपि तत्पुरं प्राप्नो
गुप्रधनगृहं पृच्छन्कृच्छालङ्घ्वा अस्तमिते मूर्ये प्रविष्टः ।

अथाऽसौ भार्यापुत्रसमेतेन गुप्रधनेन निर्भत्स्यमानो हठाद्वृहं
प्रविश्योपविष्टः । ततश्च भोजनवेलायां तस्यापि भक्तिवर्जितं किञ्चि-
दशनं दत्तम् । ततश्च सुकृत्वा तत्रैव यावत्सुप्रो निशीथे पश्यति ताव-
त्तावपि द्वौ पुरुषौ परस्परं मन्त्रयतः ।

तत्रैक आह—‘भोः कर्त्तः ! किं त्वयाऽस्य गुप्रधनस्यान्योऽधिको
व्ययो निमितः ? यत्सोमिलकस्याऽनेन भोजनं दत्तम् । तदयुक्तं त्वया
कृतम् ।’ स आह—‘भोः कर्मन् ! न ममात्र दोषः, मया पुमपम्य
लाभः क्षतिश्च दातव्या, तत्परिणतिः पुनस्त्वदायत्ता’—इति ।

अथाऽसौ यावदुत्तिष्ठति तावदुप्रधनो विषूचिकया खिद्यमानो रुजा-
तयोः=अण्डकोशयोः । ‘पततः’ ‘न वा पततः—’ इति निरोक्षितौ मयेत्यन्वयः ॥ १३२ ॥

यद्येवम्=महती ते धनेच्छा । भूयः=पुनरपि । गुप्रधनः=रक्षितधनः—कदर्यः ।
अदर्शनम्=अन्तर्धानम् । तत्पुरं=वर्द्धमानपुरम् । निर्भत्स्यमानः=सन्तर्ज्यमानः ।
हठात्=बलात्कारेण, (जग्रदस्ती) । भक्तिवर्जितम्=अनादरेण । विषूचिका-

? ‘लाभः क्षतिश्च कर्त्तव्येति’ पाठान्तरम् । तत्र क्षतिः=व्ययः ।

७ भिमभूतः क्षणं तिष्ठति । ततो द्वितीये ७ हि तदोषेण कृतोपवासः सञ्जातः ।

सोमिलकोऽपि प्रभाते तद्वान्निष्कम्योपभुन्नधनगृहं गतः ।
तेनापि चाभ्युत्थानादिना मक्तुतो विहितभोजनान्द्वादनमम्मान-
मन्तम्यैव गृहं भव्यशश्यामारूप्यं सुख्वाप । ततश्च निशीथे यावत्पश्यति
नावत्तावेव द्वौ पुरुषौ मिथो मन्त्रयतः ।

अथ तयोरेक आह—‘भोः कर्त्तः ! अनेन सोमिलकस्योपकारं
कुर्वता प्रभूतो व्ययः कृतः, तत्कथय कथमस्योद्वारकविविर्भविष्यति, ?
अनेन सर्वमेतत्त्रवद्वारकगृहात्ममानीतम् ।’ स आह—‘भोः कर्मन !
मम कृत्यमेतन्, परिणतिस्त्वद्वायत्ता’—इति ।

अथ प्रभातसमये राजपुरुषो राजप्रसादजं वित्तमादाय समा-
यात उपभुक्तधनाय समर्पयामास । तद्वद्वा सोमिलकश्चिन्तयामास-
सञ्चयरहितोऽपि वरमेप उपभुक्तधनः, नासौ कद्यो गुप्तधनः ।

उक्तङ्ग—अभिहोत्रफला वेदाः शीलवृत्तफलं श्रुतम् ।

रतिपुत्रफला दारा दत्तभुक्तफलं धनम् ॥ १५३ ॥

तद्विधाता मां दत्तभुक्तधनं करोतु; न कार्यं मे गुप्तधनेन ।’
तनः सोमिलको दत्तभुक्तधनः सञ्जातः । अतोऽहं त्र्वीयि—‘अर्ध-
स्योपार्जनं कृत्वा’—इति ।

तद्वद्र हिरण्यक ! एवं ज्ञात्वा धनविषये सन्तापो न कार्यः । अथ
विद्यमानमपि धनं भोगवन्ध्यतया तदविद्यमानं मन्तव्यम् । उक्तञ्च—
गृहमध्यनिखातेन धनेन धनिनो यदि ।
भवामः किं न तेनैव धनेन धनिनो वयम् ? ॥ १५४ ॥

उदरामयः (‘हैंजा’ ‘दस्त’) । खिद्यमानः=डिक्ष्यमानः । विहिनो भोजनच्छादनादिना
मम्मानो यस्यासौ नथा । उद्वारकविधि=कृष्णप्रतीकारोपायः । (उद्वारक=‘उधार’
'कर्ज') । कथमस्योद्वारकमत आह—अनेनेति । अनेन=भुक्तधनेन । व्यवहारकगृहात्
=कुसीदजीविगृहात् । (‘बौहरा’ ‘महाजन’) । कृत्यं=कार्यकरणमात्रम् । परिणामः=फलम् ।
राजप्रसादजं=राजानुग्रहमून्नकम् । कदर्यः=बद्धमुष्टिः (‘कञ्जस्’) । श्रुतं=शास्त्राभ्यासः ।
शीलवृत्तफलं=विनयसदा चारफलं दानभोगफलकमेव धनं श्रेष्ठम् ॥ १५३ ॥

विधाता=कर्माधिष्ठात्री देवता । कर्मभोगवन्ध्यतया=उपभोगदानादिकलशून्यतया ।

तथा च—उपर्जितानामर्थानां त्याग एव हि रक्षणम् ।

तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाम्भसाम् ॥ १५५ ॥

दातव्यं भोक्तव्यं धनविषये सञ्चयो न कर्तव्यः ।

पदयेह मधुकरीणां सञ्चितमर्थं हरन्त्यन्ये ॥ १५६ ॥

अन्यच—दानं भोगो नाशस्तिक्षो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।

यो न ददाति न भुड़के तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥ १५७ ॥

एवं ज्ञात्वा विवेकिना न स्थित्यर्थं विनोपार्जनं कर्तव्यम् ,
यतो दुःखाय तन् । उत्कृच्च—

धनाद्विकेषु खिद्यन्ते येऽत्र मूर्खाः सुखाशया ।

तस्मा ग्रीष्मेण सेवन्ते शैत्यार्थं ते हुनाशनम् ॥ १५८ ॥

सर्पाः पित्रनिति पवनं न च दुर्बलास्ते

जुषकेस्तुर्णवं नगजा बलिनो भवन्ति ।

कन्द्रैः फलं मुनिवरा गमयन्ति कालं

सन्तोष एव पुरुषस्य परं निधानम् ॥ १५९ ॥

मन्तोपामृतलृपानां यत्सुखं शान्तचेतसाम् ।

कृतस्तद्वन्दुव्याधानामितश्चेतश्च धावताम् ॥ १६० ॥

पीयूषमिव सन्तोषं पिवतां निरूपितिः परा ।

दुःखं निरन्तरं पुंसामसन्तोषवतां पुनः ॥ १६१ ॥

निरोधाच्चेतसोऽक्षाणि निरुद्धान्यखिलान्यपि ।

आच्छादिते रक्षौ मेघैराच्छज्जाः स्युर्गभस्त्यः ॥ १६२ ॥

वाञ्छाविच्छेदनं प्राहुः स्वास्थ्यं शान्ता महायथः ।

वाञ्छा निवर्तते नाऽर्थैः पिपासेवाऽग्निसेवनैः ॥ १६३ ॥

तेन=निगदेन । (गाढकर—रखेहुए) । तेनैव=अन्यैर्निखातेन ॥ १५४ ॥ परीवाहः=प्रणालिकामार्गेण क्षेत्रादी प्रापणम् (सिंचाई) ॥ १५५ ॥ मधुकरी=मधुमक्षिका । अन्ये=अन्ये लोकाः ॥ १५६ ॥ तृतीया गतिः=चौरादिना नाशः ॥ १५७ ॥ स्थित्यर्थः=क्वलं स्थापनार्थम् ।

धनादीति । धनपुत्रदारादौ सुखाशा मृगतुण्डैवेति भावः ॥ १५८ ॥ निधानं=सुगुं संधनम् । पीयूषम्=अमृतम् । पिवतां=धारयताम् । परा=उत्कृष्टा । निरूपितिः=सुखम् ॥ १६१ ॥ मनसो निरोधे श्वते सर्वेन्द्रियनिरोधः स्वत एव भवति । गमस्त्यः=किरणाः ॥ १६२ ॥ वाञ्छाविच्छेदनम्=आशात्यागः । स्वास्थ्यं=नीरोगताम् । शान्ताः=वशीकृतेन्द्रियग्रामाः । अर्थैः=वनैः । धनैराशा न निवर्तते नहि वहिना पिपासा शान्ति-

अनिन्द्यमपि निन्दनित स्तुवन्त्यस्तुत्यमुच्चकैः ।

स्वापतेयकृते मर्यादः कि कि नाम न कुर्वते ? ॥ १६४ ॥

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरन्तस्य निरीहता ।

प्रक्षालनाद्धि पद्मस्य दूराद्सप्तशनं वरम् ॥ १६५ ॥

दानेन तुल्यो निधिरस्ति नान्यो लोभाच्च नान्योऽस्मि रिपुः पृथिव्याम् ।
विभूषणं शोलसमं न चान्यत्सन्तोपतुलयं धनमस्ति नान्यत् ॥ १६६ ॥

दारिद्र्यस्य परा मूर्तिर्याच्चा न द्रविणाल्पता ।

जरदगवधनः शर्वस्तथापि परमेश्वरः ॥ १६७ ॥

सकृदकन्दुकपातेन पतत्यार्थः पतन्नपि ।

नथा पतति मूर्वम्तु मृत्यिण्डपतनं यथा ॥ १६८ ॥

एवं ज्ञात्वा भट्ठ ! त्वया सन्तोषः कार्यः । उति मन्थरकवचन-
माकर्णवं वायम् आह—‘मन्थरको यैदेवं वदति तत्त्वया चिन्त-
न कर्तव्यम् । अथवा साक्षिदमुच्यते—

सुलभाः पुरुषा राजन् ! सनतं प्रियवादिनः ।

अप्रियस्य च पृथस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ १६९ ॥

अप्रियाण्यपि पथानि ये वदन्ति दृगामिह ।

त एव सुहृदः ग्रोक्ता अन्ये स्युर्नामधारकाः ॥ १७० ॥

अथैवं जन्पतां तेषां चित्राङ्गो नाम हरिणो लुट्यकत्रामित-
मतमित्रेव सरसि प्रविष्टः । अथाऽऽयान्तं समस्त्रमसवलोक्य लघु-
पतनको वृक्षमास्तुः । हिरण्यको निकटवर्तिनं शारमतस्वं प्रविष्टः ।
मन्थरकः सलिलाशयमास्थितः ।

दुष्टेति भावः ॥ १६३ ॥ उच्चकैः=नितगमेत्र । स्वापतेयं धनम् । कि कि न कुर्वते=
अकृत्यं सर्वमपि कुर्वन्त्येवत्यथः ॥ १६४ ॥ शुभावहा=परेच्छा न शुभदा । ‘नम्यापि न
शुभावहा’—इति पाठान्तरम् ॥ १६५ ॥ परा मूर्तिः=द्वितीयं स्पर्म् । न द्रविणाल्पता=
नान्यथनता । जरदगवधनः=ज्ञार्णवृपममात्रधनः । शब्दः=शिवः । अतो याच्छैव दारिद्र्यं
नान्यधनता । अशप्तनस्यापि अशानकर्त्य शिवस्य परमेश्वरवादिति भावः ॥ १६७ ॥
आर्थः=सत्रुः । पतन्नपि=विषदमनुभवन्नपि । कन्दुकपातेनेति । कन्दुकवत्पतति—पुन-
र्गतप्रतिनि च द्रागेवत्यर्थः । मूर्वस्तु—मृत्यिण्डवत्—पतितः पुनर्नोच्चातिमधुते इत्याशयः ॥ १६८ ॥

नामधारकाः=मित्रानाममात्रधारकाः, न वस्तुतः नुहृदः ॥ १७० ॥ लुट्यकः=व्याधः
मरसि=सरोवरपरिसरभूमी । शरस्तम्बम्=शरनृगुल्मम् । (‘पार्वा’ ‘कुंचा’) ।
अत्र ‘परा भूति’ रिति मुद्रितः पाठ आसीद् । २ पवम्=अप्रियम् । ३ क्रोधो न विषेदः

अथ लघुपतनको मृगं सम्यक्परिज्ञाय मन्थरकमुवाच—‘एहोहि
सम्बे ! मन्थरक ! मृगोऽयं तृपार्तोऽत्र समायातः सरसि प्रविष्टः,
तस्य शब्दोऽयं न मानुपमभवः’—इति ।

तच्छुत्वा मन्थरको देशकाण्डेनिमाह—‘भो लघुपतनक !
यथायं मृगो दृश्यते—प्रभूतमुच्छासमुद्भवत्तुदान्तहृष्या पृष्ठोऽवलो-
कयति,—तत्र तृपार्ते प्रपः,—नूनं लुध्यकत्रासितः । तज्जायतामस्य
पृष्ठे लुध्यका आगच्छन्ति न वा ?—इति । उत्तरच—

भयत्रस्तो नरः धासं प्रभूतं कुरुते सुहुः ।

दिशोऽवलोकयन्त्येव न स्वास्थ्यं ब्रजति क्वचिन् ॥ १७१ ॥

तच्छुत्वा चित्राङ्ग आह—‘भो मन्थरक ! ज्ञातं त्वया सम्यक्
मे त्रासकारणम् । अहं लुध्यकत्रग्रहारादुद्वारितः कृच्छ्रेणात्र समा-
यातः । सम यूथं तैर्लुध्यकैर्योपादितं भविष्यति । तच्छरणागतस्य
मे दर्शय किञ्चिद्गम्यं स्थानं लुध्यकानाम् ।

तदाकर्ण्य मन्थरक आह—‘भोचित्राङ्ग ! श्रूयतां नीतिशास्त्रम्—

द्वावृशायाविह ग्रोक्तौ विमुक्तौ शत्रुदशने ।

हस्तयोश्चालनादेको द्वितीयः पादवेगजः ॥ १७२ ॥

तद्वस्यतां शीघ्रं सवनं वनम्, यावदत्रापि नागच्छन्ति ते
दुरात्मानो लुध्यकाः । अत्रान्तरे लघुपतनकः सत्वरमभ्युपेत्योवाच—
‘भो मन्थरक ! गतास्ते लुध्यकाः स्वगृहोन्मुखाः—प्रचुरमांस-
पिण्डधारिणः । तच्चित्राङ्ग ! त्वं विश्रवद्यो वनादुहिर्भव ।’

ततस्ते चत्वारोऽपि मित्रभावमाश्रितास्तस्मिन्मरसि मध्याह्न-
समये वृक्षच्छायायाया अधस्तात्सुभापितगोष्ठीसुखमनुभवन्तः सुखेन
कालं नयन्ति । अथवा युक्तमेतदुच्यते—

सुभाषितरसास्वादवद्वरोमाङ्गकञ्जुकाः ।

विनापि सङ्गमं खीणां सुथियः सुखमासते ॥ १७३ ॥

उद्धान्तदृष्टया=नकितत्रस्तदृष्टया । स्वास्थ्यं=स्थैर्यम् ॥ १७१ ॥ उद्वारितः=दैवासंर-
क्षितः । विमुक्तौ=विमुक्तये, प्रागरक्षणाय । हस्तयोश्चालनात्—सम्मुखयुद्धरूपः । पादवेगजः=—
पलायनात्मकः ॥ १७२ ॥ विश्रवद्यः=निश्चाङ्गः । सुभाषितरसास्वादेन वदः—धृतः—

सुभाप्तमयद्रव्यसङ्गं न करोति यः ।

स तु प्रस्तावयज्ञेषु कां प्रदास्यति दक्षिणाम् ? ॥ १७४ ॥

नथा च—सकृदुक्तं न गृह्णाति स्वयं वा न करोति यः ।

यस्य सम्पुटिका नास्ति कृतस्तस्य सुभाप्तम् ? ॥ १७५ ॥

अथैकमिन्नहनि गोष्ठीमये चित्राङ्गो नायानः । अथ ने
व्याकुलीभूताः परम्परं जलियतुमारव्याः—‘अहो ! किमद्य सुहृत्र
ममायानः ?, किं सिंहादिभिः कापि व्यापादितः ? उत लुध्वकैः ?.
अथवा अनले प्रपतितो, गर्तविषमे वा नवतृणलौल्यात् ?—
इति । अथवा साधिद्विषमुच्यते—

स्वैरुहोद्यानगतेऽपि हि स्त्रियः पार्प विशङ्कयते मोहात् ।

किमु दृष्टव्यपायप्रतिभयकान्तारमध्यस्थे ? ॥ १७६ ॥

अथ मन्थरको वायसमाह—‘भो ! लघुपतनक ! अहं हिर-
ण्यकश्च तावद् द्वावप्यशक्तौ तम्यान्वेषणं कर्तु—मन्दगति-
चान्, तद्रत्वा त्वमरण्यं शोधय—यदि कुत्रचित्तं जीवन्तं पश्यसि ।

तदाकर्ण्य लघुपतनको नानिदूरे यावद्वच्छति तावत्पत्वलतीरं
चित्राङ्गः वृष्टपाशनियन्त्रितस्तिष्ठति । तं दृष्ट्वा शोकव्याकुलितमना-
मन्मवोचन्—भद्र ! किमिदम् ?’ । चित्राङ्गेऽपि वायसमवलोक्य
विशेषणं दुःखितमना वभूव । अथवा युक्तमतन—

गेमाध एव कथुको यस्ते—सुधियः=विठामः । खीमङ्गं विनापि परं सुखमनुभवन्ति ।
न्नासङ्गमे सुभाप्तिस्वादं च गेमाचो भवति । ‘नुख’ मिति क्रियाविशेषणम् ॥ १७३ ॥

प्रस्तावयज्ञेषु=नुभाप्तिप्रसङ्गरूपे यजः । नव यजे सुभाप्तिमेव हि दक्षिणाद्रव्यम् ॥ १७४ ॥ सम्पुटिका=नुभाप्तिरक्षमज्ञापा । नुभाप्तिसंग्रहः, तत्पुस्तकमिति यावत् ।
(सम्पुटिका=‘नुभाप्तिः—मन्दव्याव्’ कापी) । अनले=वह्नी । गर्तविषमे=शब्दवहूलप्रदेशः ।
नवतृणलौल्यात्=वासाङ्गुरुलालसया । पापम्=अमङ्गलम् । दृष्ट्वा ये वहवः—अपायाः=
विपत्तयः, नैः प्रतिभये=भयानके । कान्तारस्य=दुर्गमवर्तमनः—मध्यस्थिते—सुहृदि—
भमङ्गलाशङ्काया किमु ?—कि वक्तव्यम् । अवद्यमेव शङ्का भवत्येवेति भावः ॥ १७६ ॥

शोधय=यथावदिलोकय । तं=चित्राङ्गं मृगम् । नातिदूरे=किञ्चिहरे । पत्वलतीरे=
अल्पजलसरस्तीरे । कृतारथ्यन्तरस्य पाशः=नियन्त्रितः=बद्धः । मन्दः विनष्टो वा दुःखवेगः ।

१ ‘लीलोच्चानगतेऽपि हि सहस्रा पार्प विशङ्कयते वन्धौ’ । पा०

अपि मन्दत्वमापशो नष्टो वाऽपीष्टदर्शनात् ।
प्रायेण प्राणिनां भूयो दुःखावेगोऽधिको भवेत् ॥ १७३ ॥

ततश्च वाष्पावग्नाने चित्राङ्गो लघुपतनकमाह—‘भो मित्र !
मञ्जातोऽयं तावन्मम मृत्युः, तवृक्तं सम्पत्रं यद्वत्वना सह मे दर्शनं
मञ्जातम् । उक्तच—

प्राणात्यये समुत्पन्ने यदि स्यान्मित्रदर्शनम् ।
द्वयोः सुखप्रदं तच ज्ञावितोऽपि मृतस्य च ॥ १७४ ॥

तन्धन्तव्यं यन्मया प्रणयात्मुभापितगोप्तीष्वभिहितम् । तथा
हिरण्यकमन्थरकौ मम वाक्याद्वाच्यौ—

‘अज्ञानाज्ञानानो वापि दुरुक्तं यदुदाहनम् ।
तन्धन्तव्यं युवाभ्यां मे कृत्वा प्राप्तिपरं मनः’ ॥ १७५ ॥

तन्धन्तव्या लघुपतनक आह—‘भद्र ! न भेतव्यमसमद्विधैर्विद्य-
मानैः । यावदहं द्रुततरं हिरण्यकं गृहीत्वाऽऽगच्छामि । अपरं ये
मन्पुरुषा भवन्ति ते व्यसने न व्याकुलत्वमुपयान्ति । उक्तच—

समपदि यस्य न हप्तो विपदि विद्यां रणे च भीरुत्वम् ।
न भुवनवत्यतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम् ॥ १८० ॥

एवमुक्त्वा लघुपतनकश्चित्राङ्गमाश्वास्य यत्र हिरण्यकमन्थरकौ
तिप्रतस्तत्र गत्वा सर्वं चित्राङ्गपाशपतनं कथितवान् । हिरण्यकच्च
चित्राङ्गपाशमोक्षणं प्रति कृतनिश्चयं प्रमुमारोप्य भूयोऽपि सत्वं
चित्राङ्गसमीपे गतः । मोऽपि मृपकमवलोक्य किञ्चिज्जीविताशया
संक्षिप्तं आह—

—इष्टस्य=प्रियजनस्य, दर्शनात्—भूयोऽपि वद्धत इत्यर्थः ॥ १७३ ॥ वाष्पावसाने=
विलापाश्रुसमाती । स जातः=सज्जात एव । सम्पत्रं=जातम् । (‘ठोक हुआ’) ।

प्राणात्यये=प्राणनाशे । दास्यां=दयोः । दास्यां प्रकाराभ्यां वा । जीवतः
सुख सुहृदर्शनात्, मृत्युमापत्रस्यापि मृत्युं—मित्रदर्शनादेवेत्याशयः ॥ १७५ ॥ प्रणयात्
—स्नेहात् । दुरुक्तम्=दुर्वचनम् । उदाहृतम्=उक्तम् । व्यसने=विपत्ती । भुवनवत्यस्य
तिलकं—भूषणमिव श्रेष्ठम् । विरलं—कथिदेव ॥ १८० ॥ भूयोऽपि=पुनरपि । संदिलष्टः

१ ‘तद्वास्यां सुखदं पश्चाङ्गावतोऽपि मृतस्य च’ पा० । २ ‘संहष्टः’ ।

आपचाशाय विबुधैः कर्तव्याः सुहदोऽमलाः ।
न तरत्यापदं कश्चिद्दोऽत्र मित्रविवर्जितः ॥ १८१ ॥

हिरण्यक आह—‘भद्र ! त्वं तावनीतिशास्त्रज्ञो दक्षमतिः, तत्कथमत्र कृटपाशे पनितः ?’ । स आह—‘भो ! न कालोऽयं विवादस्य । नन्म यावत्स पापात्मा लुभ्यकः समभ्येति तावद् द्रुततरं कर्तयं मन्याशम । नदाकर्ण्य विहस्याह हिरण्यकः—‘किं मन्येषि समायाने लुभ्यकाद्विमेषि ?’ । यतः इांकं प्रनि महनी मे विरक्तिः सम्पन्ना,—यद्वद्विधा अपि नीनिशास्त्रविद् एनामवस्थां प्राप्नुवन्ति, तेन त्वां पृच्छामि ।’

स आह—‘भद्र ! कर्मणा वुद्धि रपि हन्यते । उक्तच्च—

कृतान्तपाशबद्धानां देवोपहतचेतसाम् ।

बुद्धयः कुञ्जगामिन्यो भवन्ति महनामपि ॥ १८२ ॥

विधात्रा रचिता या सा ललाटदक्षरमालिका ।

न तां मार्जयितुं शक्नाः स्वबुद्धयाप्यनिपण्डिताः ॥ १८३ ॥

एवन्तयोः प्रवदतोः सुहृत्तमनग्ननप्रहृदयो मन्थरकः शनैः— शनैस्तं प्रदेशमाजगाम । तं हृष्टा लघुपतनको हिरण्यकमाह—‘अहो न शोभनमापनितम ।’ हिरण्यक आह—‘किं स लुभ्यकः समायाति ?’ । न आह—‘आस्तां तावलुभ्यकवार्ता । एष मन्थरकः समागच्छति । अद्वीतिरनुष्ठिताऽनेन, यतो वयमस्य कारणान्तरं व्यापादनं यास्यामः ।

यदि स पापात्मा लुभ्यकः समागमिष्यति—तदहं तावत्वय-मुत्पतिष्यामि, त्वं पुनर्विलं प्रविश्यात्मानं रक्षयिष्यति, चित्राङ्गोऽपि वेगेन दिग्न्तरं यास्यति, एष पुनर्जलचरः स्थले कथं भविष्यति ?—इति व्याकुलोऽस्मि’ । अत्रान्तरे प्राप्नोऽयं मन्थरकः ।

—समन्वितः, संयुक्तः । ‘मंहष्ट’ इति तु वयं गौडाः पठामः । अमलाः=अकपटाः, नदोपाश ॥ १=१ ॥ दक्षमतिः=निपुणवुद्धिः । कर्त्तय=छिन्निः । एनां=वन्धनां दिव्यपाम् । मृत्युपाशबद्धानाम् । दैवेन=अदृष्टेन । उपहतं=कुणितं नेतो येषां=तेषाम् । कुञ्जगामिन्यः=विकलगतयः, कुणिताः ॥ १=२ ॥ सुहृद्व्यसनसन्तसहदयः=मित्रविपत्तिदुःखिताचित्तः । मन्थरकः=तत्रामा कच्छपः । (आस्तान्तावत्=‘छोडो’ ‘रहनेदो’)

हिरण्यक आह—‘भद्र ! न युक्तमनुष्ठितं भवता, यद्व समायातः, तद्धयोऽपि द्रुततरं गम्यताम्,—यावदसौ लुच्यको न समायानि ।’

मन्थरक आह—‘भद्र ! किं करोमि, न शक्नोमि तत्रम्हो मित्रव्यमनाधिदाहं सोऽुं, तेनाहमत्रागतः । अथवा माध्विद्मुन्यते—

दयितजनविप्रशागा वित्तविद्योगाश्च केन सह्याः स्युः ? ।

यदि सुमहार्याधिकव्यो वयस्यजनसङ्गमो न स्यात् ॥१८४॥

वरं प्राणपरित्यागो न वियोगो भवादृष्टौ ।

प्राणा जन्मान्तरे भूयो भवन्ति न भवद्विधाः’ ॥ १८५ ॥

एवं तस्य प्रवदत आकर्णपूरितशारामनो लुच्यकोऽयुपागतः । तं हन्त्वा मृपकेण तस्य ज्ञायुपागम्तद्विष्णुपाणात्प्रणिष्ठतः ।

अत्रान्तरे चित्राङ्गः मत्वरं पृष्ठमवलोकयन्प्रधावितः । लघु-पननको वृक्षमास्तृः । हिरण्यकश्च मर्मापवर्ति विलं प्रविष्टः ।

अयाऽन्नो लुच्यको नृगगमनाद्विपणवदनो व्यर्थश्रमस्तं मन्थरकं मन्दं-मन्दं म्हलमध्ये गच्छन्तं दृष्टवान् । अचिन्तयच—‘यद्यपि कुरुङ्गो धात्रापद्धतस्तथा यगं कूर्म आहारार्थं मम्पादितः, तदद्याम्यामिषेण मे कुटुम्बम्याहारनिर्वृत्तिर्भविष्यनि’ ।—एवं विचिन्त्य तं दर्शेः मंछाद्य धनुषि समागोप्य म्हन्धे कृत्वा गुहं प्रति प्रमिथतः । अत्रान्तरे तं नीयमानमवलोकय हिरण्यको दुःखाकुलः पर्यद्वयन्—‘कष्टं भोः ? कप्रमापनितम्—

एकस्य दुःखस्य न यायदनं गच्छास्यहं पारमिवार्णवस्य ।

तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे छिद्रेऽवनर्था बहुलीभवन्ति ॥ १८६ ॥

अनांतिः=अनुचितम् । अनुष्ठिता=कृता । व्यापादनं=त्रैम् । एषः=मन्थरकः । तत्रस्थः=क्षेत्रकोणस्यः । मित्रेति—मित्रविपर्त्तश्ववणवद्विज्ञालाम् । दयितजनविप्रशोगः=नृहिंगहाः । वित्तवियोगः=धननाशादयः । विप्रयोगः=विरहः । सुमहौषधिकल्पः=अमोघवीर्यमहौषधितुल्यः । वयस्पा=मित्राणि ॥१८५॥ तस्य=कच्छपस्य । आकर्णपूरित-शरामनः=कर्णपर्यन्ताकृत्यकोऽप्णः । पृष्ठमवलोकयन्=वलितव्यावं पश्यन् । (घूम कर-देवता हुआ) । कुरुङ्गः=मृगः । धात्रा=भाग्येन । कूर्मः=कच्छपः । (‘कृत्वा’) । मम्पादितः=मृश्चिद्धी प्रेषितः । दर्शेः=तन्मर्यैर्बन्धनैः । अर्णवस्य=मागरस्येव महतो दुःख-र्यकस्य यावत्त्र समाप्तिरित्यर्थः । छिद्रेषु=व्यसनेषु । बहुलीभवन्ति=वर्धन्ते ॥ १८६ ॥

यावदस्वलितं तावत्सुखं याति समे पथि ।
 स्वलिते च समुत्पन्ने विषमञ्च पदे पदे ॥ १८७ ॥
 यज्ञं सगुणं चापि यज्ञापत्सु न सीदति ।
 धनुर्मित्रं कलत्रं च दुर्लभं शुद्धवंशजम् ॥ १८८ ॥
 न मानरि न दारेषु न सोदर्ये न चात्मजे ।
 विश्रम्भस्तादशः पुंसां यादज्ञिने निरन्तरे ॥ १८९ ॥

यदि तावत्कृतान्तेन मे धननाशो विहितमत्मार्गश्रान्तम् जे
 विश्रामभूतं मित्रं कम्मादपहतम् ? । अपरमपि-मित्रं परं मन्थगक-
 समं न स्यान् । उत्तरं—

असम्पत्तौ परो लाभो गुह्यस्य कथनं तथा ।
 आपद्विमोक्षणं चैव मित्रस्यैतन्कलन्नयम् ॥ १९० ॥

तदस्य पश्चात्रान्यः सुहृन्मे । तत्किं ममोपर्यनवग्नं व्यमनशार्द-
 वर्षति हन्त ! विधिः ? । यत आदौ नावद्वित्तनाशः, तनः परिवार-
 भ्रंशः, ततो देशात्यागः, ततो मित्रवियोगः-इति । अथवा स्वस्पम-
 नत्सर्वेषामेव जन्मन्, जीवितधर्मस्य च । उत्तरं—

कायः सच्चिहितापायः सम्पदः क्षणभङ्गराः ।
 समागमाः सापगमाः सर्वेषामेव देहिनाम् ॥ १९१ ॥
 तथा च-क्षते प्रहारा निपतन्त्यभीक्षणं धनक्षये दीप्यति जाठराजिः ।
 आपत्सु वैराणि समुलसन्ति छिद्रेष्वनर्थां बैहुलीभवन्ति ॥ १९२ ॥

अस्वलितम्=अपतनं, पादमोटनादभावश्च । (स्वलितम्=‘गिर्ना’ ‘बोटखाना’) ।
 विषमं=व्यमनादिना वैषम्यम् ॥ १८७ ॥ न सीदति=न विपादमनुभवति । (‘न घवडावे’) ।
 शुद्धवंशजं=सुकुलोत्पन्नम्, गुणवद्वशजध । (वंश=‘वांस’ व श्वान्दान’) ॥ १८८ ॥
 सोदर्ये=समानोदरे भ्रातरि (‘सगा भाई’) । आत्मजः=पुत्रः । विश्रमः=विश्रामः ।
 निरन्तरे=अभिन्ने ॥ १८९ ॥ कृतान्तेन=दुरदृष्टेन । ‘कृतान्तो यनमिद्वान्तर्द्वाऽकुशल-
 कर्मसु’ इति विश्वः । अपरम्=अन्यत । असम्पत्तौ=दारिद्र्यनिपाते । परो लाभः=उत्तमा
 धनासि । गुह्यस्य=गुप्तस्य । हन्त ! इति विषादे । स्वस्पम्=प्रकारः, उदाहरणं वा ।
 जीवितधर्मस्य=जीवनस्य । मन्त्रिहितापायः=समापतरवर्तिनाशः । सापगमाः=सवि-
 योगाः ॥ १९१ ॥ क्षते=ब्रणे । (‘बोट पर चोट’) । जाठराणिः=उदरभवोऽविनः (‘भूख’) ।

१. ‘बहलीभवन्ती’ति पाठे—बहलं=धनम् ।

अहो ! साधूत्तं केनापि—

शोकाऽरातिभयग्राणं प्रीतिविश्रम्भभाजनम् ।
केन रत्नमिदं सृष्टं ‘मित्र’मित्यक्षरद्वयम् ? ॥ १९३ ॥

अत्रान्तरे चाऽऽकन्दपरौ चित्राङ्गलघुपतनकौ तत्रैव समायातौ ।
अथ हिरण्यक आह—‘अहो ! किं वृथा प्रलपितेन ? तद्यावदेप मन्थरको
दृष्टिगोचरान्न नीयते, नावदम्य मोक्षोपायश्चिन्त्यताम्’—इति । उत्तर्वच—
व्यसनं प्राप्य यो मोहान्केवलं परिदेवयेन ।
कन्दनं वर्षयत्येव तस्याऽन्तं नाधिगच्छति ॥ १९४ ॥
केवलं व्यसनम्योक्तं भेषजं नयपण्डितः ।
तस्योच्छेदसमारम्भो विषादपरिवर्जनम् ॥ १९५ ॥
अन्यच—अतीतलाभस्य सुरक्षणार्थं भविष्यत्तोभस्य च सङ्घमार्थम् ।
आपत्प्रपञ्चस्य च मोक्षणार्थं यन्मन्त्यतेऽसौ परमो हि मन्त्रः ॥ १९६ ॥

तच्छुच्चा वायम आह—‘भोः यद्येवं तत्क्रियतां मद्वचः, एप
चित्राङ्गोऽस्य मार्गं गच्चा किञ्चित्पल्लवलमासाद्य तस्य तीरे निश्चिन्तनो
भूत्वा पतनु, अहमत्यस्य शिरग्नि समाम्ह्य मन्दश्च चुप्रहारः शिर
उल्लेखयिष्यामि, येनासौ दुष्टलुद्धकोऽसुं मृतं भूत्वा सम च चुप्रहरण-
प्रत्ययेन मन्थरकं भूमौ शिष्ठ्वा मृगार्थं परिदाविष्यति । अत्रान्तरे
त्वया दर्भमयानि पाशानि खण्डनीयानि, येनासौ मन्थरको द्रुततरं
पल्लवलं प्रविशति ।’

चित्राङ्ग आह—‘भोः ! भद्रोऽयं त्वया दृष्टो मन्त्रः, नन् मन्थ-
रकोऽयं मुक्तो मन्तव्यः’—इति । उत्तर्वच—

समुलमन्ति=प्रकाशने ॥ १९२ ॥ परित्राणं=रक्षकम् । प्रातिविश्रम्भयोः=स्नेहविश्वासयोः ।
भाजनं=पात्रम् ॥ १९३ ॥ आक्रन्दपरौ=विलापपरौ । भेषजं=प्रतीकारः । उच्छेदसमग-
रम्भः=विनाशोद्योगः । विषादपरिवर्जनं=शोकत्यागः ॥ १९४ ॥ अतीतलाभस्य=गूर्वलब्धस्य ।
सङ्घमः=निष्पत्तिः । परमः=उत्तमः ॥ १९६ ॥ अस्य=व्याप्तस्य । पल्लवम्=अलंप सरः ।
अहं=काकः । अस्य=मृगस्य । उल्लेखयिष्यामि=विदारयामि । असुं=मृगं । पल्लवं=धृद-

१. ‘भविष्यदायस्येनि गौडाः पठन्ति ।

सिद्धि वा यदि वाऽसिद्धि चित्तोऽसाहो निवेदयेत् ।
प्रथमं सर्वजन्तूनां तत्प्राज्ञो वेत्ति नेतरः ॥ १९७ ॥

—तदेवं क्रियताम्—इति । तथा तुष्टिते स लुभ्यकस्तथैव मार्गा-
मन्त्रपञ्चलतीरम्बं चित्राङ्गं वायमसनाथमपश्यत् ।

तं ह प्राप्तं हर्षिनमना व्यचिन्तयन्—‘नूनं पाशावन्धनवेदनया वरा-
कोऽयं मृगः सावशेषजीवितः पाञ्चं त्रोटयित्वा कथमप्येतद्वनान्तरं
यावन्प्रविष्टमावन्मृतः । तद्वययोऽयं मे कन्छपः मुयन्त्रितन्वान्,
नदंनमपि तावद्वृहामि । इत्यवधार्य कन्छपं भूतलं प्रक्षिप्य मृगमुपा-
द्धन । एतमिन्नन्तरे हिरण्यकेन वज्रोपमद्विष्टप्रहरणेन तदर्भवेष्टनं
म्बण्डवः कृतम् । मन्थरकोऽपि तृणमध्यान्तिकस्य सर्मापवर्तिनं
पञ्चलं प्रविष्टः ।

चित्राङ्गोऽयप्राप्तम्यापि तम्य तत उत्थाय वायसेन सह पलायितः ।
एतमिन्नन्तरे विलक्षां विपादपरो लुभ्यको निवृत्तां यावन्पश्यति,
तावन्कन्छपोऽपि गतः । ततश्च तत्रोपविश्येमं श्वोकमपठन्—

प्राप्तो वन्धनमप्यथं गुरुमृगस्तावत्यया मे हृतः ।

सप्राप्तः कमठः स चापि नियतं नष्टमनवाऽदेशतः ।
श्रुक्षामोऽत्र वने अमामि शिशुकैःमयकः सैमं भावेया

यज्ञान्यन्न कृतं कृतान्त ! कुरुते तज्जापि सद्यं मया ॥ १९८ ॥

महान् भद्रः=शोभनः । दृष्टः=विचारिनः । मुक्तो मन्त्रव्यः=लुभ्यकान्मुक्त एव ज्ञानव्यः ।
(‘द्रुष्ट गथा ममडां’) । प्रथमं=कार्यारम्भाव्यापेत् । याजः=विदान् । वायमसनाथं=
श्वोकमहतम् । वराकः=दीनः । (‘विचारा’) । नूनम्=अवश्यम् । सावशेषजीवितः=—
कृचिदवशिष्टप्राणः, भरणासनः । नुयन्त्रितत्वात्=दृढं वदत्वात् । एतं=मृगम् । उपाद्रवत्=—
अवायत् । वज्रोपमद्विष्टप्रहरणेन=वज्रतुल्यदन्तशस्तशालिना । करणे वा त्रूतोया । ततः=—
पञ्चलनीरात् । विलक्षः=लक्षितः ।

गुरुमृगः=महान् मृगः । त्वया=दैवेन । कमठः=कन्छपः । नियतम्=अवश्यम् ।
आदेशतः=आशातः । श्रुक्षामः=श्रुक्षाणाः । भावेया शिशुकैः विरहितः । अमामि=—
अनस्तो वने पर्यटयमि । कृतान्तं=हे विधातः । । ते=तव । मया सद्यमेवेत्यर्थः ॥ १९८ ॥

१ ‘त्यक्तस्तथा भावेया’ इति गौडाः पठन्ति ।

—एवं ब्रह्मिधं विलय स्वगृहं गतः । अथ तमिन्द्र्याधे दूरं
तरङ्गं सर्वेऽपि ते काककूर्मसूर्यपिकाः परमानन्दभाजः परम्परमा-
लिङ्गश्च पुनर्जीतमिवात्मानं मन्यमानाम्भद्रं च स्वरः सम्प्राप्य महा-
मुखेन सुभापितकथागोष्ठीविनोदेन कालं नयन्ति मम । एवं ज्ञात्वा
विवेकिना मित्रसङ्ख्याः कार्यः । न च मित्रेण स्व व्याजेन वर्त्तिनव्य-
मिति । उक्तच्च यतः—

यो मित्राणि करोत्यत्र न कौटिल्येन वर्तते ।

तैः समं न पराभूति सम्प्राप्नोति कथञ्चन ॥ ११३ ॥

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रे मित्रमस्प्राप्नीर्नाम
द्वितीयं तन्त्रम् ।

एवं काककूर्मादिकथां ज्ञात्वा । न च=नहि । न्यायेन=कपदेन । नैः=मित्रैः ।
पराभूति=यज्ञतं पराभूतम् । न प्राप्नोति=न लभते । अतो मित्रमस्पदा सर्वेषां शिवम् ।

इति श्रीजगद्विदितमाहात्म्य-पद्मास्त्रवाचस्पति—मस्मण्डलमार्त्तण्ड—
श्रीस्नेहिरामशास्त्रिणः पौत्रेण, प्रतिवादभयङ्करभयङ्कर—
विद्यावाचस्पति—न्यायशास्त्राचार्य—श्रीशिवनारायण—
शास्त्रिणां पुत्रेण, श्रीराजलक्ष्मिंगर्भसम्भूतेन श्री-
गुरुप्रसादशास्त्रिणा विरचिताशाम्पञ्चतन्त्रा-
भिनवराजलक्ष्म्यां मित्रसम्प्राप्नी-
र्नाम द्वितीयं तन्त्रम् । *

→६३ अथ काकोलूकीयम् ६३←

अथेवमागम्यते काकोलूकीयं नाम त्रितीयं तन्त्रं, यस्यायमादः
श्रोकः—

न विश्वसेन्पूर्वविरोधितस्य शब्दोऽहं मित्रत्वमुपागतस्य ।
दृग्धां गुहां पश्य उद्धकपूर्णां काकप्रणीतेन हुताशनेन ॥ १ ॥

तद्यथानुश्रृत्यते—‘अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम
नगरम् । तस्य भर्मीपर्म्योऽनेकआख्यामनाश्रोऽतिघनतरपत्रच्छब्दो
न्यग्रोधपादपोऽस्मि । तत्र च मंघवर्णो नाम वायसराजोऽनेककाक-
परिवारः प्रतिवस्ति स्म । न तत्र विहितदुर्गरचनः भपरिज्ञनः
कालं नयति स्म ।

तथान्योऽगिमद्देवो नामोन्दृकराजोऽभद्र्योन्दृकपरिवारो गिरिगुहा-
दुर्गाश्रयः प्रतिवस्ति स्म ।

म च गत्रावभ्येत्य सदैव तस्य न्यग्रोधम्य समन्नात्परि-
भ्रमति । अश्रोन्दृकराजः पूर्वविरोधवशादां कच्चिद्वायसं भमासाद-
यति तं व्यापाद्य गच्छति । एवं नित्याऽभिगमनाच्छैः—शर्नैस्त-
न्यग्रोधपादपदुर्गं तेन समन्नानिर्वायमं कृतम् । अथवा भवत्येवम्—

* श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिकृता अभिनवराजलक्ष्मीः *

~~~~~

काकाश्वेलूकाश्रेष्ठां भमाहारः—काकोलूकं । ‘येपाथ विरोध’ इत्येकवद्वातः । काकोलू-  
कमधिकृत्य कृतं तन्त्रं—काकोलूकीयम् । ‘शिशुकन्देत्यादिना छपत्ययः । पूर्वं विरोधित-  
म्य—इदानी—मित्रत्वमुपागतस्यापि शब्दोविश्वासं न कुर्यात् । काकप्रणीतेन=काकप्रक्षिप्तेन,  
काकानोतेन वा । ‘प्रणीतमुपसम्पन्ने कृते क्षिप्ते प्रवेशिते’ हति हैमः ॥ १ ॥

अतिघनतरपत्रच्छब्दः—निविडतरपत्राश्वसंछत्रः । अनेककाकपरिवारः—अनेककाक  
कुलपरिष्वतः । विहिता दुर्गस्य रचना येनासौ तथा भूतः । गिरिगुहैवाश्रयो यस्यासौ तथा भूतः ।  
भमासादयति=लभते । नित्याभिगमनात्=निरस्तरागमनात् । निर्वायसं=काकशृत्य ।

उक्तव्य—य उपेक्षेत शत्रुं स्वं प्रसरन्तं यद्वच्छया ।

रोगज्ञालस्यसंयुक्तः स शनैस्तेन हन्यते ॥ २ ॥

तथा च—जातमात्रं न यः शत्रुं व्याधिव्य व्रशमं नयेत् ।

अतिपुष्टाङ्गयुक्तोऽपि स पश्चात्तेन हन्यते ॥ ३ ॥

अथान्यद्युः स वायसराजः सर्वान्वायसमचिवानाहृय प्रोवाच—  
‘भाः । उक्तटस्तावद्भाकं शत्रुरुद्यममम्पन्नः, कालविच्च । नित्यमेव  
निशागमे ममेत्याऽस्मत्पक्षकदनं करोति, तत्कथमस्य प्रतिविधानं ? ।  
वयं तावद्रात्रौ न पश्यामः, न च तस्य दिवा दुर्गं विजार्नामः,—  
येन गन्धा प्रहरामः । तदत्र विपर्ये किं युज्यते—सन्धि-विप्रह-याना-  
उस्मन-संश्रय-द्वैधीभावानामेकतमस्य क्रियमाणस्य ? । तद्विचार्य  
र्णात्रं कथयन्तु भवन्तः ।’

अथ ते प्रोचुः—‘युक्तमभिहितं देवेन,—यदेष प्रभः कृतः । उक्तव्य—

अपृष्ठेनापि वक्तव्यं सचिवेनात्र किञ्चन ।

पृष्ठेन तु क्रतं पथ्यं वाच्यं च प्रियमप्रियम् ॥ ४ ॥

यो न पृष्ठो हितं ब्रूते परिणामे सुखावहम् ।

सुमन्त्री प्रियवक्ता च केवलं स रिपुः स्मृतः ॥ ५ ॥

तस्मादेकान्तमासाद्य कार्यो मन्त्रो महीपते ! ।

येन तस्य वयं कुर्मो निर्णयं कारणं तथा ॥ ६ ॥

अथ स मेघवर्णोऽन्वयागतानुज्ञीविसञ्जीव्यनुज्ञीविप्रजीवि-  
चिरञ्जीविनाम्रः पञ्च सचिवान्प्रत्येकं प्रष्टुमारब्धवान् ।

प्रसरन्तं=वद्यमानम् । यद्वच्छया=स्वेच्छया । तेन=शत्रुणा रोगेण च । अतिपुष्टाङ्गयुक्तः=वल्लवानपि । तेन=रोगेण शत्रुणा च ॥ ३ ॥ सचिवान्=मन्त्रिणः । उक्तटः=प्रचण्डः । उद्यममप्नाः=उद्योगा । कालविच्च=कर्तव्यकार्यसमयवित् । अस्मत्पक्षकदनम्=अस्मत्पक्षविनाशनम् । प्रतिविधानम्=शमनम्, उपायश । देवेन=राशा । किञ्चन=यत्किञ्चिदपि प्रियमप्रियं वा । क्रतं सत्यम् । पथ्यं=हितम् ॥ ४ ॥ यो मन्त्री पृष्ठेषि हितं परिणामसुखदं वचो न ब्रूते, स न मन्त्री, न च प्रियकर्ता, किंतु स रिपुरेवेत्यर्थः ॥ ५ ॥ हे महीपते ! तस्मादेकान्ते मन्त्रः क्रियतां, येन वयं यथावदकुं शक्तुमः, तस्य=मन्त्रस्य ॥ ६ ॥

१ ‘पृष्ठेन तु विशेषेण वाच्यं पथ्यं महीपते’ इति पाठान्तरम् ।

२ ‘मन्त्री च प्रियवक्ता चेति’ पाठान्तरम् । ‘न मन्त्रीति’ तु गौडाः पठन्ति ।

तत्रैतेपामादौ तावदुज्जीविनं पृष्ठवान्—‘भद्र ! एवं स्थिते कि  
मन्यते भवान् ?’। म आह—‘राजन ! वलवता मह विग्रहो न कार्यः,  
यथा म वलवान्कालप्रहर्ता च—तम्मात्मन्धःनीयः। उक्तच्च यतः—  
चैलीयसे प्रणमतां काले प्रहरतामपि ।

सम्पदो नापगच्छन्ति प्रतीपासिव निश्चगाः ॥ ७ ॥  
नथा च—सन्न्याया धार्मिकश्चाद्यां भ्रातृसङ्खातवाच्वर्ला ।

अनेकविजर्या चैव सन्धेयः स रिपुर्भवेन् ॥ ८ ॥

मन्धिः कार्योऽप्यनाशेण विजाय प्राणसंशयम् ।

प्राणः संरक्षितैः सर्वं राज्यं भवति रक्षितम् ॥ ९ ॥

येनानेकयुद्धविजयी म—तेन विशेषात्मन्येयः। उक्तच्च—

अनेकयुद्धविजर्या मन्यानं यस्य गच्छति ।

तत्प्रभावेण तस्याशु वशं गच्छन्त्यरातयः ॥ १० ॥

सन्धिर्मिच्छेसमेनापि सन्दिग्धो विजयो युधिः ।

‘न हि सांशाधिकं कुर्यादित्युवाच वृहम्पर्तिः ॥ ११ ॥

सन्दिग्धो विजयो युद्धे समेनापि हि युध्यनाम् ।

उपायत्रितयादृष्ट्वं तस्माद्युद्धं समाचरेत् ॥ १२ ॥

असन्दधानो मानान्धः समेनापि हनो भृशम् ।

आमकुम्भ इवान्येन करोत्युभयसङ्कर्यम् ? ॥ १३ ॥

समं शक्तिमता युद्धमशक्तस्य हि मृत्यवे ।

इपत्कुम्भमिवाऽभिन्वा नावतिष्ठेत शक्तिमाज् ॥ १४ ॥

अन्वयागतान्=वंशपरम्परागतान् । उद्गीथिनं=तद्वामानं मन्त्रिणम् । ‘उद्गीर्ण’नि  
यतान्तरम् । श्विने=उपश्विने । मन्यते=प्रतिविधानं मन्यते । भः=उद्गुकराजः । वाच  
प्रहर्ता=अवसरप्रहर्ता । वर्लयसे रिपौ प्रणतानां, मत्यवयमे प्रहरताध गदां मम्पदो न  
नद्यन्ति । प्रतीप=विपर्गान् । निश्चगाः=नयः ॥ ७ ॥ सन्न्यायः=नार्तकुशः, न्यायकान्तो  
रः आद्यः=धनां । अनेकयुद्धविजयी । मन्येयः=मन्धिनोपायेन माध्यः ॥ ८ ॥

सः=उद्गुकराजः । तत्प्रभावेण=अनेकयुद्धविजयप्रभावेण, तस्य=निवर्लम्यापि गाढः ।  
वशं गच्छन्ति, वशं भवन्ति ॥ १० ॥ समेनक्षसमवेलनापि । यतो युधिः विजयः मन्दिग्ध  
प्रव, मन्दिग्धं च कर्म नोचितगिर्यर्थः ॥ ११ ॥ उपायत्रितयादृष्ट्वं=साम दान भेदास्यो  
पायत्रयन्वक्तव्ये एव ॥ १२ ॥ मानान्धः=अभिमानान्धः । अमृतेयं श्रोकः ॥ १३ ॥

१ ‘वर्लयांसं प्रणमतां कालेन महतामादौ’ति पाठान्तरम् । २ ‘जनानामिहै’नि  
यतान् । ३ ‘आमकुम्भमिवाभिन्वा नावतिष्ठेत शक्तिमाज्’निति पाठान् । शक्तिमान्=जलादिः,  
आमस्=अपकर् । ४ श्वाकोयमशुद्ध इवाऽभाति ।

अन्यच—भूमिर्मित्रं हिरण्यं वा विग्रहस्य फलत्रयम् ।  
 नास्येकमपि यथेषां विग्रहं न समाचरेत् ॥ १५ ॥  
 खनन्नाम्बुद्धिलं सिहः पापाणशकलाकुलम् ।  
 ग्रामोति न वभङ्गं वा फलं वा मूषको भवेत् ॥ १६ ॥  
 नस्माच्च म्यान्कलं यत्र पुष्टं युद्धं तु केवलम् ।  
 तत्र स्वर्यं नदुन्नाथ कर्त्तव्यं न कथञ्चन ॥ १७ ॥  
 वर्लयसा समाक्रान्तो वैतसीं वृत्तिमाचरेत् ।  
 वाञ्छब्रविशिर्णीं लक्ष्मीं न भौजज्ञीं कदाचन ॥ १८ ॥  
 कुर्वेन्हि वैतसीं वृत्तिं प्राप्नोति भद्रनीं श्रियम् ।  
 भुजङ्गवृत्तिमापक्षो वधसर्हनि केवलम् ॥ १९ ॥  
 कोर्म मङ्गाचमास्थाय प्रहारानपि मर्ययेत् ।  
 प्राप्ते काले च सनिमानुत्तिष्ठन्त्कृष्णसर्पवत् ॥ २० ॥  
 आग्रहं विग्रहं मथा सुसाशा प्रशमं नयेत् ।  
 विजयस्य त्रिनिन्यवादभसं च समुत्सजेत् ॥ २१ ॥  
 तथा च—‘वलिना सह योद्धव्य’ मिति नास्ति निदर्शनम् ।  
 प्रतिवातं नहि वनः कदाचिदुपसर्पति ॥ २२ ॥

एवमुज्जीवी भाममन्त्रं सन्धिकारं कृपत्रान् ।

अथ तच्छ्रुत्वा मञ्जीविनमाह—‘भद्र! तवाभिप्रायमपि ओनुमिच्छामि ।  
 स आह—देव ! न समैत्प्रतिभाति यच्छ्रुणा मह सन्धिः क्रियते ।  
 शक्तिमता समं=वलता भद्र युद्ध निवेलस्य नम्युमेव फलं ददाति । दुष्टू=पत्नः ।  
 यथा शश्या सह युद्धस्य नम्येते नद्यति, तथा वलिना युद्धं निवेलते हन्तन  
 इत्येते ॥ १४ ॥ हिरण्यं=प्रभूतं धनम् । आयुविळं=मूषकविळं । पापाणशकलं=शिला  
 ग्रहणः । आकुलं=न्यापम् । फलं=नवानां पापाणंभेदः, मूषकस्य धुद्रस्य लाभो वा ।  
 यत्र—युद्धे । पुष्टं=विपुलं । तत्=युद्धम् । उत्पाय=स्वयम्भाष्य ॥ १७ ॥ वैतसी=वैतनदुर्जा—  
 नद्राम् । वैतसा हि जलवेगे समागमे नमेन्त । भुजङ्गस्य वै—भौजज्ञा, तां=पपवद  
 द्वृतां—वृत्तिम् । अब्रंशिना=स्थगम् ॥ १८ ॥ कूमस्याय कौर्मः, तं कौर्म=कच्छपाश्रित ।  
 मङ्गोचं=स्वाङ्गमङ्गोचेन प्रहारमण्डम् । आरथाय=स्त्रीकृत्य ॥ २० ॥

‘आग्रहं विग्रहे त्यक्त्वा नं साशा प्रशमं नये’ दिति गौडा: पठन्ति । तं=कलाहम् ।  
 रभसं=युद्धात्सुक्ष्यं, चाचल्यं वा ॥ २१ ॥ निदर्शनम्=उदाहरणम् । प्रतिवातं=चायुसमुत्त्रम् ।  
 घनः=मेघः ॥ २२ ॥ सन्धिकारं=सन्धिसाधकम् । कृपत्रान्=निश्चितवान् ।

१ ‘क्रगादैतसवृत्तिस्तु’ इति पाठः । २ ‘काले काले’ इति पाठान्तरम् ।

उक्तच्च यतः—

शत्रुणा न हि सन्दध्यात्सुक्षिष्टेनापि सन्धिना ।

सुतसमपि पानीयं शमयत्येव पावकम् ॥ २३ ॥

अपरच्च—स क्रोऽत्यन्तलुभ्यो धर्मरहितः, तत्त्वया विशेषान्न  
मन्थेयः । उक्तच्च यतः—

सन्यथर्मविर्हानेन न सन्दध्यात्कथञ्चन ।

मुसन्धितोऽप्यसाधुत्वाद्विचराद्याति विक्रियाम् ॥ २४ ॥

तम्मात्तेन मह योद्भव्यमिति मे मतिः । उक्तच्च यतः—

क्रो लुभ्योऽल्सोऽमत्यः प्रमादी भीरुरस्थिरः ।

मूढो युद्धावमन्ता च सुखोच्छेयो भवेद्विषुः ॥ २५ ॥

अपरं—तेन पराभूता वर्य, तद्विदि मन्धानकीर्तनं करिष्यामः,  
म भूयोऽत्यन्तं कोपं करिष्यति । उक्तच्च—

चतुर्थोपायसाध्ये तु रिपौ सान्त्वमपक्रिया ।

स्वेद्यमामज्जरं प्राज्ञः कोऽम्भसा परिपिञ्चाति ॥ २६ ॥

सामवादाः सकोपस्य शत्रोः प्रत्युत दीपकाः ।

प्रतस्त्व्येव सहसा सर्पिष्ठोयविन्दवः ॥ २७ ॥

यच्चैप वदति—‘रिपुर्वलवान्?’ इति । तदप्यकारणम् । यत उक्तच्च—

उत्साहशक्तिसम्पन्नो हन्याच्छत्रुं लघुरुग्मम् ।

यथा कण्ठीरवोनागे, सुसाम्राज्यं प्रपद्यते ॥ २८ ॥

मायथा शत्रवो वध्या अवध्याः स्युर्बलेन ये ।

यथा ऋूरुपमास्थाय हतो भीमेन कीचकः ॥ २९ ॥

भुद्दिल्लेन=अतिदृढेन, स्वानुकूलेनापि ॥ २३ ॥ विशेषात्=विशेषतः । असाधुत्वात्=दुष्ट-  
त्वात् । विक्रिया=विकारम् ॥ २४ ॥ लुभ्यः=ज्ञोभी । अल्सः=निरुत्साहः । अस्थिरः=चब्बलः ।  
मूढः=मूर्खः । युद्धावमन्ता=शान्तिप्रियः । सुखोच्छेयः=सुखं यथास्यात्तथा नाशयितुं शक्यः ॥  
२५ ॥ सन्धानकीर्तनं=सन्धिचर्चाम् । चतुर्थोपायसाध्ये=युद्धसाध्ये । अपक्रिया=  
अनन्तितः प्रतीकारः । स्वेदम्=स्वेदार्हम् । आमज्जरम्=आमदोषोत्थितं ज्जरम् । अम्भसा=  
जलेन, कः परिषिखति—न कोपीत्यर्थः ॥ २६ ॥

सामवादाः=सान्त्ववचनाति । दीपकाः=उत्तेजकाः । प्रतस्त्व्य व्रतस्य जलविन्दवो

तथा च—मृत्योरिवोग्रदण्डस्य राज्ञो यान्ति वशं द्विषः ।  
 शास्त्रं तु लृयं हि मन्यन्ते द्रव्यालुं रिपवो नृपम् ॥ ३० ॥  
 प्रथान्तु पश्य मस्य तेजस्तेजस्तिवतेजसा ।  
 वृथा जातेन किं तेन मातुर्योवनहारिणा ? ॥ ३१ ॥  
 या लक्ष्मीर्नार्नुलिपाङ्को वैरिशोणितकुकुमैः ।  
 कान्ताऽपि मनसः प्रीतिं न सा इते मनस्त्विनाम् ॥ ३२ ॥  
 रिपुरक्तेन संसिक्काऽतिरिक्तीनेत्राम्बुधिस्तथा ।  
 न भूमिर्यस्य भूपम्य का श्लावा तस्य जीवने ! ॥ ३३ ॥

—एवं मञ्जीवी विग्रहमन्त्रं विज्ञापयामाम् । अथ तच्छ्रुत्वा—  
 नुजीविनमपुच्छन्—भट्ट ! त्वमपि भ्याभिप्रायं निवेदय । मोऽत्र-  
 वीन्—देव ! दुष्टः स वलाधिको निर्मर्यादश्च, तत्तेन सह मन्धि-  
 विग्रहो न युक्तो, केवलं यानमर्ह स्यान् । उक्तच्छ्रुत्वा—  
 वलोत्कटेन दुष्टेन मर्यादारहितेन च ।  
 न सन्धिर्विग्रहो नैव विना यानं प्रशस्यते ॥ ३४ ॥  
 द्विधाकारं भवेद्यानं भैयत्रस्तप्रक्षणम् ।  
 एकमन्यजिगीपोश्च यात्रालक्षणमुच्यते ॥ ३५ ॥

यथा उक्तपका एवेनि भावः ॥ २९ ॥ वदति । ‘उद्ग्रीवा मन्त्रा’नि शेषः । सोत्साहेनि ।  
 अन्माहमहितया शक्तया युतः । ‘उत्साहेनिपाठैर्थः सरल एव । कण्ठोरवः=मिहः ।  
 लभूपि गुरुं नामं=गजं यथा हन्ति । ‘नामं’ इति पाठान्तरम् । मुसाम्राज्ययै=विजयनक्त-  
 वर्तित्वं प्रतिपथते: लभते ॥ २८ ॥ उग्रदण्डस्य=वैरिशोणितकुकुमैः । द्विषः=रिपवः । शास्त्रं तु लृयं  
 प्रामाङ्कुरमदृशः । ‘शास्त्रं वालन्तुणं धासः’ इत्यमरः ॥ २० ॥ तेजस्तिवतेजसा=वलवत्तेजसा ।  
 —यस्य तेजः प्रशाम्यति तस्य वृद्धेव जन्मेत्यर्थः ॥ ३१ ॥ वैरिशोणितकुकुमैः=वलवच्छ-  
 वृक्तकुकुमैः—या लक्ष्मीर्नार्नुलिपाङ्को, सा कान्ता=मनोहराऽपि, मनस्त्विनां=मानधनानां  
 नागरिकाणां च मनसो मोदाय न भवति ॥ ३२ ॥

यस्य राज्ञो भूमिर्वैरिशोणितेन, वैरिशोणितेजलेन—अधुणा च—न मित्ता तस्य राज्ञो  
 जानने का खलु शाधा—नैव । हृतशब्दोरेव यशो वर्तते हत्याशयः ॥ ३३ ॥ विग्रहमन्त्रं  
 युद्धनिश्चयम् । यानं द्विविधम्—पक्षं बलिना पांडितस्य भीतस्य रक्षणाय यानम् । अपरं—  
 विजितापोः शत्रुविजयाय यात्रारूपं यानमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

१. ‘सर्वे ते हन्तुमित्यच्छन्ति दयालुं रिपवश्च तम्’ इति पा० ।

२. ‘वैरिशोणितेजवारिणा’ इति पाठा० ८ । ‘भये प्राणप्ररक्षणम्’—इति पाठोत्र । स युक्तः ।

कार्तिके वाथ चैत्रे वा विजिगीयोः प्रशस्यते ।  
 यानमुक्तृष्टर्वार्यस्य शशुदेशे न चाऽन्यदा ॥ ३६ ॥  
 अवस्कन्दप्रदानस्य सर्वे कालाः प्रकीर्तिः ।  
 व्यसने वर्तमानस्य शत्रोदिष्ठद्रान्वितस्य च ॥ ३७ ॥  
 स्वस्थानं सुदृढं कृत्वा द्यूरश्वासंमहाबर्द्धः ।  
 परदेशं ततां गच्छेत्प्रणिविव्याप्तमग्रतः ॥ ३८ ॥  
 अज्ञातवीवधासारतोयशस्यो व्रजेत्तु यः ।  
 परराष्ट्रं-स नो भूयः स्वराष्ट्रमधिगच्छति ॥ ३९ ॥

ततो युक्तं कर्तुमपसरणम् । अन्यच—  
 न विग्रहो न सन्धानं बलिना तेन पापिना ।  
 कार्यलाभमपेक्ष्याऽपसरणं क्रियते त्रुद्धैः ॥ ४० ॥

उक्तच्च यतः—

यदपसरति मेषः कारणं तत्प्रहर्तुः सृगपर्तिरपि कोपान्सङ्कुचन्युत्पतिष्णुः ।  
 हृदयनिहितवैरा गृहमन्त्रप्रचाराः किमपि विगणयन्तो दुष्टिमन्तः सहन्ते ॥ ४१ ॥  
 अन्यच—बलवन्तं रिषुं द्वापु देशत्यागं करोति यः ।

युधिष्ठिर इवामोर्ति पुनर्जीवन्स मंदिनीम् ॥ ४२ ॥

युद्धयतेऽहङ्कृतिं कृत्वा दुर्बलो यो बलायसा ।

स तस्य वाञ्छितं कुर्यादान्मनश्च कुलक्षयम् ॥ ४३ ॥

**उत्कृष्टर्वार्यस्य**=अनिपराक्रमस्य, सनादिवलशालिनश्च ॥ ३६ ॥ अवस्कन्दप्रदानस्य=सुगृहमाक्रमणस्य । ('आपा माग्ना' 'शिष्या धावा') । छिद्रान्वितस्य=दोष-युक्तस्य ॥ ३७ ॥ स्वस्थानं=स्वराज्यम । कुदृढं=नुरक्षितम्, आसैः=विश्वस्तैः । परदेशं=यत्विपथम् । अग्रतः=आदावेव । प्रणिविव्याप्तम्=गुप्तचरैः सर्वतो व्याप्तम् ॥ ३८ ॥ अज्ञातवीवधासारतोयशस्यः=अनिर्णानधान्यादिप्राप्तिसुदृढलाज्जलादिः । 'धान्यादिवैंवधः प्राप्तिगासारम् तु तुहृदलमिति वैजयन्ती । 'विवधो वावधो भारे पर्याहागाध्वनोरपां' तिहैमश्च । परगाढः=शशुदेशः । भूयः=पुनरपि । अधिगच्छति=प्राप्नोति ॥ ३९ ॥ अपसरणं=पलायनं । 'कर्त्तुने युक्तमिति योजना । त्रुद्धैः-पापिना तेन बलिना-शत्रुणा विग्रहः=युद्धं, सन्धिवां न क्रियते, किन्तु कार्यलाभमपेक्ष्य=कार्यसिद्धिमुद्दिश्य । 'कार्यकालमपेक्ष्ये' ति गौद्याः पठन्ति । अपसरणं=पलायनमेव, क्रियते ॥ ४० ॥ अपलरति=पृष्ठतोऽपयाति, ( पीछे हटता है ) । प्रहर्तुः=शत्रुमपरं मेषं हन्तुम् । सृगपतिः=सिंहः । सङ्कुचति=अज्ञासङ्कोचं करोति । उत्पतिष्णुः=उत्पत्तनशीलः । गृहः=मन्त्रस्य प्रचारः=विषयः प्रसारो वा वेषान्ते तथा भूताः । 'गृहमन्त्रोपचारा' इति पाठान्तरम् । विगणयन्तः=विचारयन्तः । समयं नयन्तः ॥ ४१ ॥ अहङ्कृतिः= 'तत्र युक्तं प्रभो ! कर्तुं द्वितीयं यानमच्च वः' । इति पाठाऽ । द्वितीयं=भीतरक्षणम् ।

तद्रूपवताऽभियुक्तस्यापसरणसमयोऽयं, न सन्धेविंग्रहस्य च ।  
एवमनुजीविमन्त्रोऽपसरणस्य ।

अथ तस्य वाक्यं समाकर्ण्य प्रजीविनमाह—‘भद्र ! त्वमप्या-  
मनोऽभिप्रायं वद ।’ सोऽब्रवीन्—‘द्रव ! मम सन्धिविग्रहयानानि  
त्रीण्यपि न प्रतिभान्ति । विशेषतश्चैऽस्मनं प्रतिभाति । उक्तच्च यतः—

नक्षः स्वस्थानमासाद्य गजेन्द्रमपि कर्पति ।

स एव प्रचयुतः स्थानाच्छुनापि पर्वभूयते ॥ ४४ ॥

अन्यच्च—अभियुक्तो बलवता दुर्गं तिष्ठेत्प्रयत्नवान् ।

तत्रस्थः सुहृदाहानं प्रकुर्वीताऽस्ममुक्तये ॥ ४५ ॥

यो रिपोरागमं श्रुत्वा भयसन्त्रस्तमानसः ।

स्वं स्थानं सन्त्यजेत्तत्र न स भूयो विशेषरः ॥ ४६ ॥

दंष्ट्राविरहितः सर्पो मदर्हानो यथा गजः ।

स्थानहीनस्तथा राजा गम्यः स्पात्सर्वजन्तुपु ॥ ४७ ॥

निजस्थानस्थितोऽप्येकः शतं योद्धुं सहेचरः ।

शक्तानामपि शत्रूणां, तस्मात्स्थानं न सन्त्यजेत् ॥ ४८ ॥

तस्माद्दुर्गं दृढं कृत्वा वीवधासारसंयुतम् ।

प्रोक्तारपरिखायुक्तं शशादिभिरलङ्घतम् ॥ ४९ ॥

पर्व । तस्य=बलायसः शत्रोः । वाञ्छित्तं=स्वविनाशम् ॥ ४३ ॥ न प्रतिभान्ति-  
न रोचन्ते । ( अच्छे नहीं लगते हैं ) । आमनम्=स्वदुर्गं एव दिव्यत्वा शत्रुप्रदार-  
गतस्त्रक्षणम् । नक्षः=जल चरविशेषः । स्वस्थानं=स्वदुर्गं जडादिकम् । शत्रान्=सर्पो-  
वरादेः । शुना=कुकुरेणापि ॥ ४४ ॥ अभियुक्तः=आक्रान्तः । प्रयत्नवान्=प्रवीपकरणादि-  
युक्तः; सावधानः । तत्रस्थः=दुर्गस्थ एव । आत्ममुक्तये=स्त्रक्षणाय ॥ ४५ ॥ आगमम्=  
आगमनं । नक्ष=तस्मिन् राष्ट्रे । विशेषत्=प्रविशेषत् । वसंच सः=इति पाठं तु—अधिपत्यं  
कुर्यादित्यर्थः ॥ ४६ ॥

दंष्ट्रा=आश्चाः । गम्यः=पराभवयोग्यः । दम्भ इति केनित्पठन्ति ॥ ४७ ॥

शक्तानामपि शत्रूणां द्यतं योद्धुं सहेत्=शत्रुन्यात् । ‘सहो नर’ इत्यपि पाठः ।  
नहः=समर्थः । वीवधः=धान्यादिप्राप्तिः । आसारः=मित्रबलम् । ‘धान्यादेवोवधः प्राप्ति-  
गसारस्तु तुहृद्दल’ मिति यादवः । ( प्राकारः=‘शहर पनाह’ ) । परिखा=खेयम् । ( खाइ ) ।

१ ‘विशेषतश्च यानं’—इति पाठ० । २ ‘यन्त्रप्राकारपरिखाश्चरादिभिरलङ्घत’मिति ।

ंतष्ट मध्यगतो नित्यं युद्धाय कृतानश्चयः ।

जीवैन्सरग्राप्यसि धमाऽनं मृतो वा स्वर्गमेष्यसि ॥५०॥

अन्येच-वर्णनावि न वाध्यन्ते लघवोऽप्येकसंश्रयाः ।

विषपक्षेणापि मरुना यथैकस्थानवीरुधः ॥ ५१ ॥

महानप्येकको बृक्षो वलवदान्मुप्रतिष्ठितः ।

प्रसद्यैव हि वातेन शक्यो धर्षयितुं यतः ॥ ५२ ॥

अथ ये संहना वृक्षाः सर्वतः मुप्रतिष्ठिताः ।

न ते रीढ्रेण वातेन हन्तन्ते होकसंश्रयान् ॥ ५३ ॥

एवं मनुष्यमध्येकं शौर्येणापि नमन्वितम् ।

शक्यं द्विपन्तां मन्यन्ते हिंसन्ति च ततः परम् ॥ ५४ ॥

—एवं प्रजीविभन्नः । उद्दमामनमज्ज्ञकम् ।

एतत्त्वमाकर्ण्य चिर्जीविनं प्राह—‘भद्र ! त्वमपि भ्रामिप्रायं वद’ । मोऽत्रवीन—‘द्वि ! पादृष्ट्यमध्ये मम संश्रयः सम्यक् प्रतिभाति । तन्मयानुद्धानं कार्यम् । उक्तः—

असहायः समर्थोऽपि तेजस्वी कि करिष्यति ? ।

निर्वाते ज्वलिता वह्निः स्वयमेव प्रशास्यति ॥ ५५ ॥

सङ्गतिः श्रेयसा एुसां स्वपक्षे च विशेषतः ।

नुपैरपि परिभ्रष्टा न प्रोहन्ति तण्डुलाः ॥ ५६ ॥

तद्वैव म्यतेन त्वया कश्चित्तममर्थः समाश्रयणीयो—यो विषपत्रनी-

॥ ५७ ॥ धमाऽनं=पृथिव्यर्न, भृमण्डलं । ‘तिष्ठेनमध्यगतो नित्यं’ मिति पृवार्थं, ‘जीवन् मनस्यने कीर्ति मृतः स्वर्गमवाप्यत्यत्युच्चर्यं च पाठान्तरम् ॥ ५० ॥ एवंसंश्रयः=एकाश्रयाः । ‘एकाश्रयाऽप्यस्याऽप्यत्यविपातः । विषपक्षः=शत्रुभूतेन । वीरुधः=प्रतिनिष्ठयो अताः ॥ ५१ ॥ एककः=एकाको । नुप्रतिष्ठितः=सुदृढः । प्रसद्य=हठान । धर्षयितुम्=उत्तरायितुम् ॥ ५२ ॥

संहताः=बहवो मिलिताः । हि=यतः । एकसंश्रयान्=मिलितत्वान् । एकरथान्=स्थितत्वान् ॥ एकम्=एकाकिनम् । शक्यं=जेतुं शक्यम् ॥ ५४ ॥ संश्रयः=वलवदाश्रय-पदम् । वाहगुण्यं=सन्धि-विश्वाह-यानामन-द्वैधीभाव-मंश्रया गुणाः पद् । तेजस्वी=चोद्य-संन्यप्रभावशाली, तेजोगुक्तश्च । निर्वाते=सदायथभूतपवनशून्ये । ‘निवाते’ इति पाठान्तरम् ॥ ५५ ॥ सङ्गतिः=सङ्पर्कः, संक्षेपश्च । ‘संहतिः’ रिति गोडाः पठन्ति ।

स्वपक्षे=स्ववर्गाणाम् । प्रोहन्ति=उद्भवनि ॥ ५६ ॥ अत्रैव=स्वदुर्ग एव ।

१ जावन्स लप्स्यने कीर्ति मृतःस्वर्गमवाप्यति’ । पा० । २ ‘उक्तः’ ।

कारं करोति । यदि पुनस्त्वं स्वस्थानं लक्ष्मीत्यत्र याम्यमि, तत्को-  
पि ते वाञ्छात्रेणापि महायत्वं न करिष्यति । उत्तर्च ( यतः )—

वनानि दहनो वद्देः सग्दा भवति मारुतः ।

स एव दीपनाशाय, कृष्णे कस्यास्मि सौहृदम् ! ॥ ५७ ॥

अथवा नैनदेकान्तं, यद्युलिनमेकं समाश्रयेत् । लघूनामपि  
संश्रयो रक्षायै प्रव भवति । उत्तर्च यतः—

सहृतवान्यथा वेणुनिदिङ्गो वेणुभिर्हृतः ।

न शक्यः स समुच्छेतुं दुर्बलोऽपि नदा नृपः ॥ ५८ ॥

यदि पुनस्तमसंश्रयो भवति—तस्मिसुच्यते ? । उत्तर्च—

महाजनस्य सम्पर्कः कस्य नोक्तिकारकः ।

पश्चपत्रस्थितं नायं धत्ते मुक्ताकलशियम् ॥ ५९ ॥

नदेवं संश्रयं विना न कश्चिन्ननीकारो भवति । तस्मात्संश्रयः कार्य  
इति मेऽभिप्रायः । —एवं चिरञ्जीविमन्त्रः ।

अथैवमभिदिते न मंघवर्णो राजा चिरन्तनं पितृमचिवं दीर्घ-  
दशिनं सकलनीतिशास्त्रयागङ्गतं मिथ्रजीविनामानं प्रणस्य प्रोवाच—  
'नात ! यदेते मया श्रुप्राः सचिवास्तावद्वस्थितस्यापि तव,—तत्प-  
राक्षार्थ, येन त्वं सकलं श्रुत्या यदुवितं तन्म समादिशसि । तद्य-  
शुक्तं भवति तस्मादिद्यनाम् ।' स आह—'वत्स ! सर्वं ग्रन्थेतै-  
र्नीतिशास्त्रयमुक्तं सचिवैः, तदुपयुज्यने स्वकालोचितं सर्वमेव ।

चिपतप्रतीकारं=विपत्तिनाशम् । महायत्वं=सहायताम् । वह्नः=वलवतोऽग्नेः । स एव=  
मारुत एव । दीपरथ-निर्वलस्य तेजो नाशाय । कृष्णे=निर्वले । सौहृदं=स्नेहः ॥ ५७ ॥

एकान्तं=निश्चयः । सहृदातवान्=वेणुसङ्घसमावृतः । वेणुः=वंशः । निविडः=...  
निरन्तरः । समुच्छेतुम्=उत्पादयितुम् । उत्तमः=प्रेष्ठः । महाजनस्य=प्रेषस्य । सम्पर्कः—  
संश्रयः । मुक्ताकलशियं=मौक्तिकशोभाम् ॥ ५८ ॥

चिरन्तनं=युरातनं, वृद्धम् । पितृमचिवं=पितुरमात्यम् । चिरजावीत्यपि पाटः ।  
एते=अनुजीव्यादयः सर्वे मन्त्रिणः । अत्र स्थितस्यापि=अत्र स्थितं भवन्तमनादृत्य-अपृष्ठैव ।  
पराक्षार्थं=परितः सकलस्य विषयस्योपस्थित्यर्थम् । तदेवाह—येनेति । सकलं=सर्वेषां

१ 'दीर्घायुषं' पाठ ।

परमेष द्वैधीभावस्य कालः । उक्तच्च—

अविश्वासं सदा तिष्ठेत्सन्धिना विग्रहेण च ।

द्वैधीभावं समाश्रित्य पापे शग्रौ बलीयसि ॥ ६० ॥

ततः स्वयंमविश्वस्मैलोभं दर्गयद्विः शत्रुर्विश्वास्य सुखेनोच्छिद्यनं

उक्तच्च—उच्छेद्यमपि विद्वांसो वर्धयन्त्यरिमेकदा ।

गुडेन वर्धितः इलेष्वा सुखं वृद्धया निपात्यते ॥ ६१ ॥

उक्तच्च—स्त्रीणां शत्रोः कुमित्रस्य पण्यस्त्रीणां विशेषतः ।

यो भवेदेकभावेन न स जीवति मानवः ॥ ६२ ॥

कृत्यं देवद्विजातीनामात्मनश्च गुरोस्तथा ।

एकभावेन कर्तव्यं दोपं भावद्वयाश्रितैः ॥ ६३ ॥

एको भावः सदा शम्नां यतीनां भावितामनाम् ।

श्रीलुभ्यानां न लोकानां विशेषणं मर्हीभृताम् ॥ ६४ ॥

तं द्वैधीभावं संश्रितम्य तव स्वम्थाने वासो भविष्यति, लोभा-  
श्याच्च शत्रुमुच्चाटयिष्यमि । अपरं यदि किञ्चिच्चन्तु तम्य पश्यमि  
नद्रत्वा व्यापादयिष्यमि ।'

१८८५ । समादेश्य=सत्यगादिश्यताम् । ततः=पतुत्समः स्वकालेनिनं-रये एव  
नमये सर्वमप्युपयुज्यते । एषः=इदानामुपस्थितः । उधोभावः=सन्धिना यत्र विश्वासम्  
पत्यवस्थे तद्यपेन । बलीयसि रिषीं सन्धिं कृत्यापि द्वैधीभावमाश्रित्य सर्ववाऽपि दृष्टम्,  
नप्तेन, न तु द्वैधीभावमाश्रितो तृष्णो बलीयसि विश्वासं कुर्यादिष्यर्थः । सन्धिमात्रं  
द वृना विधाय कालं विश्रातः कार्यं इनि तत्त्वम् । 'नवं शत्रा'विनि पाठस्त्वयुक्तं पत्र ॥ ६० ॥

लोभं दर्शयद्विः=लोभादिना सेदं जनयद्विः, विजयादिलोभं दर्शयद्विवा । 'रवनारं  
निति शेषः उच्छेद्यं=वनाश्वानायमपि । एकदा=किञ्चित्कालपर्यन्तं । शेष्या=कफः । वृद्धया-  
वर्धनेतैव । निपात्यते=दर्शयद्वियते । वैवीरिति शेषः । शमनायमपि कफं वैष्णवः पूर्वं भिना-  
द्वादिना वर्धयित्वा उपनयन्तानि प्रभिद्देवत ॥ ६१ ॥ पण्यस्त्री=वेश्या । एकभावेन=नितान्म-  
नितान्म विश्वासेन ॥ ६२ ॥ द्विजात्यः=विप्राः । एकभावेन=निश्चिन्नेन एकभावश्रितेन-  
येत्तमा । भावद्वयं=द्वैधीभावः । विश्वासमनिदर्शयताप्यविश्वरतेन ॥ ६३ ॥ एको भावः-  
श्वसासामकः, स्नेहात्मकश्च । श्रीलुभ्यानां=लोके परां कोटिमि-छत्राम् । 'श्रीलुभ्याना'  
निनि क्वचित्पाठः ॥ ६४ ॥ लोभाश्रयान=लोभावेशात् । उच्चाटयिष्यति=स्वस्थानाद-

१. 'तन्द्वयं विश्वास्य' इति 'सुखेनोच्छिद्यते रिपुः' इति पा० । २ 'द्वैधीभावं  
संश्रितस्त्वं स्वस्थाने वासमाप्यसि । लोभाश्रयादद्रुतं मृत्युः शशुमुच्चाट-  
यिष्यति ॥' इति शोकात्मा पाठः सुन्दरः ।

मेघवर्ण आह—‘तात ! अहमविदितसंश्रयस्तस्य । तत्कर्थं तम्य-  
न्लिङ्गं ज्ञास्यामि ?’

सिंधरजीव्याह—‘वत्म ! न केवलं स्थानं-छिद्राण्यपि तम्य-  
प्रकटीकरिष्यामि प्रणिधिभिः । उक्तच्च—

गावो गन्धेन पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति वै द्विजाः ।

चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुभ्यामितरे जनाः ॥ ६५ ॥

तथा चोक्तमत्र विपर्ये—

यस्तीर्थानि निजे पक्षे परपक्षे विशेषतः ।

आसैश्चार्नैरुपौ वेत्ति न स दुर्गतिमाप्नुयान् ॥ ६६ ॥

मेघवर्ण आह—‘तात ! कानि तीर्थान्युच्यन्ते ? । कति संव्यानि  
च ? । कीदृशा गुप्तचरा ? । तन्मर्व निवेद्यताम्’—इति । म आह—  
‘अत्र विपर्ये भगवता नारदेन युधिष्ठिरः प्रोक्तः, यच्छत्रुपक्षेऽष्टादशा  
नीर्थानि, स्वपक्षे पञ्चदशा; त्रिभिस्त्रिभिर्गुप्तचरैस्तानि ज्ञेयानि, तैर्ज्ञातैः  
स्वपक्षः परपक्षश्च वद्यो भवति । उक्तच्च (नारदेन युधिष्ठिरं प्रति)-

रिपोरष्टादशैनौनि स्वपक्षे दश पञ्च च ।

त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातर्वेत्सि तीर्थानि चारकः ॥ ६७ ॥

तीर्थशब्देनाप्त-आयुक्तकर्माभिधीयते । तद्विदि तेषां कुत्सितं  
भवति तत्स्वामिनोऽभिधाताय भवति । प्रधानं भवति, तद्वद्वये  
म्यादिति । तद्वथा-मन्त्री । पुँगोहितः । सेनौपतिः । युवराजः ।  
दौवारिकः । अन्तर्वशिकः । प्रशास्तु-समाहर्तु-सन्निधार्तु-प्रदेष्टारः ।  
न्तर्वशिकः । अविदितसंश्रयः=अगानविवासः । तस्य=शब्दोः । ‘मया सोऽविदित  
संश्रय’ इति पाठान्तरम् । प्रणिधिभिः=गूडपुरुषैः । (‘गुफिया’ ‘जासूस’ ) । द्विजाः=  
पणिदानाः । चारैः=गुप्तचरैः । इतरे=माधारणाः ॥ ६६ ॥ तीर्थम्=अथिकारारूढमन्यादि  
वाजपूर्णः, लक्षणया आयुक्तानां तेषां व्यापारोपि तीर्थम् । अविज्ञातैः=अविदितैश्चारैः ।  
॥ ६७ ॥ आयुक्ताः=राजाधिकृताः । (अफमर) । तेषाम्=आयुक्तानां मन्यादीनाम् ।  
कुत्सितं=दूषितम् । प्रधानं=श्रेष्ठम्, अच्छद्रम् । तद्वद्वये=स्वामिवद्वये । तीर्थशब्दार्थ-  
भूतान् मन्यादीनानष्टादशाह-मन्त्रीति । दौवारिकः=द्रापालः, अन्तर्वशिकः=अन्तःपुर-  
& ‘कविदष्टादशैर्गत मुद्रितः पाठः ।

अश्वसाधनाध्यक्षः । गजाध्यक्षः । पशुदध्यक्षः । बलाध्यक्षः ।  
कोशाध्यक्षः । दुर्गपालं सीमापालं-प्रोत्कटभैर्त्याः । एषां भेदेन  
द्राघिपुः साध्यते । स्वपक्षे च-देवी । जननी । कञ्चुकी ।  
मालिकः । शश्यापालकः । स्पशाध्यक्षः । सांवत्सरिकः । भिर्पकः ।  
जलवाहकः । ताम्बूलवाहकः । आचार्यः । अङ्गरक्षकः । स्थान-  
चिन्तकः । छत्रधारः । विलासिनी । एतेषां द्वारेण स्वपक्षे विद्यातः ।

वैद्यसांवत्सराचार्याः स्वपक्षेऽधिकृताश्वराः ।

तथाऽहितुण्डिकोन्मत्ताः मर्व जानन्ति शत्रुपु ॥ ६८ ॥

नथा च-कृत्वा कृत्यविद्स्तीर्थेष्वन्तः प्रणिधयः पदम् ।

विद्वाङ्कुर्वन्तु महतस्तत्र शिद्विष्टमसः ॥ ६९ ॥

एवं मन्त्रिवाक्यमाकर्ण्याऽत्रान्तरे मंग्रवर्ण आह—‘तात’ अथ

‘नकाध्यक्षः । ‘अन्तःपुरे नविकृतः स्यादन्तरशिखो जनः’ इत्यमरः । प्रशासकः—वीरां  
शासनकर्त्ता । विधायकः । ‘कमिशर—‘मन्त्रदेव’ । भमादत्ता—कर्गादिभूतादिकः  
(‘तदमोलादार’ ‘कलकटर’) । मन्त्रिवान्—राजपरिचारकाध्यक्षः । मङ्गहानकर्गदाता-  
शीवा । प्रदेषा—राजाशापचारकः, लेखकः । अश्वसाधनाध्यक्षः—अश्वमना-यशः ।  
‘अश्वाध्यक्षः’ इत्येवं तु लिपितपुस्तकं पाठः । ‘साधनाध्यक्षः’ इति च पृष्ठ ३ नाम ।  
माधनाध्यक्षः—बलाध्यक्षः ।

दुर्गपालः—कोट्पन्तिः । (कोतवाल) : ‘करपाल’ स्यम्य स्थाने—‘पुरपाल’ इति पाठः  
+यात् । पुरपालः—पुरगत्यवहाराध्यक्षः । (‘बौद्धार्द्दाजा’ ‘पद्ध’ मुखियाज्ञा) । लिपिवेदे  
तु करपाल इति न पाठः । बलाध्यक्षः—मनापनिः । सांमापालः—अन्तपालः । कनित्तर्थव-  
पाठः । प्रोत्कटभैर्त्याः—इनपालः । उदृप्ता वा राजमे वक्ता । आदिविकलिलिपिने पाठः ।

देवी—राजमहिषी । जननी—राजमाता । कञ्चुकी—अन्तःपुररक्षकः । मालिकः—  
मालाकारः । शश्यापालकः—गृत्रिग्रक्षकः । स्पशाध्यक्षः—चराध्यक्षः । ‘स्पशाध्यक्षः’ इति  
न् स्फूलदृशः पठन्ति । सांवत्सरिकः—ज्यौतितिपिकः । सिपकः—वैदः । जलवाहकः—यानाय-  
शालाध्यक्षः । ताम्बूलवाहकः—स्थगवाहकः । आचार्यः—युरुः । नाष्टशाश्राध्यापकक्षः ।  
स्थानगक्षकः—आमनाध्यक्षः । विलासिनी—वारवनितादिः । विधातः—शत्रुकृतो भेदः ।

सांवत्सरः—गणकः । चरा—गृहभरा । आहितुण्डिकः—व्यालग्राही । उन्मत्ताः—  
उन्मत्तवेषपदरः ॥ ६८ ॥ तीर्थेषु—पर्यायादशसु जलाशयेषु, च । कृत्यविदः—काय-  
कुशलाः । प्रणिधयः—गृहपुरुषः, रलाश्वेषपकाश । ‘प्रणिधिः प्रार्थने चरे’ इत्यमरः ।  
अन्तः—पदं—स्थानं पादपक्षेष्व—कृत्वा । महतः—विद्विष्टवेष—शत्रुवेष, अम्भः—जलं तस्य,  
तलं—तत्त्वं, तलप्रदेशात् । विद्वाङ्कुर्वन्तु—जानन्तु ॥ ६९ ॥

किं निमित्तमेवंविधं प्राणान्तिकं सदेव वायमोद्वकानां वैरम् ? ।  
स आह वत्म !

### १. प्रथमा कथा

केदाचिद्द्रुंग-शुक-वक-फोकिल-चातको—दृक्-कपोत—पागावत-  
चिप्पिकर-प्रभृतयः सर्वेऽपि पश्चिणः सर्वत्य मोद्रेण मन्त्रयितुमारव्याः  
अहो ! अम्माकं तावद्वैनतेयो राजा, स च वासुदेवभक्तः, न कामपि  
चिन्तामस्माकं करोति, तत्किं तेन वृथा स्वामिना ?—यो लुधक-  
पाशैर्नित्यं निवध्यमानानां न रक्षां विधत्ते । उत्तर—

यो न रक्षति वित्रस्तान्पीड्यमानान्परः सदा ।

जन्तून् पार्थिवरूपेण स कृतान्तो न संशयः ॥ ७० ॥

यदि न स्याच्चरपतिः सम्युड नेता ततः प्रजा ।

अकर्णधारा जलधां चिप्लवेतह नौरिव ॥ ७१ ॥

पटिमाज् पुरुषो जलाद्विदां नावमिवार्णवे ।

अप्रवक्तारमाचार्यमनव्यानमृतिवज्रम् ॥ ७२ ॥

अरक्षितारं राजानं भार्या चाप्रियवादिर्नाम् ।

ग्रामकामञ्च गोपालं वनकामं च नापितम् ॥ ७३ ॥

तत्सच्चिन्त्यान्यः कश्चिद्राजा विहङ्गमानां क्रियताम्—इति ।

अथ तैर्भद्राकारमुद्गकमवलोक्य सर्वेरभिद्वितं यन—‘एष उल्लको  
राजास्माकं भविष्यति, तद्रानीयन्तां नृपाभिपेकसम्बन्धिनः सम्भागः’  
—इति । अथ साधिते विविधतीर्थोदके, प्रगुणीकृतेऽप्रोत्तरशतमूलिका

प्राणान्तिकं—मृत्युपर्यवसायि । प्राणान्तकर्माति पाठान्तरम् । चिप्पिकराः—कुकुटादवः  
मोद्रेण—सोक्लेशं । लुधकाः—श्याकुनिकाः । पार्थिवरूपेण—नृपतिरूपेण । कृतान्तः—यम एव  
॥ ७० ॥ नेता—नायकः, रक्षकश्च । ततः—तदा । अकर्णधारा—कर्णधारश्या । (‘पतवरिया’  
‘मारंग’ मांक्षा) विसवेत—विश्वायेत । भिन्नां—विश्वार्णाम् । अर्णवे—सागरे । अप्रवक्तारं—  
अनुपदेष्टागम् । गोपालं—गोपे । वनकामं—वनप्रियम् । गोपालकर्मणो गोपालनस्य वनाधान-  
वान्, नापितकर्मणश्च क्षीरादेवनेऽभावात् ॥ ७३ ॥

भद्राकारं—विश्वाकृतिधरं, सुन्दरभिति वा । सम्भाराः—उपकरणानि । (राजतिलकका-  
नामग्री) । सन्धिते—आनीते । प्रगुणीकृते—सज्जिते । मूलिकाः—चक्राङ्कितासहदेवी-

१. लिखितपुस्तकेऽस्याः कथाया ‘प्रथमा कथे’ ति व्यपदेशो दृश्यते । २. ‘धनकामम्’—पाठ ।

मङ्गाने, प्रदत्ते सिंहासने, वर्तिते सप्रदीपसमुद्रभूधरविचित्रे  
धरित्रीमण्डले, प्रभारिते व्याघ्रचर्मणि, आपूरितेषु-हमकुम्भंपु,  
गीषेषु वादेषु च: सज्जीकृतेषु दर्पणादिषु माङ्गल्यवस्तुषु, पठत्सु  
वन्दिमुख्येषु, बेदोच्चागणपरेषु समुदितमुख्येषु ब्राह्मणेषु, गीतपरं  
युवतीजने, आनीतायामग्रमहित्यां कृकालिकायाम्, उद्धकोऽभिपं-  
कार्श यावत्मिहामने उपविशति, नावत्कुतोऽपि वायसः समायानः ।

मोऽचिन्तयन्—‘अहो ! किमेष सकलपक्षिममागमो महोत्सवश्च ? ।  
अथ ते हृष्टा मिथः प्रोचुः—‘पश्चिणां मध्ये वायसश्चतुरः श्रृयते । उक्तच्च—  
नराणां नापितो धूर्णः पश्चिणाऽचैव वायसः ।  
दंश्टिणाऽच्च शृगालम्तु श्वेतभिक्षुमतपस्विनाम् ॥ ३४ ॥

तद्भ्यापि वचनं प्राहम् । उक्तच्च—

बहुधा बहुमिः सार्वं चिन्निताः सुनिरूपिनाः ।  
कथच्चिन्न विलोयन्ते विद्वद्विश्चिन्निना नयाः ॥ ३५ ॥

अथ वायमः समेत्य तानाह—‘अहो ! किं महाजनममागमोऽयं  
परमहोत्सवश्च ?’ ते प्रोचुः—‘भोः ! नाभ्नि कविद्विज्ञमानां गजा,  
तद्भ्योल्दूकम्य विहङ्गमगज्यःभिपंको निम्नपितमिनष्टुनि समन्तपश्चिभि’,  
तत्त्वमपि स्वमतं देहि, प्रभनावे समागतोऽसि । अथामौ काको  
विहम्याह—‘अहो ! न युक्तमंतन्, यन्मयूर-हंस-कोकिल-चक्रवाक-  
शुक-कारण्डव-हारीत-मारमादिषु पश्चिप्रथानेषु विद्यमानेषु दिवान्ध-  
भ्याऽस्य करालवक्कम्याभिपंकः कियते । तत्रैतन्मम मनम् । यतः—  
प्रभृतय ओषधयः । प्रदत्तं=पस्थापिने । वर्तिते=चित्रिते । (वनाया) । सप्तसैति । सप्तद्वय-  
युक्तममुद्रमण्डले भूमण्डले इत्यर्थः । हेमकुम्भदावानां जलत्तेलाभ्यां पूरणम् । वायपूरणम्  
-नाटनमेव । ( दजाना ) । समुदितमुख्येषु=सहैव पठत्सु । अग्रमहिणी=पट्टमहिणी । कृकालि-  
का-पश्चिमेदः । ( कोचरी ‘चिकचिकवा’ ) किग्न=किमर्थम् । समागमः=मेलापकः ( मेला ) ।  
श्वेतमिक्षुः=जैनमिक्षुः ॥ ३६ ॥ अस्य=काकस्य । वचनं=सममनिः । सुनिरूपिनाः=सुनि-  
गानाः । विलोयन्ते=अन्यथा भवन्ति । नयाः=नीतिमार्गाः । मन्त्रा इति यावत् ॥ ३७ ॥

महाजनः=श्रेष्ठो जनः । निरूपितः=विचारितः । प्रस्तावे=उचिते समये । करालवक्त्रस्य

१ ‘चतुर्भपदा’मिति पाठान्तरम् ।

व क्रनासं सुजिहाशं क्रमाप्रयदशेनम् ।  
 अकुद्धस्येदशं वक्रं भवेकुद्धस्य कीदशम् ! ॥ ७६ ॥  
 तथा च—स्वभावरौद्रमत्युप्रं क्रमप्रियवादिनम् ।  
 उल्लकं नृपतिं कृत्वा का नु सिद्धिर्भविष्यति ? ॥ ७७ ॥

अपरं—वैनतेये स्वामिनि मिथ्ये किमेप दिवान्यः क्रियते गजा ? ।  
 तत्त्वापि गुणवान्भवति तथाप्येकस्मिन्मामिनि स्थिते नान्यो भूपः  
 प्रशास्यते—

एक एव हितार्थाय तेजस्वी पार्थिवो भुवः ।  
 युगान्तं इव भास्त्रन्तो वहवोऽत्र विपत्तये ॥ ७८ ॥  
 गुरुणां नाममात्रेऽपि गृहीते स्वामिसम्भवे ।  
 दुष्टानां पुरतः अमं तत्क्षणादेव जायते ॥ ७९ ॥  
 तथा च व्यपदेशेन महतां सिद्धिः सञ्चायते परा ।  
 शशिनो व्यपदेशेन वसन्तं शशकाः सुखम्' ॥ ८० ॥

पश्चिण ऊचुः—‘कथमेतत् ?’ । म आह—

### १. शशगजयूथनाथकथा

कम्मिश्चिद्वने चतुर्दश्नो नाम महागजो यूथाविषः प्रतिवमति  
 स्म । तत्र कदाचिन्महान्यनावृष्टिः सञ्जाता—प्रभूतवर्षाणि यावन् ।  
 तथा तडागहृदपन्वलभरांसि शोषमुपगतानि । अथ तैः समस्तगजैः  
 म गजराजः प्रोक्तः—‘द्व ! पिपास्माकुला गजकलभा मृतप्रायाः,  
 अपरं मृताश्च । तदन्विष्यनां कश्चिज्जलाशयो यत्र जलपानं स्वमृतां  
 =मापणमुखरय । सुजिधाशः=कुटिललोचनं । भिद्धिः=लाभः । ‘का नः, इति क्वचिपाठः ।

एक एव तेजस्वी पार्थिवः—गजा भुवो हितार्थाय भवति । यथा युगान्ते=प्रलये वहवो  
 नास्त्रन्तः=द्वादशापि सूर्योः, उद्यन्ति—ते च जगतो विपत्तय एव, तथाऽनेकराजसमवायोऽपि  
 देशविपत्तय एव भवति न कल्याणयेत्याद्ययः ।

गुरुणां=महतां दृष्टानां पुरतः—स्वामिसम्भवे नाममात्रेपि गृहीते क्षेमं=विपत्ति-  
 नाशः । वीरस्य राशो नामकीर्तनादेव चौरादयस्वरयन्तीत्याद्ययः ॥ ७९ ॥ व्यपदेशेन=—  
 नामकीर्तनेन, व्यपदेशेन—नामकीर्तनव्याजेन वा ॥ ८० ॥ तत्र=वने । प्रभूतवर्षाणि=—  
 वहनि वर्षाणि यावत् । तया=अनावृष्ट्या ( तडाग=‘तलाव’ ) । हदः=‘भील’ । पलवलं=—  
 ‘तलैया’ । सरः=‘सरोवर’ ) । गजकलभाः=वालगजाः । स्थलेति । स्थलमध्यगतोऽपि

ब्रजन्ति । ततश्चिरं ध्यात्वा तेनाभिहितम्—‘अस्मि महाहदो विविच्छे प्रदेशे स्थलमध्यगतः पातालगङ्गाजलेन सदेव पूर्णः, तत्तत्र गम्यनाम्’—इति ।

तथानुष्टुते पञ्चगत्रमुपमर्पद्धिः समासादितमतः स हृदः । तत्र स्वेच्छया जलमवगाद् उत्तमनवेलायां निष्क्रान्ताः । तस्य च हृदस्य समन्ताल्लुशकविलोचन्यसञ्ज्ञ्यानि सुकोमलभूमौ निष्टन्ति । तान्यपि समन्वेतपि तर्गजैरितमतो ध्रमद्धिः परिभ्रमानि । वहवः शशका भग्नपादशिरोशीवा विहिताः, केचिच्चिज्ञीवशेषापा जाताः ।

अथ गते तस्मिन्ग जयथे शशकाः सोद्वेगा गजपादसुण्णसमावासाः, केचिद्भूपादाः, अन्ये जर्जरितकलेवग ऋविरपूताः, अन्ये हृतशिशावो वाष्पपिहितलोचनाः समेत्य मिथो मन्त्रं चक्रः—‘अहो ! विनष्टा वयम्, निन्यमेवैतद् जयूथमागमित्यति, यतो नान्यत्र जलमस्ति । तत्त्वर्णां नाशो भविष्यति । उत्तच-

स्पृशन्नपि गजो हन्ति जिघर्जपि भुजङ्गमः ।  
हसन्नपि नृपा हन्ति मानवन्नपि दुर्जनः ॥ ८१ ॥

तच्चिन्त्यतां कश्चिद्गुपायः । तत्रैकः प्रोवाच—‘गम्यतां देशत्यागेन, किमन्यत् । उत्तच-

त्यजेदेकं कुलस्याऽर्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।  
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ ८२ ॥  
अस्यां शस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि ।  
परित्यजेन्नपो भूमिमात्मार्थमविचारयन् ॥ ८३ ॥

पातालगङ्गाजलेन परिपूर्ण इत्यर्थः । उपसर्पद्धिः—गच्छद्धिः । अस्तमानवेलायां—नायज्ञाले । शशकानां बिलानि—निवासभूतानि गहराणि । तुकोमलभूमौ—शालुकाप्रदेश । भग्नपादशिरोशीवाः—मर्दितपादशिरःकन्धराद्यवयवाः । जीवशेषाः—प्राणमात्रशेषा अपि नशाङ्गाः । समावासाः—निवासस्थानानि । जर्जरितकलेवराः—शार्णशरीराः । सृशन्—स्पर्शमात्रेणापि ॥ ८२ ॥ एकं—गृहभूपरिजननादिकम् । अर्थे—उपकाराय । रक्षणाय न ।

? बिलशब्दस्य नपुंसकस्यैव प्रसिद्धया सुद्रितेषु दृश्यमानः पुलिङ्गप्रयोगस्तु नोचितः ।

आपद्ये धनं रक्षेहारानरक्षेद्वन्नैरपि ।

आत्मानं सतनं रक्षेहारैरपि धन्नैरपि' ॥ ८४ ॥

ततश्चान्ये प्रोचुः—‘भोः ! पितृपैतामहं स्थानं न शक्यते  
महसा त्यक्तुम् , तत्क्रियतां तेषां कृते कान्चिद्भीषिका.—यत्कथ-  
सपि देवान्न समायान्ति । उक्तच्च—

निर्विपेणापि सर्वेण कर्तव्या महती फटा ।

विषं भवतु जा वाऽस्मृतु फटायोपो भयङ्करः ॥ ८५ ॥

अथाऽन्ये प्रोचुः—‘यत्रेवं ततस्तेषां महाद्विभीषिकास्थानमस्ति.  
येन नागमित्यान्ति । मा च चतुरदृतायत्ता दिभीषिका ! तत्र विजय-  
दनो नाम गजाऽस्मलक्ष्मी शशकश्चन्द्रमण्डलं निवसति । तत्प्रेष्यते  
कश्चिन्मध्यादृतो यूथाधिपसकाशं यत्—चन्द्रस्त्वामत्र हृते आगच्छ-  
न्तं निषेधयति, यनोऽस्मलरिग्रहोऽस्य ममन्ताद्वसति ।’ एवमभिहिते  
श्रद्धेयवचनात्कदाचित्तिवर्तते ।’ अथान्ये प्रोचुः—‘यत्रेवं तद्वित  
लभ्वकर्णो नाम शशकः, म च वचनरचनाचतुरो दृतकर्मद्वः । म  
तत्र प्रेष्यतामिति । उक्तच्च—

साकारो निःस्फुहो वाऽस्मी नानाशास्त्रविचक्षणः ।

परचित्तावगन्ता च राजो दृतः स इव्यते ॥ ८६ ॥

अन्यच्च—यो मूर्खं लौल्यसम्पन्नं राजद्वारिकमाचरेत् ।

मिथ्यावादं विशेषेण तस्य कार्यं न सिध्यति ॥ ८७ ॥

तदनिवृत्यतां यथास्माद्वसनादात्मनां सुनिर्मुक्तिः’ । अथान्ये  
प्रोचुः—‘अहो ! युक्तमेतत्, नान्यः कन्द्रिदुपायोऽस्माकं जीवितस्य.  
तत्तथैव क्रियताम्’ । अथ लभ्वकर्णो गजयूथाधिपसमीपे निरूपितो  
क्षम्यां=कल्याणदाम । आत्मार्थं=स्वरक्षणाय ॥ आपद्ये=विपत्तिनाशाय ॥ ८८ ॥ तेषां  
=गजानाम् । विभीषिका=मयजननम् । चतुरदृतायत्ता=कुशलदृताधीना । मिथ्यादृतः  
=विजयदत्तस्य राजो मिथ्यादृतः । अस्मत्परिग्रहः=मम चन्द्रस्यानु चरवर्गः । ममन्तात  
=ददस्य सर्वतः । श्रद्धेयवचनात्=विश्वासार्थवाक्यात् । साकारः=सुन्दराकृतिः, निःस्फुहः=  
त्यागः । वाग्मी=वाक्पदः ॥ ८६ ॥ लौहपसम्पन्नं=चाख्ययुतं, लुभ्यत । मिथ्यावादं=मिथ्या-  
भाषिणम् । राजद्वारिकं=राजप्रतिनिधिम्, ‘राजा दूतं समाचरेदिति गौडाः पठन्ति ॥ ८७ ॥  
सुनिर्मुक्तिः=रक्षणम् । तथैव=दूतप्रेषणमेव । निरूपितः=निश्चितः । ‘दूतत्वेनेति शेषः ।

गतश्च । तथानुष्ठिते लम्बकर्णोऽपि गजमार्गमासाद्याऽगम्यं स्थलमा-  
रह्य तं गजमुवाच—‘भो ! भो दुष्टगज ! किमेवं लीलया निःशङ्कतयाऽत्र  
चन्द्रहृदे आगच्छसि ?, तन्नागन्तव्यं, निवर्त्यताम्’—इति । तदाकर्ण्य  
विमितमना गज आह—‘भो ! कम्मवम् ?’ । स आह—‘अहं लम्ब-  
कर्णो नाम शशकश्चन्द्रमण्डलं वमामि—माम्प्रतं भगवता चन्द्रममा  
तव पार्श्वे प्रहितो दृतः ।—ज्ञानात्येव भवान्, —यथार्थवादिनो दृतम्य  
न दोषः कर्णायाः, दृतमुखा हि राजानः सर्वं पव । उक्तच्च—

उद्यतेष्वपि शशेषु बन्धुवर्गवधेष्वपि ।

परुपाण्यपि जल्पन्तो वध्या दृता न भूभुजा’ ॥ ८८ ॥

तन्हृत्वा म आह—‘भोः शशक ! तत्कथय भगवतश्चन्द्रमसः  
मन्देशम्, येन सत्वरं क्रियते ।’ म आह—‘भवताऽनीतदिवसे  
यूथेन महागच्छता प्रभूताः शशका निपातिताः, तत्कि न वेच्चि  
भवान्,—यन्मम परिग्रहाऽयं ?, तथादि जीवितेन तं प्रयोजनं नदा  
केनापि प्रयोजनेनाऽत्र हृदे नागन्तव्यम्—’इति मन्देशः ।’

गज आह—‘अथ क वर्तते भगवान्स्वामी चन्द्रः ?’ । स आह—  
‘अत्र हृदे माम्प्रतं शशकानां भवत्यथमथितानां हतशेषाणां समाश्वा  
मनाय समायातस्तिष्ठति, अहं पुनस्तवान्तिकं प्रेपितः ।’ गज आह—  
‘यद्येवं तदर्शय मे तं स्वामिनं येन प्रणम्याऽन्यत्र गच्छामि ।’

शशक आह—‘भोः ! आगच्छ मया सहैकाकी येन दर्शयामि’ ।  
तथानुष्ठिते शशको निशासमये तं गजं हृदतीरे नीत्वा, जलमध्ये  
स्थितं चन्द्रविम्बमदर्शयन् । आह च—‘भोः ! पप नः स्वामी जल-

अगम्य=दुगंमम् । लौलया=हैलया । प्रहितो दृतः=दूतत्वेन प्रहितः । भवान्=गज  
यूथपः । दोषः=अपराधः । उद्यतेष्विति । दृतेन शशोत्थापने कृतेऽपि, स्वबन्धुवर्गस्य वधं  
न् कृतेपि, परुपवच्चनेषुक्तेष्वपि राशा तस्य वधो न कार्य इत्यर्थः ॥ ८९ ॥ सः=गजराजः ।  
मन्देश्य=शासनम् । ( ‘हुकुम् ’ ) । क्रियते=अनुष्ठायते । अतीतदिवसे=गतदिवसे ।  
प्रभूताः=वहवः । परिग्रहः=अनुजीविवर्गः । कुटुम्बम् । हतशेषाणां=निर्दिलितात्रशिष्टा-

१ ‘जहृतेषु’ इति पाठान्तरम् ।

मध्ये समाधिस्थस्तिष्ठति, तन्निभृतं प्रणम्य सत्वरं ब्रजति—नो चेत्म-  
माधिभङ्गाद्योऽपि प्रभूतं कोपं करिष्यति ।'

अथ गजोऽपि त्रमतमनाम्तं प्रणम्य पुनर्गमनाय प्रस्थितः ।  
शशकाश्व तद्विनादारभ्य सपरिवाराः सुखेन स्वेषु स्थानेषु तिष्ठन्ति  
स्म । अतोऽहं, त्रीमि—‘ठयपदंशेन महताम्—’इति । ॥४॥

अपि च—शुद्धमलसं कापुरुषं व्यमनिनमकृतज्ञं पृष्ठप्रलपन-  
शीलं स्वामित्वेन नाभियोजयेज्जीवितकामः । उत्तच्च—

शुद्धमर्थपतिं प्राप्य न्यायान्वेषणतत्परै ।

उभावपि क्षयं प्राप्तौ पुरा शशकपिञ्जलौ ॥ ८५ ॥

ते प्रोचुः—‘कथमेतन् ? । स आह—

## २. शशक-कपिञ्जलकथा

कम्मिश्रिष्टुक्ते पुराऽहमवस्थम् । तत्राधस्तान्कोटरे कपिञ्जलो नाम-  
चटंकः प्रतिवस्ति स्म । अथ मदेवास्तमनवेलायामागतयोर्द्वयोरन-  
कसुभापितगोष्ठुआ देवर्षिब्रह्मिषुपुराणचरितकीर्तनेन च पर्यटनद्वप्त्रा-  
नेककौनृहल्प्रकथनेन च परमसुखमनुभवतोः कालो ब्रजति । अथ  
कदाचित्कपिञ्जलः प्राणयात्रार्थमन्यैश्वटकैः सहाऽन्यं पक्षशालिप्रायं  
देशङ्गतः । ततो यावन्निशासमयेऽपि नायातस्तावदहं सोद्देशमनाम्त-  
द्वियोगदुःखितश्चन्तितवान्—‘अहो ! किमद्य कपिञ्जलो नायातः ?,  
किं केनापि पाशोन वद्धुः ?, आहोस्तिकेनापि व्यापादितः ? । सर्वथा  
नाम् । अन्तकं=समाप्तं । तत्=तस्मात् । तथानुष्ठिते=गजेन नदचने स्वीकृते । समाधिस्थ्य-  
न्यानावस्थितः । निभृतं=सविनयं यथा स्वातत्था । क्षुद्रं=नीचं । व्यसनिनं=व्यसना-  
सत्तं, पृष्ठप्रलपनशीलं=परोक्षेऽप्रियवादिनम् । अभियोजयेत्=अभिषिञ्चेत्, स्वीकुर्यात् ।

अर्थपतिम्=निर्णेतारम्, स्वामिनाथ । न्यायान्वेषणतत्परै=न्यायाभिलाषिणी । ‘कपि-  
मल’इति चक्रकानामधेयम् ॥ ८५ ॥

सः=काकः । अस्तमनवेलायां=सायम् । देवर्षिब्रह्मिषाणां यानि पुराणानि—चरितानि,  
तेषां कीर्तनेन=वर्णनेन । पर्यटनावसरे च यानि दृष्टानि—अनेककुतृहलानि=  
नानाशर्याणि, तेषां प्रकथनेन । पक्षशालिप्रायां=सम्पन्नशालिवहुलं । कुशलीं=स्वस्थः ।

१. ‘कपिञ्जलो नाम तित्तिरि’ इति पाठाऽ ।

यदि कुशली भवति तन्मां विना न तिष्ठति । एवं मे चिन्तयतो वहून्य-  
हानि व्यतिक्रान्तानि । तनश्च तत्रकोटरे कदाचिच्छ्रीघ्रगो नाम शशको-  
उम्नमनवेलायमागत्य प्रविष्टः, मयापि कपिञ्जलनिराशत्वेन न निवा-  
गितः । अथाऽन्यमित्रहनि कपिञ्जलः शालिभक्षणादतीव पीवरतनुः  
स्वमाश्रयं मृत्युभूयोऽपि तत्रैव समायातः । अथवा साधिवद्मुच्यते—  
न तादग्नायते भौख्यमपि स्वर्गे शरीरिणाम् ।

दारिद्र्येऽपि हि यादकस्याऽन्स्वदेशे स्वपुरे गुहे ॥ १० ॥

अथाऽमौ कोटगन्तर्गतं शशकं दृष्ट्वा साक्षेपमाह—‘भोः शशकं  
न व्या सुन्दरं कृतं यन्ममाऽवसथम्थाने प्रविष्टोऽसि, तच्छ्रीघ्रं  
निक्रम्यताम् ।’ शशक आह—‘न तवेदं गुहं, किन्तु मैव, नक्ति  
मिया परुपाणि जल्पसि ? ।

उच्चत्र—वार्षाकृपतडागानां देवाल्यकुजन्मनाम् ।

उन्मर्गान्त्परतः स्वाम्यमपि कर्तुं न शक्यते ॥ ११ ॥

तथा च—प्रत्यक्षं यस्य यद्युक्तं क्षेत्राद्य दश वस्त्रान् ।

तत्र भुक्तिः प्रमाणं स्वाच्छ साक्षी नाऽक्षराणि वा ॥ १२ ॥

मौनुषाणामयं न्यायो मुनिभिः परिकीर्तिः ।

तिरश्चां च विहङ्गानां यावदेव समाश्रयः ॥ १३ ॥

तन्ममैतदृहम्, तव—इति । कपिञ्जल आह—‘भोः ! यदि  
मृत्युनि प्रमाणीकरोदि तदागच्छ मया सह, येन स्मृतिपाठकं—पृच्छा-  
उः, स यस्य ददाति म गृह्णातु । तथाऽनुष्ठिते मयापि चिन्तितम्—  
‘किमत्र भविष्यति ?’ मया द्रष्टव्योऽयं न्यायः ।’ ततः कौतुकादह-  
पावरतनुः=स्थूलकायः । गृहे=स्वगृहे ॥ १० ॥ साक्षेपं=सनिन्दम् । सुन्दरम्-  
उच्चत्रम् । आवस्थाने=गृहप्रदेशे । निष्क्रमतां=गम्यताम् । (‘निक्लो’ ) ।  
परुपाणि=कूराणि । देवाल्याः=देवमन्दगणि । कुजन्मानः=वृक्षाः । उत्सर्गः=दानं।  
वान्यं=प्रसुत्वम् ॥ ११ ॥ भुक्तम्=उपभुक्तं । भुक्तिः=उपभोगः (‘कृजा’ ) ।  
प्रश्नाणि=लेखः । तिरश्चां=मृगादीनाम्, पक्षिणाच । न भुक्तिः प्रमाणं—किन्तु—यावदेव-  
यावत्कालम् । समाश्रयः=निवास एव प्रमाणम् ॥ १२ ॥ तत्=शृत्यस्य मयाश्रयणात् ।  
स्मृतिपाठकं=स्मृतितत्त्वशम् । मया=काकेन । द्रष्टव्यः=अवश्यं दर्शनीयः । न्यायः=अस्य

? ‘मानुषाणां प्रमाणं स्याद्गतिर्वै दशवार्षिकी’—इति लिखिते प्राठः ।

मपि तावनु प्रस्थितः । अत्रान्तरे तीक्ष्णदंग्रो नामाऽरण्यमार्जाग्र  
त्तयोर्विवादं श्रुत्वा मार्गासन्न नदीतटमामाद्य कृतकुशोपप्रहो  
निमीलितनयन ऊर्ध्ववाहुर्धपादस्पृष्टभूमिः श्रीमूर्याभिमुख इमां  
यमोपदेशनामकरोत्—

‘अहो ! अमागोऽयं संमारः, श्रणभङ्गः प्राणाः, स्वप्रमद्दशः  
प्रियममागमः । इन्द्रजालवकुटम्बपरिप्रहोऽयम् । तद्गर्म सुक्तवा नान्या  
गतिरस्ति । उक्तच्च—

अनित्यानि शरणाणि विभवो नैव शाश्वतः ।

नित्यं सच्चिहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसङ्क्रहः ॥ ९४ ॥

यस्य धर्मविहीनानि दिनान्यायान्ति यान्ति च ।

स लोहकारभस्त्रेव धसन्नपि न जावनि ॥ ९५ ॥

नाच्छाद्यति कौर्पानं न दंशमशकाप्रहम् ।

शुनः पुच्छमिव व्यर्थं पाण्डित्यं धर्मवर्जितम् ॥ ९६ ॥

अत्यन्त—पुलाका इव धान्येषु पूर्तिका इव पक्षिषु ।

मशका इव मर्त्येषु येषां धर्मो न कारणम् ॥ ९७ ॥

श्रेयः पुष्पफलं वृक्षादधनः श्रेयो धृतं स्मृतम् ।

श्रेयस्तैलब्रह्म पिण्याकाच्छ्रेयान्धर्मस्तु मानुषान् ॥ ९८ ॥

सूषा मूत्रपुरीषार्थमाहाराय च केवलम् ।

धर्महीनाः परार्थाय पुरुषाः पश्वो यथा ॥ ९९ ॥

निणगः । तावनु=तयोः पृष्ठनः । कृतकुशोपप्रयहः=गृहानकुशमुष्टिः । धर्मोपदेशनां=धर्मोप-  
देशम् । ( व्याख्यान ) । क्षणभङ्गः=आशुविनाशिनः । स्वप्रमद्दशः=स्वप्रमद्दृष्टवदना-  
त्त्वकः । इन्द्रजालं=मायानिर्मितं पदार्थजातं । सुक्तवा=पित्राय । विभवः=सम्पन्निः ।  
शाश्वतः=नित्यः । धर्मसङ्क्रहः=धर्मांपार्जनम् ॥ ९४ ॥ । धर्मविहीनानि=धर्मानुषान-  
शून्यानि । भस्त्रः=नर्मप्रसेविका । ( ‘भार्या’ ) । श्वसन्=यात् मुच्चर्षप ॥ ९५ ॥ । कौर्पानं=  
युवां स्त्रीपुरुषपिंडः । शिशनयोन्यादि । ‘कौर्पानं स्याद्वायेषि नारुद्युप्रदेशयोरिति विश्वः ।

पुलाकः=तुच्छधान्यमेदः । ‘स्याद्पुलाकास्तुच्छधान्ये’ इत्यमरः । पूर्तिका वा-  
पक्षिमेदः । कारणम्=कर्तव्यकारणम् ॥ ९७ ॥ । वृक्षात्=पृष्ठं फलं वा श्रेयः श्रेष्ठं लभ्यने,  
दधनः श्रेष्ठं धृतं भवति, पिण्याकः=तिलकलकः ( खलं ) । मानुषान्=मनुष्यशरीरात् ॥ ९८ ॥

मूत्रेति । मूत्रपुरीषोत्सर्जनं-भोजनादिमात्र व्यापाराः खलु धर्महीनाः, परार्थाय=

? ‘कूर्तिका’ इति लिखितपुस्तकपाठः ।

स्थैर्यं सर्वेषु कृत्येषु शंसन्ति नयपण्डिताः ।  
 वह्नन्तराययुक्तस्य धर्मस्य त्वरिता गतिः ॥ १०० ॥  
 संक्षेपात्कथ्यते धर्मों जनाः किं विस्तरेण वः ।  
 'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्' ॥ १०१ ॥  
 अव्यतीं धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवाऽवधार्यताम् ।  
 आन्मनः प्रतिकूलानि परेयां न समाचरन् ॥ १०२ ॥

अथ नस्य तां धर्मोपदेशानां श्रुत्वा शशक आह—‘भो ! भोः कपिजल ! एष नदीर्तीरे तपम्बी धर्मवादी तिष्ठति, तदेन पूच्छावः ।

कपिजल आह—‘ननु ग्वभावतोऽस्माकं शत्रुभूतोऽयमस्ति तद्वरे  
 मिथतौ पूच्छावः, कदाचिदभ्य ब्रतवैकल्यं सम्पद्येत । ततो दृग्मिथ-  
 तावृचतुः—‘भो भोम्लपस्विन ! धर्मोपदेशक ! आवयोर्विवादो वर्तने,  
 तद्वर्मशास्त्रद्वारेणाःस्माकं निर्णयं कुरु । यो हीनवादी स ते भद्रवः—  
 इनि । म आह—‘भट्टौ ! मा मैव वदते, निवृत्तोऽहं नरकपातकमार्गान्  
 अहिंसैव धर्ममार्गः । उक्तच्च—

अहिंसापूर्वको धर्मो यम्मात्सङ्गिरुदाहतः ।  
 यूक्तमत्कुण्डशादींस्तस्मात्तानपि रक्षयेत् ॥ १०३ ॥  
 हिंसकान्यपि भूतानि यो हिनस्ति स निर्वृणः ।  
 स याति नरकं घोरं किं पुनर्यः शुभानि च ॥ १०४ ॥

एतेषु ये याज्ञिका यज्ञकर्मणि पश्चन्वयापादयन्ति, ते मूर्खाः

पश्चादिवद्गारवहनाय ॥ ९९ ॥ यथापि—स्थैर्यं=स्थिरतया विमुद्य कार्यकरणम् । शंसन्ति-  
 प्रशासन्ति । नयपण्डिताः=रांतिकुशलाः । तथापि वह्नन्तराययुक्तस्य=विभवहुलम्य,  
 धर्मस्य तु त्वरिता=नपला । गतिः=गमनम् । अतः शीघ्रमेव धर्मोपार्जनं कर्त्तव्य-  
 नद्व विलम्बो न कार्यः ॥ १०० ॥

वः=युपम्य संक्षेपेण धर्मः कश्यते । तमेवाह—परेति । पुण्याय=पुण्यजनकः ॥ १०१ ॥  
 धर्मसर्वस्वं=धर्मतत्त्वम् । अवधार्यतां=निश्चायताम् । प्रतिकूलानि=दुःखजनकानि ॥ १०२ ॥  
 स्थिती=तिष्ठती । ब्रतवैकल्यं=कपटब्रतितत्त्वम् । कदाचित् ब्रतदम्यं त्यक्त्वा अस्माक-  
 मुपरि आक्रमणं कुर्यात् । हानवादी=दोषी । नरकपातकः=नरकप्रदः । यूक्ता=केशकीटः ।  
 मत्कुणः=रक्तपः, खट्वाकीटः । ( दंशः=मच्छड़ ) ॥ १०३ ॥ हिंसकानि=सिंहसपांदीनि ।

१ ‘यम्मात्सर्वहिते रतः’ इति लिखितपुस्तकपाठः ।

परमार्थं श्रुतेन जानन्ति । तत्र किलैतदुक्तम्—‘अजैर्यष्टव्यम्’ इति ।  
अत्रा त्रीहयस्तावत्सप्तवार्पिकाः कथ्यन्ते, न पुनः पशुविद्योपाः ।  
उक्तच्च—वृक्षांशिल्पत्वा पशुन्हन्वा कृत्वा स्थिरकर्दमम् ।  
यद्येवं गम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते ! ॥ १०५ ॥

तत्राहं भक्षयित्यामि, परं जयपगाजयनिर्णयं करित्यामि ।  
किन्तव्हं वृद्धो दृग्नशुवयोर्भापान्तरं सम्यड् शृणोमि, एवं ज्ञात्वा  
मम लभापवर्तिनौ भूत्वा ममाये ल्यायं वदनं, येन विज्ञाय विवाह-  
परमार्थं वचो वदतोऽसं पग्लोकवायां न भवति । उक्तच्च यतः—

मानाद्वा यदि वा लोभान्तोधाद्वा यदि वा भयान ।  
यो न्यायमन्यथा धृते स याति नरकं नरः ॥ १०६ ॥  
पञ्च पश्चनृते हन्ति तद्य हन्ति गवानृते ।  
शतं कन्याऽनृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥ १०७ ॥  
उपविष्टः सभामाये वा न वाक्त स्फुटं वचः ।  
तस्माद्वरेण सा न्याया (?) न्यायं वा कार्त्येदत्म् ॥ १०८ ॥

तस्माद्विश्रव्धौ मम कर्णोपान्तिके स्फुटं निवेदयतम् ।’ इति  
वहुना—तेन क्षुद्रेण तथा ताँ तूर्णं विश्वासिनौ यथा तम्योत्सङ्घ-  
वर्तिनौ सञ्चातौ । ततश्च तेनापि समकालमेवैकः पादान्तेनाक्रान्तः  
अन्यो दंप्राक्रकचेन च । एवं द्वावपि गतप्राणौ भक्षिताविति । अतः-  
इहं ब्रवोमि—‘क्षुद्रमर्थपतिं प्राप्य—’ इति । \*

निरूणः=निर्दयः । शुभानि=अहिस्मकानि=शशकमृगादीनि ॥ १०४ ॥ परमार्थ=रहम्-  
भूतमर्थम् । तत्र=वेदे । सप्तवार्पिकाः=सप्तस्यो वत्सरेभ्यः पूर्वमुत्पन्नाः-पुरुणाः । एवं-  
प्राणिहिसया ॥ १०५ ॥ भाषान्तरं=वचनमुत्तरप्रत्युत्तररूपम् । न्यायम्=अभियोगम्  
विवादपरमार्थं=विवादस्योच्चितं निर्णयकारकम् । न्यायं=विवादनिर्णयम् । अन्यथा  
नृते=मिथ्यानिदिश्यते । पश्चनृते=पशुविवादस्य मिथ्यानिर्णये कृते सति । पश्च=पशू-  
पशून्, हन्ति=तद्वधपापभाग् भवति । गवानृते=दशगोवधपापभाग् भवति ॥ १०७ ॥

सभा=राजसभा (‘कचहरी’) तत्रोपविष्टो विद्वान्, साक्षी वा । स्फुटं=अकप-  
सत्यम्, तेन सभा वा त्यक्तव्या सत्यं वा वक्तव्यमित्यर्थः ॥ १०८ ॥ अत्र खण्डित इव पाठः ।  
विश्रव्धौ=निःशक्त्वा, तेन=मार्जरेण । तूर्णं=शरितम् । उत्सङ्घवर्तिनौ=क्षेत्रा

भवन्तोऽप्येन दिवान्धं क्षुद्रमर्थपतिमासाद्य रात्र्यन्धाः सन्तः  
शशकपिञ्जलमार्गेण याम्यन्ति । एवं ज्ञात्वा यदुचितं तद्विधेयमतः परम् ।

अथ तस्य तद्वचनमाकर्ण्य ‘साध्वनेनाभिहितम्—’इत्युक्त्वा—  
‘भूयोऽपि पार्थिवार्थं समेत्य मन्त्रयिष्यामहे’—इति ब्रुवाणाः सर्वे  
पक्षिणां यथाभिमतं जग्मुः । केवलमवशिष्टो भद्रासनोपविष्टोऽभि-  
पेकाभिमुखो दिवान्धः कृकालिकया सहाऽस्ते । आह च—‘कः  
कोऽत्र भोः ? किमद्यापि न क्रियते ममाभिपेकः ?’ इति तच्छ्रुत्वा  
कृकालिकयाऽभिहितम्—‘भद्र ! तवाभिपेके कृतोऽयं विनो वाय-  
सेन, गताद्य सर्वेऽपि विहगा यथेभिनासु दिक्षु, केवलमकोऽयं  
वायसोऽवशिष्टः केनापि हेतुना तिष्ठति, तत्त्वरितमुक्तिष्ठ येन त्वां  
स्वाश्रयं प्रापयामि ।’

तच्छ्रुत्वा भविष्याद्मुखको वायसमाह—‘भो भो दुष्टात्मन् !  
किं मया नऽपवृत्तम् ? यद्रात्याभिपेको मे विनितः ?’ तदेव प्रभृतिं  
मान्वयमावयोर्वरं मज्जातम् । उत्कर्त्त्व—

रोहती सायकैविद्धं छिन्नं रोहति चाऽसिनो ।

वाचा दुरुक्तं बांभत्सं न परोर्हति वाक्षतम्’ ॥ १०९ ॥

—इत्येवमधिदाय कृकालिकया महम्बाश्रयं गतः ।

अथ भयव्याकुलो वायसो व्यचिन्तयन्—‘अहो ! अकारणं  
वैरग्यासादितम् मया । किमिदं व्याहृतम् । उत्कर्त्त्व—

अदेशकालार्थमनायतिक्षमं यद्वप्रियं लाघवकारं चात्मनः ।

नगेतां, तेन=माजांरेण । दंडाकक्नेन=दंडाकरपत्रेण । भवन्तः=पक्षिणः । शशकपिञ्जल  
मार्गेण=तड्डतः शृत्युमार्गेण । तस्य=काकस्य । भूयोऽपि=पुनः कदाचित् । समेत्य=  
गिलित्वा । मन्त्रयिष्यामहे=मन्त्रणां करिष्यामः । यथाभिमतं=स्वस्वरथानम् । भद्रासनो  
पविष्टः=सिहासनासीनः । अभिपेकाभिमुखः=रात्याभिपेकोत्सुकः । दिवान्धः=उलूकः ।  
विनितः=अवरुद्धः । सान्वयं=वंशपरम्परासहितम् । रोहति=समाभवति । सायकैः=  
बाणैः । असिनाः=खड्डेन । बांभत्सं=भीपणम्, जुगुप्सत्त्वं । ‘वाक्षत’ मित्यत्र ‘वाक्ता’  
मित्यपि पाठः ॥ १०९ ॥ अदेशकालार्थ=देशकालानुचितम् । अनायतिक्षमम्=उत्तर-

१ ‘वनं परशुना हतमिति पाठान्तरम् ।

यत्राब्रवीत्कारणवर्जितं वैचो न तद्वचः स्यांद्विपमेव तद्वचः ॥ ११० ॥  
बलोपपल्लोऽपि हि बुद्धिमान्नरः परं नयेत् स्वयमेव वैरिताम् ।

भिषण्ठमास्तीति विचिन्त्य भक्षयेद्कारणान्को हि विचक्षणो विपम् ॥ १११ ॥  
परपरिवादः परिपदि न कथश्चिप्पिण्डतेन वक्तव्यः ।

सत्यमपि तत्र वाच्यं यदुक्तमसुखावहं भवति ॥ ११२ ॥

सुहृद्दिरासैरसकृद्गच्छारितं स्वयं च बुद्धया प्रविचारिताश्रयम् ।  
करोनि कार्यं खलु यः स बुद्धिमान् स एव लक्ष्म्या यशसां च भाजनम् ॥ ११३ ॥

—एवं विचिन्त्य कारोऽपि ग्रयातः । तदा प्रभृत्यस्माभिः  
मह औशिकानामन्वयगतं वैरमस्ति ।' मेघवर्णं आह—'तातः  
एवं गतेऽस्माभिः किं कृत्यमस्ति ?' स आह—'वत्म ! एवं गते-  
ऽपि पाङ्गुण्यादपरश्छलोऽयुपायोस्ति, तमङ्गीकृत्यं स्वयमेवाहं तद्वि-  
जयाय यास्यामि । रिपून्व च्यथित्वा विघ्न्यामि । उक्तव्यं यतः—

बहुबुद्धिसमायुक्ताः सुविज्ञाना बलोक्तटाः ।

अक्ता वज्ज्यितुं धूतां ब्राह्मणं छागैकादिव ॥ ११४ ॥

मेघवर्णं आह—कथमेतत् ? सोऽत्रवीन—

### ३. धृत्तेयव्राह्मणच्छागकथा

कस्मिंश्चिदधिष्ठानं मित्रशमां नाम ब्राह्मणः कृताभिहोत्रपरि-  
ग्रहः प्रतिवसति स्म । तेन कदाचिन्माघमासे सौम्यानिले प्रवाति,—  
मेघाच्छादिते गगने, मन्दं मन्दं प्रवर्पति पर्जन्ये, पशुप्रार्थनाय  
काळेऽशुभप्रदम् । कारणवर्जितं=निष्कारणम् । बलोपन्नः=श्लिष्टोऽपि । भिषक्=वैष्णवः  
भम्=मत्सनिधौ । इति=इति हेतोः । विचक्षणः=विद्वान् ॥ ११५ ॥ परिवादः=निदा-  
वाक्यम् ॥ ११६ ॥ आसैः=प्राभाणिकैः । प्रविचारितः आश्रयः=मूलं यस्य तत् । लक्ष्म्याः-  
भाजनं=पात्रम् ॥ ११७ ॥

कौशिकानाम्=उल्कानाम् । अन्यगतं=कुलपरम्परागतम् । पाङ्गुण्यात्=सञ्चिव-  
विग्रहयानासनदैर्धीभावसमाश्रयाख्यात । 'स्थूलोऽभिप्राय' इति पाठे—स्थूलः=महान् ।  
अभिप्रायः=छलाख्यं उपायः । तद्विजयाय=उल्कराजविजयाय । छागलः=अजः  
(‘छाग’ ‘बकरा’) ॥ ११८ ॥ कृतोऽग्निहोत्रस्य परिग्रहः=स्वीकारो येनासौ तथा-  
भूतः । सौम्यानिले=अतिशातले—ईशानकोणपवने । पर्जन्ये=मेषे । पशुप्रार्थनाय—

१ 'विचिन्त्य बुद्ध्या मुहुरप्यवैम्यह' मिति लिखिते पाठः । २ 'हालहलं हि तदिष्य'  
मिति पाठां । ३ 'छागला' दिति पाठ ।

किञ्चिद्वामान्तरङ्गन्वा कश्चिद्यजमानो याचितः—‘भो यजमान ! नागामिन्यामावस्यायामहं यद्यामि यज्ञं, तद्देहि मे पशुमेकम् !

अथ नेन तन्य शास्त्रोन्तः पीवरननुः पशुः प्रदत्तः । सोऽपि तं समर्थमितश्चेतश्च गच्छन्तं विज्ञाय स्कन्दे कुत्वा सत्वरं स्वपुराभिमुखः ब्रतम्ये । अथ तन्य गच्छन्तो मार्गे त्रयो धूर्ताः क्षुत्क्षामकण्ठः संमुखा वभूवुः ।

तेऽश्च ताहां पीवरं पशुं स्कन्दे आस्तुमवलोक्य मिथोऽभिहितम्—‘अहो ! अम्य पश्चोर्भक्षणादद्यतनीयां हिमपातो व्यर्थतां नीयते, तदेन वच्चयित्वा पशुमादाय शीतत्राणं कुर्मः ।

अथ नेपामेकतमो वेषपरिवर्तनं विधाय संमुखो भूत्वाऽपमानेण तमाहिताग्निमूचे—‘भो ! भो वालाग्निहोत्रिन् ! किमेवं जनविमुद्धं हास्यकार्यमनुष्टीयते ? यदेष सारमेयोऽपवित्रः स्कन्धाग्निमृडो नीयते । उक्तच्च यतः—

शानकुकृत्वाण्डालाः समस्पशाः प्रकारिताः ।  
रासभौष्ट्रौ विशेषेण तस्मात्ताञ्जैव संस्पृशेत् ॥ ११५ ॥

ततश्च नेन कोपाभिभूतेनाभिहितम्—‘अहो ! किमन्यो भवान् ? यत्पशुं सारमेयं प्रतिपादयसि ।’ सोऽब्रवीन्—‘ब्रह्मन् ! कोपस्त्वया न कार्यः, यथेच्छं गम्यताम्’—इति । अथ यावकिञ्चिद्दध्वनोऽन्तरं गच्छति, तावद् द्वितीयो धूर्तः संमुखे समुपत्य तसुवाच—‘भो ब्रह्मन् ! कष्टं कष्टम् ! यत्रपि वल्लभोऽयं ते मृतवत्सः, तथापि स्कन्धमारोपयितुमयुक्तम् । उक्तच्च यतः—

तिर्यङ्गं मानुषं वापि यो मृतं संस्पृशेत्कुधीः ।  
पञ्चगच्छेन शुद्धिः स्यात्तस्य चान्द्रायणेन वा ॥ ११६ ॥

यागीयपशुप्रार्थनाय । पीवरनुः—पुष्टः । समर्थं—चच्चलं । हिमपातः—तुपारवर्षः । अर्थतां नीयते—सोऽुं शक्यते । शीतत्राणं—शीतादत्मरक्षणम् । अपमार्गेण—मार्गान्तरेण—आगत्य सम्मुखो भूत्वेति सम्बन्धः । वालाग्निहोत्रिन् ! =मूर्खं श्रोत्रिय ! । हास्यकार्यम्=उपहासयोग्यं कर्म । सारमेयः—कुकूरः । पशुः=छागम् । कष्टं कष्टं=धिक् धिक् । ( ‘दुःख

अथासौ मकोपमिद्भाह—‘भोः किमन्धो भवान् ? यत्पशुं  
मृतवत्सं वदसि’ । मोऽब्रवीन्—भगवन् ! मा कोपं कुरु, अज्ञानान्म-  
याऽभिहितं, तत्त्वमात्मरचिं समाचारं’—इति । अथ यावत्सोकं वना-  
न्तरं गच्छति तावत्तृतीयोऽन्येषधारी धूर्तः सम्मुखः समुषेण्य तमु-  
वाच—‘भो अगुक्तमेतत् । यत्वं रासमं स्कन्धाधिरूढं नयसि, तत्य-  
ज्यतामपः । उक्तच्च—

यः मृशेद्रासमं मत्यो ज्ञानादज्ञानतोऽपि वा ।  
स्वचैलं स्नानमुहिष्टं तस्य पापप्रशान्तये ॥ ११७ ॥

तस्यजैनं यावदन्यः कश्चित्र पश्यति’ । अथाऽसौ तं पशुं  
गमम भन्यमानो भयःद्भूमो प्रशिष्य स्वगृहमुहिष्ट्य प्रपलायिनः ।  
ततस्ते त्रयो मिलित्वा तं पशुमादाय यथेच्छया भक्षितुमारव्याः  
अनोऽहं त्रवीमि—‘वहुवृद्धिसमायुक्ताः—’इति । ५

अथवा साधिवद्मुच्यते—

अभिनवसेवकविनयैः प्राशुणिकोक्तैविलासिनीरुद्रितैः ।  
धूर्तजनवचननिकरैरिह कश्चिदवश्चितो नास्ति ॥ ११८ ॥

किञ्च दुर्बलैरपि वहुभिः सह विरोधो न युक्तः । उक्तच्च—

बहवो न विरोद्धव्या दुर्जयो हि महाजनः ।  
स्फुरन्तमपि नागेन्द्रं भक्षयन्ति पिपीलिकाः ॥ ११९ ॥

मेघवर्ण आह—‘कथमेतत् ?’ । स्थिरजीवी कथयति—

#### ४. पिपीलिकाभुजङ्गकथा

अस्ति कस्मिन्निद्वल्मीके महाकायः कृष्णसर्पोऽतिदर्पो नाम ।  
म कदाचिद्द्विलानुसारिमार्गमुत्सृज्याऽन्येन लघुद्वारेण निष्क्रमितु-  
हे किं । मृतवत्सः=मृतो गोवत्सः । चान्द्रायण=व्रतविशेषः । आत्मरचिं=स्वाभिलिपिं ।  
मन्त्रैलं=परिहितवच्छसहितम् ॥ १२० ॥

अभिनवस्थ्य=नवीनस्थ्य—सेवकस्थ्य—विनयैः=विनम्राचरणैः । प्राशुणिकोक्तैः=देश-  
देशान्तरकथापरेरतिथिवचनैः । विलासिनी=खो ॥ १२१ ॥ महाजनः=जनसमूहः ।  
स्फुरन्तं=कठादोपभीषणमपि । नागेन्द्रं=सर्पम् । वल्मीके=बिले । लघुद्वारेण=सङ्कृचितेन

मारवधः । निष्कामतश्च तस्य महाकायत्वादैववशतया लघुविवरत्वाच्च  
शरीरे ब्रणः समुत्पन्नः । अथ ब्रणशोणितगन्धानुसारिणोभिः पिंपा-  
लिकाभिः भर्वतो व्याप्तो व्याकुलीकृतश्च । कति व्यापादयति ? कति  
वा ताडयति ? । अथ प्रभूतत्वाद्विस्तारितवहुत्रवणाभिः क्षतसर्वाङ्गो-  
ऽतिदर्पः पञ्चत्वमुपागतः । अतोऽहं ब्रवीभि—‘वह्वो न विरोद्धव्याः’—  
इति । ४५.

तदत्रास्ति किञ्चिन्मेव वक्तव्यमेव, तदवधार्य यथोक्तमनुष्टीयताम् ।  
मेघवर्णं आह—‘तत्समादेशय, तावादेशो नान्यथा कर्तव्यः’ । मिथ्र-  
जीवी प्राह—‘वत्स ! समाकर्णय तर्हि सामादीनतिक्रम्य यो मया  
पञ्चम उपायो निरूपितः । तन्मां—विपक्षभूतं कृत्वाऽतिनिरुग्वचनै-  
र्निर्भर्त्य यथा विपक्षप्रणिधीनां प्रत्ययो भवति तथा समाहृतमविग्र-  
गलित्याऽस्यैव न्यग्रोधस्याधस्तायक्षिण्य मां गम्यतां पर्वतमृत्यमृकं  
प्रति । तत्र सपरिवारस्तिपुर, यावदहं समस्तान्सप्तनानुप्रणानेन  
विधिना विश्वास्याऽभिमुख्यान्कृत्वा कृतार्थो ज्ञानदुर्गमध्यं दिवमें  
तानन्धतां प्राप्नान ज्ञात्वा व्यापादयामि । ज्ञानं मया सम्यक्-नान्यथा-  
स्माकं सिद्धिरिति । यतो दुर्गमेतदपमागरहितं केवलं वधाय भविष्यति’ ।  
उक्तव्यं यतः—

अपसारसमायुक्तं नयज्ञे दुर्गमुच्यते ।

अपसारपरित्यकं दुर्गव्याजेन बन्धनम् ॥ १२० ॥

मार्गेण । ब्रणस्य यन्द्योणितं=रुधिरं, तस्य यो गन्धः, तेनानुसरन्ति तच्छीलाभिः । कति=  
कियताः ( कितनी ? ) । प्रभूतत्वात्=पिंपालिकानां बहुत्वात् । क्षतसर्वाङ्गः=विक्षतसर्व-  
शरीरः । पञ्चत्वं=मृत्युम् । अत्र=कर्तव्ये कर्मणि । समादेशय=कथय । अन्यथा कर्तव्यः=  
उलङ्घनीयः । सामादीन्=साम दान-दण्ड-भेदाख्याश्चतुर उपायान् । निरूपितः=स्थिरीकृतः ।  
विपक्षभूतं=शत्रुभूतं, विपक्षप्रणिधीनां—शत्रुगुप्तचराणांम्, प्रत्ययः=विश्वासः । समाहृत-  
रुधिरैः=प्रहारनिष्ठाश्चितः शोणिनैः । आहृतरुधिरैरिति युक्तः पाठः । कृतश्चिदानांनै  
रुधिरैरिति तदर्थः । सप्तलान्=रिपून् । सुप्रणीतेन=सुविचारितेन । अपसारहितं=पला-  
यनमार्गशून्यम् । नयज्ञः=नीतिविद्धिः । दुर्गव्याजेन=दुर्गनामधारकं । बन्धनं=कारागृहम् ॥

१ ‘अनुभितं मया यत्तदीयदुर्गमपसारहितं भविष्यति’ इति पाठो लिखिते ।

न च त्वया मदर्थं कृपा कार्या । उक्तच—

अपि प्राणसमानिषान्पालितङ्गालितानपि ।

भृत्यान्युद्दे समुत्पन्ने पश्येच्छुष्कमिवेन्धनम् ॥ १२१ ॥

तथा च—प्राणवद्रक्षयेऽन्त्यान्त्वकायमिव पोषयेन ।

सदैकदिवसस्याऽर्थं यत्र स्याद्विसङ्गमः ॥ १२२ ॥

न त्वयाऽहं नात्रविपये प्रतिपंधनीयः ।’—इत्युक्त्वा तेन मह-  
शुष्ककलहं कर्तुमागच्छः । अथाऽन्ये अस्य भृत्याः स्थिरजीविनमु-  
च्छुष्कलवच्चनैर्जन्पन्तमवलोक्य तस्य वधायोद्दत्ता मेघवर्णेनाभिहिताः-  
अहा ! निवर्त्तच्च यृग्म्, अहमेवाम्य शत्रुपश्चपातिनो दुग्धमनः-  
म्बयं निघ्रहं करिष्यामि’ । इत्यभिधाय तस्योपरि समारुद्धा, लघुभि-  
श्चुष्कप्रहारसं प्रहृत्य, आहतमधिरेण ध्यावयित्वा, तदुपदिष्टमृत्य-  
मूकपर्वतं मपगिवारं गतः ।

एतमिमनन्तरं कृकालिकया द्विपत्रणिधीभूतया तस्मर्वं मेघव-  
र्णम्याऽमात्यव्यमनमुलूकराजम्य निवेदितं, यत्—तवारिः सम्प्रति  
भीतः कचित्प्रचलितः सपरिवारः’—इति । अथोद्भूकाधिपस्तदाकर्ण्या-  
उस्तमनवेलायां सामात्यः सपरिजनो वायसवधार्थं प्रचलितः । प्राह  
च—‘त्वर्यतां ! त्वर्यतां ! भीतः शत्रुः पलायनपरः पुण्यैर्लभ्यते ।  
उक्तच्च—शत्रोः प्रचलने छिद्रमेकमन्यज्ञ संश्वयम् ।

कुर्वाणो जायते वश्यो व्यग्रत्वे राजसेविनाम्’ ॥ १२३ ॥

एवं त्रुवाणः समन्तानन्यग्रोधपादपमधः परिवेष्टच व्यवस्थितः ।

कृपा=कथमेन प्राणसंशये योजयामीति दया । दृष्टान्=प्रियान् । लालितान्=सन्तोषी-  
नान् ( लाप हुए ) । निर्ममः मन् शुष्कमिन्यनमिव—पश्येत् ॥ १२१ ॥ सदा=सर्वदा.  
रक्षयेत् पोषयेच, एकदिवसस्य=युद्धदिनोपयोगार्थम् । रिपुसङ्गमः=शत्रुसमागमः ॥ १२२ ॥

तेन=मेघवर्णेन । शुष्ककलहं=मिथ्याविवादम् । उच्छुष्कलवच्चनैः=उद्दण्डवाक्यैः । निघ्रहं-  
दण्डं । लघुभिः=अकूरैः । ध्यावयित्वा=समन्ताद्वयासं कृत्वा । द्विपत्रणिधीभूतया=यत्पुरुष-  
चरीभूतया । अमात्यव्यसनं=मन्त्रिणा कलहरूपममात्यव्यसनम् । प्रचलितः=पलायितः ।  
शत्रोरिति । स्थानत्याग एकं छिद्रम्, द्वितीयच्च-नवीनस्थानसंशयरूपं छिद्रं । तदेव  
छिद्रद्वयाच्चत्रुः पलायनपरो वश्यो भवति । राजसेविनाम्=राजपुरुषाणाम् । व्यग्रत्वात्-

वावन्न कश्चिद्द्वायसो दृश्यते, तावच्छाग्याप्रमधिरुद्धो हप्तमना बन्दि-  
भिरभिष्टूयमानोऽरिमद्दनस्तान्परिजनान्प्रोवाच—‘अहो ! ज्ञायतां  
तेपां मार्गः, कतमेन मार्गेण प्रनष्टाः काकाः ?, तद्वावन्न दुर्गं समा-  
श्रयन्ति, तावदेव पृष्ठतो गत्वा व्यापादयामि । उक्तच्च—

वृत्तिमप्याध्रिनः शत्रवध्यः स्याज्जिर्गापुणा ।

किं पुनः संश्रितो दुर्गं सामग्रया परया युतम्’ ॥ १२४ ॥

अथैतस्मिन्प्रस्तावे स्थिरजीवी चिन्तयामास—‘यदेनेऽस्मच्छ-  
त्रवोऽनुपलब्धाम्भद्रूचान्ता यथागतमेव यान्ति, ततो मया न किञ्चि-  
कृतं भवति । उक्तच्च—

अनारम्भो हि कार्याणां प्रथमं दुहिलक्षणम् ।

आरघ्यस्याऽन्तगमनं द्विनीयं दुहिलक्षणम् ॥ १२५ ॥

तद्वरमनारम्भो, न चागस्मभविद्वातः ।—तद्वरमेताव्युक्तव्यं संश्रा-  
व्यात्मानं दर्शयामि । इति विचार्य मन्दं-मन्दं शब्दमकरोन् । तच्छु-  
च्चा ने सकला अप्युत्क्राम्भद्रूधाय जग्मुः । अथ तेनोक्तं—‘अहो !  
अहं स्थिरजीवी नाम मेघवरणम्य मन्त्री मंघवरणेनवेदशीमवस्थां नीतः ।  
तत्रिवेदयतात्मस्वाम्यग्रे । तेन सह बहु वक्तव्यमस्ति ।’ अथ तैनिवे-  
दितः स उत्क्राकराजो विस्मयाविष्टस्त्वणात्म्य (वहुव्रणकिणाङ्कितम्य)  
मकाशं गत्वा प्रोवाच—‘भो भोः ! किमतां दशां गतस्त्वं ? तत्कश्य-  
ताम् !’ स्थिरजीवी प्राह-देव ! श्रूयतां मे प्रतदवस्थाकारणम्—अतीत-  
दिने, स दुरात्मा मंघवरणो युष्मद्व्यापादितान् प्रभूतवायसान् द्रुप्ता  
पूर्वम्यानत्यागनवानस्थानसमाश्रयव्यव्यात् ॥ १२३ ॥ प्रनष्टाः=पलायिताः । वृत्ति-  
अप्टकवृत्तिम् । ( बाढ़ ) । जिगापुणा=विजयाधिना । परया=उत्कृष्टया ॥ १२४ ॥ प्रस्तावे=  
प्रमद्भे । अनुपलब्धो—न जातोऽस्मद्दृचान्तो यैस्ते तथाभूताः । यथागतं=यथैवायातास्त  
यैव । ( ततो न किञ्चित्तत्त्वे नो मैने क्या किया ) । प्रथमं=प्रेष्टम्, आद्यच् । ( सबमें  
पहिले तो ) । अन्तगमनं=समाप्तिः । द्वितीयम्=अपरम् ॥ १२५ ॥

वरं=किञ्चिच्छेष्टम् । एतान्=उत्क्राकान् । आत्मस्वामिनः=उत्क्राकराजस्याग्रे । तेन=  
मवत्स्वामिना मह । ‘युष्मद्व्यापादितप्रभूतवायसानां धीडयेति पाठान्तरे-युष्मद्व्यापादित-

१. ‘चिरजीवी’ पाठः

युप्माकमुपरि कोपशोकग्रस्तो युद्धार्थं प्रचलित आसीन् । ततो  
मयाऽभिहितम्—‘म्वासिन् ! न युक्तं भवतस्तदुपरि गन्तुं, बलवन्न  
पते, बलहीनाश्र वयम् । उक्तच्च—

बलीयसा हीनवलो विरोधं न भूतिकामो मनसापि वौच्छंत् ।

नै बध्यतेऽन्यन्यवलो हि यस्माद्यक्तं प्रणाशोऽस्मित पतङ्गवृत्तेः ॥ १२३ ॥

तत्स्योपायनप्रदानेन सन्धिरेव युक्तः । उक्तच्च—

बलवन्नं रिषुं दृष्टा सर्वस्वमणि बुद्धिमान् ।

दत्त्वा हि रक्षयेत्प्राणान्रक्षितैर्मैर्घ्यं पुनः ॥ १२४ ॥

नन्दित्वा तेन दुर्जनप्रकोपितेन वत्पक्षपातिनं मामाशङ्कमाने-  
नेमां दशां नीतः । न यथ पादौ साम्प्रतं मे शरणम् । किं वहुना  
विज्ञप्तेन,—यावद्वहं प्रचलितुं शक्तोमि, तावत्त्वां तस्याऽउवासे नीत्वा  
सर्ववायसक्षयं विद्यास्यामि’—इति ।

अथाऽरिमर्दनस्तदाकर्ष्य पितृपितामहक्रमागतमन्त्रिभिः सार्थं  
सन्त्रया चक्रे । तस्य च पञ्चमन्त्रिणः तद्वाथा—रैक्ताक्षः, क्रूराक्षः,  
दीपाक्षः, वक्रनाशः, प्राकारकणश्चेति । तत्रादौ रक्ताक्षमपृच्छन्त-  
भद्र ! पप तावत्तस्य रिपोर्मन्त्री मम हस्तगतः, तत्किं क्रियताम ?-  
इति । रक्ताक्ष आह—‘देव । किमत्र चिन्त्यते, अविचारमयं हन्तव्यः । यतः-  
हीनः शकुनिंहन्तव्यो यावत् बलवान्भवेत् ।

प्राप्तस्वपौरुषबलः पश्चाद्द्वयनि दुर्जयः ॥ १२५ ॥

प्रभूनवायसानां—भवद्विरुद्धताना वहनां काकानां, पाढ्या—शोकेनेत्यर्थः । एते=उलूकाः ।

बलीयसेति । अतिवलस्तु बलवत्त्वादेव न वध्यते=पांडयितुं शक्यते । परं हानवलस्तु,  
व्यक्तं=ध्रुवं—वहीं पतङ्गवत्प्रणश्यत्येवेत्यर्थः ॥ १२६ ॥ उपायनस्य=उपहारस्य । प्रदानेन =  
भमर्घेन । ( भेट देकर ) । उपप्रदानेनेत्यपि पाठः । तैः=प्राणः ॥ १२७ ॥

तेन=मेघवर्णेन, ( यावत्=‘जिस समय’ । तावत्=उसी समय ) । तरय=मेघवर्णस्य ।  
आवासे=निवासदुर्गे । पितृपितामहक्रमागतमन्त्रिभिः सार्थं=परम्परा प्राप्तैरमात्यैः सह ।  
अविचारं=विचारं, चिन्तां, सङ्कोचं च विनैव । अविचारितमिति मुद्रितपाठः ।

हीनः=निर्बलः । प्राप्तं स्वं पीरुपं पराक्रमं बलच्च=वीर्यध येनासौ तथाभूतः ॥ १२८ ॥

१ ‘कुर्यात्’ २ ‘न वध्यते वेतसवृत्तिरथैरिति लिखितपुस्तकपाठः शोभनः ।

किञ्च—‘म्वयमुपागताः श्रीस्त्यज्यमाना शपती’ति लोके प्रवादः ।

उच्चाऽ—कालो हि सकृदभ्येति यज्ञरं कालकाङ्क्षिगम् ।

दुर्लभः स पुनस्तेन कालः कर्माऽचिकीर्षता ॥ १२५ ॥

श्रृगते च यथा—

चितिकां दीपिनां पश्य कटां भग्नां ममैव च ।

भिक्षशिष्टा तु या प्रतिर्न सा स्नेहेन वर्धते ॥ १३० ॥

अरिमर्दनः प्राह—कथमेतत् ? ! उत्ताक्षः कथयति—

#### ५ ब्राह्मणमर्पकथा

अस्मि कर्मिश्चिदधिप्राने हरिदत्तो नाम ब्राह्मणः । तस्य च  
कृपिं कुर्वतः सदैव निष्फलः कालोऽनिवर्तते । अथैकस्मिन्दिवसे  
म ब्राह्मण उण्णकालावमाने घर्मार्त्तः विक्षेत्रमध्ये वृक्षच्छायायां प्रसु-  
प्रोऽनतिदूरे वल्मीक्रोपणि प्रसारितवृहत्कटाटोपभीषणं भुजङ्गमं द्वा  
चिन्तयामास—‘नूनमेषा क्षेत्रदेवता मया कदाचिदपि न पूजिता.  
नेनेवं मे कृपिकर्म विफलीभवति, तदस्या अहं पूजामद्य करिष्यामि’  
इत्यवधार्य कुतोऽपि क्षीरं याचित्वा शरावे निक्षिप्य वल्मीकान्तिक-  
मुपागत्योवाच—‘भोः क्षेत्रपाल ! मयैतावन्तं कालं न ज्ञातं यत्त्वमत्र  
वसमि-तेन पूजा न कृता, तत्साम्प्रतं क्षमम्ब’—इत्येवमुक्त्वा दुर्गम्भ  
निवेद्य गृहाभिमुखं प्रायान् । अथ प्रातर्यावदागत्य पश्यति, तावहीनाग-  
श्रीः—शत्रुवधोत्था कार्त्तिविजयलक्ष्मीः । प्रवादः—प्रसिद्धिः । कालः—उत्तिसमयः  
अनुकूलः समयः । सकृत्—एकवारम् । कालकाङ्क्षिगम्—अनुकूलसमयाभिलापिणम् ।  
कर्म—कार्यम् । अचिकीर्षता—कार्त्तमनिच्छता—आलस्याभिभूतेन । कालः—उत्तिकारकः  
कालः । ‘कर्म चिकीर्षते’यपि लिखिते पाठः ॥ १२६ ॥ चितिकां—चितां । कटां—पणां ।  
भग्नाम्—आहतां । भिक्षाम् । भिक्षशिष्टा पूर्वं भिक्षा—नष्टा, पक्षान्—इलिष्टा—संदर्शेषिता ॥ १३० ॥

निष्फलः—अन्नादिपालशून्यः । उण्णकालावसाने—ग्रामत्तुसमाप्तौ वर्षप्रारम्भे ।  
घर्मार्त्तः—आतपार्दितः । प्रसारिता—विस्तारिता या वृहतां कटा, तस्या य आटोपः—आठ  
न्वरः, तेन भाषणं—भयानकम् । भुजङ्गमं—सर्पम् । क्षेत्रदेवता—क्षेत्राधिष्ठानभूतो देवः ।  
क्षारं—दुर्गम् । याचित्वा—भिक्षित्वा । शरावे—मृत्युत्रे । (‘परई’ सराई ) । वल्मीकान्तं—  
बिलसमीपे । साम्प्रतम्—इदानीम् । प्रायात्—भाजगाम । दीनारं—स्वर्णनिष्कम् ।

मेकं शरावे हप्तवान् । एव च प्रतिदिनमेकाकी समागत्य तम्है क्षीरं  
ददाति—एकैकच दीनारं गृहाति ।

अथैकस्मिन्दिवमेवलमीके क्षीरनयनाय पुत्रं निरूप्य ब्राह्मणो  
श्रामान्तरं जगाम । पुत्रोऽपि क्षीरं तत्र नीत्वा संस्थाप्य च पुनर्गृहं  
समायातः । दिनान्तरे तत्र गत्वा दीनारमेकं च दृश्या गृहीत्वा च  
चिन्तितवान्—‘नृनं सौवर्णदीनारपूर्णो वल्मीकः, तदेन हन्ता सर्वमेक-  
वारं ग्रहीत्यामि ।’ इत्येवं संप्रधार्याऽन्येत्रुः क्षीरं ददता ब्राह्मण-  
पुत्रेण सर्वो लगुडेन शिरमि ताढितः ।

ततः कथमपि देववशा! दमुक्तजीवित एव गोपात्तमेव तीत्रविपद-  
शनैस्तथाऽदशन्—, यथा म मद्यः पञ्चत्वमुपागतः । —स्वज्ञनैश्च  
नातिदूरे क्षेत्रस्य काप्त्रम च्छयैः संस्कृतः ।

अथ द्वितीयदिने तस्य पिता समायातः, स्वज्ञनैश्च्यः सुतविनाश-  
कारणं श्रुत्वा तथैव समर्थितवान् । अत्रवीच—

भूतान् यो नाऽनुगृहाति गृहाति शैरणागतान् ।

भूतार्थास्तस्य नश्यन्ति हंसाः पद्मवने यथा ॥ १३१ ॥

पुरुषैस्तत्प्र—‘कथमेतन् ?’ ब्राह्मणः कथयति—

### ६ स्वर्णहंस-स्वर्णपक्षि-राजकथा

अभिति कस्मिन्दिवधिप्रानं चित्ररथो नाम राजा । तस्य योधैः  
मुरद्यमाणं पद्मसरो नाम सरमितपृति । तत्र च प्रभूता जाम्बूनदमया  
हंमामितपृन्ति । पण्मासे पिन्नचमेकैकं परित्यजन्ति । अथ तत्र  
सरसि भौवर्णो वृहत्पक्षी समायातः । तैश्चोक्तः—‘अस्माकं मध्ये त्वया  
(मोहर) : निरूप्य=नियुज्य । सौवर्णदीनारपूर्णः=स्वर्णमुदापृतिः । एन्स=सर्पम् ।  
सम्प्रधार्य=निश्चित्य । अमुक्तजीवितः=न मृतः । तमेव=ब्राह्मणपुत्रमेव । तथैव  
भमवितवान्—‘इष्टेन स्वर्कर्मणः फलमासादितः’ मित्रेवं समवितवान् । भूतान्=जीवान् ।  
आत्मायानितिन् प्रकृतानुगुणोऽर्थः । न अनुगृहाति=तेषु दयां न कुरुते । तानुपेक्षते ।  
भूतार्थः=सिद्धान्त्यपि कार्याणि । योधैः=भट्टः (सिपाही) । जाम्बूनदमया=

१ ‘ब्रात्मनः शैरणागतान्’ इति मुद्रितः पाठः ।

न वस्तव्यं । येन कारणेनास्माभिः पण्मासान्ते पिञ्छैकैकदानं कृत्वा गृहीतमत्स्मरः । १ एव च कि वहुना-परस्परं द्वैधमुत्पन्नम् । स च राजा: शरणं गतोऽब्रवीत्—‘देव ! एते पश्चिम एवं वदन्ति,—‘यद्माकं गजा कि करिष्यति ?—न कम्यायावामं दद्यः’ । मया चोक्तम्—‘न शोभनं युप्माभिरभिहितम्, अहं गत्वा राज्ञे निवेदयिष्यामि—’इति । एवं स्थिते देवः प्रमाणम् ।’

ततो राजा भूत्यानव्रीति—‘भो भोः । गच्छत ! सर्वान्पश्चिमां गतामृन्कृत्वा शीघ्रमानयत ।’ राजावेदान्तरमेव प्रचेतुस्ते । अथ लगुड्हस्तान्नराजपुरुपान्दप्त्वा तत्रैकेन पश्चिमा ब्रह्मेनोक्तम्—‘भोः स्व-जनाः । न शोभनमापन्तितम् । ततः सर्वैरेकमतीभूत्य शाश्रमुत्पन्नितव्यम नैश्च न शानुष्टितम् । अतोऽहं ब्रवीमि—‘भूतान्यो नानुगृह्णाति—’इति ॥

—इत्युक्त्वा पुनरपि ब्राह्मणः प्रत्यूपं क्षीरं गृहीत्वा तत्र गत्वा तारस्वरेण सर्पमस्तौन् । तदा सर्पश्चिरं वल्मीकद्वारान्तर्लीन एव ब्राह्मणं प्रत्युवाच—‘त्वं लोभादत्रागतः पुत्रशोकमपि विदाय, अतः परं तव मम च प्रीतिर्नोचिता, तव पुत्रेण यौवनोन्मदेनाहं ताडितः, मया स दप्तः । कथं मया लगुड्हवारो विभूत्वा च पुत्रशोकदुःखं कथं विभूत्वा च ? । इत्युक्त्वा वहुमूल्यं हीरकमणि लभ्ये दत्त्वा—‘अतः परं पुनस्त्वया नागन्तव्यम्’—इति पुनरुक्त्वा विवरणतर्गतः । ब्राह्मणश्च मणिं गृहीत्वा पुत्रबुद्धिं निन्दन्मवगृहमागतः । अतोऽहं ब्रवीमि—‘चितिकां दीपिकां पश्य—’इति । ॥

तदस्मिन्हतेऽयनादेव राज्यमकण्टकं भवतो भवति ।’ तम्यैत-स्वर्णमयाः । पिञ्छः—पश्चम् । गृहीतं—शुल्केन गृहीतम् । (भावे पर या मोल ले—रखा है) । द्वैधं—विवादः । ( शगडा ) । स च—वृहत्पक्षी च । देवः—मवान् । प्रगाणं—निर्णेता गतामृन्—शृतान् । ते—भूत्याः । एकमतोभूत्य—एकं मतं कृत्वा । तथानुष्टितम्—उत्पत्तिनाः । (‘उड गए’) । प्रत्यूपे—प्रभाते । तत्र—सर्पविलम्बीपे । तारस्वरेण—उच्चःशब्देन । वल्मीक-द्वारान्तर्लीनः—बिलद्वारमध्यस्थो निगृह एव । यौवनोन्मदेन=यौवनशब्ददप्तिनेन ।

अस्मिन्—स्थिरजीविनि शत्रुमन्त्रिणि । अयलात्—अप्रयासात् । अकण्टकं—कण्टकशृन्यं,

द्वचनं श्रुत्वा क्रृष्णं पप्रच्छ—‘भद्र ! त्वं तु किं मन्यसे ?’ सोऽब्रवीन्—  
‘देव ! निर्दयमेत्यदनेनाभिहितम् । यन्करणं—‘शरणागतो न वध्यते’  
सुप्तु खलिवद्माख्यानम्—

श्रृंगते हि कपोतेन शत्रुः शरणमागतः ।  
पृजिनश्च यथान्यायं स्वेच्छं मास्यनिमन्त्रितः ॥ १३२ ॥  
अरिमर्दनोऽब्रवीन्—‘कथमेतत् ?’ क्रृष्णः कथयति—

### ७. रुषोत्तरुद्धयककथा

कश्चित्कुद्रसमाचारः प्राणिनां कालसञ्चिभः ।  
विचचार महारथे धारः शकुनिलुध्यकः ॥ १३३ ॥  
नेव कश्चित्सुहृत्स्य न सम्बल्या न बान्धवः ।  
म तैः सर्वैः परित्यन्तस्तेन रौद्रेण कर्मणा ॥ १३४ ॥  
प्रथमा—ये लृशंसा दुरामानः प्राणिनां प्राणनाशकाः ।  
उद्गेजनाया भूतानां व्याला इव भवन्ति ते ॥ १३५ ॥  
स पञ्चरकमादाय पाशज्ञ लगुडं तथा ।  
नित्यमेव वनं यानि सर्वप्राणिविहिसकः ॥ १३६ ॥  
अन्येत्रुञ्जयमतस्तस्य वने कापि कपातिका ।  
जाता हस्तगता तां स प्राक्षिपन्पञ्चरान्तरे ॥ १३७ ॥  
अथ कृष्ण दिशः सर्वा वनस्थस्याऽभवन्धनैः ।  
वातवृष्टिश्च महती क्षयकाल इवाऽभवत् ॥ १३८ ॥  
ततः स व्रस्तहृदयः कम्पमानो मुहुर्सुहुः ।  
अन्वेषयन्परित्राणमाससाद् वनस्पतिम् ॥ १३९ ॥  
मुहुर्नैं पंश्यते यावद्वियद्विमलतारकम् ।  
प्राप्य वृक्षं वदत्येवं ‘योऽत्र तिष्ठति कश्चन—॥ १४० ॥

शत्रुरहित । तम्य=रक्ताक्षस्य । यत्वारणम्=अनांचित्ये हेतुः । ( क्यों कि ) । आख्यान=कथा । निमन्त्रितः=भोजितः । कुद्रसमाचारः=नीचवृत्तिः । शकुनिलुध्यकः=पक्षिवन्धकः ।  
। वहेलिया । रौद्रेण=क्रृष्ण । उद्गेजनाया:-उद्गेजनकाः । व्यालाः=हिस्तजन्तवः ।  
पञ्चरथं=पञ्चरं ( पिञ्चरा ) । धनैः=मेघैः । वातवृष्टिः=सवाता वृष्टिः । क्षयकालः=प्रलयः,  
॥ १३८ ॥ परित्राणं=रक्षास्थानम् । वनस्पतिं=वृक्षम् । विमलतारकं=स्पष्टनक्षयम् ।

१ ‘यावदास्ते मुहुर्त्तेंकं वियद्विमलतारकम् ।

स तु प्राप्याऽवदहृच्या देवता शरणं मम’ । इति पा० ।

तस्याहं शरणं प्राप्तः स परित्रातु मामिति ।  
 शीतेन भिद्यमानं च क्षुधया गतचेतसम् ॥ १४१ ॥  
 अथ तस्य तरोः स्कन्धे कपोतः सौचिरोषितः ।  
 भार्याविरहितस्तिष्ठन्विललाप सुदुःखितः ॥ १४२ ॥  
 'वानवर्णो महानासीश चाऽगच्छानि मे प्रिया ।  
 तया विरहितं ह्येतच्छन्यमय गृहं मम ॥ १४३ ॥  
 पतिव्रता पतिप्राणा पन्थुः प्रथहिते रता ।  
 यस्य स्यादादर्शी भार्या धन्यः स पुरुषो भुवि ॥ १४४ ॥  
 न गृहं गृहमित्यादुर्गृहिणी गृहमुच्यते ।  
 गृहं हि गृहिणीर्हानमरण्यसदृशं मतम् ॥ १४५ ॥  
 पञ्चरम्या ततः श्रुत्वा भर्तुर्दुःखान्वितं वचः ।  
 कपोतिका सुसन्तुष्टा वाक्यब्लेदमयाऽहसा ॥ १४६ ॥  
 'न सा छन्त्यभिमन्तव्या येस्यां भर्ता न तुष्यति ।  
 तुष्टे भर्तरि नारीणां तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः ॥ १४७ ॥  
 द्रावाञ्जिना विद्ययेव सपुष्पमन्तव्यका लता ।  
 भस्मीभवतु सा नारी येस्यां भर्ता न तुष्यति ॥ १४८ ॥  
 मितं ददाति हि पिता मितं आता मितं सुतः ।  
 अमितस्य हि दानारं भर्तारं का न पृजयेत् ॥ १४९ ॥  
 पुनश्चावर्वान् ॥ 'शृणु व्याऽवहितः कान्त ! यत्ते वक्ष्यास्यहं हितम् ।  
 प्राणेरपि त्वया नित्यं संरक्ष्यः शरणागतः ॥ १५० ॥  
 एष शाकुनिकः शेते तवावासं समाश्रितः ।  
 श्रीनार्तश्च क्षुधार्तश्च पृजामस्मै समाचर ॥ १५१ ॥

पितृ=गगनं । मुहूर्त्ते=क्षणं यावत् । पश्यते=पश्यति । छान्दमः प्रयोगः । अव=वृद्धः ।  
 गनयेनम्=आनन्दितम्, इति अब्दोऽत्रैव योज्यः ॥ १४१ ॥

**सुचिरोषितः**=चिरकालान्त्रितसन् । विलापमेवाह—वातेति । आमीत=अभवत ।  
 गृहिणी एव—गृहम्, नेष्टकादिरचितं वस्तुतो गृहमिति भावः । तदेव स्पष्टयति—  
 गृहमिति ॥ १४५ ॥ **द्रावाञ्जिद्ययेव**=अरण्यानलदण्येव : यथा पुष्पाः द्रव्युतापि वहा  
 दण्डग्रहा न शोभते, एवं भर्तुरप्रियाऽपि नारत्यर्थः । स्तवकः=गुच्छकः ॥ १४६ ॥

मितं=परिमितम् । अवहितः=सावधानः । संरक्षयः=संरक्षणीयः । आवासं=

१ 'सुपिरोषित' इति लिखिते पाठः स च सुन्दरः । सुपिरं=कोटरम् ।  
 २ 'यस्या' इति पाठ ।

श्रयते च-- यः सायमतिथि प्रासं यथाशक्ति न पूजयेत् ।

तस्यासौ दुष्कृतं दत्त्वा सुकृतं चापकर्त्ति ॥ १५२ ॥

मा चाऽस्मै त्वं कृधा द्वैपं बद्धाऽनेनेति मध्यिया ।

स्वकृतैरेव बद्धाऽहं प्राक्तनः कर्मवन्धनैः ॥ १५३ ॥

यतः--द्वारिद्वारोगदुःखानि बन्धनव्यसनानि च ।

आत्मापराधवृक्षस्य फलान्येतानि देहिनाम् ॥ १५४ ॥

तस्मात्वं द्वैपमुख्यं महान्धनसमुद्धवम् ।

धर्मे मनः समाधाय पूजयनं यथाविधि' ॥ १५५ ॥

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा धर्मयुक्तिसमन्वितम् ।

उपगम्य ततोऽधृष्टः कपोतः प्राह लुभ्यकम् ॥ १५६ ॥

‘भद्र ! मुस्त्रागत तेऽस्तु ब्रह्म किङ्करवाणि ते ? ।

सन्तापश्च न कर्तव्यः स्वगृहे वर्तते भवान्’ ॥ १५७ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच विहङ्गहा ।

‘कपोत ! खलु शान्तिं मे हिमत्राणं विदीयताम्’ ॥ १५८ ॥

स गत्वाऽङ्गारकं नीत्वा पातयामास पावकम् ।

ततः शुष्केषु पण्डेषु तमाङ्गु समदीपयत् ॥ १५९ ॥

मुसन्धीसं ततः कृत्वा तमाह शरणगतम् ।

‘सन्तापयस्व विश्रद्धं स्वगात्राण्यथ निर्भयः ॥

न चास्ति विभवः कश्चिक्षाशये येन ते क्षुधम् ॥ १६० ॥

सहस्रं भरते कश्चिच्छतमन्यो दशापरः ।

मम त्वकृतपुण्यस्य क्षुद्रस्यात्मापि दुर्भरः ॥ १६१ ॥

एकस्याण्यतिथेरक्षं यः प्रदातुं न शक्तिमा ।

तस्याऽनेकपरिक्षेशो गृहे किं वसनः फलम् ? ॥ १६२ ॥

गुह्यं, वृक्षध । असौ=अतिथिः । दुष्कृतं=पापम् । मुकृतं=पुण्यम् ॥ १५२ ॥

प्राक्तनैः=पूर्वोपाजितैः । बन्धनं=कारागारादिबन्धनम् । व्यभनं=विपत्तिम् । आत्मनः-अपराध एव वृक्षस्तस्य पतानि फलानि ॥ १५४ ॥ एनं=शाकुनिकम् । अधृष्टः=विर्णातः । ‘धृष्ट’ इति पाठे निर्भय इत्यर्थः । स्वगृहे=आत्मन एव गृहे । हिमत्राणं=द्योतरक्षा । मः=कपोतः । शुष्केषु पण्डेषु पावकं=वहिं । पातयामास=निनिक्षेप । तं=वहिम् ॥ १५९ ॥

सन्तापयस्व=वहिना तापय (‘तप लंजिप’) । विश्रद्धं=सविश्वासम् । विभवः=धनम्, अक्षादि च । क्षुधं=युमुक्षाम् ॥ १६० ॥ भरते=पालयति । क्षुद्रस्य=निष्क्रिधनस्य ।

? ‘धृष्टः’ पा० । २ ‘स गत्वाऽङ्गारकमान्तमानयामास पावक’मिति लिखितःपाठः लुन्द्रः । अङ्गारकमान्तं=महानसम् ।

तत्त्वा साधयाम्येतच्छर्वरं दुःखजीवितम् ।  
 यथा भूयो न वक्ष्यामि नास्तीत्यर्थिसमागमे ॥ १६३ ॥  
 स निर्वान्नद किलात्मानं न तु तं लुभ्यकं पुनः ।  
 उवाच-'तपेयिष्ये त्वां मुहूर्तं प्रतिपालय' ॥ १६४ ॥  
 एवमुक्त्वा स धर्मात्मा ग्रहेणान्तरात्मना ।  
 तमग्नि सम्परिक्रम्य प्रविवेश स्ववेदमवत् ॥ १६५ ॥  
 नतस्तं लुभ्यको दृष्टा कृपया पीडितो भृशम् ।  
 कपोतमग्नौ पांतनं वाक्यमेतद्भापत ॥ १६६ ॥  
 'यः करोति नरः पापं न तस्यात्मा ध्रुवं प्रियः ।  
 आन्मना हि कृतं पापमान्मनं व हि भुज्यते ॥ १६७ ॥  
 सोऽह पापमतिश्चैव पापकमरेतः सदा ।  
 पतिष्यामि महाधोरे नरके नाड्र संशयः ॥ १६८ ॥  
 नन् सम वृशंसस्य प्रल्यादर्शः प्रदर्शितः ।  
 प्रयच्छता स्वमांसानि कपोतेन महात्मना ॥ १६९ ॥  
 अद्य प्रभृति देहं स्वं सर्वभोगविवर्जितम् ।  
 तोयं स्वल्पं यथा ग्रीष्मे शोणिष्याम्यहं पुनः ॥ १७० ॥  
 शीतवातानपसहः कृशाङ्गो मलिनस्तथा ।  
 उपवासेर्वहुविधैश्चरिष्ये धर्मसुत्तमम् ॥ १७१ ॥  
 ततो यद्धि शलाकां च जालकं पञ्चरं तथा ।  
 बभञ्ज लुभ्यको दीनां कपोतीङ्गे मुमोच ताम् ॥ १७२ ॥  
 लुभ्यकेन ततो मुक्ता दृष्टाऽग्नौ पतितं पतिम् ।  
 कपोती विललापाऽर्ता शोकसन्तसमानसा ॥ १७३ ॥  
 'न कार्यमद्य मे नाथ ! जीवितेन त्वया विना ।  
 दीनायाः पतिर्हीनायाः किं नार्या जीविते फलम् ? ॥ १७४ ॥  
 मानो दर्पस्वहङ्कारः कुलपूजा च बन्धुपु ।  
 दासभृत्यजनेष्वाज्ञा वैधव्येन प्रणश्यति' ॥ १७५ ॥

आत्माऽपि=स्वशरीरमपि । अनेकपरिक्लेशे=नानाक्लेशसंयुते । किं फलं=न किमपि  
 फलमित्यर्थः ॥ १६२ ॥

तत्=तस्मात् । तथा साधयामि=तथा करोमि । मरिष्यामीति यावत् । दुःखं जीवितं=जीवनं  
 यस्य तत्त्वाभृतम् । वक्ष्यामि=कथयिष्यामि । अर्थिसमागमे=याचकसङ्गमे, तत्सङ्गी ॥ १६३ ॥

अग्निं प्रविवेश=तत्रात्मानं जुहाव । भ्रुवम्=अवश्यमेव । प्रत्यादर्शः=निदर्शनम् ।  
 (नमूना) ॥ १६४ ॥ चरिष्ये=आचरिष्यामि ॥ १७१ ॥ आर्ता=पीडिता । मानः=दर्पः । अह-

एवं विलभ्य बहुशः कृपणं भृशदुःखिता ।  
 पतिव्रता सुसन्दीसं तमेवाऽभिं विवेश सा ॥ १७६ ॥  
 ततो दिव्याऽस्वरधरा दिव्याभरणभूषिता ।  
 भर्तारं सा विमानस्थं ददर्श स्वं कपोतिका ॥ १७७ ॥  
 सोऽपि दिव्यननुभूत्वा यथार्थमिदमवर्णत् ।  
 'अहो मामनुगच्छन्त्या कृतं साधु शुभे ! त्वया ॥ १७८ ॥  
 तिस्त्रः कोद्योऽर्धकोटी च यानि रोमाणि मानुषे ।  
 तावन्कालं वसेत्स्वर्गे भर्तारं यानुगच्छति' ॥ १७९ ॥  
 कपोतदेहवस्त्राऽसीत्याक्षुण्यप्रभवं हि तत् ॥ १८० ॥  
 शोकानिष्टस्तनो व्याधो विवेश च वर्णं घनम् ।  
 प्रागिहिंसां परित्यज्य बहुनिर्वेदवान्मृशम् ॥ १८१ ॥  
 तत्र दावानलं दृष्टा विवेश विरताशयः ।  
 निर्देशकलमयो भूत्रा स्वर्गसौष्ठुमवासवाल् ॥ १८२ ॥  
 अतोऽहं त्रिवीमि—'श्रूयते हि कपोतेन'—इति । १८३

नच्छ्रुत्वाऽपिमर्दनो दीपाक्षं प्रप्रवान्—'एवमवस्थिते किं भवा-  
 नमन्यते ? । सोऽवीन्—'देव ! न हन्तव्य एवायम् । यतः--  
 या ममोऽद्विजते नित्यं सा मामद्याऽवगृहते ।  
 प्रियकारक ! भद्रन्तं यन्ममास्ति हरस्व तत् ॥ १८३ ॥

### चौरेण चाप्युक्तम्—

'हर्तव्यं ते न पश्यामि हर्तव्यं चेद्विव्यति ।  
 पुनरप्यागमिष्यामि यदीयं नावगृहते' ॥ १८४ ॥

क्रारः=अभिमानः । कुलपूजा=माङ्गलिकाग्रपूजा, स्वजनेषु सत्कारश्च ॥ १७५ ॥ कृपणं=शनं—  
 यथास्यात्तर्थेतिक्रियाविशेषणम् । सः=कपोतः । दिव्यतनुः=दिव्यत्वपुः । शुभे=शोभने । ।  
 मानुषे=मनुष्यशरीरे । अनुगच्छति=सह याति । (सतो होती है) ॥ १७६ ॥ सा=कपोती ।  
 प्राक्षुण्यप्रभवम्=अतिथिसत्कारपुण्यजम् । तत्र=सुखम् ॥ १८० ॥ निर्वेदः=पश्चात्तापः ।  
 तत्र=त्रने । दावानलं=वनानलं । विरताशयः=विरक्तमानसः । निर्देशकलमपः=विशूतपापः ॥ १८२ ॥ अयम्=शत्रुमन्त्री । उद्विजते=उद्विग्ना भवति, (चिङ्गती है) । अवगृहते=आभिभूति । भद्रं=शुभम् । इय=तत्र पलां । यदि नावगृहते=यदि त्वा नालिङ्गति ॥ १८४ ॥

? 'स्वर्योत्ता' इति केचित्पठन्ति ।

अरिर्मद्दनः पृष्ठवान्—‘का च नावगृहते, ? कश्चायं चौरः ?—  
इति विस्तरतः श्रोतुमिन्द्रामि ।’ दीप्राक्षः कथयति—

### ८. चौरबृद्धवणिग्रधुकथा

अमित कम्भिर्विदधिप्राणे कामातुरो नाम बृद्धवणिक् । तेन च  
कामोपहतचेतसा मृतभायेण काचिन्निर्घनवणिक्मुता प्रभूतं धनं  
दत्वाद्वाहिना । अथ सा दुःखाभिभूता तं बृद्धवणिजं दृष्टुमपि न  
शशाक । युक्तच्छैतन—

श्रेतं पदं शिरसि यत्त शिरोरुहाणां स्थानं परं परिभवस्य तदेव पुंसाम् ।  
आरोपिताऽस्थिशकलं परिहत्य यान्ति चाण्डालकूपमिव दृश्यते तरुणः ॥ १४५ ॥  
तथा च—गात्रं सङ्कृचितं गनिर्विगलिता दन्ताश्च नाशज्जना  
दृष्टिर्भ्राम्यति रूपमप्युपहतं वक्त्रं लालायते ।  
वाक्यं नैव करोति वान्धवजनः पत्नी न शुश्रृपते  
धिकष्टं जरयाऽभिभूतुरुपं पुत्राऽप्यवज्ञायते ॥ १४६ ॥

अथ कदाचित्सा तेन महैकश्याने परगङ्गाश्च यावन्निष्टुति.  
नावद्वृहे चौरः प्रविष्टः । माऽपि नं चौरं हृष्टा भयव्याकुलिना बृद्ध-  
मपि नं पतिं गाढं समालिलङ्ग । मोऽपि विम्मयान्पुलकाच्छिनमर्च-  
गात्रश्चिन्तयामास—‘अहो ! किमेषा मामयाऽवगृहते ? । यावन्निषुग्नया  
पद्धति, नावद्वृहकोणैकदेशे चौरं हृष्टा व्यचिन्तयत्—‘नूनमेषाऽप्य  
भयान्मामालिङ्गति’ । इति ज्ञात्वा तं चौरमाह—

‘या ममोद्विजते निव्यं सा मामयाऽवगृहते ।

प्रियकारक ! भद्रं ते यन्ममास्ति हरस्व तत्’ ॥ १४७ ॥

कामोपहतचेतसा=कामातुरेण । मृतभायेण=मृतपक्षीकेन । उद्वाहिना=विवाहिना ।  
दुःखाभिभूता=दुःखिता । श्वेतमिति । शिरसि केशानां श्वेतानां यत्थानं तदेव पुंसामप  
मानरथानम् । यथा आरोपितास्थिश्वणं चाण्डालकूपं लोका दृश्यतः परिहरन्ति, तथा  
नरुणोपि पलितकेशं पुरुषं दृश्यतः परिहरन्ति । अत्रश्वेतकेशास्थिश्वणयोः श्वेतेन मान्यम् ।  
चाण्डालकूपेषु अस्थिश्वणं परिचयाय वध्यते स्मेति प्रसिद्धिः ॥ १४८ ॥ गात्रं=वपुः ।  
विगलिता=विकलतां गता । इष्टिः=लोचनम् । उपहतं=नष्टम् । लालायते=  
लालाविलं भवति । शुश्रृपते=सेवते ॥ १४९ ॥ तेन=बृद्धवणिजा । तिष्ठति=स्वपिति ।

१. इयं कथाऽदलीलत्वात् । श्वेतमध्यमपरीक्षापाठांश्ववहिर्भूता ।

तच्छ्रुत्वा चौरोऽप्याह-

‘हर्तव्यन्ते न पश्यामि हर्तव्यं चेद्गविष्यति ।

पुनरप्यागमिष्यामि यदीयं नाऽवगृहते’ ॥ १८८ ॥

तस्माच्चारम्भ्यायुपकारिणः श्रेयश्चिन्त्यते, किं पुनर्न शरणागतम्य ।  
अपि चाऽयन्तैर्विप्रकृतोऽस्माकमेव पुष्टये भविष्यति, तदीयरन्ध्रदर्शनाय चेत्यनेककारणेनायमवध्यः’—इति ।

प्रतदाकर्णीरिमर्दनोऽन्यं सचिवं वक्रनामं पप्रच्छ—‘भद्र ! माभ्रत-  
मेवं स्थिते किं कर्तव्यम् ? । मोऽत्रवीत्—‘देव ! अवध्योऽयम्’ । यतः—

‘शत्रुवोऽपि हिनायैव विवदन्तः परस्परम् ।

चौरेण जीवितं दत्तं राक्षसेन तु गोयुगम्’ ॥ १८९ ॥

अरिमर्दनः प्राह—‘कथमेतन् ?’ । वक्रनामः कथयति—

### ९. ब्राह्मणचौरपिशाचकथा

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने दरिद्रो द्रोणनामा ब्राह्मणः प्रतिग्रह-  
धनः, सततं विशिष्टवस्त्रानुलंपनगन्धमाल्यालङ्घारताम्बूलादिभोग-  
परिवर्जितः प्ररुदकेशश्चमथ्रुनव्यरोमोपचिनः शीतोष्णवातवर्षादिभिः  
परिशोपितशरीरः । तस्य च केनापि यजमानेनाऽनुकम्पया शिशुगो-  
युगं दत्तम् । ब्राह्मणेन च वालभावादारभ्य याचितघृतैलयवसादिभिः  
मंवदर्श्य सुपुष्टं कृतम् । तच्च दृष्टा सहस्रैव कश्चिच्चौरश्चिन्तितवान्—  
‘अहमस्य ब्राह्मणम्य गोयुगमिदमपहरिष्यामि’—इति निश्चित्य निशायां

---

पुलकाचितसर्वगतः=रोमाधितसकलशरीरः । निपुणतया=सावधानतया ( अच्छा  
तरह से ) ॥ १९७ ॥ श्रेयः=कल्याणम् । तैः=वायसैः । विप्रकृतः=प्रको-  
पितः । पुष्टये=लाभाय, बलाय च । तदीयरन्ध्रदर्शनाय=शत्रुञ्जिद्रम् चनाय  
गोयुगं=वृषभद्रयम् ( वैलक्षी लोही ) ॥ १९९ ॥

प्रतिग्रहधनः=भिश्वाशनः । विशिष्टानिः=महार्द्दिणि-वस्त्राणि, अनुलेपनम्=अङ्गरागादि,  
गन्धः=कुसुमाद्यामोदः, ( इत्र ) । माल्यं=माला, अलङ्घः=भूषणं, ताम्बूलादिकथ, तेषां भोगः,  
उपभोगः, तेन परिवर्जितः=रहितः । प्ररुदः=वृद्धः—केशश्चमथ्रुवरोमभिः—उपचितः=  
न्यासः । शीतोष्णवातवर्षादिभिः=शीतोष्णादिदर्श्वः । परिशोपितशरीरः=शुष्कनाशः ।

वन्धनपाशं गुहीत्वा यावत्प्रमिथितस्तावदर्धमार्गं प्रविरलतीक्षणदन्त-  
पड़क्तिमन्तनामावंशः, प्रकटरक्तान्तनयन, उपचितम्भायुसन्ततगात्रः.  
शुष्ककपोलः, सुहुतहुतवहपिङ्गलश्मशुकेशशरीरः कश्चिद् हृष्टः ।

हृष्टा च तं तीव्रभयत्रस्तोऽपि चौरोऽव्रवीन्—‘को भवान्’ ?  
इति । स आह—‘मत्यवचनोऽहं ब्रह्मराक्षसः । भवानप्यात्मानं निवे-  
दयतु ।’ सोऽव्रवीन्—‘अहं कृकर्मा चौरो द्विद्वाव्याणस्य गोयुगं हर्तुं  
प्रमिथितोऽस्मि ।’ अथ जातप्रत्ययो गङ्गासोऽव्रवीन्—‘भद्र ! पष्टान्न-  
कालिकोऽहम् । अनम्भमेव ब्राह्मणमद्वा भक्षयिष्यामि । तत्मुन्द्रमिदम्-  
एककार्यावेचावाम ।’

अथ नौ तत्र गत्वैकान्ते कालमन्वयन्तौ स्थिनौ । प्रमुखं च  
त्राव्याणे नद्धक्षणार्थं प्रमिथितं राक्षसं हृष्टा चौरोऽव्रवीन्—‘भद्र ! नैप  
न्यायः, यनो गोयुगे मया पढ़ते पश्चात्त्वमेनं त्राव्याणं भक्षय ।’

सोऽव्रवीन्—‘कदाचिदित्यं त्राव्याणो गोशव्वदेन त्रुध्येत, तदानर्थकोऽज्ञं  
ममारस्भः स्यान् ।’ चौरोऽव्यव्रवीन्—‘तवापि यदि भक्षणायोपमिथित-  
स्यान्तरे एकोऽप्यन्तरायः स्यान् । तदाहमपि न शक्नोमि गोयुगम-  
पहर्तुम्,—अतः प्रथमं मया हृते गोयुगे पश्चात्त्वया त्राव्याणो भक्षयि-  
तव्यः ।’ इत्थं चाहमहमिकया तयोर्विवदतोः समुत्पन्ने द्वैर्धं प्रतिरक्ष-  
—

अनुकम्पया=दयया : शिशुगोयुगं=गोवत्सयुगलं । बालभावात्=वाल्यात् । यवम्=घासः  
( भूमा ) । वन्धनपाशं=गोबन्धनरङ्गज्ञम् ।

अर्धमार्गं=मध्येमार्गम् । प्रविरला=सावकाशा, ताक्षण=निश्चिता दन्तानां पड़क्ति:-  
त्रेणियस्यासौ तथाभूतः । उच्चतो नामावंशो यस्यासौ तथाभूतः=प्रोक्ततनासिकादण्डः ।  
प्रकटे=स्फुटे । रक्तान्ते=रक्तप्रान्ते । नयने=लोचने यस्यासौ तथाभूतः । ( ‘उभड़ा हुड़  
बड़ी २ लाल आंखों बाला ।’ ) उपचितैः=रथूलः । रनायुभिः=नाडीभिः । सन्तकं गावं  
यस्यासौ तथाभूतः । सुहुतो यो हुतवहः=अधिः, तद्वत् पिङ्गलं इमशुकेशशरीरं यस्यासौ  
तथाभूतः । कश्चित्=सत्त्वविशेषः ( कोई जीव, भूत । ) तीव्रभयत्रस्तः=प्रगाढ़भयाकुलः ।  
जातप्रत्ययः=जातविश्वासः । षष्ठेऽज्ञकाले चरति—पष्टान्नकालिकः=दिनपट्केन बुमुक्षिनः ।  
तत्र=ब्राह्मणगृहे । कालम्=अवसरम् । अन्तरे=पर्ये । अतरायः=विघ्नः । अहमहमि-

वशाद्राघणो जजागार । अथ तं चौरोऽब्रवीन्—‘ब्राह्मण ! त्वामेवायं गङ्कसो भक्षयिनुमिच्छति—’इति । राक्षसोऽव्याह—‘ब्राह्मण ! चौरोऽयं गोयुगन्तेऽपहर्तुमिच्छति ।’एवं श्रुत्वात्थाय ब्राह्मणः सावधानो भूत्वेष्टदेवनामन्त्रयानेनात्मानं राक्षसादुर्धूर्णलगुडेन च चौराद्रोयुगं गरम्भ । अतोऽहं ब्रवीभि—‘शत्रवोऽपि हितायैव—’इति । ❁

अथ नस्य वचनमवधार्याऽरिमर्दनः पुनरपि प्राकारकर्णमपृच्छन्—‘कथय किमत्र मन्यते भवान् ?’ सोऽब्रवीन्—‘देव ! अवध्य एवायम्’ ।—यतो रक्षितंनानेन कदाचित्परम्पर्यग्रीत्या कालः सुखेन गच्छति । उक्तच्च-

परस्परम्य मर्माणि ये न रक्षन्ति जन्तवः ।  
न एव निधनं यान्ति वल्मीकोदरसर्पवन् ॥ १९० ॥

अरिमर्दनोऽब्रवीन्—‘कथमेतत् ?’ प्राकारकर्णः कथयति—

### १० वल्मीकोदरसर्पकथा

अस्मि कस्मिन्द्विनगरे देवशक्तिर्नाम राजा । तस्य च पुत्रो जठर-वल्मीकाश्रयेणोरगेण प्रतिदिनं प्रत्यङ्गं श्रीयते । अनेकोपचारैः मद्वेशैः सञ्चास्योपदिष्टोपश्युक्त्यापि चिकित्स्यमानो न स्वास्यमाप्नानि । अथासौ राजपुत्रो निर्वेदादेशान्तरं गतः । कस्मिन्द्विनगरे-भिक्षाटनं कृत्वा महति देवालये कालं यापयति ।

अथ तत्र नगरे वल्लिर्नाम राजास्ते, तस्य च द्वे दुहितरौ यौवनम्ये तिष्ठतः । ते च प्रतिदिवसमादित्योदये पितुः पादान्तिकमागत्य नमम्कारं चक्रनुः । तत्र चैकाऽब्रवीत्—‘विजयस्व महाराज ! यस्य प्रमादात्सर्वं सुखं लभ्यते ।’ द्वितीया तु ‘विहितं भुद्भूव महाराज !—कथा—अहं पूर्वमहं पूर्वमिथेवम् । द्वैषे=विरोधे । प्रनिरवः=कोलाहलः । जजागार=जागस्ति स्म । राक्षसात्—मन्त्रेणात्मानं रक्षितवान् । लगुडेन चौरादृष्टभयुगं रक्षितमित्यर्थः । उदगृणंलगुडेन=उथनेन लगुडेन । मर्माणि=रहस्यानि । निधनं=मरणम् ॥ १९० ॥

जठरवल्मीकाश्रयेण=उदररूपविलसितेन । उरगेण=सर्पेण । प्रत्यङ्गं=सर्वेष्वज्ञेषु । निवेदात्=ओदासान्यात्खेदादा । यौवनस्थे=युवती । ते=युवती । पादान्तिकं=नरणसमाप्तम् ।

इति ब्रवीति । तच्छ्रुत्वा प्रकुपितो राजाऽब्रवीत्—‘भो मन्त्रिन् ! एनां दुष्टभाषिणीं कुमारिकां कस्यचिद्दैशिकस्य प्रयच्छ, येन निजविहितमियमेव भुद्धने ।

अथ ‘तथा’इनि प्रतिपद्य—अल्पपरिवारा सा कुमारिका मन्त्रभिस्तस्य देवकुलाश्रितराजपुत्रस्य प्रतिपादिता । साऽतिप्रदृष्टमानसा तं पति देववत्प्रतिपद्याऽऽदाय चान्यविषयं गता । ततः कस्मिन्निवृत्तरतगन्गरप्रदेशे तडागतटे राजपुत्रमावासरक्षायै निरूप्य, स्वयं च धृततैललवणतण्डुलादिक्रयनिमित्तं सपरिवारा गता । कृत्वा च क्रयविक्रयं यावदागच्छति तावत्स राजपुत्रो वल्मीकीपरि कृतमूर्धा प्रमुपः । तस्य च मुखाद्वजगः फणां निष्क्राम्य वायुमधाति । तत्रैव च वर्ण्मीकेऽपरः सर्पो निष्क्रम्य तथैवासीन ।

अथ तयोः परस्परदर्शनेन क्रोधसंरक्षकोचनयोर्मध्याद्वल्मीकस्थेन मर्पणोत्तम्—‘भो भो दुरात्मन ! कथं सुन्दरमर्वाङ्गं राजपुत्रमिथं कदर्थयसि ? । मुखस्थोऽहिरब्रवीत्—‘भो भोः ! त्वयापि दुरात्मानाऽम्य वल्मीकस्य मध्ये मिथतं—कथमिदं दूपितं हाटकपूर्णं कलशयुगलम् ?’ । इत्येवं परस्परस्य मर्माण्युद्घाटितवन्तौ ।

पुनर्वल्मीकस्थोऽहिरब्रवीत्—‘भो दुरात्मन ! भेषजमिदन्ते किं कोऽपि न जानाति ?—यज्ञीर्णोत्कालितकाञ्जिकराजिकापानेन भवान्विनाशमुपयाति’ ।

यस्य=भवतः । प्रसादात्=अनुग्रहेण । लभ्यते=इत्यस्य अस्माभिरिति शेषः । विहितं=पूर्वं कृतं कर्म । वैदेशिकस्य=परदेशिकस्य । निजविहितं=रवोपाजितम् । ‘इयमेव’ ।—नाहमित्याश्रयः । तथा=एवमभिष्यति । प्रतिपद्य=स्वाकृत्य । अल्पपरिवारा=अल्पपरिजनसहिता । सा=कुमारिका । देववत्=देवतावत् । प्रतिपद्य=स्वाकृत्य । राजपुत्रं=स्वपतिम् । आवासरक्षायै=स्थानरक्षायै । निरूप्य=निर्दिश्य । सपरिवारा=मेवकपरिचारिकायुता । वल्मीकोपरि=मर्पविलोपरि । कृतमूर्धा=निहितमस्तकः । भुजगः=सर्पः । निष्क्राम्य=निष्काम्य । निष्क्रम्य=विहारगत्य ( निकलकर ) । तथैव=वायुमधन् । क्रोधसंरक्षकोचनयोः=क्रोधरक्तनेत्रयोर्मध्ये । सुन्दरसर्वाङ्गं=सर्वाङ्गसुन्दरं । कदर्थयसि=पीडयसि । अहिः=सर्पः । दुरात्मना=दुष्टेन । मध्ये इत्यस्य ‘स्थितमिति शेषः । हाटकपूर्णं=स्वर्णपूर्णं । ‘कलशयुगलं’-

अथोदरस्थोऽहिग्रन्वीन्—‘तवाप्येतद्देषजं किं कश्चिदपि न वेत्ति  
यदुष्णतैलेन वा महोष्णोदकेन तव विनाशः स्यान्’? इति । एव च  
मा राजकन्या विटपान्तरिता तयोः परस्परालापानमर्ममयानाकर्ण्य  
नशैवानुष्ठितवती । विधायाऽव्यङ्गं नीरोगं भर्तारं निधि च परमा-  
माद्य स्वदेशाभिमुखं प्रायात् । पितृमातृस्वजनैः प्रतिपूजिता विहितो  
पभोगं प्राप्य सुखेनावस्थिता । अनोऽहं ब्रवीमि—‘परस्परस्य  
मर्माणि’ इति । \*

तच्च श्रुत्वा स्वयमरिमद्देनोऽप्येवं समर्थितवान् । तथा चानुष्ठितं  
दद्वाऽन्तर्लंगं विहस्य रक्ताक्षः पुनरब्रवीन्—‘कष्टम् ! विनाशितोऽयं  
भवद्विग्रन्यायेन स्वामी । उच्च च-

अपृज्या यत्र पृज्यन्ते पृज्यानां तु विमानना ।

त्रीणि नन्त्र ग्रवर्तन्ते दुर्भिक्षं सरणं भयम् ॥ १९१ ॥

तथा च-प्रत्यक्षेऽपि कृतं पापे मूर्खः साक्षा प्रशास्यति ।

रथकारः स्वकां भार्या॑ सजारां शिरसाऽवहत्’ ॥ १९२ ॥

मन्त्रिणः प्राहुः—‘कथमेतन्, ?’ । रक्ताक्षः कथयति—

## ११. रथेकारवधु जारकथा

अस्ति कस्मिंश्चिद्विष्टाने वीरवरो नाम रथकारः । नस्य भार्या॑  
कामदमनी । सा च पुंश्चर्ली जनापवादसंयुक्ता । सोऽपि तस्याः  
गिर्यस्य—‘दूषित’ मिति शेषः । उद्घाटितवती॒=प्रकाशितवती॑ । ज्ञाणमुक्तालितम्=उष्णो॑-  
कृतच्च यत्काजिकं तस्य या राजिका तस्या॑: पानेन । (उकाली हुई कांजो की राई पानेन) ।  
विटपान्तरिता॒=शाखाव्यवहिता॑ । अनुष्ठितवती॑=कृतवती॑ । विधाय॑=कृत्वा॑ । अव्यङ्गम्-  
अविकल्पम् । निधि॑=शेवधि॑ । परं॑=श्रेष्ठम् । विहितोपभोगं॑=कृतकमोपभोगच्च । एवं॑=शु-  
मन्त्रिणो वधाभावम् । अनुष्ठितं॑=कृतम् । अन्तलानं॑=मनस्येव । अन्यायेन॑=दुष्टमन्त्रेण ।  
विमानना॑=अपभानः । नाम्ना॑=मधुरवचनैः । रथकारः॑=वर्धकिः । स्वकाम्॑=आत्मनः ।  
सजारां॑=जारसहिताम् ॥ १९२ ॥

सा॑=कामदमनी॑ । पुंश्चर्ली॑=व्यभिचारिणी॑ । जनापवादसंयुक्ता॑=लोकनिन्दिता॑ ।

१ इयं कथालीलवात्काशिकमध्यमपरीक्षापात्रांशतो बहिर्भूता ।

परीक्षणार्थं व्यचिन्तयत्-‘अथ मयाऽस्याः परीक्षणं कर्तव्यम् । उक्तच्च यतः

यदि स्यात्पावकः शीतः प्रोष्णो वा शशलाङ्घनः ।

स्त्रीणां तदा सतीत्वं स्याद्यदि स्यादुर्जनो हितः ॥ १९३ ॥

जानामि चैनां लोकवचनादमतीम् । उक्तच्च-

यत्त्वे वेदेषु शास्त्रेषु न दृष्टं न च संश्रुतम् ।

तत्सर्वं वेत्ति लोकोऽयं यन्स्याद्वाहाण्डमध्यगम्’ ॥ १९४ ॥

एवं सम्प्रथार्थं भार्यामयोचन्-‘प्रिये ! प्रभातेऽहं ग्रामान्तरं यास्यामि, तत्र कतिचिदिनानि लगिष्यन्ति-तत्त्वया किमपि पाश्रेयं मम योग्यं विधेयम् ।’ साऽपि तद्वचनं श्रुत्वा हर्षितचित्तौ-सुक्र्यात्मर्व-कार्याणि सन्न्यज्य भिद्वमन्नं दृतशर्कराग्रायमकरोन् । अथवा साध्य-दमुच्यते-

दुर्दिवसे धनतिमिरे वर्षति जलदे महाटवीप्रभृतौ ।

पत्युर्विदेशगमने परमसुखं जघनचपलायाः ॥ १९५ ॥

अथाऽसौ प्रन्यूप उत्थाय स्वगुहान्निर्गतः । साऽपि तं प्रस्थितं विज्ञाय प्रहसितवद्दनाऽङ्गसंस्कारं कुर्वाणा कथश्चित्तं दिवसमन्यवा-हयन् । अथ पूर्वपरिचितविटगृहे गत्वा तं प्रत्युक्तवती-‘म दुग्धमा मं पतिर्गामान्तरं गतः, तत्त्वयाऽस्मद्गृहे प्रसुप्ते जने समागन्तव्यम् ।’

तथानुष्ठिते स रथकारोऽरण्ये दिनमतिवाह्य प्रदोषे स्वगुहेऽपद्वारेण प्रविश्य शश्याधस्तले निभृतो भूत्वा रिथितः । एतमिन्नतरे स देव-दत्तः समागत्य तत्र शयने उपविष्टः । तं हृष्टा गोपाविष्टचिन्नो रथ-कारो व्यचिन्तयत्-‘किमेनसुत्थाय हन्मि ? अथवा हेलयैव प्रसुप्तौ मः-रथकारः । पावकः=त्रहिः । प्रोष्णः=अन्युष्णः । शशलाङ्घनः=नन्दः । हितः=हितकारा ॥ १९३ ॥ लोकवचनात्=जनश्रुत्या । असतीं=कुलयम् । पाश्रेयं=शम्बलम् । हर्षित-चित्ता=प्रसन्नचित्ता । ओत्सुक्यात्=ओत्कण्ठशात् । अक्रं=पकान्तम् । दुर्दिवसे=धनान्तरकारिते दिने । धनतिमिरे=निविडान्तकारे । त्रघनन्यपलायाः=कुलयातः ॥ १९५ ॥ प्रत्यूषे=प्रभाते । अङ्गसंस्कारं=वशरीरमार्जनशृङ्खारादिकम् । अत्थवाहयत्=व्यतिचक्रं (विनाया) । विटः=जारः । दुरात्मा=दृष्टः । प्रसुप्ते=निद्रावशगे । तथानुष्ठिते=विटे समागते । अप-दारेण=भित्युलङ्घनादिना । ( पिछाङ्गे से ) । निभृतः=गुप्तः । देवदत्तः=जारः । शयने=

द्वावप्येतौ व्यापाद्यामि ? । परं—पश्यामि तावदस्याश्रेष्टिंतं.  
शृणोमि चानेन महालापान् ।’ अत्रान्तरे सा गुहद्वारं निभृतं पिधाय  
शयनतलमारुडा । अथ तस्याम्तत्रागोहन्त्या रथकारशारीरेण पादो  
विलग्नः । ततः सा व्यचिन्तयन्—‘नूनमेतेन दुरात्मना रथकारेण  
मत्परीक्षणार्थं भाव्यम् ?, ततः स्त्रीचित्रविज्ञानं किमपि करोमि ।’  
एवं तस्याश्चिन्तयन्त्याः स देवदत्तः स्पर्शोत्सुको वभूव ।

अथ तया क्रुताऽङ्गलिपुट्याऽभिहितम् ‘भो महानुभाव ! न मं  
शरीरं त्वया स्पर्शनीयं, यतोऽहं पतिब्रता महासती च, न चेन्द्रादं  
दत्वा त्वां भम्मसात्कर्मिष्यामि । स आह—‘यद्येवं तद्द्विं त्वया किम-  
हमाहृतः ? सोऽत्रवीन्—‘भोः ! शृणुष्वैकाग्रमनाः—अहमद्यप्रत्यूपे  
देवतादर्शनार्थं चण्डिकायतनं गता । तत्राकस्मात्येव वाणी मज्जाता—  
‘पुत्रि ! किं करोमि ? भक्तामि मे त्वम्—परं पर्पमामाभ्यन्तरे विधि-  
नियोगाद्विधवा भविष्यति’ । ततो मयाऽभिहितं—‘भगवति ! यथा  
त्वमापदं वेत्सि, तथा तत्प्रतीकागमयि जानामि । तदस्मिन् कश्चिद्दुपायो  
येन मे पतिः शतमंवत्मरजीवी भवति’ ? । ततस्तयाऽभिहितम्—  
‘वस्ते ! सत्रपि नास्ति, यतमतवायत्तः स प्रतीकारः ।’ तच्छ्रुत्या  
मयाभिहितम्—देवि ! यदि तन्मम प्राणैर्भवति तदादेशय येन  
करोमि ।’

अथ देव्याऽभिहितम्—‘यद्यद्य परपुरुषेण सहैकस्मिन्द्वयने समा-  
रुद्धाऽङ्गलिङ्गेनं करोपि, तत्त्व भर्तृसत्त्वोऽपमृत्युमत्स्य स च्चरति । भर्तापि  
मध्येकं । एनं=जारम् । हेलयैव=सहस्रत्र । परं=परन्त् । अनेन=जारेण । निभृतं=शनैः ।  
नत्र=शयनतले । पतेन=तत्पादलग्नेन । स्त्रीचित्रविज्ञानं=स्त्रीचित्रकीश्वरं । महानु-  
भाव=महाशय । भस्मसात्=भस्म । एवं=यदि त्वं महासती तद्द्विं । एकाग्रमनाः=साव-  
धानः । चण्डिकायतनं=गौरीमन्दिरम् । खे=आकाशे । प्रतीकारं=निवर्त्तनोपायम् । आयत्तः=  
भर्तीनः । प्राणैः=प्राणव्ययेनापि । भवति=सिध्यति । आदेशय=आज्ञापय । सच्चरनि-

१ ‘अयोनिशिक्षणवर्षणं सुरत्मिति पाठान्तरं, तदेव चात्रोपयुज्यते, अग्ने—‘यदेवं  
बह्यवत्तमित्यादिना तथैव ध्वननात् ।

पुनर्वर्देशातं जीवति । तेन त्वं मयोऽभ्यर्थितः । तद्यत्किञ्चित्कर्तुमना-  
स्तकुमुख्य, न हि देवतावचनमन्यथा भविष्यता'ति निश्चयः ।  
ततोऽन्तर्हासविकासमुखः स तदुचितमाच्चार ।

मोऽपि रथकारो मूर्खस्तस्यास्तद्वचनमाकर्ण्य पुलकाञ्चित्तनुः  
शश्याधस्तलाञ्जिकम्य तामुवाच—‘साधु पतित्रन् ! साधु कुल-  
नन्दिनि ! अहं दुर्जनवचनशङ्कितद्वयस्त्वत्परीक्षानिमित्तं ग्रामान्तर-  
व्याजं कृत्वात्र खट्टवाधस्तलं निभृतं लीनः । नदेहि—आलिङ्ग माप ।  
त्वं स्वभर्तुभक्तानां मुख्या नारीणाम्, यदेवं ब्रह्मवतं परसङ्गेऽपि  
पालितवती ! ममायुर्वद्विकृतेऽसम्मुखिनादार्थं च त्वमेवं कृतवती !’—  
नामेवमुक्त्वा सम्नेहमालिङ्गितवान् । स्वस्त्रन्धे तामारोप्य  
तमपि देवदत्तमुवाच—‘भो महानुभाव ! मन्तुष्यैस्त्वमिद्वागतः,  
त्वत्प्रसादान्मया प्राप्तं वर्षशतप्रमाणमायुः, तत्त्वमपि मामालि-  
ङ्गं च मत्स्त्रन्धे समारोह’ ।—इति जल्पननिच्छन्तमपि देवदत्त-  
मालिङ्गं च वलास्वकीयस्त्रन्धे आगेपितवान् । ततश्च नृत्यं कृत्वा-  
‘हे ! ब्रह्मवतधराणां धुरीण ! त्वयापि मम्युपकृतम्’—इत्याद्युक्त्वा  
स्त्रधाकुत्तार्य यत्र-यत्र स्वजनगृहद्वारादिपु वभ्राम, तत्र तत्र तयो-  
रभयोरपि तदुणवर्णनमकरोन् । अतोऽहं ब्रवीभि—‘प्रत्यक्षंऽपि  
कृते पापे—’इति ॥५॥

तत्सर्वथा मूलोत्खाता वयं विनष्टाः स्मः । सुप्तु खल्विद्मुच्यन्ते—  
मित्ररूपा हि रिपवः सम्भाव्यन्ते विचक्षणैः ।  
ये हितं वाक्यमुत्सृज्य विपरीतोपसेविनः ॥ १९६ ॥

मङ्गामानि । अभ्यर्थितः—प्रार्थनयादृतः । अन्तर्हासविकासमुखः—ईषद्वासोकुलमुखकमलः ।  
तदुनितं—तत्कालोन्नितं—निधुवनमहोत्सवम् । पुलकाञ्चित्तनुः—पुलकितशरीरः । दुर्ज-  
नानां वचनैः शङ्कितं हृदयं यस्थासौ तथाभूतः । ग्रामान्तरव्याजं—ग्रामान्तरगमनच्छब्दं ।  
निभृतं—प्रच्छब्दं । लीनः—स्थितः, (छिपा था) । स्वभर्तुभक्तानां—पतित्रानां । मुख्या—  
प्रधानीभूता । एवम्—अयोनिलिङ्गधर्षणस्थं महत् । ब्रह्मवतं—संयममहावतं । परसङ्गेपि—  
परपुरुषसङ्गेपि । तां—कुलाटम् । ब्रह्मवतधराणां धुरीण—संयमवतधारिश्रेष्ठ ! । तदुणवर्णनं—  
संयमवर्णनम् । मूलोत्खाता—मूलोच्छज्ज्ञा । सम्भाव्यन्ते—निश्चीयन्ते । विपरीतोपसेविनः—

तथा च—सन्तोऽप्यर्था विनश्यन्ति देशकालविरोधिनः ।

अप्राज्ञान्मन्त्रिणः प्राप्य तमः सूर्योदये यथा ॥ १९७ ॥

तनमन्द्रुचोऽनाहत्य सर्वे ते स्थिरजीविनमुस्किष्य म्बदुर्गमानेनुमारव्याः । अथाऽनीयमानः स्थिरजीव्याह—‘द्रव ! अद्याऽकिञ्चिन्करेणैनदवस्थेन कि मयोपमङ्गहीनेन ? । यत्कागणम्—इच्छामि नीमं वह्निमनुप्रवेष्टुं, तदर्हमि मासमिप्रदानेन समुद्रतुम् ।’

अथ रक्ताक्षसत्स्यान्तर्गतभावं ज्ञात्वाऽव्रीन—‘किमर्थमधिपतनमिन्त्यमि ?’ । सोऽव्रीन—‘अहं तावद्युपमदर्थं डमामापदं मेघवर्णेन प्राप्तिः । तदिच्छामि तेषां वैरयाननाथमुल्कत्वंमिति ।

तज्ज श्रुत्वा राजनोनिकुडालो रक्ताक्षः प्राह—‘भद्र ! कुटिलस्त्वं कृतकवचनचतुरश्च ।—तत्त्वमुल्कयोनिगतोऽपि स्वर्कायामेव वायम गोनिं वहु मंस्यमे ।’ श्रृंगते चैतदाख्यानकम्—

मर्य भर्तारमुत्सृज्य पर्जन्यं मासनं गिरिम् ।

स्वजानि मूषिका प्राप्ता स्वजातिर्दुरतिक्रमा ॥ १९८ ॥

मन्त्रिणः प्रोचुः—कथमेतत् ? । रक्ताक्षः कथयति—

## १२. मूपककन्याविवाहकथा

अमित विषमशिलातलस्वलिताभ्युनिर्दोषपश्चवणसन्त्रमतस्य-परिवर्तनम् जनितश्वेतफेनशवलतरङ्गाया गङ्गायागतटे जपनियमतपः-

अनुनितोपदशारः । देशकालविरोधिनः=देशवालाननुरूपाः ॥ १९७ ॥ तद्वचः=रक्ताक्षमन्त्रियनन्यम् । उत्क्षिप्त्य=उत्थाप्य । एतदवरथेन=ईदृशीमवस्थां गतेन । उपसंगादातेन=गश्चेनेन । अग्निप्रदानेन=चिताप्रदापेनेन । समुद्रतुं=वैशादसमानमोचयितुम् । तेषां=वाकानाम् । वैरयाननार्थं=वैरशोधनार्थं । ( बदला लेने के लिए ) । कृतवचनचतुरः=कुटिलमिश्यावचनरचनाकृश्यलः । वहु मन्यमे=उत्कृष्टां मंस्यमे, ( यदि तुम उल भां हा जाओगे तो भी अपना काकजाति को ही अधिक मानोगे ) । ‘मन्यमे’इत्यस्य स्थाने ‘मंस्यमे’—इत्येवं वै गौड़ा: पठन्ति । आख्यानकं=कथा । पर्जन्यं=मेघम् । गिरिं=पर्वतम् । दग्निक्रमा=दुस्त्यजा ॥ १९८ ॥

विषमाः=कठिनाः, उच्चावचाश्याः शिलाः, विषमशिलाः, तासां तटे स्वलितं=प्रादृतं यदस्वुं=जलं, तेन यो निर्वाषः=निःस्वनः, तरय श्रवणेन संत्रस्ता ये मत्स्याः=

स्वाध्यायोपवासयोगक्रियानुप्रानपरायणैः—परिपृतपरिमितजलजिघु-  
शुभिः, कन्दमूलफलशैवलाभ्यवहारकदर्थितशारीरैवलकलकृतकौपीन-  
मात्रप्रच्छादनैस्तपस्त्रिभिगकीर्णमाश्रमपदम् । तत्र याज्ञवल्क्यो नाम  
कुलपतिगार्मीन् । तस्य जाह्व्यां स्त्रात्योपस्त्रपृष्ठमारव्यस्य करतलं  
श्येनमुख्यात्परिभ्रष्टा मूर्पिका पतिना । तां हृष्टा न्ययोधपत्रेऽवस्थाप्य  
पुनः स्वात्योपस्त्रपृष्ठय च प्रायश्चित्तादिक्रियां कृत्वा च मूर्पिकां तां स्व-  
तपोवलेन कन्यकां कृत्वा समादाय स्वाश्रममानिनाय । अनपत्यां  
च जायामाह—‘भद्रे ! गृह्णतामियं तव दुहितोत्पन्ना प्रयत्नेन संवर्ध-  
नीया’—इति । नतस्तथा संवर्धिता लालिता पालिता च यावद्  
द्वादशवर्षा मञ्जस्त्रे । अथ विवाहयोग्यां तां हृष्टा भर्तारमेवं जायो-  
वाच—‘भो भर्ते ! किमिदं नाववुद्ध्यमें यथाऽस्याः स्वदुहितुर्विवाह-  
समयानिकमो भवति ?’ । असावाह—‘माधूक्तम् । उत्तच्च—

स्त्रियः पूर्वं सुरंसुक्ताः सोमगन्धर्ववह्निभिः ।

भुजते मानुषाः पश्चात्स्मादोपो न विद्यते ॥ १९५ ॥

सोमस्तासां ददौ शौचं गन्धर्वाः शिक्षितां गिरम् ।

पावकः सर्वमेष्यत्वं तस्माच्चिप्कलमयाः स्त्रियः ॥ २०० ॥

भानाः, तेषां परिवर्तनं=परिलंठनं, ( ‘लोटपोट होना’ ‘भागना’ ) तेन सञ्चितो थः  
धृतः फेनः=अधिकक्षः, तेन शबलाश्चित्रात्मरङ्गा यस्याः सा तां तथाभूताम् । जपः=  
मन्त्रजपः । नियमः=व्रतम् । तपः=तपश्चरणम् । रवाध्यायः=वेदाद्यथनम् । उपवासः=  
ओजनवर्जनम् । यागक्रिया=यज्ञाग्निहोत्रादिकर्म । तेषाम् अनुष्ठानं=सेवनं, तत्परायणं=  
प्रसक्तः । परिपूर्नं परिमितं च यज्ञलं तड्डिवृक्षभिः=तदेव व्रह्णातुर्भिच्छुभिः,—केश्वर-केव-  
लजलपानप्रसक्तरित्यर्थः । केश्विच कन्दमूलफल-शैवलाभ्यवहारेण=कन्दादिमात्रभक्षणेन  
कदर्थितं-केशितं शरीरं यस्तथाभूतैः । बलक्लेनं = भूजत्वगादिना-कृतं-कौपीनमात्रस्य=  
गुद्याङ्गमात्रस्य-प्रच्छादनं=पिधानं यैस्तस्तथाभूतैः । त्रपस्त्रिभिः=तापसैः । आर्काणीं=  
व्याप्तम् । आश्रमपदम्=आश्रमस्थानम् । कुलपतिः=आचार्यः-दशसहस्रच्छात्रमङ्गपति-  
वृतः । जाह्वीं=गङ्गा । उपस्त्रपृष्ठम्=आचमनं कर्त्त । द्येनमुखात्=पत्रिमुखात् । ( वाज के  
मुख से ) । उपस्त्रपृष्ठय=आचम्य । जायां=भार्याम् । दुहिता=पुत्री । सञ्जके=जाता । अति-  
क्रमः=उलङ्घनम् । असौ=याज्ञवल्क्यः । सामु=शोभनम् । ( ठीक कह ) । स्त्रियः=  
कन्या । सुरैः=सोमगन्धर्ववह्निभिदेवैः । सुजते=सेवन्ते । दोषः=स्त्रीषु पापम् ॥ १९६ ॥

असंप्राप्तरजा गौरी, प्राप्ते रजसि रोहिणी ।  
 अव्यञ्जना भवेत्कन्या, कुचहीना च नप्तिका ॥ २०१ ॥

व्यञ्जनेस्तु समुत्पद्मः सामो भुड़न्ते हि कन्यकाम् ।  
 पयोधराभ्यां गन्धर्वा रजस्त्वाः प्रतिष्ठितः ॥ २०२ ॥

तस्माद्वाहयेत्कन्यां यावत्तुमती भवेत् ।  
 विवाहशाश्वपर्याः कन्यायास्तु प्रशस्यते ॥ २०३ ॥

व्यञ्जनं हन्ति वै पूर्वं, परं चैव पयोधरौ ।  
 रत्तरिष्टांस्तथा लोकान्दन्याच्च पितरं रजः ॥ २०४ ॥

ऋतुमल्यां तु निष्टन्यां स्वेच्छादानं त्रिधीयते ।  
 तस्मादुद्वाहयेत्त्रपां मनुः स्वायम्भुवोऽवरीत् ॥ २०५ ॥

पितृवेदमनि या कन्या रजः पश्यन्यसंस्कृता ।  
 अविवाहा तु सा कन्या जघन्या बृष्टली स्मृता ॥ २०६ ॥

श्रेष्ठेभ्यः सदृशेभ्यश्च जघन्येभ्यां रजस्वला ।  
 पित्रा द्रुया विनिश्चित्य यना दापा न विद्यत ॥ २०७ ॥

अतोऽहमेनां सदृशाय प्रयच्छामि, नान्यस्मै । उत्तरं—  
 यथोरेव समं वित्तं यथोरेव समं कुलम् ।  
 तथोर्विवाहः सदृशं न तु पुष्टिपुष्टयोः ॥ २०८ ॥

नथा च—कुलञ्ज शीलञ्ज सनाथता च विद्यां च वित्तञ्ज वपुर्वयश्च ।

एतान्युगान्सस विचिन्यं देया कन्या त्रुष्यैः, शेषमचिन्तनीयम् ॥ २०९ ॥

नासां = खाभ्यः । शीर्च = शुद्धि । शिक्षितां = मनोहरां, निषुणाध । सर्वमध्यत्वं =  
 नर्वाङ्गे पवित्रताम् । कल्पमं = पापम् ॥ २०० ॥ व्यञ्जनैः=स्तनकंशादिभिरुपलक्षितां ।  
 व्यञ्जनं लाञ्छनइमश्रुतेमनावयवेष्वपांति मेदिनी । मोमः = चन्द्रदेवः । रजसि = पुरुषं ।  
 ऋतुमती=खाधर्मिणी । व्यञ्जनं=लोम । पूर्वं=कृतं पुण्यं । यितुरिति शेषः । परं=करि-  
 ष्यमाणं सुकृतम्, परलोकं वा । पयोधरो—अविवाहितायाः पितृगृहे वर्तमानायाः कन्याया  
 उत्पथमानो स्तनौ । रतिः=मैथुनेच्छा, पुरुषाभिलाषक्ष । परपुरुषसंपको वा । इष्टान्=  
 वर्गादिकान् । रजः=आर्तवं । हन्यात् = अथः पातयेत ॥ २०४ ॥

ऋतुमल्यां—‘कन्याया’मिति शेषः । स्वेच्छादानं=यस्मै कर्मै चन वराय यथालाभं  
 दानं । नग्ना = अनागतात्त्वा, कुचहीना वा । स्वायम्भुवः=स्वयम्भूपत्रः ॥ २०५ ॥

पितृवेदमनि=पितृगृहे । असंस्कृता = अविवाहिता । अविवाहा = विवाहयोग्या ।  
 जघन्या = निन्दिता । ‘बृष्टली’ति सञ्ज्ञा ॥ २०६ ॥ श्रेष्ठसमानानाऽधमेभ्यो यथालाभमृतु-  
 मती—कन्या देया, नात्र विचारः कार्यः ॥ २०७ ॥ एनां=कन्यां । पुष्टिपुष्टयोः=हीन-  
 वल्लाधिकवल्लयोः ॥ २०८ ॥ शीर्लं=विनयादिकम् । सनाथता = स्थिर आश्रयः । बपुः =

तद्वद्यस्या रोचते तदा भगवन्तमादित्यमाहूय तम्मै प्रयच्छामि । मा प्राह—‘इह को दोपः ? क्रियतामेनत् ।’ अथ मुनिना रविग्राहृतः । वेदमन्त्रामन्त्रणप्रभावात्तक्षणादेवाभ्युपाम्यादित्यः प्रोवाच—भगवन् । किमहमाहृतः ?’ । सोऽत्रवीत्—‘एषा मरीया कन्यका तिष्ठति—यद्यंपा त्वां वृणोति तर्हुद्वहस्य’—इति । एवमुक्त्वा स्वदुहितरमुवाच—पुत्रि ! किन्तव रोचते एष भगवांस्त्रैलोक्यदीपको भासुः ?’ । पुत्रिकाऽत्रवीत्—‘तात ! अतिदृहनात्मकाऽयं, नाहमेनमभिलपामि ।—तदस्मादन्यं प्रकृष्टतरः कश्चिदाहूयताम् ।’ अथ तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा मुनिर्भास्करमुवाच—‘भगवन् । त्वत्तोऽप्यधिकोऽस्मि कश्चिन् ? ।

भास्करः प्राह—‘अस्मि मन्त्रोऽप्यधिको मेघो येनाञ्छादितोऽहमन्तर्यो भवामि ।’ अथ मुनिना मेघमप्यादृय कन्याभिहिता—‘पुत्रिके ! किमम्मै त्वा प्रयच्छामि ?’ । मा प्राह—‘कृष्णवर्णोऽयं जडात्मा च । तदस्मादन्यस्य प्रधानस्य कश्यचिन्मां प्रयच्छ ।’

अथ मुनिना मेघोऽपि पृष्ठः—भो मेघ ! त्वत्तोऽप्यधिकोऽस्मि कश्चिन् ?’ । मेघेनोक्तं—‘मत्तोऽपि आधिकोऽस्मित वायुः । वायुनाऽऽहतोऽहं सहस्रधा यामि ।’ तच्छ्रुत्वा मुनिना वायुग्रहृतः,—आह च—‘पुत्रिके ! किमेप वायुस्त विवाहायोक्तमः प्रतिभाति ?’ । सोऽत्रवीत्—‘तात ! अतिचपलोऽयं, तदस्मादप्यधिकः कश्चिदानीयताम् ।’

मुनिराह—‘वायो ! त्वत्तोऽप्यधिकोऽस्मि कश्चिन् ?’ । पवनेनोक्तम—मन्त्रोऽप्यधिकोऽस्मि पर्वतः, तेन संस्तभ्य वलवानायहं ध्रिये ।

श्रीरामः । वयः = अवस्था । शेषम् = हतोऽधिकं भावि शुभाशुगम् । अचिन्तनीयमिति । देवायत्तवात्तस्येति भावः ॥ २०९ ॥ अस्थाः=कन्यायाः । रोचते = प्रतिभाति । वेदमन्त्रे वेदामन्त्रणम् = आङ्गानं । तत्प्रभावात् = तत्प्रामर्थ्यात् । किम् = किमर्थम् ? । वृणोति = स्वंदेशोति । उद्वहस्य = विवाहं कुरु । भगवान्=मकलज्ञानशक्तिनिधिः । त्रैलोक्यस्य दापकः = प्रकाशकः । अतिदृहनात्मकः—अस्यात् दाहकः—उणतरः । प्रकृष्टतरः = श्रेष्ठः । अदृश्यः—निलंबनः । अस्मै = मेघाय । ‘प्रयच्छामि’—किमिति प्रश्नः ।

जडात्मा=जलवहुलः । मूर्खश्च । डलयोरैक्यात्—जडात्मा = जलात्मा । प्रधानस्य = श्रेष्ठस्य । सहस्रधा यामि = विच्छिन्नो भवामि । प्रतिभाति = रोचते । संस्तभ्य = ग्रहात्मा.

अथ मुनिः पर्वतमाहूय कन्यामुवाच—‘पुत्रिके ! किं त्वामस्मै प्रयच्छामि ?’। सा प्राह—‘तात ! कठिनात्मकोऽयं स्तव्यधश्च, तदन्यस्मै देहि माम् ।’ मुनिना पर्वतः पूष्टः—‘भोः पर्वतराज ! त्वत्तोऽप्यधिकोऽस्मि कथिन् ?’। गिरिणोऽक्षम्—‘मत्तोऽप्यधिकाः सन्ति मूषिकाः ये मच्छरीरां वलाद्विदारयन्ति ।’ ततो मुनिर्मूषिकमाहूय तस्या अदर्शयन्—आहच—‘पुत्रिके ! त्वामस्मै प्रयच्छामि ?’ किमेष प्रतिभाति ते मूषिकगजः ?’। साऽपि तं द्वृष्टा ‘स्वजातीय एष’ इति—मन्यमाना पुलकोद्धुषितशरीरा उवाच—‘तात ! मां मूषिकां कृत्वा ऽस्मै प्रयच्छ—येन म्व जातिविहितं गृहिणीधर्ममनुतिष्ठामि ।’

ततः सोऽपि स्वतपोवलनं तां मूषिकां कृत्वा तस्मै प्रादान् । अतोऽहं ब्रवीमि—‘मूर्य भर्तागमुत्सृज्य’—इति । ॥४॥

अथ रक्ताक्षवचनमनाहृत्य तैः स्ववंशविनाशाय स स्वदुर्गमुपर्नातः । नीयमानश्वान्तर्लीनमवहस्य स्थिरजीवी व्यचिन्तयत्—‘हन्यता’मिति येनोक्तं स्वामिनो हितवादिना ।

स एवैकोऽत्र सर्वेषां नीतिशाश्रार्थतत्त्ववित् ॥ २१० ॥

तद्यदि तस्य वचनमकरिष्यन्नेते ततो न स्वल्पोऽप्यनर्थोऽभविष्यदेतेपाम् ।

अथ दुर्गद्वारं प्राप्याऽरिर्मद्नोऽब्रवीत्—‘भो भोः ! हितैषिणोऽस्य स्थिरजीविनो यथासमीहितं स्थानं प्रयच्छत ।’ तच्च श्रुत्वा स्थिरजीवी व्यचिन्तयत्—मया तावदेतेषां वधोपायश्चिन्तनीयः, स मया मध्यस्थेन न साध्यते, यतो मदीयमिङ्गितादिकं विचारयन्तस्तेऽपि सावधाना (जबरदस्ती पकड़ कर) । छिये = अवगृह्णे । (रोक लिया जाता हूँ) । कठिनात्मकः=शिलाशकलकर्त्तयः । स्तव्यः = अविनीतः । विदारयन्ति = खण्डयन्ति । प्रतिभाति = रोचते । पुलकोद्धुषितशरीरा = रोमाधितदेहा । प्रयच्छ = देहि । स्वजातिविहितं=मूषकानुकूलं । गृहिणीधर्म = पक्षीधर्मम् । अन्तर्लीनं = सुगुर्सं (‘मन ही मन’) । हन्यतामिति = स्थिरजीव्यं हन्यतामिति । येन = रक्तक्षेण । अत्र = श्वामन्त्रिषु ॥ २१० ॥

तस्य=रक्ताक्षस्य । एते = उल्काः । अनर्थः—विपत्तिरूपः । हितैषिणः = अस्मप्रियचिन्तकस्य । यथासमीहितं = यथाभिलषितम् । मध्यस्थेन = उल्कदुर्गमध्यस्थितेन । अभि-

भविष्यन्ति । तदुर्गद्वारमधिश्रितोऽभिप्रेतं साधयामि ।’—इति निश्चिन्त्य उल्लकपतिमाह—‘देव ! युक्तमिदं यस्त्वामिना प्रोक्तं, परमहमपि नीतिङ्ग-स्तेऽहितश्च, यदप्यनुरक्तः शुचिस्तथापि दुर्गमध्य आवासो नार्हः । तद्वामत्रैव दुर्गद्वारस्थः प्रत्यहं भवत्पादपद्मरजः पवित्रीकृततत्त्वः संवां करिष्यामि । ‘तथा’ इति प्रतिपन्नं प्रतिदिनमुल्लकपतिसेवकान्ते प्रकाममाहारं क्रत्वोल्लकराजादेशात्प्रकृष्टमांसाहारं स्थिरजीविनं प्रयच्छन्ति । अथ कतिपयैरेवाहोभिर्मयूरं इव स बलवान्मवृत्तः ।

अथ रक्ताक्षः स्थिरजीविनं पोष्यमाणं हृष्टा सविस्मयो मन्त्रिजनं गजानच्च प्रत्याह—‘अहो ! मूर्खोऽयं मन्त्रिजनो भवांश्चेत्येवमहमव-गच्छामि । उक्तच्च—

पूर्वन्तावदहं मूर्खों द्विनीयः पाशबन्धकः ।

ततो राजा च मन्त्री च सर्वं वै मूर्खमण्डलम् ॥ २११ ॥

ते प्राहुः—कथमेतन ? । रक्ताक्षः कथयति—

### १३. स्वर्णपुरीषपक्षि-राज-मन्त्रिकथा

अस्ति करिमश्चित्पर्वतैकदेशे महान्वृक्षः । तत्र च सिन्धुकनामा कोऽपि पक्षी प्रतिवसति स्म । तस्य पुरीषे सुवर्णमुत्पद्यते । अथ कदाचित्तमुद्दिश्य व्याघः कोऽपि समाययौ । स च पक्षी तदग्रत पव पुरीषमुत्सर्ज । अथ पातसमकालमेव तस्मुवर्णीभूतं हृष्टा व्याघो विस्मयमगमत—‘अहो ! मम शिशुकालादारभ्य शकुनिवन्धव्यस-निनोऽशीतिवर्पणि समभूवन्—न च कदाचिदपि पक्षिपुरीषे सुवर्णं हृष्टम् ।’—इति विचिन्त्य तत्र वृक्षे पाशं वबन्ध ।

प्रेतम् = अभाष्टम् । आहतः = शत्रुजातीयः । अनुरक्तः = प्रियः । शुचिः = द्वेषशूच्यः । परीक्षितश्च । आवासः = निवासः । अर्हः = योग्यः । भवतो ये पादपद्मे तथोर्यहरजः = रेणुः, तेन पवित्राकृतस्तत्त्वुद्देहो यस्यामौ तथाभूतः । प्रतिपक्षे=स्वीकृते । उल्लकपति-सेवकाः = उल्लकराजानुचराः । प्रकामं = यथेच्छम् । प्रकृटं = प्रभूतं । संवृत्तः = जातः । पोष्यमाणं = मांसदानादिना रक्ष्यमाणम् । भवत्त्वा=राजा । अवगच्छामि = निश्चिनोमि, जानामि । पाशबन्धकः = लुधकः ॥ २११ ॥ पुरीषे=विषायाम् । तमुद्दिश्य = तद्वन्ध-नाभिप्रायेण । तदग्रतः = व्याधाग्रतः । शकुनिवन्ध एव व्यसनं तदस्यास्त्वयरय तथा

अथासावपि पक्षी मूर्खस्तत्रैव विश्वस्तचित्तो यथापूर्वमुपविष्टः  
तत्कालमेव पाशेन बद्धः । व्याधस्तु तं पाशादुन्मुच्य पञ्चरके  
संस्थाप्य निजाऽऽवासं नीतवान् । अथ चिन्तयामास—‘किमनेन  
सापायेन पक्षिणाहं करिष्यामि ?—यदि कदाचित्कोऽप्यमुरीद्वां ज्ञात्वा  
राज्ञे निवेदयिष्यति,—तन्नूनं प्राणसंशयो में भवेदतः स्वयमेव पक्षिणं  
गज्ञे निवेदयामि ।’ इति विचार्य तथैवाऽनुष्ठितवान् ।

अथ राजाऽपि तं पक्षिणं हृष्टा विकसितनयनवदनकमलः परां  
तुष्ठिमुपागतः । प्राह चैवं—‘हं हो रक्षापुरुषाः ! एनं पक्षिणं यत्नेन  
रक्षत, अशनपानादिकं चाम्य यथेच्छं प्रयच्छत ।’ अथ मन्त्रिणा-  
ऽभिहितम्—‘किमनेनाऽश्रद्धेयव्याधवचनप्रत्ययमात्रपरिगृहीतेन अण्ड-  
जेन ? । किं कदाचित्पक्षिपुरीपे सुवर्णं सम्भवति ? । तन्मुच्यतां  
पञ्चग्रन्थनादयं पक्षी । इति मन्त्रीवचनाद्राज्ञा मोचितोऽसौ पक्ष्युत्त  
द्वारतोगणे समुपविष्ट्य सुवर्णमर्यां विष्ट्रां विश्वाय—‘पूर्वं तावदहं  
मूर्खः’—इति श्लोकं पठित्वा यथासुधमाकाशमार्गेण प्रायात् । अतोऽहं  
त्र्वीमि—‘पूर्वं तावदहं मूर्खः—’इति ।

अथ ते पुनरपि प्रतिकूलदेवतया हितमपि रक्ताक्षवचनमनादत्य  
भूयस्तं प्रभूतमांसादिविविधाहारेण पोषयामासुः ।

अथ रक्ताक्षः स्ववर्गमाहूय रहः प्रोवाच—‘अहो ! एतावदेवा-  
ऽस्मद्दूपते कुशलं दुर्गं च । तदुपदिष्टं मया यत्कुलक्रमागतः सचिवो-  
ऽभिवत्ते । तद्यमन्यत्पर्वतदुर्गं सम्प्रति समाश्रयामः । उक्तच्च यतः—

भूतम्य । अन्तो = सिन्धुकः । तत्रैव = तस्मिन्नेव वृक्षे । सापायेन = विपत्तिवृहुलेन । इदृशं  
= सुवर्णपुरीषम् । तथैवानुष्ठितवान् = राज्ञे निवेदितवान् । विकसितं नयनवदनमेव  
कमलं यस्यासौ तथाभूतः = प्रसन्नमुखः । तुष्टि = प्रसन्नताम् । हं हो = अहो ! रक्षापुरुषः  
= रक्षकाः ( सिपाहा लोगो ) । अश्रद्धेयं = विश्वासानहैं, यद्याधस्य = शाकुनिकस्य,  
वचनं, तत्र यः प्रत्ययो—विश्वासः, तन्मार्गेण यः परिगृहीतः = स्थापितः, अण्डजः = पक्षी ।  
उभ्यतद्वारतोरणे = उभ्यत—गृहद्वारवहिभूतद्वारप्रदेशे । यथासुखं = यथेच्छम् ।

ते = उद्धकाः । प्रतिकूलदेवतया = दुरदृष्टवशीभूततया । तं = स्थिरजीविनम् । रहः =  
एकान्ते । एतावत् = एतावत्पर्यन्तमेव । नाम्रे कुशलं भविष्यतीत्यर्थः । मया तदुपदिष्टं

अनागतं यः कुरुते स शोभते स शोच्यते यो न करोत्यनागतम् ।  
वैनेऽत्र संस्थस्य समागता जरा विलस्य वाणी न कदापि मे श्रुता ॥२१२॥  
ते प्रोचुः—‘कथमेतत् ?’ । रक्ताक्षः कथयति—

### १४ सिंह-जम्बुक-गुहाकथा

कस्मिन्निद्वनोद्देशे खरनखरं नाम सिंहः प्रतिवसति स्म । स कदाचिदितश्चेत्त्र परिभ्रमन्तुल्कामकणो न किञ्चिदपि सत्त्वमास-साद । ततश्चास्तमनसमये महर्तां गिरिगुहामासाद्य प्रविष्टिन्नितया-मास—‘नूनमेतस्यां गुहायां रात्रौ केनापि सत्त्वं नागन्तव्यं—तन्निभृतो भूत्वा तिष्ठामि ।’ एतस्मिन्नन्तरे तत्स्यामी दधिपुच्छो नाम शृगालः समायातः । म च यावत्पश्यन्ति,—तावस्मिन्हपदपद्विर्गुहायां प्रविष्टा, न च निष्क्रमणं गता ।

ततश्चाऽचिन्तयन्—‘अहो ! विनष्टोऽस्मि ।—नूनमस्यामन्त-र्गतेन सिंहेन भाव्यं । तल्कि करोमि ? कथं ज्ञास्यामि ?’ । एवं विचिन्त्य द्वारस्थः फूल्कर्तुमारव्यैः—‘अहो विल ! अहो विल !—इत्युक्त्वा तूष्णींभूय भूयोऽपि तथैव प्रत्यभापत—‘भोः ! किं न स्मरसि ! यन्मया त्वया सह समयः कृतोऽस्ति—यन्मया वाह्नात्स-मागतेन त्वं वक्तव्यः, त्वया चाहमाकारणीयः’—इति । तच्चादि मां नाह्नयसि ततोऽहं द्वितीयं विलं यास्यामि ।’ अथ तच्छ्रुत्वा सिंहश्चिन्तिवान्—‘नूनमेषा गुहाऽस्य समागतस्य सदा समाह्नानं करोति, परमद्य मद्दयान्न किञ्चिद्द्रूते । अथवा साधिवद्मुच्यते—

यद्दितैषिणा कुलोनेन मन्त्रोपदेष्टव्यम् । ‘परन्तु राजा तत्र मन्यते’ इति शेषः । सम्प्रति=इदानीम् । अनागतं =सुविचारितम् । अनागतमेव—कार्यं पूर्वमेव विचार्यं यः करोति स शोभते, यथा—शृगालः । यश्चाऽविचार्यं कार्यं करोति स शोच्यते, यथा—सिंहः । यदा—अनागतम्=अप्रवेशम् । क्षुरुल्कामकणः =बुभुक्षाकुलितः । सत्त्वं—जन्तुम् । आससाद=प्राप । नूनम् =अवदयम् । तत्स्यामी =गुहानिवासी । सिंहपदपद्विर्गुहानिक्तिः=सिंहपदविहपङ्कितः । अस्यां=गुहायाम् । फूल्कर्तुं=सकोलाइलं गदितुम् ( विछाने लगा ) । सनयः=सङ्केतः ।

१ विलेऽत्र जातस्येति, वने वसन्तत्र जरामुपागतं’ इति च पाठा० ।  
२ कर्त्तरै कः । आरच्छवानित्यर्थः ।

भयसन्त्रस्तमनसां हस्तपादादिकाः क्रियाः ।  
प्रवर्तन्ते न वाणी च वेपथुश्चाधिको भवेत् ॥ २१३ ॥

तदहम्न्याह्वानं करोमि येन तदनुसारेण प्रविष्टोऽयं मे भोज्यतां  
यास्यति ।' एवं सम्प्रधार्य मिहम्तम्याऽह्वानमकरोन् ।

अथ सिंहशब्देन सा गुहा प्रतिरवसम्पूर्णाऽन्यानपि दूरस्थान-  
रण्यजीवांश्चासयामास । शृगालोऽपि पलायमान इमं श्लोकमपठन्—  
'अैनागतं यः कुरुते स शोभते स शोच्यते यो न करोत्यनागतम् ।

वनेऽत्र संस्थस्य समागता जरा चिलस्य वाणी न कदापि मे श्रुता' ॥ २१४ ॥

तदेवं मत्वा युज्माभिर्मया सह गन्तव्यम्—इति । एवमभिधाय  
आत्मानुयायिपरिवारानुगतो दूरदेशान्तरं रक्ताक्षो जगाम ।

अथ रक्ताक्षे गते मिञ्चर्जीव्यतिहृष्टमना व्यचिन्तयन—‘अहो !  
कल्याणमस्माकमुपस्थितं यदुक्ताक्षो गतः, यतः स दीर्घदर्शी,—एते  
च मूढमनसः, ततो मम [एते] सुखघात्याः सञ्जाताः । उक्तच्च यतः—

न दीर्घदर्शिनो यस्य मन्त्रिणः स्वर्महीपतेः ।  
क्रमायाता श्रुतं तस्य न चिरात्स्यात्परिक्षयः ॥ २१५ ॥

अथवा साधिवद्मुच्यते—

मन्त्रिरूपा हि रिपवः सम्भाव्यन्ते विचक्षणैः ।  
ये सैन्तं नयमुत्सृज्य सेवन्ते प्रतिलोमतः' ॥ २१६ ॥

एवं विचिन्त्य स्वकुलाये एकैकां वनकाष्ठिकां गुहार्दापनार्थं

न वाणी । न न वाणी सम्प्रवर्तते । वेपथुः=कम्पः ॥ २१३ ॥

तदनुसारेण=आहानानुसारेण । प्रतिरवसम्पूर्णा=प्रतिवनिपरिपूरिता । आत्मनो  
ये=अनुयायिनस्तैस्तपरिवारश्च अनुगतः=सहितः । सुखघात्याः=सुखेन वध्याः ।

दीर्घदर्शिनः=दूरदर्शिनः । क्रमायाताः=वृश्चरम्परागताः । न चिरात्=शीघ्रमेव । परि-  
क्षयः=नाशः ॥ २१५ ॥ सन्तं=सरलं, प्रसिद्धत्वं । नयं=मन्त्रं, नोतिष्ठ । प्रतिलोमतः=  
विपरीत्येन ॥ २१६ ॥ स्वकुलाये=स्वनीडे । वनकाष्ठिकां=वनकाष्ठां (‘वनकठा लकड़ी’ ) ।

१ ‘सुसङ्कृतं यः कुरुते स शोभते, न शोभते यो न करोति सङ्कृतं’ मिति गौड़ा:  
पठन्ति । ‘स शोच्यते’ इति वा पठिणुं शक्यम् । २. ‘चिरजीवी’ ति पाठा । ३. ‘ये हितं  
वाक्यमुत्सृज्य विपरीतोपसेविनः’ इति ‘विपरीतोपदर्शिन’ इति च पा० ।

दिने दिने प्रक्षिपति । न च ते मूर्खा उल्का विजानन्ति,—यदेष  
स्वकुलायमस्मद्वाहाय वृद्धि नयति । अथवा साधिवद्मुच्यते—

अमित्रं कुरुते मित्रं, मित्रं द्वैषि हिनस्ति च ।

शुभं वेत्यशुभं, पापं भद्रं, दैवहतो नरः ॥ २१७ ॥

अथ कुलायव्याजेन दुर्गद्वारे कृते काष्ठनिचये, सज्जाते  
सूर्योदयेऽन्धतां प्राप्नेपूल्केपु सत्सु स्थिरजीवी शीघ्रं गत्वा मेघवर्ण-  
माह । ‘म्वामिन ! दाहसाध्या कृता रिपुगुहा, तत्सपरिवारः समे-  
त्यैकैकां वनकाष्ठिकां ज्वलन्तीं गृहीत्वा गुहाद्वारेऽस्मकुलाये प्रक्षिप,  
येन सर्वे शत्रवः कुम्भीपाकनरकप्रायेण दुःखेन वियन्ते । तच्छ्रुत्या  
प्रहस्त्रे मेघवर्ण आह—‘तात ! कथयाऽस्तमवृत्तान्तम ? चिगदद्य  
हष्टोऽसि ।’ म आह—‘वत्स ! नायं कथनस्य कालः, यतः—कदा-  
चित्तस्य रिपोः कथित्पणिधिर्मेहागमनं निवेदयिष्यति, तज्जानाद-  
न्धोऽन्यत्रापसरणं करिष्यति । तत्त्वर्यतां ! त्वर्यताम ! उत्तर्च—

शीघ्रकृत्येषु कार्येषु विलम्बयति यो नरः ।

तत्कृत्य देवतास्तस्य कोपाद्विनष्टनत्यसंशयम् ॥ २१८ ॥

तथा च—यस्य यस्य हि कार्यस्य फलितस्य विशेषतः ।

क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम् ॥ २१९ ॥

तद्गुहायामायातम्य ते हतशत्रोः सर्वं सविस्तरं निर्व्याकुलतया  
कथयिष्यामि ।’ अथासौ तद्वचनमाकर्णय मपरिजन एकैकां ज्वलन्तीं  
वनकाष्ठिकां चञ्चलव्रेण गृहीत्वा तद्गुहाद्वारं प्राप्य स्थिरजीविकुलाये  
प्राक्षिपत् । ततः सर्वे ते दिवान्धा रक्ताक्षवाक्यानि रमरन्तो द्वार-  
पणः—काकः । अमित्रं=शत्रुं, शुभम्=अशुभमिति मित्रमिति वेत्ति । पापं=दुष्टं, भद्रं=  
शोभनमिति वेत्ति । दैवहतः=दुर्भाग्यपाणितः ॥ २१७ ॥ कुलायव्याजेन=स्वनीडच्छ-  
लेन । काष्ठनिचये=काष्ठराशी ॥ समेत्य=मिलित्वा । कुम्भीपाकनरकप्रायेण=कुम्भी-  
पा कनरकयन्त्रणासमेन । तात=हे प्रितृष्य । अन्धः=अन्धीभूतोऽपि । शीघ्रकृत्येषु=शीघ्रं  
करणीयेषु ॥ २१८ ॥ फलितस्य=फलावस्थामागतस्य । क्षिप्रं=त्वरितम् । रसम्=सारम् ।  
अत्र यस्य तस्येति पाठान्तरम् ॥ २१९ ॥

हतशत्रोः=नाशितरिपोः । निर्व्याकुलतया=निर्विन्तो भूत्वा । रक्ताक्षवाक्यानि=

१ ‘मित्राणि तस्य नशन्ति अमित्रं नष्टमेव वेति पा० ।

स्याऽऽवृत्तवादनिः सरन्तो गुहामध्ये कुम्भीपाकन्यायमापन्नाः, मृताश्च ।  
एवं शत्रूञ्जिः शेषतां नीत्वा भूयोऽपि मेघवर्णस्तदेव न्यग्रोधपादपदुर्गं  
जगाम । ततः सिंहासनस्थो भूत्वा सभामध्ये प्रमुदितमनाः स्थिर-  
जीविनमपृच्छन्—‘तात ! कथं त्वया शत्रुमध्ये गतेनैतावत्पर्यन्तं  
कालो नीतः ? तदत्र कौतुकमस्माकं वर्तते, तत्कश्यताम् । यतः—

वरमझौ प्रदीप्ते तु प्रपातः पुण्यकर्मणम् (?) ।

न चार्डरजनसंसर्गो मुहूर्तमपि सेवितः ॥ २२० ॥

तदाकर्य स्थिरजीव्याह—‘भद्र ! आगामिफलवाच्छया कष्ट-  
मपि मेवको न जानाति । उक्तच्च यतः—

उपनतभर्यैर्यो यो मार्गो हितार्थकरो भवे-

त्स स निपुणया त्रुद्या सेव्यो महान्कृपणोऽपि वा ।

करिकरनिभौ ज्याधाताङ्कौ महाऽङ्गविशारदौ

रैचितवलयैः खीवद्वद्धां करो हि किरीटिना ॥ २२१ ॥

शक्तेनापि सदा जनेन विदुषा कालान्तरापेक्षिणा

वस्तव्यं खलु वक्रवाक्यविषमे क्षुद्रेऽपि पापे जने ।

दर्वाव्यग्रकरेण धूममलिनेऽस्यासयुक्तेन च

भीमेनाऽतिवलेन मन्त्यभवने किं नोपितं सूदवत् ? ॥ २२२ ॥

स्वमन्त्रिवाक्यानि । आवृत्तवात्=पिहितत्वात् । कुम्भीपाकन्याय=पुटपाकन्यायम् ।

आपक्षा=प्राप्तः । निःशेषनां=निर्मलताम् । कौतुकम्=आश्रयम् । प्रपातः=पतनम् ।  
पायथकर्मणां=महात्मनाम् । ( ) न च=नैव वरम्, न मनागपि श्रेष्ठम् ॥ २२० ॥

आगामिनः—फलस्य वाञ्छया इच्छ्या । सेवकः=भूत्यः । उपनतं=प्राप्तं भयं  
यान्-ते-उपनतभयाः, तैः=विपर्तिजालपतिर्तैः । हितार्थकरः=स्वहितार्थसाधकः । निपु-  
णया=विवेकशालिन्या । महान्=श्रेष्ठः । कृपणः=निकृष्टः । करिकरनिभौ=हस्तिशृण्डादण्ड-  
मदृशां । ज्याधाताङ्कौ—शज्जिनीसमाधातकिणाङ्कितौ । महाङ्गविशारदौ=दिव्याखनिपुणौ ।  
किरीटिना=अजुनेन ॥ २२१ ॥

शक्तेन=समर्थेन । विदुषा=पण्डितेन । ‘नरेन्द्रविदुषेति पाठः कच्चित् । काला-  
न्तरापेक्षिणा=समयमपेक्षमाणेन । वक्रवाक्यविषमे=कूचकवाक्यकठिने । लिखिते वाक्य-  
वज्रेति पाठः कच्चित् । क्षुद्रे=नीचे । पापे=खले । दर्वाव्यग्रकरेण=खजाकालग्नहस्तेन ।

१. ‘वलयरणितौ खीवद्वाहू कृतौ न किरीटिनेति पाठान्तरं, तत्र—न कृताविति काकुः ।  
कृतावेत्यर्थः । २ ‘वाक्यवज्रः’ पा० ।

यद्वा तद्वा विषमपतितः सायु वा गर्हितं वा  
 कालापेक्षी पिहितनयनो बुद्धिमान्कर्म कुर्यात् ।  
 किं गाण्डीवस्फुरदुख्याणास्फानककरपाणि-  
 नासीलीलानटनविलसन्मेस्त्वली सव्यसाची ! ॥ २२३ ॥  
 सिद्धिं प्रार्थयता जनेन विदुपा तेजो निगृह्य स्वकं  
 सत्त्वोत्साहवताऽपि दैवविधियु स्थैर्यं प्रकार्यं क्रमात् ।  
 देवेन्द्रद्विणेश्वराऽन्तकस्मैरप्यन्वितो आतृभिः  
 किं क्लिष्टः सुचिरं त्रिदण्डमवहच्छीमाङ्ग धर्मात्मजः ? ॥ २२४ ॥  
 रूपाभिजनसम्यज्ञौ कुन्तीपुत्रौ बलान्वितौ ।  
 गोकर्मरक्षांव्यापारे विराटप्रेव्यतां गतौ ॥ २२५ ॥  
 रूपेणाऽप्रतिमेन यौवनगुणैः श्रेष्ठे कुले जन्मना  
 कान्या श्रीरिव याऽत्र सापि विदशां कालक्रमादागता ।  
 मैरन्धीति सर्गवितं युवतिभिः साक्षेपमाज्जस्या  
 द्वौपद्या ननु मत्स्यराजभवने घृष्टं न किं चन्दनम् ? ॥ २२६ ॥

( दवां=‘करक्षुल’ ‘चमन्ना’ ) । आथासयुक्तेन=परिश्रमाखिनेन । मत्स्यभवने=मत्स्य । तन्य विराटस्य भवने । सूदः=पानकः ॥ २२२ ॥

यद्वा तद्वा=यस्त्विच्छिदपि । विषमपतितः=पितृतिमग्नः सन् । कालापेक्षी=शुभमभयं प्रतोक्षमाणः । पिहितनयनः=विचारं त्यक्त्वाऽक्षिणी निर्मालय । ( आंख बन्द करके किसी तरह से ) । ‘हृदयनिहित’मिति मुद्रितः पाठः ।

गाण्डीवेति । गाण्डीवस्य यः स्फुरन् उरः=महान्, गुणः=मौर्वी, तस्यास्फालनेन =आकर्षणेन धर्षणेन च क्ररः=कठिनः, पाणिर्यस्यासौ तथाभूतः । लोलया यज्ञटनं=नृत्यं, तेन विलसन्ती मेवला यस्यासौ तथाभूतः । सव्यसाची=अर्जुनः । विराटनगरेऽर्जुनो वृहच्छालारूपेण नृत्यं चकारेति महाभारते ॥ २२३ ॥ तेजः=बीर्य । निगृह्य=पिधाय । नत्वं=धैर्यं । दैवविधियु=दैवादापन्नेषु कर्मसु । देवेन्द्रः=इन्द्रः । द्रविणेश्वरः=कुर्वरः । अन्तकः=यमः । त्रिदण्डं=छत्रम् । धर्मात्मजः=युधिष्ठिरः ॥ २२४ ॥ कुन्तीपुत्रौ=नकुलसहदेवौ । ‘माद्रीपुत्रा’विति गौडाः पठन्ति ॥ २२५ ॥ अप्रतिमेन=अनुपमेन । यौवनगुणैः=नान्दर्यलावण्यादिभिः । श्रीरिवऽसाक्षालक्ष्मीरिव । विदशां=दुर्दशाम् । मैरन्धीति=‘हे मैरन्धि ! चन्दनमानयेत्येव’ । सर्गवितं=सर्गवं । साक्षेपं=साधिष्ठेपच । युवतिभिः=विराटराजयुवतिभिः । आशसया=आदिष्या । घृष्टप्रेति भावः । ‘सैरन्धी यान्य-

१. ‘स्थैर्यं समीक्ष्य क्रममिति पाठ० । २. ‘गोवाजिस्वस्तिसंस्कारे’ इति पाठा । तत्र-स्वस्तिसंस्कारः=रक्षादिः । ( ‘झाड़फूंक’ ‘निगरानी’ ) ।

मंघवर्ण आह—‘तात ! असिधाराब्रतमिदं मन्ये यदरिणा सह संवासः ।’ सोऽब्रवीन्—‘देव ! एवमेतन , परं न तादृङ्गमूर्खमागमः कापि मया दृष्टः, न च महाप्रज्ञमनेकगाढ़ब्रवप्रनिमवुद्धिं रक्ताक्षं विना धीमान—। यन्कारणं—तेन मदीयं यथात्थितं चित्तं ज्ञातम् । ये पुनरन्ये मन्त्रिणस्ते महामूर्खो मन्त्रिमात्रव्यपदेशोपजीविनो-उत्तर्वकुशलाः, यैरिदमपि न ज्ञातम् , यत्—

अैश्विंडभ्यागतो भृत्यो दुष्टस्तन्सङ्गतपरः ।

अपसर्पसधर्मत्वाज्ञित्याद्वेगी च दृष्टिः ॥ २२७ ॥

आसने शयने याने पानभोजनवस्तुपु ।

दृष्टाऽन्नरं प्रमत्तेषु ग्रहरन्यरयोर्दरिषु ॥ २२८ ॥

नस्मान्सर्वप्रयत्नेन त्रिवर्गानिलयं द्रुधः ।

आत्मानमादतो रक्षेत्प्रमादाद्विं विनश्यति ॥ २२९ ॥

साधु चेदमुच्यते—

सन्तापयन्ति कमपथ्यभुजं न रोगा ?

दुर्मन्त्रिणं कमुपयान्ति न नीतिदोषाः । ।

कं श्रीनं दर्पयति ? कं न निहन्ति मृत्युः ?

कं श्रीकृतां न विषयाः परिपीडयैन्ति ? ॥ २३० ॥

लुभ्यस्य नश्यति यशः पिशुनस्य मैत्री

नष्टक्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्मः ।

विद्या बलं व्यसनिनः कृपणस्य सौख्यं

राज्यं प्रमत्तसचिवस्य नराधिपस्य ॥ २३१ ॥

वेइमस्था स्ववशा शिवगकारांस्यमरः ॥ २२६ ॥ यैरिदमपि न ज्ञातं यदिति अधिमश्नोकान्वयि ।

अरितः=शत्रुपक्षात् । द्रृष्टः=न सङ्गग्राह्यः यतः—तासङ्गतः परः=शत्रुसङ्गप्रवण एव स भवति.

न त एवागतवान् । सर्पसंवासधर्मत्वात्=सर्पयुक्तगृहवत् नित्यं भयजनकत्वात् स दूषितः=

न्याज्य एव । मुद्रितपाठे तु—अपसर्पः=गुप्तचरः । तत्सधर्मत्वात्=तत्तुल्यत्वादित्यर्थः ॥ २२७ ॥

अन्तरं=छिद्रं । प्रमत्तेषु=असाक्षातेषु ॥ २२८ ॥ त्रिवर्गानिलयं=धर्मार्थकामसाध-

नम् । आत्मानं=शरीरम् । आदृतः=सावधानः सन् ॥ २२९ ॥ दर्पयति=गर्वशालिनं

करोति । श्रीकृताः=प्रभादकृताः । ‘श्रीकृते’ इति लिखितपुरतकपाठः ॥ २३० ॥

पिशुनस्य=सूचकस्य । नष्टक्रियस्य=आचारशून्यस्य । अलसस्य च । अर्थपरस्य=

१. अरितोऽभ्यागतोऽभित्रः शत्रुसंवासतत्परः । सर्पसंवासधर्मत्वाज्ञित्योदेगेन दूषितः ॥ इति, ‘अपसर्पसधर्मत्वा’दिति च पाठा । २ ‘स्वीकृताः’ । ३ ‘परितापयन्ति’पाठ ।

तद्राजन ! ‘असिधाराब्रतं मयाऽचरितमरिसंसर्गा’ दिति  
यद्भवतोक्तं, तन्मया साक्षादेवानुभूतम् । उत्तम्भ—

अपमानं पुरस्कृत्य मानं कृत्वा तु पृष्ठतः ।

स्वार्थमभ्युद्धरेत्प्राज्ञः स्वार्थं अंशो हि मूर्खता ॥ २३२ ॥

स्कन्धेनापि वहेच्छव्रुं कालमासाद्य बुद्धिमान् ।

वहता कृष्णसर्पेण मण्डुका विनिपीतितः ॥ २३३ ॥

मध्यवर्ण आह—‘कथमेतत् ?’ । द्वितीयी कथयति—

#### १५. मण्डुकमन्दविपसर्पकथा

अस्मि वरुणादिसमीपे एकमिन्नप्रदेशे परिणतवया मन्दविपो  
नाम कृष्णसर्पः । स एवं चित्ते सञ्चिन्तितवान्—‘कथं नाम मया  
भुवोपायवृत्त्या वर्तितव्यम् ?’ इति । ततो वहुमण्डुकं हृदमुपगम्याऽधृति-  
परीतमिवात्मानं दर्शितवान् । अथ नथा स्थिते तस्मिन्नुद्दकप्रान्तगतेन-  
केन मण्डुकेन पृष्ठः—‘माम ! किमद्य यथा पूर्वमाहारार्थं न विहरसि ?’ ।  
मोऽत्रीवीत्—‘भद्र ! कुनो मे मन्दभाग्यम्याहाराभिलापः ?’ । यत्का-  
रणम्—अद्य रात्रौ प्रदोष एव मयाहारार्थं विहरमाणेन हृष्ट एको मण्डुकः,  
नद्रहणार्थं मया क्रमः सज्जितः । सोऽपि मां हृष्टा मृत्युभयेन स्वाध्याय-  
प्रमक्तानां ब्रह्मणानामन्तरप्रकान्तो न विभावितो मया कापि गतः ।  
नत्सदृशमोहितचित्तेन मया कस्यचिद्वाहणस्य सूनोर्हृदतटजलान्तः-  
म्थोऽङ्गुष्ठो दृष्टः । ततोऽसौ सपदि पञ्चत्वमुपागतः । अथ तस्य पित्रा  
धनपरायणस्य । ‘अर्थपरस्य भूत्या’ इति लिखितपुस्तकपाठः ॥ २३४ ॥ अभ्युद्धरेत्=  
माधयेत् । त्रिशः=नाशः ॥ २३२ ॥ वहता=शव्रुन् स्कन्धे आरोप्य गच्छतापि ॥ २३३ ॥  
वरुणाद्विः=पर्वतविशेषः । परिणतवया=वृद्धः । सुखोपायवृत्त्या=प्रयासरहितया जीविकया ।  
अधृतपरीतमिव=शोकाकुलितमिव । ‘धृतिपरीत’मिति तु मुद्रितः पाठः । उदकप्रान्त-  
गतेन=जलसमाप्तप्रदेशस्थेन । माम=मो मातुल ! विहरमि=उद्योगं करोपि । मन्दभाग्यस्य=  
मन्दप्रारब्धस्य । आहाराभिलापः=मोजनेच्छां । यत्कारणम् (इसमें यह कारण है कि—) ।  
प्रदोषे=सायम् । क्रमः=प्रहरणकालिक आसनवन्धः । सः=मण्डुकः । स्वाध्यायप्रसक्तानां=  
वृद्धाध्ययनमन्धोपासनादितपराणाम् । अन्तः=मध्ये । विभावितः=विज्ञातः । तत्सदृशमो-  
हितचित्तेन=मण्डुकसादृश्यभ्रान्तचित्तेन । सूनोः=पुत्रस्य । हृदः=अगाधजलं सरः ।

१ ‘वहतो हताः’ इति पा० ।

दुःखितेनाहं शप्तो यथा,—‘दुरात्मन् ! त्वया निरपराधो मत्सुतो दष्टः,—तदनेन दोषेण त्वं मण्डूकानां वाहनं भविष्यसि, तत्प्रसाद-लब्धजीविक्या च वर्तिष्यसे’—इति । ततोऽहं युष्माकं वाहनार्थ-मागतोऽस्मि ।’

तेन च सर्वमण्डूकानामिदमावेदितम्, ततस्तैः प्रहृष्टमनोभिः मर्वैरेव गत्वा जालपादनाम्नो दृदुरराजस्य विज्ञप्तम् । अथासावपि मन्त्रिपरिवृतोऽत्यद्दुतमिदमिति मन्यमानः ससम्ब्रमं हृदादुत्तीर्य मन्द-विपस्य फणिनः फणाप्रदेशमधिरूढः । शेषा अपि यथाज्येष्ट तत्पृष्ठो-परि समारुद्धुः । किं वहुना—तदुपरि स्थानमप्राप्तवन्तस्तस्यानुपदं धावन्ति । मन्दविषोऽपि तेषां तुष्ट्यर्थमनेकप्रकारान्गतिविद्योपानदर्श-यन । जालपादो लब्धतदङ्गसंपर्शमुखस्तमाह—

‘न तथा करिणा यानं तुरगेण रथेन वा ।

नरयानेन नावा वा यथा मन्दविषेण मे’ ॥ २३४ ॥

अथान्येद्युर्मन्दविषश्छद्यना मन्दं—मन्दं विसर्पति । तच्च हृष्टा जालपादोऽव्रवीत्,—‘भद्र ! मन्दविष ! यथापूर्वैकिमव्य साधु नोहते?’ । मन्दविषोऽव्रवीत्—‘देव ! अद्याहारवैकल्यान्नं मं बोहुं शक्तिरस्ति ।’ अथाऽसावव्रवीत्—‘भद्र ! भक्षय क्षुद्रमण्डूकान् ।’

तच्छ्रुत्वा प्रहृष्टिसर्वगात्रो मन्दविषः ससम्ब्रममव्रवीत्—‘ममाय-मेव विप्रशापोऽस्ति, तत्तवाऽनेनानुज्ञावचनेन प्रीतोऽस्मि ।’

ततोऽसौ नैरन्तर्येण मण्डूकानभक्षयन्कतिपयैरेवाहोभिर्विलवान्सं-वृत्तः । प्रहृष्टश्चान्तर्लीनमवहस्येदमव्रवीत्—

‘मण्डूका विविधा ह्येते छलपूर्वोपसाधिताः ।

कियन्तं कालमक्षीणा भवेयुः खादतो मम’ ॥ २३५ ॥

असौ=ब्राह्मणपुत्रः । दुरात्मन्=दुष्ट । तेषां=मण्डूकानां । प्रासादेन=अनुग्रहेण । लब्धा या जीविका=आहारः, —तया । वर्तिष्यसे=जीविष्यसे । इदं=सर्पशापकथानकम् । विज्ञम्=निवेदितम् । फणिनः=सर्पस्य । यथाज्येष्ट=ज्येष्ठकनिष्ठकमेण । अनुपदं=पृष्ठतः । कर्णिणा=हस्तिना । मन्दविषेण=अनेन सर्पेण ॥ २३४ ॥ छद्यना=कपटेन । विसर्पति=चलात् । साधु=शोभनम् । उद्धते=प्राप्यते । आहारवैकल्यात्=भोजनविरहात् । अन्तर्लीनम्=

जालपौदोऽपि मन्दविषेण कृतकवचनव्यामोहितचित्तः किमपि नाववुध्यते । अत्रान्तरेऽन्यो महाकायः कृष्णसर्पस्तमुद्देशं समायातः । तं च मण्डूकैर्वाङ्मानं दृश्या विस्मयमगमन् । आह च—‘वयस्य ! यदस्माकमशनं तैः ( कथ्रं ) वाहसे ? । विरुद्धमेतत् ।’ मन्दविषोऽब्रवीन्—

सर्वमेतद्विजानामि यथा वाहोऽस्मि ददुर्हेः ।  
किञ्चिन्कालं प्रतीक्षेऽहं दृतान्धो ब्राह्मणो यथा ॥ २३६ ॥

सोऽब्रवीन्—‘कथमेतत् ?’ । मन्दविषः कथयति—

### १६. दृतान्धब्राह्मणकथा

अस्ति कस्मिन्दिवधिप्राने यज्ञदत्तो नाम ब्राह्मणः । नस्य भार्या पुंश्चल्यन्यासनकमना अजस्रं विदाय सखण्डदृतान्धृतपूरान्कुत्वा भर्तु-श्रौरिकया प्रयच्छति । अथ कदाचिद्गर्ता दृश्वाऽब्रवीन्—‘भद्रे ! किमेतत्परिपन्थ्यते ? कुत्र वाऽजस्रं नयसीदम् ? कथय सत्यम्’ । सा चोत्पन्नप्रतिभा कृतकवचनैर्भर्तारमब्रवीन्—‘अस्त्यत्र नातिदूरे भगवत्या देव्या आयतनं, तत्राऽहमुपोषिता सती वलि भक्ष्यविशेषांश्चापूर्वान्न-यामि ।’ अथ तस्य पश्यतो गृहीत्वा तत्सकलं देव्यायतनाभिमुख्या प्रतस्थे । यत्कारणं—देव्या निवेदितेनाऽनेन मदीयो भर्तैवं मंस्यते, यन्—‘मम ब्राह्मणी भगवत्या: कृते भक्ष्यविशेषान्नित्यमेव नयती’ति । अन्तर्निंगृहम् । ( मन ही मन ) । छलपूर्वोपसाधिताः—कपटेन स्ववर्णे कृताः । कियन्तं=विपुलम् । अक्षीणाः=असमाप्ताः । खादतः=भक्षयतः ॥ २३५ ॥ कृतकवचनव्यामोहितचित्तः=कपटवाक्यरचनाव्यामोहितमानसः । अववुध्यते=जानाति । वयस्य—सखे । अशनं=भक्ष्यभूताः । वाद्यः=वाहनतां गतोऽस्मि । पुंश्चली=कुलया । अजस्रं=प्रत्यहं । विदाय=जागाय । सखण्डदृतान्=दृतशर्करायुतान् । दृतपूरान्=भक्ष्यमेदान् । ( ‘घेर’ ) । उत्पन्नप्रतिभा=प्रत्युत्पन्नमतिः । कृतकवचनैः=मिथ्यावाक्यैः । आयतनं=मन्दिरम् । उपोषिता=कृतप्रता । वलिम्=उपहारम् । अपूर्वान् नानाविधान् । तस्य=भर्तुः । यत्कारणं=देवीमन्दिरं प्रतिगमनस्थेदं कारणं यत् । ( क्योंकि 'इसलिए कि— ) ।

१ ‘जलपादे’ति पा० । २ इयं कथाऽदलोलत्वात्काशिकमध्यमपरीक्षापाठांशब्दिर्भूता ।

अथ देव्यायतने गत्वा स्नानार्थं नद्यामवतीर्य यावत्स्नानक्रियां करोति, तावद्वतांपि मार्गान्तरेणागत्य देव्याः पृष्ठतोऽद्वृश्योऽवतस्थे ।

अथ सा ब्राह्मणी स्नात्वा देव्यायतनमागत्य स्नानानुलेपन-माल्यधूपवलिक्रियादिकं कृत्वा देवीं प्रणम्य व्यजिङ्गपत्—‘भगवति ! केन प्रकारेण मम भर्तान्धो भविष्यति ?’ ! तच्छ्रुत्वा स्वरभेदेन देवीपृष्ठस्थितो ब्राह्मणो जगाद्—‘यदि त्वमजस्म घृतपूरादि भक्त्यं तस्मै भर्त्रे प्रयच्छसि, ततः शीघ्रमन्धो भविष्यति ।’ सा तु वन्धकी कृतकवचनवच्चतमानसा तस्मै ब्राह्मणाय तदेव नित्यं प्रददौ ।

अथाऽन्येन्द्रुब्राह्मणेनाभिहितम्—‘भद्रे ! नाहं सुतरां पठयामि ।’ तच्छ्रुत्वा चिन्तितमनया—‘देव्याः प्रसादोऽयं प्राप्तः’—इति ।

अथ तस्या हृदयवल्लभो विटस्तत्सकाशम्—‘अन्धीभूतोऽयं ब्राह्मणः किं मम करिष्यती’ति निःशङ्कः प्रतिदिनमभ्येति ।

अथाऽन्येन्द्रुमनं प्रविशन्तमभ्याशागतं दृप्ता केशैर्गृहीत्वा लगुडपार्णिप्रभृतिप्रहारैस्तावदताडयत्,—यावदसौ पञ्चत्वमाप । तामपि दुष्पत्रीं छिन्ननासिकां कृत्वा विसर्जे । अतोऽहं ब्रवीमि—‘सर्वमंतद्विजानामि—’ इति । ५३

अथ मन्दविपोऽन्तर्लीनमवहस्य पुनरपि ‘मण्डूका विविधा ह्येते—’इति तदेवाऽब्रवीत् । अथ जालपादस्तच्छ्रुत्वा सुतरां व्यप्रहृदयः ‘किमनेनाभिहितम्’—इति सम्यडाऽवगम्य तमपृच्छत्—‘भद्र ! किं त्वयाऽभिहितमिदं विरुद्धं वचः ?’ । अथाऽसावाकार-प्रच्छादनार्थं ‘न किञ्चित्’—इत्यब्रवीत् । तथैव कृतकवचनव्यामोहितचित्तो जालपादस्तस्य दुष्टाभिसन्धि नावबुध्यते । किं बहुना-तथा तेन सर्वेऽपि भक्षिता यथा बीजमात्रमपि नावशिष्टम् । अतोऽहं ब्रवीमि—‘स्कन्धेनापि वहेच्छुत्रम्’—इति । ५३

---

अनुलेपनम्=अङ्गरागादिकं । माल्यं=माला । क्रिया=निवेदनं । व्यजिङ्गपत्=प्रार्थयामास, प्रपञ्चेति वा । तत्=स्वभार्यांवचः । स्वरभेदेन=कण्ठध्वनि परावर्त्य । अजस्रं=नित्यं । घृतपूरो—मध्यभेदः । ( ‘धेर’ ‘जलेनी’ ) । वन्धकी=कुलटा । ( बदमास )—कृतकवचन-

अथ राजन ! यथा मन्दविषेण बुद्धिवलेन मण्डका निहताः, तथा मयापि सर्वेऽपि वैरिण इति । साधु चेदमुच्यते—

वने प्रज्वलितो वहिंद्रहन्मूलानि रक्षति ।

समूलोन्मूलनं कुर्याद्युर्यो मृदुशीतलः ॥ २३७ ॥

मेववर्ण आह—‘तात ! सत्यमेवैतत् ; ये महात्मानो भवन्ति ते महासत्त्वा आपद्रुता अपि प्रारब्धं न विसर्जयन्ति । उक्तच्च यतः—

महत्वमेतन्महतां नयाऽलङ्कारधारिणाम् ।

नथा च— न मुच्छन्ति यदारब्धं कृच्छ्रेष्ठं व्यसनोदये ॥ २३८ ॥

प्रारभ्यते न खलु विवन्भयेन नीचैः प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।

विनैः सहस्रगुणितैरपि हन्यमानाः प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति ॥ २३९ ॥

तत्कृतं निष्कण्टकं मम राज्यं शत्रून्निःशेषतां नयता त्वया ।

अथवा युक्तमेतन्नयवेदिनाम् । उक्तच्च यतः—

ऋगशेषं चाऽग्निशेषं शत्रुशेषं तथैव च ।

व्याधिशेषेष्व निःशेषं कृत्वा प्राज्ञो न सीदति ॥ २४० ॥

मोऽत्रवीत्—‘देव ! भाग्यवांस्त्वमेवासि, यस्याऽस्त्रद्वयं सर्व-  
मेव संसिध्यति । तत्र केवलं शौर्यं कृत्वं साधयति, किन्तु प्रज्ञया  
यत्क्रियते तदेव विजयाय भवति । उक्तच्च यतः—

शर्षीर्हता न हि हता रिपवो भवन्ति

प्रज्ञाहतास्तु रिपवःसुहता भवन्ति ।

विज्ञितमानसा=कपवाक्यविधितनित्ता । तदेव=वृतपूरादि । सतरां=यथान्तर । अनया=वाद्याण्या । हृदयवलभः=प्रियः । विटः=पिङ्गः । ( यर ) । अभ्याशगतं=निकटस्थितं । पाणिः=पादप्रान्तभागः ( पट्टी ) । आकारप्रच्छादनार्थं=मनोभावगोपनार्थम् । दुष्ट्रिमिसन्धिः=दुष्ट्रिमनोभावम् । पाठान्तरे—वायौधः=जलप्रवाहः । वहिंस्तु मूलं न दहति, परं जल-  
पूरम्तु समूलसुन्मूलयति । ‘वायु’रिति सुहितः पाठस्तु न सुन्दरः ॥ २३७ ॥ महा-  
सत्त्वाः=महीजसः । नीतिरेवालङ्कारस्तद्वारणशीलानां । व्यसनोदये=विपत्तिसमागमे ॥ २३८ ॥  
ये विरमन्ति ते मध्या इत्यर्थः । ‘प्रारभ्य चोत्तमजनां नेति क्वचित्पाठः ॥ २३९ ॥ सीदति  
दुःखमनुभवति ॥ २४० ॥ प्रज्ञाया=नुदया । प्रज्ञाहताः=नीतिप्रयोगनाशिताः । प्रशा-

१. ‘समूलकार्यं करति वायोधो मृदुशीतलः’ इति लिखितपुस्तकपाठोऽसीव हृष्ट इति  
गौडाः । २. ‘विच्चैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः’ इति कचित्पाठः । ३. ‘पुनः पुनः  
प्रवर्त्तेत तस्माच्छेषं न कारये’ दिति लिखिते पुस्तके पाठः ।

शस्त्रं निहन्ति पुरुषस्य शरीरमेकं  
प्रज्ञा-कुलञ्च विभवञ्च यशश्च हन्ति ॥ २४१ ॥

तदेवं प्रज्ञापुरुषकाराभ्यां युक्तस्याऽयत्नेन कार्यसिद्धयः  
सम्भवन्ति । उत्तच्च—

प्रसरति मतिः कार्यारम्भे, दृढीभवति स्मृतिः,  
स्वयम्पुनमन्त्यर्था, मन्त्रो न गच्छति विष्णवम् ।

स्फुरति सफलस्तर्कार्थत्वं समुच्चितमक्षुते  
भवति च रतिः श्लाघ्ये कृत्ये नरस्य भविष्यतः ॥ २४२ ॥

तथा च नयत्यागशौर्यसम्पन्ने पुरुषे राज्यमिति । उत्तच्च—

त्वागिनि शूरे विदुपि च संसर्गरुचिर्जनो गुणो भवति ।

गुणवति धनं धनाच्छ्रीः श्रीमत्याज्ञा ततो राज्यम् ॥ २४३ ॥

मेघवर्ण आह—‘नूनं सद्यः फलानि नीतिशास्त्राणि, यत्त्वया-  
इनुकूलयेनानुप्रविश्याऽपि मर्दनैः सपरिजनो निःशेपितः । स्थिरं जीव्याह—  
तीक्ष्णोपायप्रासिगम्योऽपि योऽर्थस्तस्याप्यादौ संश्रयः साधु युक्तः ।  
उत्तुङ्गाग्रः सारभूतो वनानां नाडनभ्यचर्यं चिद्धयते पादपेन्द्रः ॥ २४४ ॥

अथवा स्वामिन् ! किं तेनाऽभिहितेन यन्—अनन्तरकालं क्रिया-  
रहितमसुखसाध्यं वा भवति ? । माधु चेद्मुच्यते—

परिकृता वुद्धिः ॥ २४१ ॥ पुरुषकारः=पराक्रमः । अयत्नेन=अनायासेन । प्रसरति=  
त्वरितं चलति । अर्थः=मनोरथः । उपनमन्ति=फलन्ति । मिध्यन्ति च । मन्त्रः=मन्त्रितम् ।  
विसर्वं=प्रकाशं । तर्कः=ऊहः । समुच्चितम्=ओव्रत्यम् । अश्रुते=व्याप्रोति । रतिः=अनु-  
रागः । भविष्यतः=शुभोदर्कस्य (जिसकी आगे उत्तरि होने वाली होती हैं उसकी) ॥ २४२ ॥

नयः=सुमन्त्रः । नीतिश्च । संसर्गरुचिः=सङ्कृतिपरः । धनं—भवतीतिशेषः । श्रीः=  
मध्यत्तिः । आज्ञा=अनुशासनम् । ‘ऊर्वा’ति गौडाः पठन्ति । राज्यं—विपुलभूमिलाभः ॥  
॥ २४३ ॥ आनुकूलयेन=तत्पक्षप्रवेशेन । तीक्ष्णोपायः=वधताडनदण्डादिः । अर्थः=प्रयो  
जनं । तस्य=तत्सिद्धये । आदौ—पूर्वं । संश्रयः=आश्रयणम् । सम्प्रयुक्तः=शोभनः । उत्त-  
क्राग्रः=विशालः, प्रोक्षतशिखरः । वनस्य सारभूतः=श्रेष्ठतमः । पादपेन्द्रः=महावृक्षोऽपि ।  
अनभ्यचर्यं=अपूजयित्वा । न चिद्धयते=न खण्डयते । किन्तु पूजां कृत्वैव चिद्धयते तक्षका-

१. ‘ऊर्कुराजोऽपमर्द’इति पाठा । २. चिरजांबी’ति पाठा० । ३. ‘सम्प्रयुक्तः  
‘द्वीक्षयाग्रे लक्ष्यभूतो वनानां नानभ्यचर्यं चिद्धयते’ इति पाठो लिखिते पुस्तके ।

अनिश्चितैरध्यवसायभीरुभिः पदे पदे दोषशतानुदर्शिभिः ।

पर्लैर्विसंवादमुपागता गिरः प्रयान्ति लोके परिहासवस्तुताम् ॥२४५॥

न च लघुव्यपि कर्तव्येषु धीमद्विरानादरः कार्यः । यत्—

शक्ष्यामि कर्तुमिदमल्पमयत्वसाध्यमत्रादरः क हति कृत्यमुपेक्षमाणाः ।

केचित्प्रमत्तमन्तःपरितापदुखमापव्यसङ्कुलभं पुरुषाः प्रयान्ति ॥२४६॥

तद्व जितारं र्मद्विभोर्यथापूर्वे निद्रालाभो भविष्यति । उच्यते चैतन्—  
निःसर्वे हतसर्वे वा भवने सुप्त्यने सुखम् ।

दृष्टनष्टभुजङ्गे तु निद्रा दुःखेन लभ्यते ॥ २४७ ॥

तथा च—विस्तीर्णव्यवसायसाध्यमहतां स्त्रिघोपयुक्ताशिथां

कार्याणां नयसाहसोन्नतिमत्तामच्छापदारोहिणाम् ।

मानोत्सेकपराक्रमव्यसनिनः पारं न यावद्दतः ।

सामर्थे हृदयेऽवकाशविषया नावलकथं निर्वृतिः ॥२४८॥

तद्वसितकार्यारम्भम्य विश्राम्यतीव मे हृदयम् । तदिदम्-  
धुना निहतकण्टकं राज्यं प्रजापालनतपरो भूत्वा पुत्रादिक्रमणा-  
उचलच्छत्रासनैश्रीश्विरं भुड्क्ष्व ।

दिभिरित्यर्थः ॥ २४८ ॥ अभिहितेन=उक्तेन । अनन्तरकाले=साधनावसरे । क्रियारहितं  
=साधनरहितम् । असुखसाध्यं=दुःखसाध्यम् । अनिश्चितैः=निश्चयरहितैः । अध्यवसाय  
भीरुभिः=उच्योगकार्त्तैः । विमंवादं=विपरीतताम्, गिरः=मन्त्राः । वाक्यानि वा ।  
परिहासवस्तुतां=परिहास्यताम् । 'परिहास्ये'ति क्वचित्पाठः ॥ २४९ ॥

आपत्प्रसङ्गसुलभम्=विपत्तिसमागमसुलभम् ॥ २४९ ॥

मद्विभोः=अस्मदीयस्य महाराजस्य भवतः । 'हतसर्वे हत्यत्र 'बद्धसर्वे' हति मुद्रितः  
पाठः । सुखमिति क्रियाविशेषणम् । दृष्टनष्टे=पूर्वे दृष्टे पश्चात्पलायिते तु निद्रां न लमते नरः ।  
'सदा दृष्टभुजङ्गे तु निद्रा दुःखेन लभ्यते'हति तु मुद्रितः पाठः ॥ २५० ॥

विस्तीर्णव्यवसायसाध्यानामत एव महतां=षेषानां । स्त्रिर्थः=गुरुजनैः । प्रयुक्ता  
'विजयस्त्वं' 'राज्यं लभत्वे'त्यादय आश्वियो येषां तेषाम् । किञ्च—नयसाहसोन्नतिमतां=  
मन्त्रसाहसोन्नत्यसाध्यानाम् । इच्छापदारोहिणाम्=मनोरथविषयाभूतानां—कार्याणां—राज्य-  
विजयादानां मानोत्सेकपराक्रमव्यसनिनः=मानोन्नतिपराक्रमैकप्रवणा मनस्विनः । यावत्पारं=  
सिद्धं न गतास्तावत्—हृदये=चित्ते सामर्थे=कार्यचिन्ताव्यग्रे—अवकाशविषया=अवकाश-  
मयोचिता, निर्वृतिः=शान्तिः, कर्थं=न कथमपि भवतीत्यर्थः । 'विस्तीर्णव्यवसाय-  
सारमहताम्' हति । सुन्दरः पाठः ॥ २५१ ॥

अवसितकार्यारम्भस्य=सकलोद्योगस्य । निहतकण्टकं=शान्तोपदवम् । अचलं

१ अचलच्छत्रासनश्रीभवान् राज्यं भुड्क्ष्वेत्यन्वयः ।

प्रजा न रञ्जयेद्यस्तु राजा रक्षादिभिर्गुणेः ।

अजागलस्तनस्येव तस्य राज्यं निरर्थकम् ॥ २४६ ॥

गुणेषु रागो व्यसनेष्वनादरो रतिः सुभृत्येषु च यस्य भूपतेः ।

चिरं स भुड़के चलचामरांशुकां सितातपत्राभरणां नृपश्रियम् ॥ २५० ॥

न च त्वया 'प्रापराज्योऽह' मिति मत्वा श्रीमदेनाऽऽत्मा  
व्यंमयितव्यः । यत्कारणं—चला हि राज्ञो विभूतयः । वंशारोहण-  
वद्राज्यलक्ष्मीर्दुर्गारोहा, क्षणविनिपाता । पारदरसवन्—प्रयत्नशत्तै-  
रपि धार्यमाणा दुर्घरा । प्रशस्ताऽऽराधिताप्यन्ते विप्रलम्भनी, वानर-  
जातिरिव विद्रुतानंकचित्ता । पद्मपत्रादकमिवाऽवटितसंश्लेषा ।  
पवनगतिरिवाऽतिचपला । अनार्यसङ्गतिमिवाऽस्थिरा । आशीविप इव  
दुरुपचारा । सन्ध्याभ्रलंखेव मूहूर्तरागा । जलवुद्धुदावलीव स्वभाव-  
भङ्ग । शरीरप्रकृतिरिव कृतन्ना । स्वप्नलव्यद्रव्यगाशिरिव क्षणहष्टनष्टा ।  
अपिच—यदेव राज्ये क्रियनेऽभियेकस्तदेव बुद्धिव्येसनेषु योज्या ।

घटा हि राज्ञामभियेककालं सहाऽभ्यसैवापद्मुद्दिरन्ति ॥ २५१ ॥

रामस्य ब्रजनं ब्रह्मनियमनं पाण्डोः सुतानां वनं

वृष्णीनां निधनं नलस्य नृपते राज्यात्परिभ्रंशनम् ।

नात्याचार्यकमजुँनस्य पतनं सञ्चिन्य लङ्केश्वरे

सर्वं कालवशाज्जनोऽत्र सहते कः कं परित्रायते ? ॥ २५२ ॥

धन्त्रमामनं श्रीश्च यस्यामी तथा भूतः । रज्येत्=प्रसादयेत् । गुणेः=स्वात्मस्थरक्षकत्वादिभि-  
र्गुणेः । अजागलस्तनस्येव=ज्ञानागलस्थितमनाकारमांसयन्धेतिव ॥ २४९ ॥ चलं चामर-

मेवांशुकृं=वसनं यस्याः ताम् । सितमातपत्रमेवाभरणं यस्याः सा ताम् । नृपश्रियं=राज-  
लक्ष्मीम् ॥ २५० ॥ श्रीमदेन=राज्यगवेण । व्यं मयनव्यः=वधनायाः । (धोखा) । विभूतयः=  
भूम्पदः । वंशास्याग्रभाग इव दुर्खेनारोहुं लक्ष्मी च शक्तये, क्षणेन पातयति च । पारदरसः=

पारदः । धार्यमाणा=स्थाप्यमाना । विप्रलम्भनी=वधयित्वा गमनशाला । विद्रुतम्=

इतस्ततो आम्यत । अनेकं=नानाप्रकारं चित्तं यस्याः सा=अतिनधला । अघटितसंश्लेषा

=सम्पर्कशून्या । दुरुपनारा=अनाराश्या, दुश्कित्स्या च । मुहूर्तरागा=क्षणमात्रविनाशि-  
रागा । व्यसनेषु=विष्वतोकारे । घटा=अभियेकजल्गृणः कलशाः । अभ्यसा=

अभियेकजलेन—सहैव । उद्दिरन्ति=वर्पन्ति । राज्यारोहणसमयादेवापदागमो भवना-  
त्याश्यः ॥ २५१ ॥ अनधिगमनीयः=अविषयः । ब्रजनं=वनगमनम् । निधनं=

वन्धनं । वनं=वनगमनम् । वृष्णीनां=शादवानाम् । निधनं=मरणम् । नात्याचार्यकम्=

नात्याचार्यत्वं—बृहन्नलारूपेण विराटनगरेऽर्जुनस्य प्रसिद्धमेव । पतनं=विनाशम् । लङ्केश्वरे

क स दशरथः स्वर्गे भूत्वा महेन्द्रसुहद्रतः ?

क स जलनिधेवेलां बद्ध्वा नृपः सगरस्तथा ?

क स करतलाजातो वैन्यः ? क सूर्यतनुमनु-  
र्ननु बलवता कालेनैते प्रबोध्य निर्मालिताः ॥ २५३ ॥  
मान्धाता क गतखिलोकविजयी राजा क सत्यवतो :

देवानां नृपतिर्गतः क नहुपः । सच्छास्त्रवित्केशवः ।  
मन्ये ते सरथाः सकुञ्जरवराः शक्रासनाध्यासिनः

कालेनैव महामना ननु कृताः कालेन निर्वासिताः ॥ २५४ ॥

अपि च स च नृपतिस्ते सचिवास्ताः प्रमदास्तानि काननवनानि ।

स च ते च ताश्च तानि च कृतान्तदृष्टानि नष्टानि ॥ २५५ ॥

एवं मत्तकरिकर्णच चलां राज्यलक्ष्मीमवात्य न्यायैकनिष्ठो भूत्वोपभुक्ष्व ॥

ॐ इति पञ्चतन्त्रे काकोलूकीयम् ॥

रावणे, रावणस्येन यावन् । परित्रायते=रक्षति । न कोपात्ययः ॥ २५२ ॥

केति । महेन्द्रस्य-नृपद्भूत्वा=मत्रपदवीमासाद्य-क गतः । । वेलां=मर्यादां । ॥  
तथा=क गतः । प्रबोध्य-विकाम्य । निर्मालिताः=मङ्गोचिताः, नाशिताः ॥ २५३ ॥

सत्यवतः=भांधः । देवानाभपि राजा=महेन्द्रो भूत्वा-नहुपः क गतः । । केशवः-  
श्रांकणः । मकुञ्जरवराः=अनेककोटिगजपरिवागः । शक्रासनाध्यासिनः=इन्द्रमदामनाधे  
भागाध्यामनशालाः । इन्तः कालेनैव कृताः, कालेनैव च नाशिताः ॥ २५४ ॥ सः=जगदि-  
दितः, अग्मभिरनुभूतभरः । एवमये तच्छब्दः सर्वत्र पूर्वानुभूतप्रकातपरामयःकः ।  
पूर्वोपात्तानां राजादानाच क्रमशः 'म च' त्यादिना ग्रहणम् । कृतान्तदृष्टानि=  
कालावलानानि ॥ २५५ ॥

मत्तः=उमत्तो यः करी-गजस्तस्य कर्ण इव च धलाम्=अतिच्छलाम ।  
न्यायैकनिष्ठः=न्यायपरायणः ।

इति श्रीजगद्विदितमाहात्म्य—पट्टशास्त्रवाचस्पति—मरुमण्डलमार्त्तिण—

श्री १०८ श्रीस्तेहिरामशास्त्रिणां पौत्रेण, 'प्रतिवादिभयङ्करभयङ्कर'

विद्यावाचस्पति—न्यायशास्त्राचार्य—श्रीशिवनारायण-

शास्त्रिणां पुत्रेण, श्रीराजलक्ष्मीर्भसम्भूतेन श्री-

गुरुप्रसादशास्त्रिणा विरचितायाम्बन्धतन्त्रा-

भिनवराजलक्ष्म्यां काकोलूकीयं

नाम तृतीयं तन्त्रम् । \*

## →ॐ अथ लब्धप्रणाशम् ॐ←

अथद्वारम्भयते लब्धप्रणाशं नाम चतुर्थतन्त्रम्। यस्यायमादिमः  
श्लोकः—

समुत्पन्नेषु कार्येषु बुद्धिर्यस्य न हीयते ।  
स एव दुर्गं तरति जलस्थो वानरो यथा ॥ १ ॥

तत्त्वशानुश्रूयते—अस्ति कस्मिंश्चिस्मुद्रोपकण्ठे महाज्ञम्—  
पादपः सदाकलः । तत्र च रक्तमुखो नाम वानरः प्रतिवसति स्म  
तत्र च तस्य तरोरधः कदाचित्करालमुखो नाम मकरः समुद्रसलिला-  
निष्क्रम्य सुकोमलवालुकासनाथे तीरोपान्ते न्यविशत । ततश्च  
रक्तमुखेन स प्रोक्तः—‘भोः ! भवान्समभ्यागतोऽतिथिः, तद्वक्ष्यतु  
मया दत्तान्यमृततुल्यानि जम्बूफलानि । उत्तच्च—

प्रियो वा यदि वा द्वेष्यो मूर्खों वा यदि पण्डितः ।  
वैश्वदेवान्तमापन्नः सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः ॥ २ ॥

\* श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिकृता अभिनवराजलक्ष्मीः \*

लब्धस्य प्रणाशः—लब्धप्रणाशो यस्मिन् तन्त्रे तन्—लब्धप्रणाशम् । कार्येषु समुत्पन्नेषु—  
अवसरे समागते । विष्टिकाले इति यावत् । यस्य=युंसः । हायते=कुण्ठिना न भवति, न  
विपादति । दुर्गं=विषदम्, दुःखादिकं—दुर्गमम् ॥ १ ॥

अनुश्रूयते=परम्परया श्रूयते । समुद्रोपकण्ठे=सागरसमांपे । सदाकलः=सर्वतुंफल  
प्रदः । मकरः=ग्राहः । (‘मगरमच्छ’) । सलिलं=जलम् । निष्क्रम्य=वहिरागत्य । (निकल  
कर) । सुकोमलाभिः=मृदुभिः । वालुकाभिः=सिकताभिः । सनाथे=समलङ्घने । नारो  
पान्ते=तटसमीपदेशे । न्यविशत=अतिष्ठत् । समभ्यागतः=आयातः । जम्बूफलानिः=जम्बूः  
(‘जामुन’) । द्वेष्यः=अप्रियः । वैश्वदेवान्ते=विलैश्वदेवकर्मान्ते, भोजनावसरे । आपन्नः=

१ ‘लब्धमर्थेन्तु यो मोहात्सान्त्वनैः प्रतिमुञ्चति ।

स तथा वज्ज्यते मूढो मकरः कपिना यथा ॥’ हृति ॥ पाठा० ।

न पृच्छेचरणं गोत्रं न च विद्यां कुलं न च ।  
 अतिथिं वैश्वदेवान्ते श्राद्धे च मनुरव्रवान् ॥ ३ ॥  
 दूरायातं पथिश्रान्तं वैश्वदेवान्तमागतम् ।  
 अतिथिं पूजयेद्यस्तु स याति परमां गतिम् ॥ ४ ॥  
 अपूजितोऽतिथिर्यस्य गृहायाति विनिःसन् ।  
 गच्छन्ति विमुखास्तस्य पितृभिः सह देवताः ॥ ५ ॥

एवमुक्त्वा तम्मै जम्बूफलानि ददौ । सोऽपि तानि भक्षयित्वा  
 तेन सह चिरं गोष्टीसुखमनुभूय भूयोऽपि स्वभवनमगान् । एवं  
 नित्यमेव तौ वानरमकरौ जम्बूच्छायास्थितौ विविधशास्त्रगोष्ठया  
 कालं नश्यन्तौ सुखेन तिष्ठतः । सोऽपि मकरो भक्षितशोपाणि जम्बू-  
 फलानि गृहे गत्वा स्वपत्न्याः प्रयच्छति । अथाऽन्यस्मिन् दिवसे  
 तया स प्रष्टः—‘नाथ ! क्वैवं विधान्यमृतफलानि प्राप्नोपि ?

स आह—‘भद्रे ! ममास्ति पग्ममुहृदकमुखो नाम वानरः, म  
 ग्रीतिपूर्वमिमानि फलानि प्रयच्छति । अथ तयाऽभिहितम्—‘यः सदैवा-  
 मृतप्रायाणीहशानि फलानि भक्षयति तस्य हृदयममृतमयं भविष्यति ।  
 तद्वदि मया भार्यया ते प्रयोजनं ततमतस्य हृदयं महः प्रयच्छ-येन  
 तद्वक्षयित्वा जगामरणगहिता त्वया सह भोगान्भुनजिमि ।’

स आह—‘भद्रे ! मा मैवं वद । यनः स प्रतिपन्नोऽम्माकं  
 भ्राता । अपरं फलदाता । ततो व्यापादयितुं न शक्यते । तच्यजैनं  
 मिश्याऽप्रहम् । उत्तरं—

एका प्रेसूयते माता द्वितीया वाकप्रसूयते ।  
 वारजातमधिकं प्रोक्तुः सोदर्यादपि बाल्यवान् ॥ ६ ॥

प्राप्तः । स्वर्गसद्गमः=स्वर्गमध्यरणमार्गः । (‘धार्मा’ ‘राम्ना’) । ‘संक्रमो दुर्गमध्यर’ इत्यमरः ।  
 चरणं=शास्त्रां । गोत्रं=गोत्रप्रवर्तकान् ऋषीन् ॥ ३ ॥

गोष्टीसुखं=कथालापगोष्टीसुखम् । विविधशास्त्रगोष्ठया=नानाशास्त्रचर्चाकथाभिः ।  
 तया=स्वपत्न्या । प्रयच्छति=ददाति । अमृतमयम्=अमृतास्वादमधुरं, पीयुषनिभिंत वा ।  
 तस्य=वानरस्य । भोगान्=सुखं । भुनजिम=अनुभवामि । प्रतिपन्नः=स्वीकृतः । (‘धर्मभाई’) ।  
 मिथ्या=व्यर्थम् । आद्यां=हठम् । पाठान्तरे एकं-आतरं । प्रसूयते=जनयति । द्वितीयं=प्रतिपन्नं

१ ‘दूरमार्गश्चमश्चान्त’मिति मुद्रितपुस्तकेषु पाठः । २ ‘एक’मिति ‘द्वितीय’मिति पा० ।

अथ मकर्याह—‘त्वया कदाचिदपि मम वचनं नान्यथा कृतं, तन्ननं सा वानरी भविष्यति, यतस्तदनुरागतः सकलमपि दिनं तत्र गमयसि । तन्—त्वं ज्ञातो मया सम्यक् । यतः—

साहादं वचनं प्रयच्छसि न मे, तो वाञ्छितं किञ्चन

प्राप्यः प्रोच्छूसिष्य द्रुतं हुतवहज्वालासमं रात्रिषु ।

कण्ठाश्लेषपरिग्रहं शिथिलता यज्ञादराच्छुम्बसे

तत्ते धूर्तं ! हृदि स्थिता प्रियतमा काचिन्ममेवापरा ॥ ७ ॥

सोऽपि पन्न्याः पादोपसङ्ग्रहं कृत्वाऽङ्कोपरि निधाय तस्याः कोपकोटिमापन्नायाः सुदीनमुवाच—

मति तं पादपतिते किञ्चरत्वमुपागते ।

त्वं प्राणवह्यमे ! कस्मात्कोपने ! कोपमंव्यसि ? ॥ ८ ॥

सापि तद्वचनमाकर्ण्याश्रुप्लुतमुखी तमुवाच—

सार्थं मनोरथशतैस्तव धूर्तं ! कान्ता मैव स्थिता मर्नसि कृत्रिमभावरस्या । अस्माकमस्ति न कर्थंचिद्दिहावकाशस्तस्मात्कृतं चरणपातविडम्बनाभिः ॥ ९ ॥

अपरं—सा यदि तत्र वल्लभा न भवति, तत्किं मया भणि-तोऽपि तां न व्यापादयसि ?’ अथ यदि स वानरस्तत्कस्तेन सह तत्र न्नेहः ? । तत्किं वहुना—, यदि तस्य हृदयं न भक्षयामि तर्हि मया भान्तरं । वाक्—वाणी । वाग्जातं=प्रतिपन्नं भ्रातरं (‘धर्मभाद’ ‘मुहूरोला भाई’) । अन्यथा—कृतम्=उल्लङ्घितम् । तया=वानराः मह । ‘तदनुरागत’ इति तु सुन्दरः पाठः । गमयसि=अतिवाहयसि । साहादं=महर्य । वचनम्=उत्तरम् । हुतवहज्वालासमं=त्रिह-ज्वालातुल्यमत्युष्णम् । कण्ठाश्लेषपरिग्रहे=कण्ठालिङ्गनस्थाकारे । ‘परिग्रहः कलत्रे च मूलस्वाकारयोरप्यो’ति अथयकोशः । धूर्तं=शठ । अपरा=अन्या ॥ ७ ॥

पादोपसङ्ग्रहं=नरणवन्ननम्, अङ्कोपालिगन्धनं वा । अङ्कोपरि=उत्सङ्गोपरि (‘गोद में’) । कोपकोटि=कोषप्रकर्म । आपन्नायाः=प्राप्तायाः । ‘सुदीन’=मेति क्रियाविशेषणम् । किञ्च-रत्वं=भूत्यत्वम् । कोपने=हे कोपशाले । ॥ ८ ॥ अश्रुभिः धूतं=व्यासं मुखं यस्याः सा=अश्रुधूतवदना । मनोरथशतैः सार्थम्=अभिलापरम्पराभिः सह । कृत्रिमभावरस्या=लीलाविलासरमणीया । मैव=अन्या ते प्रिया हृदि स्थितेति अनेकजनसंकीर्णे तत्रास्माकमव-काश एव नास्तीति—अलं पादपतनाडम्बरैरित्यर्थः । अनेकजनपूर्णे स्थानेऽन्यस्यावकाशो नैव भवतीति लोकप्रसिद्धमेव ॥ ९ ॥

प्रायोपवेशनं कृतं विद्धि ।' एवं तस्यास्तं निश्चयं ज्ञात्वा चिन्ता  
न्याकुलितहृदयः सः प्रोवाच,-'अहो ! साधिदमुच्यते-

वज्रलेपस्य मूर्खस्य नारीणां कर्कटस्य च ।

एको ग्रहस्तु र्मानानां नीलीमध्यपयोस्तथा ॥ १० ॥

'तकि करोमि ? कथं स मे वध्यो भवति ?'। इति विचिन्त्य  
वानरपाश्वर्मगमन् । वानरोऽपि चिरादायान्तं तं सोद्वेगमवलोक्य  
प्रोवाच-‘भो मित्र ! किमद्य चिरवेलया समायातोऽसि ? कस्मात्साह्नावं  
नालपसि ? । न च सुभापितानि पठसि ? ।

स आह-‘मित्र ! अहं तव भ्रातृजायया निष्ठुरतर्वाक्ष्यैरभिद्वेनः-यन्-‘भोः कृतध्न ! मा मे त्वं म्वमुग्नं दर्शय, यतम्वं प्रतिदिनं  
मित्रमुपजीवसि, न च तस्य पुनः प्रत्युपकारं गृहदर्शनमात्रेणापि  
करोपि ।'। तत्ते प्रायश्चित्तमपि नास्ति । उक्तच्च-

ब्रह्मणे च सुरापे च चौरे भग्नवते शठे ।

निष्कृतिर्विहिता सन्धिः कृताने नास्ति निष्कृतिः ॥ ११ ॥

तत्त्वं मम देवरं गृहीत्वाऽद्य प्रत्युपकारार्थं गृहमानय । नो  
चेत्त्वया सह मे परलोके दर्शनम्-‘इति । तदहं तयैवं प्रोक्तस्तव सकाश-  
मागतः । तदद्य तया सह त्वदर्थे कलहायमानस्य ममेयती वेला विलभा ।  
नदागच्छ मे गृहं,-तव भ्रातृपत्री रचितचतुष्का प्रगुणितवस्त्रमणि-  
माणिक्याद्युचिताभरणाद्वारदेशवद्वन्दनमाला सोत्कण्ठा तिष्ठति ।'

भणिते=कथितेषि । वानर इत्यस्य-‘न वानरा’ति शेषः । प्रायोपवेशनम्=आहारत्याग-  
पूर्वकं मरणपर्यन्तं स्थितिः । (‘अनश्नन्’ ‘धरना’) । वज्रलेपः=शिल्परचित्रसन्धानलेप-  
द्रव्यविद्येषः । एको ग्रहः=एक एव निश्चयः, ग्रहणव ॥ १० ॥ सः=वानरः ।  
सोद्वेगं=व्याकुलम् । चिरवेलया=वहोः कालात । भ्रातृजायया=मत्पल्या । (‘भौजाई’) ।  
भग्नवते=यत्तनियमे । श्ठं=खले । निष्कृतिः=प्रायश्चित्तं । देवरं=वानरं । परलोके दर्शनं  
=मरिष्याम्यथैवाहम् । कलहं कुर्वतः=कलहायमानस्य । इयती=पतावती । वेला=समयः ।  
रचितचतुष्का=विरचितगृहप्राङ्गणरेखामण्डला । (‘मङ्गल चौक पूर कर’) । प्रगुणितानि=  
मङ्ग्लीकृतानि-धारितानि च वस्त्रमणिमाणिक्यादीनामुचितानि=योग्यानि, आभरणानि यथा  
सा तथा=मणिमाणिक्यवस्त्रादियोग्यभूषणधारिणी । अन्यथाऽस्य व्याख्यानन्तु परमपणिष्ठता

मर्कट आह—‘भो मित्र ! युक्तमभिहितं मद्भातृपत्न्या । उक्तच्च—  
वर्जयेक्लौलिकाकारं मित्रं प्राज्ञतरो नरः ।  
आत्मनः संमुखं निव्यं य आकर्षेति लोलुपः ॥ १२ ॥  
नचा च—ददानि प्रतिगृहाति गृह्यमाख्याति पृच्छति ।  
मुड़के भोजयते चैव पड्ग्रीविधं प्रीतिलक्षणम् ॥ १३ ॥

परं वयं वनचगः । युग्मदीयं च जलान्ते गृहं, तत्कथं शक्यने  
तत्र गन्तुम् ? । तस्मात्तामपि मे भ्रातृपत्रीमत्रानय—येन प्रणम्य  
नम्या आशीर्वादं गृह्णामि’ । स आह—‘भो मित्र ! अस्ति समुद्रान्तरे  
मुरम्ये पुलिनप्रदेशोऽस्मद्गृहं, तन्मम पृष्ठमारुद्धः सुखेनाऽकुतोभयो  
गच्छ !’ सोऽपि तच्छ्रुत्वा सानन्दमाह—‘भद्र ! यद्येवं तत्किं विल-  
म्बयते ? । त्वर्यताम्, पषोऽहं तव पृष्ठमारुद्धः । तथानुष्ठितेऽगार्थं  
जलधौ गच्छन्तं मकरमालोक्य भयत्रम्भमना वानरः प्रोवाच—  
‘भ्रातः ! शनैः—शनैर्गम्यतां, जलक्ष्मेलैः प्लाव्यते मे शरीरम् ।’

तदाकर्ण्य मकरश्चिन्तयामास—‘असावगार्थं जलं प्राप्नो मे वशः  
मञ्जातः, मत्पृष्ठगतस्तिलमात्रमपि चलितुं न शक्नोति, तस्मात्कथ-  
याम्यम्य निजाभिप्रायं, येनाभीष्टदेवतास्मरणं करोति ।’ आह च—  
‘मित्र ! त्वं मया वधाय समानीतो भार्यावाक्येन-विश्वास्य । तत्स्मर्यताम-  
भीष्टदेवता ।’ स आह—भ्रातः! किं मया तस्यास्तवापि चाऽपकृतं येन मे  
वधोपायश्चिन्तितः ? । मकर आह—‘भो ! तस्यास्तावत्तव हृदयस्याऽ-  
मृतमयफलरसास्वादनमिष्टस्य भक्षणेदोहदः सञ्जातः । तेनैतदनुष्ठितम् ।  
नामनुष्पमेवेति गौडाः । द्वारदेशं बद्धा वन्दनमाला यथा सा तथा=पुष्पपङ्कवादलङ्घतोर-  
ग्रपंदशा । सोत्कण्ठा=उत्काठाकुलिता । कौलिकः=तन्तुबायः । स हि पटनिर्माणसमये  
पटं निष्पद्यमानं शनैः शनैराकर्पति । मित्रपक्षे च=धनादिकमादातुं नित्यमिच्छतीत्यर्थः  
॥ १२ ॥ पुलिनप्रदेशो=जलनिस्तुनभूमागे, ( दियरा ) । अकुतोभयः=निर्भयः ।  
तथानुष्ठिते=पृष्ठमारुद्धे । अगार्थः=अतलस्पर्ये ( ‘गहरा’ ) । भयत्रम्भनाः=भयव्याकुल-  
चित्तः । असौ=त्रानरः । वशः=अधोनः । तस्याः=स्वत्पत्न्याः । अपकृतम्=अपराधः कृतः ।  
अमृतमयानां फलानामास्वादनेन=भक्षणेन । मिष्टं=मधुरम् । अत्र ‘मृष्ट’ भिति पाठस्तु न

१. ‘अकृतभय’ इति प्रचलितः पाठः । २ ‘मृष्ट’ इति पाठान्तरम् ।

प्रत्युत्पन्नमतिर्वानर आह—‘भद्र ! यदेवं—नत्कि त्वया मम तत्रैव  
न व्याहृतं ? येन स्वहृदयं जम्बूकोटरे सदैव मया यत्सुगुप्तं कृतं  
तद्भातृपत्न्या अर्पयामि । त्वयाहं शून्यहृदयोऽत्र कस्मादानीत ?’।

तदाकर्ण्य मकरः सानन्दमाह—‘भद्र ! यदेवं तदर्पय मं हृदयं,  
येन मा दुष्टपत्री तद्वक्षयित्वाऽनशनादुत्तिष्ठति । अहं त्वां तमेव  
जम्बूपादप्रापयामि ।’ एवमुक्त्वा निवर्त्य जम्बूनलमगान ।

वानरोऽपि कथमपि जल्पितविविधदेवतोपचारपृजस्तीरमामा-  
दितवान् । ततश्च दीर्घतरचङ्गमणेन तमेव जम्बूपादपमामृष-  
श्चिन्तयामास—‘अहो ! लघ्वाम्तावन्प्राणाः । अथवा माध्यिदमुच्यते—  
न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्तेऽपि न विश्वसेत ।

विश्वासाद्यमुत्पन्नं मलांद्रपि निकृन्तति ॥ १४ ॥

तन्ममैतद्वय पुनर्जन्मदिनमिव मज्जातम् ।’ इति चिन्तयमानं  
मकर आह—‘मो मित्र ! अर्पय तद्भृदयं यथा ने भ्रातृपत्री भक्षयित्वा-  
ऽनशनादुत्तिष्ठति ।’

अथ विहस्य निर्भर्त्मयन्वानरमतमाह—‘धिग्धद् मृग्य ! विश्वाम-  
वातक ! कि कम्यचिद् हृदयद्वयं भवति ? । तदाशु गम्यतां  
जम्बूवृक्षस्याधस्तान्न भ्रूयोऽपि त्वयात्रागान्तव्यम् । उक्तच्च यतः—  
सकृदृष्टं च यो मित्रं पुनः सन्धातुमिच्छति ।

स मृत्युमुष्टपगृह्णाति गर्भमध्यतरी यथा ॥ १५ ॥

तच्छ्रुत्वा मकरः सविलक्षं चिन्तितवान्—‘अहो ! मयाऽतिमृद्देन  
किमस्य स्वचित्ताभिप्रायो निवेदितः ? तद्वद्यसौ पुनरपि कथच्च-  
शोभनः ( शृष्टं=शुद्धं, चिक्कणं वा ) । दोहदः=अभिलापः । तेन=तस्मात् । एतत्वं=तद्भ-  
योपायचिन्तनम् । प्रत्युत्पन्ना=द्रागुत्पन्ना मतिः—कर्त्तव्यवृद्धिर्यस्यासी तथा । ‘भातृपत्न्यै’  
इति च्छेदः । मग्न्यवसामान्ये वा पष्ठा । शून्यहृदयः=हृदयविकलः । जल्पिता-विविधदेवतानामु-  
पचरैः=नानापकरणैः—पूजा येनासौ तथा । पाठान्तरे तु—जल्पितं=सङ्कल्पितं, उपयाचित-  
शतं=नानाविधवलिङ्गशोषो येनासौ तथा । ( उपयाचित=‘भोग ‘सिरणी’ ‘प्रसाद’ ) ।  
चङ्गमणं=चलनं ( ‘लम्बे २ ढग भरकर । अधस्तात्=अधस्तले ।

१. ‘देवतोपयाचितशतः’ इति लिखितपुस्तकपाठः । २. ‘मलान्यपो’ति मुद्रितपाठः ।

द्विश्वासं गच्छति, तद्भूयोऽपि विश्वासयामि । आह च—‘मित्र ! हास्येन मया तेऽभिप्रायो लव्यः, तम्या न किञ्चित्तव हृदयेन प्रयोजनं, नदागच्छ प्राघुणिकन्यायेनाम्मद्दहं, तव भ्रातृपक्षी सोत्कण्ठा वर्तते ।’ वानर आह—‘भो दुष्ट ! गम्यताम्, अधुना नाहमागमिष्यामि । उक्तच्च— बुमुखितः किं न करोति पापं क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति । आख्याहि भद्रे ! प्रियदर्शनस्य ‘न गङ्गदत्तः पुनरेति कूपम्’ ॥ १६ ॥

मकर आह—‘कथंमतन् ? । स आह—

### १. गङ्गदत्तप्रियदर्शनसंपर्कथा

कस्मिंश्चित्कृपे गङ्गडत्तो नाम मण्डूकराजः प्रतिवसति स्म । म कदाचिद्दायादेमद्वेजितोऽरघुवटीमालामारुण्य निष्क्रान्तः ।

अथ तेन चिन्तितम्—‘यत्कथं तेषां दायादानां मया प्रत्यपकारः कर्तव्यः ? । उक्तच्च—

आपदि येनाऽपहृतं येन च हस्तिं दशामु विषमासु ।

अपहृत्य तयोरुभयोः पुनरपि जातं नरं मन्ये ॥ १७ ॥

एवं चिन्तयन्विले प्रविशन्तं प्रियदर्शनाभिधं कृष्णसंपर्मदयन् । नं हृष्टा भूयोऽप्यचिन्तयन्—‘यदेन तत्र कूपे नीत्वा सकलदायादानामुच्छ्रेदं करोमि । उक्तच्च—

शत्रुणा योजयेच्छत्रुं वलिना वलवत्तरम् ।

स्वकार्याय यतो न स्यात्कारित्पीडाऽत्र तत्कथे ॥ १८ ॥

तथा च—शत्रुमुन्मूल्यत्प्राज्ञस्तीक्ष्णं तीक्ष्णेन शत्रुणा ।

व्यथाकरं सुखार्थाय कण्टकेनेव कण्टकम् ॥ १९ ॥

सकृत्=एकवारं । दुष्टं=विकारं प्राप्तम् । सचिलदृशं=सलज्जम् । लब्धः=पर्वाक्षिणः, (‘मन देखता था’) । प्राघुणिकः=अतिथिः, (‘पाहुना’) । तस्य=न्यायेन=भावेन, परिपाद्या वा । प्रियदर्शनस्य=तत्रामकसंपर्स्य । हे भद्रे=शोभने ! आख्याहि=गत्वा कथय । गङ्गदत्तः=मण्डूकराजः ॥ १६ ॥ दायादैः=मन्युभिः । (‘दयाद’ ‘पट्टोदार’ ) । ‘दयादौ मुतवान्धवौ’—इत्यमरः । उद्देजितः=पाणितः । अरघटः=बहुषटयुतः जलनिष्कासनयन्त्रमेदः । तत्र वद्धा या वृट्टीनां माला=श्रेणी ताम् । स्वकार्याय=तस्ताधानाय ।

१ ‘अरघट’—कुपं से पानी निकालने का यन्त्र जिसमें छोटो २ बालटी या घड़ वान्धे जाते हैं, और बैलों से चलाया जाता है ।

एवं स विभाव्य विलद्वारं गत्वा तमाहृतवान्—‘एहोहि प्रियदर्शन ! एहि ।’ तच्छ्रुत्वा सर्पश्चिन्तयामास—‘य एष मामाद्वयति स स्वजातीयो न भवति, यतो नैषा सर्पवाणी । अन्येन केनापि सह मम मर्त्यलोके सन्धानं नास्ति । तदत्रैव दुर्गे स्थितस्तावद्वेद्यि—कोऽयं भविष्यति ? । उक्तच्च—

‘यस्य न ज्ञायते शीलं न कुलं न च संश्रयः ।

न तेन सङ्गतिं कुर्यात् दिन्युवाच द्रुहस्त्वातः ॥ २० ॥

कदाचित्कोऽपि मन्त्रवाद्योपविचतुरो वा मामाहृय वन्धने क्षिपति । अथवा कश्चित्पुरुषो वैरमाश्रित्य कस्यचिद्दक्षगर्थे मामाद्वयति ।’ आह च—‘भोः ! को भवान् ?’ । म आह—‘अहं गङ्गदत्तो नाम मण्डूकाधिपतिस्त्वत्सकाशो मैत्र्यर्थमभ्यागतः ।

तच्छ्रुत्वा सर्प आह—‘भोः ! अश्रद्धेयमेतन्—तृणानां वह्निना मह सङ्गमः । उक्तच्च—

यो यस्य जायते वध्यः स स्वप्नेऽपि कथञ्चन ।

न तत्समीपमभ्येति तत्किमेवं प्रजल्प्यसि ! ॥ २१ ॥

गङ्गदत्त आह—‘भोः ! सत्यमेतन्—स्वभाववैरी त्वमस्माकं, परं परपरिभवात्प्राप्नोऽहं ते सकाशम् ।—उक्तच्च—

सर्वनाशो च सञ्जाते प्राणानामपि संशये ।

अतिशश्वं प्रणम्यापि रक्षेत्प्राणान्धनानि च’ ॥ २२ ॥

सर्प आह—‘कथय कस्मात्ते परिभवः ?’ । स आह—दायादेभ्यः ।’ सोऽप्याह—‘क ते आश्रयोऽप्यां, कूपे, तडागे, हृदेनश्चये=शत्रुविनाशे । पीडा=प्रयामः । मुखार्थाय=स्वमुखाय । ( कण्टक=कांटा ) १९ ॥

सन्धानं=परिचयः, स्नेहो वा । दुर्गे=विले । तावद्=प्रथमम् । संश्रयः=देशः । मङ्गतिं=मैत्री, कथां वा ॥ २० ॥ मन्त्रवदी=तान्त्रिकः । ओषधिन्तुरः=रसायनवित् । ‘अौषधेति पाठान्तरम् । वन्धने=पेटकादी । वैरमाश्रित्य=शत्रूं वैरमनुस्मरन् । वध्यः=मध्यः । एवं=मित्रतापार्थनावाक्यम् ॥ २१ ॥

परेभ्यः=शत्रुभ्यः । परिभवः=तिरस्कारः, तस्मात् । अतिशश्वं=स्वभाववैरिणमपि

१ ‘अपि शत्रूं प्रणम्योऽप्यैरिति लिखितप्रस्तकपाठः ।

वा ?—तत्कथय स्वाश्रयम् ?’ तेनोक्तम्—‘पापाणचयनिवद्धे कूपं ।’  
मर्प आह—‘अहो ! अपदा वयं, तन्नास्ति तत्र मे प्रवेशः, प्रविष्टस्य  
च स्थानं नास्ति, यत्र स्थितस्तत्र दायादान्व्यापादयामि । तद्रस्यताम् ।

उक्तव्य— यच्छक्यं ग्रसितुं पुंसा ग्रस्तं परिणमेच्च यत् ।  
हितं च परिणामे यैतदाद्यं भूतिमिच्छता’ ॥ २३ ॥

गङ्गदत्त आह—‘भोः ! समागच्छ त्वम्, अहं सुखोपायेन  
तत्र तत्र प्रवेशं कागयिष्यामि । तथा—तस्य मध्ये जलोपान्ते  
रस्यतरं कोटरमस्ति, तत्र स्थितस्त्रं लीलया दायादान्व्यापादयिष्यमि ।  
तच्छ्रुत्वा मर्पो व्यचिन्तयन्—‘अहं तावत्परिणतवयाः कदाचित्कथ-  
च्चिन्मूपकमेकं प्राप्नोमि, तत्सुखावहा जीवनोपायोऽयमनेन कुलाङ्गा-  
रेण मे दर्शितः, तद्रुत्वा तान्मण्डूकानभक्षयामि’—इति । अथवा  
साधिवदमुच्यते—

यो हि प्राणपरिक्षीणः सहायपरिवर्जितः ।  
स हि सर्वसुखोपायां वृत्तिमारचयेद्गृह्यः’ ॥ २४ ॥

एवं विचिन्त्य तमाह—‘भो गङ्गदत्त ! यद्येवं तदग्रे भव, येन तत्र  
गच्छावः ।’ गङ्गदत्त आह—‘भोः प्रियदर्शन ! अहं त्वां सुखोपायेन  
तत्र नेष्यामि, स्थानञ्च दर्शयिष्यामि । परं त्वयाऽस्मत्परिजनो  
रक्षणीयः, कैवलं यानहं तत्र दर्शयिष्यामि त पव भक्षणीयाः’—  
इति । सर्प आह—‘साम्प्रतं त्वं मे मित्रं जातं, तत्र भेतव्यं, तत्र वच-  
॥२२॥ आश्रयः=निवासः । पापाणनिचयनिवद्धे=प्रस्तरराश्यनिवद्धे । अपदः=चरण  
गहिताः । वयं=सर्पाः । ग्रस्तं=भुक्तं । परिणमेत्=पाकं प्रामुखात् ( ‘पच सके’ ) । परिणामे=  
आद्यं=भक्षणीयम् ॥ २३ ॥ जलोपान्ते=जल समोपे । कोटरं=निष्कुहाः । ( ‘खोह’  
'वहू' ) लीलया=अनायासेन । परिणतं वयो यस्यासो—परिणतवयाः=वृद्धः । सुखावहः=  
सुखप्रदः । कुलेऽङ्गार इव—कुलाङ्गारः=कुलनाशनः । तेन=कुलकलङ्केन । प्राणपरिक्षीणः=  
र्धाणवलः । मर्पसुखोपायम्=सुखकरोपायसाध्यां । वृत्तिः=जीविकाम् ॥ २४ ॥

परिजनः=वन्धुवान्धवानुचरादिसमूहः । साम्प्रतम्=इदानीम् । मित्रं=सुहृत्,  
१. ‘तद्रक्ष्य’मिति पाठात् २. ‘वृत्तिमारभते द्गृह्यः । ३. मित्रत्वमुपागतः । पा०

नेन भक्षणीयाम्ने दायादाः । एवमुक्त्वा विलाभिष्कम्य तमालिङ्गं  
च तेनैव सह प्रस्थितः ।

अथ कृपमासाद्याऽरघृघटिकामार्गेण सर्पस्तेनै मह तम्यालयं  
गतः । ततश्च गङ्गांदत्तेन कृष्णसर्पं कोटरे ध्रुत्वा दीर्शितास्ते दायादाः ।  
ते च तेन श्वानैः श्वानैर्भक्षिताः ।

अथ मण्डूकाऽभावे सर्पेणाभिहितम्,—भड ! निःशेषिताम्ने  
रिपवः, तान्प्रयच्छाऽन्यन्मं किञ्चिद्द्वोजनं, यतोऽहं त्वयाऽत्राऽनीतिः ।

गङ्गांदत्त आह—‘भड ! कृतं त्वया मित्रकृत्वं, तत्साम्प्रतमनेनैव  
घटिकायन्त्रमार्गेण गम्यताम्’—इति । सर्प आह—‘भो गङ्गांदत्त ! न  
मम्यगमिहितं त्वया,—कथमहं तत्र गच्छामि, ? मदीयविलदुर्गम-  
न्येन रुद्धं भविष्यति, तस्माद्वस्थस्य मे मण्डूकमेकैकं स्ववर्गीयमपि  
प्रयच्छ, तो चेऽस्वर्वानपि भक्षयिष्यामि’ इति । तच्छ्रुत्वा गङ्गांदत्तो  
व्यचिन्तयन्—‘अहो ! किमेनन्मया कृतं सर्पमानयता ? तत्र दि-  
निषेधयिष्यामि तस्वर्वानपि भक्षयिष्यति । अथवा युक्तमुच्यने—

योऽमित्रं कुरुते मित्रं वीर्यमध्यधिकमात्मनः ।

स करोति न सन्देहः— स्वयं हि विपभक्षणम् ॥ २५ ॥

तत्प्रयच्छाम्यम्यैकैकं प्रतिदिनं सुहृदम् । उत्तरं—

सर्वस्वहरणे शक्तं शैवं द्विद्वयुता नराः ।

तोषयन्त्यल्पदानेन वाढवं सागरो यथा ॥ २६ ॥

नथा च यां दुर्बलोऽप्नानपि याच्यमानो बलीयसा यच्छति नैव साक्षा ।

प्रयच्छते नैव च कर्पमात्रं खारीं स चूर्णस्य पुनर्ददाति ॥ २७ ॥

‘मित्रत्वसुपागत’ इति लिखितपुस्तकपाठः । रिपवः—दायादाः । प्रयच्छ=इहि,  
नत्र=बिले । स्ववर्गांश्च=स्वजनं । श्व इति । आत्मनो वीर्यतांरधिकममित्रं मित्रं कुरुते म  
विपभक्षणमिवात्मनाशाश्च कुरुते इत्यर्थः ॥२५॥ द्विद्वयुताः=पण्डिताः । वाढवं=वडवान-  
लम् ॥ २६ ॥ बलीयसा=बलिष्ठेन शत्रुणा-साक्षा=सान्त्वपूर्वकम्—याच्यमानः=  
प्रार्थ्यमानः । अग्ननपि=स्तोकमपि—नैव यच्छति=ददाति । किञ्च कर्पमात्रम्=भक्षमात्रं ।  
चूर्णमिति शेषः । (‘तोलेभर’ चृत्कीभर) । यो न प्रयच्छते=ददाति । स पुनः=चूर्णस्य

१. ‘तेनात्मना सह स्वालयं नीतः’ इत्यपि पाठः । २. ‘युक्तमिति पाठान्तरं ।  
तत्र=युक्तं=उग्नम् ।

तथा च— सर्वनाशे समुत्पदे अर्द्धं त्यजति पण्डितः ।  
 अर्द्धेन कुरुते कार्यं—सर्वनाशो हि दुस्सहः ॥ २८ ॥  
 न स्वल्पस्य कृते भूरि नाशयेन्मर्तिमाक्षरः ।  
 पुतदेव हि पाणिङ्गल्यं यत्स्वल्पाहृरिरक्षणम् ॥ २९ ॥

एवं निश्चित्य नित्यमेकैकं तमाद्यिश्वैति । सोऽपि तं भक्षयित्वा  
 नम्य परोऽस्मेऽन्यानपि भक्षयन्ति । अथवा साध्विद्भुत्यते—

यथा हि मलिनैर्बैर्ष्येत्वं तत्रोपविश्वते ।  
 एवं चलितवित्तस्तु वित्तशेषं न रक्षति ॥ ३० ॥

अथाऽन्यदिने तेनापरान्मण्डूकान्भक्षयित्वौ गङ्गदत्तसुतो यमुना-  
 दत्तो भक्षितः । न भक्षितं मत्वा गङ्गदत्तस्तागस्वरेण ‘धिरिधग्’ इति  
 प्रलापपरः कथिच्चिद्भिति न विरराम । ततः स्वपन्याऽभिहितः—

‘किं क्रन्दासि दुराक्रन्दः स्वपक्षक्षयकरकं !  
 स्वपक्षस्य क्षये जाते को नर्हीता भविष्यति’ ? ॥ ३१ ॥

तद्व्यापि विचिन्त्यतामात्मनो निष्क्रमणम् , अम्य वधोपायं च ।  
 अथ गच्छता कालेन सकलमपि कवलितं मण्डूककुलम् । केवलमेको  
 गङ्गदत्तस्तिष्ठति । ततः प्रियदर्शनेन भणितम्—‘भो गङ्गदत्त ! बुभुक्षि-  
 तोऽहं, निःशेषिता: सर्वे मण्डूकाः, तदीयतां मे किञ्चिद्भोजनं,

वारं—द्रोणचतुष्टयं ( भनभर ) । दास्यति ॥ २७ ॥

स्वल्पात्=स्वप्लमुत्मुज्य दत्त्वा : भूरिरक्षणम्=विपुलस्य रक्षणम् ॥ २९ ॥

यथेति । मलिनवस्त्रो यथा—यत्र तत्र—रथाने उपविशति, न स्वच्छतां प्रतीक्षते, एव  
 चलितवित्तः=क्षीणधनः, अवशिष्टमपि द्रव्यं न रक्षति । यस्तुतस्तु—चलितवृत्त इति पाठः :  
 नलिनवृत्तः=किञ्चिद्भृष्टान्वारः । वृत्तशेषम्=आचारशेषमपि न रक्षति । गर्णकासत्तो मध्यं,  
 मद्यासन्तो मांसं, तदासक्तश्चौर्ये, तदामस्तो द्यूतमित्यादिपापान्यान्वरति ॥ ३० ॥ ‘सारांव  
 रुदिते त्रातर्याक्रन्दो दारुणे रणे’ इति मेदिनां । दुराक्रन्द=दुष्टव्यने ! । दुराक्रान्तेति युक्तः  
 पाठः । दर्मांतिपरायणेयर्थः । परित्राणं=रक्षणं । ‘परित्रा’भिति पाठे—किवन्तमेतत् ।

१. ‘तमदिश’दिति युक्तः पाठः । तं=परिजनम् । अदिशत्=इदौ । ‘चलितवृत्तस्तु  
 वृत्तशेष’ भिति लिखितपुस्तकपाठो हृष्टः, प्रकृतोपयोगी च । ३ ‘भक्षयता’ इति पाठाऽ।  
 ‘परित्रां कः करिष्यति’ । परित्राणं क्व लप्स्यसे’ इति च पाठाऽ ।

यतोऽहं त्वयाऽत्राऽनीतः ।' स आह—‘भो मित्र ! न त्वयात्र विषयं मग्न्यवस्थिते कापि चिन्ता कार्या, तद्यदि मां प्रेपयसि, ततोऽन्यकृपस्थानपि मण्डूकान्विश्वास्याऽत्रानयामि ।' स आह—‘मम तावच्चवमभक्ष्यो भ्रातुरस्थाने, तद्यदेवं करोपि तत्साम्प्रतं—पितृस्थाने भवमि ! तदेवं क्रियताम्’—इति ।

सोऽपि तदाकर्ण्याऽरघुघटिकामाश्रित्य विविधदेवतोपकल्पितपूजोपयाचितस्तस्मात्कृपाद्विनिष्क्रान्तः । प्रियदर्शनोऽपि तदागमनकाङ्क्ष्या तत्रम्यः प्रतीक्षमाणस्तिष्ठति ।

अथ चिंगदनागते गङ्गादत्ते प्रियदर्शनोऽन्यकोटगनिवासिनीं गोधामुवाच—‘भद्रे ! क्रियतां स्तोकं साहाय्यम्, यतश्चिरपरिचितमने गङ्गादत्तः । तद्रुचा तत्सकादां कुत्रचिजलाशयेऽनिवाय मम सन्देशां कथय येनागम्यतामेकाकिनापि भवता द्रुतरं, यद्यन्ये मण्डूका नागच्छन्ति । अहं त्वया विना नात्र वस्तुं शक्नोमि । तथा—‘यद्यहं तव विरुद्धमाचरामि तत्सुकृतमन्तरे मया विघृतम् ।’

गोधाऽपि तद्रुचनाद्गङ्गादत्तं द्रुतरमन्विष्याह—‘भद्र गङ्गादत्त ! म तव सुहृत्यप्रियदर्शनस्तव मार्गं समीक्षमाणस्तिष्ठति, तच्छोब्रमागम्यतामिति । अपरच्च—तेन तव विरुद्धकरणे जन्म सुकृतमन्तरे धृतं । तच्चिःशङ्केन मनसा समागम्यताम् ।’

तदाकर्ण्य गङ्गादत्त आह—

बुभुक्षिनः किं न करोति पापं श्रीणा नरा निष्करणा भवन्ति ।  
आख्याहि भद्रे ! प्रियदर्शनस्य ‘न गङ्गादत्तः पुनरेति कूपम्’ ॥ ३२ ॥

एवमुक्त्वा स तां विसर्जयामाप्स्य क्षे

परित्रां—रक्षामिति त्रार्थः ॥ ३१ ॥ कवलितं—भक्षितम् । पितृस्थाने—पितृतुच्यः । त्रिवधाभ्यां देवताभ्य उपकल्पितं पूजेव—उपयाचितम्=उपहारो येनासौ तथा । उपरचितं=प्रार्थितमिति—व्याख्यानन्तु न प्रकृतानुगुणम् । तदागमनकाङ्क्षया=मण्डूकान्तरागमनाद्या । गोधां=निहाकां, (‘गोह’) । स्तोकं=स्वल्पं । सुकृतं=धर्मः । अन्तरे=मध्ये ।

तद्वो दुष्टजलचर ! अहमपि गङ्गादत्त इव त्वद्वृहे न कथच्चिदपि  
यास्यामि ।'

तच्छ्रुत्वा मकर आह—‘भो मित्र ! नैतद्युज्यते, सर्वथैव मे  
कृनग्रतादांषमपनय मद्वाहगमनेन । अथवा त्राहमनशनात्प्राणत्यागं  
तवोपरि करिष्यामि ।’ वानर आह—‘मृढ ! किमहं लम्बकर्णो मूर्खः !  
दृष्टपायोऽपि स्वयमेव तत्र गत्वात्मानं व्यापादयामि ? ।

आगतश्च गतश्चैव दृष्टा सिंहपराक्रमैम् ।

अकर्णहृदयो मूर्खो यो गत्वा पुनरागतः ॥ ३३ ॥

मकर आह—‘भद्र ! स को लम्बकर्णः ? । कथं दृष्टपायोऽपि  
मृतः, ? तन्मे निवेद्यताम् ।’ वानर आह—

## २. सिंहलम्बकर्णकथा

कस्मिंश्चिद्वनोदेशे करालकेसरो नाम सिंहः प्रतिवसनि स्म ।  
तस्य च धूसरको नाम शृगालः सदैवानुयायी परिचारकोऽन्ति ।

अथ कदाचित्स्य हस्तिना सह युध्यमानस्य शरीरे गुरु-  
तराः प्रहाराः सञ्जाताः, यैः पदमेकमपि चलितुं न शक्नोति ।  
तस्याचलनाच्च धूसरकः क्षुत्क्षामकण्ठो दौर्बल्यज्ञतोऽन्यमिन्नहनि  
तमवोचत्—‘स्वामिन ! बुभुक्ष्यया पीडितोऽहं, पदात्पदमपि चलितुं  
न शक्नोमि, तत्कथं ते शुश्रूषां करोमि ! ।’ सिंह आह—‘भोः !  
गच्छ अन्वेषय किंचित्सत्त्वम्, येनेमामवस्थाज्ञतोऽपि व्यापादयामि ।’

तदाकर्ण्य शृगालोऽन्वेषयन्कच्चित्समीपवर्तिनं प्रामाण्यादि-  
तवान् । तत्र लम्बकर्णो नाम गर्दभस्तडागोपान्ते प्रविरलदूर्वाङ्कुरा-  
न्कृच्छादास्वादयन्दृष्टः । ततश्च समीपवर्तिना भूत्वा तेनाभिहितः—  
विगद्धकरणे=विपरीताचरणे । अपनय=दूरीकुरु । दृष्टाणायः=दृष्टनाशहेतुरपि । अकर्णे-  
हृदयः=कर्णहृदयशून्यः, अतएव—मूर्खः ॥ ३३ ॥

प्रहाराः=आघाताः (‘चोट’ ) । शुश्रूषां=परिचर्याम् । तदागोपान्ते=तदागसमीपे ।  
प्रविरलदूर्वाङ्कुरान्=अगाढोत्पन्नदूर्वाङ्कुरान् । कृच्छात्=कष्टात् । सम्भाव्यताम्=स्वीक्रिय-

१. ‘दृष्टासौ त्वां भयानक’मिति लिखितपुस्तकपाठः ।

‘माम ! नमस्कारोऽयं मदीयः सम्भाव्यताम् । चिराद्गुणोऽसि ? तत्कथय किमेवं दुर्बलतां गतः ? । स आह—‘भो भगिनीपुत्र ! किं कथयामि, रजकोऽतिनिर्दयोऽतिभारेण मां पीडयति । घासमुष्टि-मपि न प्रयच्छति । केवलं दूर्वा द्वुरान्धूलिमिश्रितान्भक्षयामि । तत्कुतों में शरीरे पुष्टिः ?’ ।

शृगाल आह—‘माम ! यद्येवं तदमिति मरकतसदृशशास्प्रायो नदीसनाथो रमणीयतरः प्रदेशः, तत्रागत्य मया मह सुभापित-गोष्ठीसुखमनुभवंस्तिष्ठ ।’ लस्वकर्ण आह—‘भो भगिनीसुत ! युक्त-मुक्तं भवता, परं वयं ग्राम्याः पशावोऽगण्यचारिणां वध्याः, तत्किं नेन भव्यप्रदेशेन ? । शृगाल आह—‘माम ! मैवं वह, मद्भुजपञ्चर-परिगक्षितः स देशः, तत्रामिति कम्यचिदपरम्य तत्र प्रवेशः । परमनेनैव विधिना रजककदर्थिनाम्तत्र तिमो रासभ्योऽनाथाः सन्ति, ताश्च पुष्टिमापन्ना यौवनोऽकटा इदं मामूचुः—‘यदि त्वमस्माकं सत्यो मातुलस्तदा किञ्चिद्वामान्तरं गत्वाऽस्मद्योग्यं किञ्चित्पनिमानय ।’ तदर्थे न्वामहं तत्र नयामि ।’ अथ शृगालवचनानि श्रुत्वा कामपीडिनाङ्गो लस्वकर्णस्तमवोचत—‘भद्र ! यद्येवं तद्ग्रे भव, येनौगच्छामि ।’ अथवा साध्विदमुच्यते—

नामृतं न विषं किञ्चिदेकां मुक्त्वा नितम्बिनीम् ।

यस्याः सङ्गेन जीव्येत त्रियते च वियोगतः ॥ ३४ ॥

नाम् । मरकतसदृशशास्प्रायः=गामतमणितुल्यधासपनुरः । ( मरकत=‘पत्रा’ ) ।

नदीसनाथः=नदामहितः । रमणीयतरः=मुन्दरतरः । सुभापितगोष्ठीसुखं=प्रमालापणोष्ठीवन्धसुखम् । ग्राम्याः=ग्रामवासिनः । भव्यप्रदेशेन =मनोहरप्रदेशेन ।

माम=मातुल । मद्भुजपञ्चरपरिगक्षितः=मत्यालिनः । अनेनैव=त्वत्तुल्येन भक्ष्याला-भादिना । रजककदर्थितः=वन्नधावकपीडिताः । अनाथाः=स्वामिशूल्याः । यौवनोऽकटाः=योवनमदोन्मत्ताः । सत्यः=यथार्थः । तदर्थे=रासभापरिभोगर्थम् । नितम्बिनीं मुक्त्वा=कानिनां विना । अमृतविषेभयघटितं वस्त्वन्तरं नास्ति, यतोऽस्याः सङ्गेन जीवनलाभो

१. अत्र—येन त्वरितं तत्र गच्छावः । युक्तज्ञैतत् ।’ शति लिखितपुस्तकपाठ एव युक्ततरः ।

नथा च—यासां नाम्नापि कामः स्यात्सङ्गमं दर्शनं विना ।

तासां इक्षसङ्गमं प्राप्य यज्ञ द्रवति कौतुकम् ! ॥ ३५ ॥

तथानुष्ठिते शृगालेन सह सिंहान्तिकमागतः । सिंहोऽपि व्यथा-  
कुलितस्तं हप्त्वा यावत्समुच्चिष्टति, तावद्रासभः पलायितुमारव्यवान् ।  
अथ तस्य पलायमानस्य सिंहेन तलप्रहारो दत्तः । स च मन्द-  
भाग्यस्य व्यवसाय इव व्यर्थतां गतः ।

अत्राऽन्तरे शृगालः कोपाविष्टमत्सुवाच—‘भोः ! किमेवंविधः  
प्रहारस्ते,—यद्वद्भोऽपि तव पुरतो वलाद्वच्छति । तत्कथं गजेन सह  
युद्धं करिष्यसि ? । तद् हप्तं ते वलम् ।’ अथ विलक्ष्यस्मितं सिंह आह—  
‘भोः ! किमहं करोमि ? मया न क्रमः सज्जीकृत आसीन्, अन्यथा  
गजोऽपि मत्क्रमाकान्तो न गच्छति ।’

शृगाल आह—‘अद्याऽप्येकवारं तवान्तिके तमानेष्यामि, परं  
त्वया सज्जीकृतक्रमेण स्थातव्यम् ।’ सिंह आह—‘भद्र ! यो मां  
प्रत्यक्षं हप्त्वा गतः स पुनः कथमत्रागमिष्यति ? । तदन्यत्किमपि  
मत्त्वमनिष्यताम् ।’ शृगाल आह—‘कि तवानेन व्यापारेण ?, त्वं  
केवलं सज्जितक्रमस्तिष्ठ ।’ तथानुष्ठिते शृगालोऽपि यावद्रासभ-  
मार्गेण गच्छति, तावत्तत्रैव स्थाने चरन्हप्तः ।

अथ शृगालं हप्त्वा रासभः प्राह—‘भो भगिनीसुत ! शोभन-  
स्थाने त्वयाहं नीतः, द्राकृ मृत्युवशं गतः । तत्कथय किं तत्सत्त्वम् ?  
यस्यातिरौद्रवज्जसदृशकप्रहारादहं सुक्तः ?’

विशेषं च मरणित्यर्थः ॥ ३६ ॥ सज्जमदर्शनाभावेष्य यासां नामश्रवणमात्रेण कामव्यथा,  
नासां कामिनानां इक्षसङ्गमं कटाक्षणोचरतां, प्राप्य, यज्ञे न द्रवति=कामोन्मत्तो न  
भवति, सुखसागरनिमग्नो न भवति वा । कौतुकम्=आश्रयम् ॥ ३५ ॥

तथानुष्ठिते=अप्रतश्चलिते शृगाले । तलप्रहारः=चपेटाधातः, (‘थप्ड’ ) । व्यवसाय  
द्रव=उद्योग इव । एवंविधः=ईदृशः । विलक्ष्यस्मितं=चकितस्मितं । लज्जितस्मितं यथा  
स्यात्तथेति यावद् । ‘विलक्षो विस्मयाविते’ इत्यमरः । क्रमः=आक्रमणोचितः सज्जाहः ।  
व्यापारेण=चिन्तादिना । भगिनीसुत=है भगिनेय ! ( भानजा ) । द्राकृ=शटिति ।

१. ‘यद् दैवान्मृत्युवशं न गतः’—इति लिखितपुस्तकपाठः समुच्चितः ।

तच्छ्रुत्वा प्रहसन्नद्युगाल आह—‘भद्र ! रासभी त्वामायान्तं  
द्वप्ता सानुगगमालिङ्गितुं समुत्थिता, त्वं च कातरत्वान्नप्तः । मा  
पुनर्न शक्ता त्वां विना स्थातुं, तया तु नश्यतस्तेऽवलम्बनार्थं हस्तः  
क्षिपः, नान्यकारणेन ।—तदागच्छ, सा त्वच्छ्रुते प्रायोपवेशनोपविष्टा  
तिष्ठति । एनद्वदति—‘यद्यम्बकर्णो यदि मे भर्ता न भवति, तदहम्मधौ  
जले वा प्रविश्यामि,—न पुनरस्तम्य वियोगं सोहुं शक्नोमि’ । इति ।’  
तत्यसादं कृत्वा तत्राऽऽगम्यनां, नो चेत्तव खोहत्या भविष्यति । अपरं  
भगवान्कामः कोपं तवोपरि करिष्यति । उत्तरं—

खीमुद्रां मकरस्त्रजस्य जयिनां सर्वार्थसम्पर्करो  
ये मृदाः प्रविहाय यान्ति कुर्धियो मिथ्यापफलान्वेषिणः ।  
ते तेनैव निहत्य निर्देयतरं नशीकृता मुण्डिताः  
केचिद्वक्षपटीकृताश्च जटिलाः कापालिकाश्चापरे’ ॥ ३६ ॥

अथाऽमौ तद्वचनं श्रद्धेयतया श्रुत्वा भूयोऽपि तेन सह प्रस्थितः ।  
साधिवद्मुच्यते—

जानश्चापि नरो दैवात्प्रकरोति विगर्हितम् ।  
कर्म, किं कस्यचिछोके गर्हितं रोचते कृतम् ॥ ३७ ॥

गतः=गत इवाभूतम् । अतिर्गदेण=करतरेण । वञ्चसदुशात्=करप्रहारगत=चपेटाधातान् ।  
रासभी=गर्दभी । सानुरागं=सस्नेहम् । कातरत्वात्=भारूत्वात्, नष्टः=पलायितः ।  
नश्यतः=पलायमानस्य । अवलम्बनार्थं=नियंधार्थं (‘पकड़ने के लिए’) । क्षिपः=उत्थापितः ।  
प्रायोपवेशनम्=अनशनम् । वदति । अस्य ‘रासभी’ति शेषः । प्रसादम्=अनुभ्रहम् ।  
मकरस्त्रजः=कामः । जयिनां=जगत्रयविजयशीलाम् । सर्वार्थानां=धर्मार्थकामादीनां सम्पद  
करोति तच्छीलाम्, तद्वत्तुभूतां वा । मुद्रा=चिह्नम् । खीमुद्रां=खीरूपं शासनम् ।  
प्रविहाय=परित्यज्य—उहृष्ट्य वा । मिथ्यापफलानि=स्वर्गोपवर्गादीनि,—अन्वेषयन्ति  
नच्छीलाः । तैनैव=कामेनैव राजा । रक्तपटीकृताः=रुधिराद्र्वसनाः । काषायाम्बरधारिणश्च  
कृताः । जटिलाः=जटाभारधारिणः । कापालिकाः=पाखण्डमेदाः (‘जोगी’‘स्मशान सेवा’) ।  
अन्योपि राजा स्वशासनोहृष्ट्यनपरान्,—तथैव मुण्डनादिना दण्डयति ॥ ३६ ॥

असौ=गर्दभः । तद्वचनं=शृगालवाक्यम् । दैवात्=अदृष्टवशीभूत एव । निन्दितं  
कर्म—किं कस्यापि प्रियं भवति ? न भवतीत्यर्थः । अतो दैवायत्त एव गर्हितं कुरुत इति  
१ ‘स्वर्गोपवर्गेच्छये’ति लिखितपुस्तकपाठः । २. ‘कथ’ मिति प्रचलितः पाठ आसीत् ।

अत्रान्तरे सज्जितक्रमेण सिंहेन म लम्बकर्णो व्यापादितः ।  
ततस्त्वं हत्वा शृगालं रक्षकं निरुप्य स्वयं स्नानार्थं नशां गतः ।  
शृगालेनापि लौल्यौत्सुक्यात्तस्य कर्णहृदयं भक्षितम् ।

अत्राऽन्तरे सिंहो यावत्त्वाच्च छ्रुतदेवाच्चेनः प्रतिपितृगण-  
ममायाति तावकर्णहृदयरहितो रासमन्तिप्रुति । तं हप्तु कोपरी-  
तात्मा सिंहः शृगालमाह—‘पाप ! किमिदमनुचितं कर्म समाचरितं—  
यत्कर्णहृदयभक्षणेनाऽयमुच्छिष्टतां नीतः ?’ ।

शृगालः मविनयमाह—‘स्वामिन् ! मा मैवं वद, कर्णहृदयरहित  
एवायं रासम आसीन्, येनहागत्य न्वामवलोक्य भूयोऽप्यागतः ।’

अथ तद्वचनं श्रद्धेयं मत्वा सिंहस्तेनैव सह संविभज्य निःशङ्खित-  
मनास्तं भक्षितवान् । अतोऽहं त्रीवीमि—‘आगतश्च गतश्चैव—’इति ॥

तन्मूर्च्च ! कपटं कृतं त्वया,—परं युधिष्ठिरेणैव सत्यवचनेन  
विनाशितम् । अथवा साधिवद्मुच्यते—

स्वार्थमुत्सुज्य यो दम्भी सत्यं त्रैते सुमन्दधीः ।

स स्वार्थाङ्गदयते नृतं युधिष्ठिर हवाऽपरः ॥ ३८ ॥

मकर आह—‘कथमेतन् ?’ । स आह—

### ३. युधिष्ठिरकुम्भकारकथा

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने कोऽपि कुम्भकारः प्रतिवसति स्म । स  
कदाचित्प्रमादादर्धभग्नघटकपरंतीक्षणाप्रस्योपरि महता वेगेन  
धावन्पतितः । ततः कर्परकोश्या पाटितलाटो रुधिरप्लाविततनुः  
मावः ॥ ३७ ॥ तं=गर्दभम्, निरुप्य=निर्दिश्य, स्वयं=सिंहः । लौल्यौत्सुक्यात्=चाप-  
ल्येन । उत्कण्ठितया । तस्य=रासमस्य । कर्णहृदयं=कर्णो हृदयच । प्राण्यङ्गत्वादकवद्वावः  
प्रतिपितृपितृगणः=दत्तसतिलजलाज्जिलः । कोपरीतात्मा=कोधाविष्टहृदयः । श्रद्धेयं=  
विश्वासयोग्यम् । संविभज्य=विभागं कृत्वा (‘बांट कर’) । मूर्खं=मूढ मकर । परं=परन्तु  
युधिष्ठिरः—तत्रामा कुम्भकारः । स्वार्थं=स्वप्रयोजनम् । दम्भी=सत्यवादिनमात्रान-  
चिष्यापयिषुः ॥ ३८ ॥

प्रमादात्=अनवधानात् । भग्नघटस्यार्थम्—अर्थभग्नघट, तस्य यः कर्परः कपालम्-  
तस्य यत्तीक्षणमग्नं=गन्तभागस्तस्योपरि—पतित इत्यन्वयः । कर्परकोश्या=कर्पराम्-

कृच्छ्रादुत्थाय स्वाश्रयं गतः । ततश्चाऽप्यसेवनात्स प्रहारम्तस्य करालतां गतः, कृच्छ्रेण च नीरोगतां नीतः ।

अथ कदाचिहुभिर्भूषिते देशे म कुम्भकारः क्षुत्क्षामकण्ठः कैश्चिद्राजसेवकैः मह देशान्तरं गत्वा कम्यापि राज्ञाः सेवको वभूव । स च राजा तस्य ललाटे विकरालं प्रहारक्षतं हष्टा चिन्तयामास यत्—‘वीरः पुरुषः कश्चिदयं, नूनं तेन ललाटपट्टे संमुखप्रहारः ।’ अतस्तं संमानादिभिः सर्वेषां राजपुत्राणां मध्यं विशेषप्रमादेन पश्यति मम । तेऽपि राजपुत्रास्तस्य तं प्रमादानिरेकं पश्यन्तः पर्मीर्ष्याधर्मं वहन्तो राजभयान्न किञ्चिद्दृचुः ।

अश्चाऽन्यस्मिन्नहनि तस्य भूपतेः विश्रहे समुपस्थिते, वीर-सम्भावनायां क्रियमाणायां, प्रकल्प्यमानेषु गजेषु, सन्नद्यमानेषु वाजिषु, योधेषु प्रगुणाक्रियमाणेषु, तेन भूसुजा म कुम्भकारः प्रस्तावानुगतं पृष्ठो निर्जनं—‘भो राजपुत्र ! किं ते नाम ? का च जातिः ? कस्मिन्संग्रामे प्रहारोऽयं ते ललाटे लग्नः ? ।

म आह—‘देव ! नाथं शब्दप्रहारः, युधिष्ठिराभिधः कुलालोऽहं जात्या । मद्देहेऽनेकर्कर्पराण्यासन । अथ कदाचिन्मन्त्रापानं कृत्वा निर्गतः प्रथावन्कर्परोपरि पतितः । ततश्च प्रहारविकारोऽयं कोणेन । पाटितललाटः=भिन्नललाटपट्टः । रुधिरस्त्राविततनुः=रुधिरपरीतगात्रः । ( ‘लोह-नहान’ ) । कृच्छ्रात्=महता कष्टेन । ( किसी तरह ) । अपश्यसेवनात्=अनुचिताचरण-भक्षणादिना । प्रहारः=व्रणः । करालतां=गम्भीरतां । ( ‘गहरा धाव’ ) । नीरोगतां=स्वास्थ्यम् । दुर्भिक्षम्=अकालः । विकरालं=दीर्घमायतं गम्भीरत्वं । प्रहारक्षतं=प्रहार-वर्णम् । तेन=अत एव । विशेषप्रसादेन=विशेषेणानुग्रहेण । ईर्ष्याधर्मम्=ईर्ष्यानिवात भावम् । वीरसम्भावनायां=वीरपूजायाम्, तत्परीक्षायात् । विश्रहे=युद्धे । प्रकल्प्यमानेषु=सङ्गीक्रियमाणेषु । ( हाथी तेयार किए जा रहे थे ) । सन्नद्यमानेषु=पर्याणवन्धादिना सङ्गीक्रियमाणेषु वाजिषु=अद्वेषु । प्रगुणाक्रियमाणेषु=सन्नद्यमानेषु । प्रस्तावानुगतं=प्रसङ्गात् । निर्जने=रहस्यि । अत्र ‘कुलालोऽहं प्रकृत्ये’ति पाठान्तरे प्रकृत्या=स्वभावेनैव ।

१. विलोक्यमानेषु इति पाठा० । २. ‘कुलालोऽहं प्रकृत्ये’ति पाठा० ।

मे ललाट एवं विकरालतां गतः ।' तदाकर्ण्य राजा सब्रीडमाह—  
 'अहो ! वच्चितोऽहं राजपुत्रानुकारिणाऽनेन कुलालेन, तदीयतां  
 द्रागेतस्य चन्द्रार्थः ।' तथानुष्ठिते कुम्भकार आह—'देव ! मैवं कुरु,  
 पश्य मे रणे हस्तलाघवम् ।'

राजा प्राह—'भोः ! सर्वगुणमस्पन्नो भवान्, तथापि गम्य-  
 ताम् । उक्तच—

शूरश्च कृतविद्यश्च दर्शनीयोऽसि पुत्रक !  
 यस्मिन्कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते ॥ ३९ ॥

कुलाल आह—'कथमैतत् ?' । राजा कथयति—

#### ४. सिंहशृगालपुत्रकथा

कस्मिंश्चिदुद्देशे सिंहदम्पती प्रतिवसतः स्म । अथ सिंही  
 पुत्रद्वयमर्जीजनन् । सिंहोऽपि नित्यमेव मृगान्वयापाद्य सिंहौ ददाति ।  
 अथान्यस्मिन्नहनि तेन किमपि नासादितम्, वने भ्रमतोऽपि तस्य  
 गविरस्तं गतः । अथ तेन स्वगृहमागच्छता शृगालशिशुः प्राप्तः ।  
 स च 'वालकोऽय' मित्यवधार्य यक्षेन दंष्रामध्यगतं कृत्वा सिंहौ  
 जीवन्तमेव समर्पितवान् । ततः सिंहाऽभिहितम्—'भोः कान्त !  
 त्वयाऽऽनीतं किञ्चिदस्माकं भोजनम् ?' । सिंह आह—'प्रिये ! मया-  
 द्यैनं शृगालशिशुं परित्यज्य न किंचित्सत्त्वमासादितम्, स च मया  
 'वालोऽय' मिति मत्वा न व्यापादितो, विशेषात्स्वजातीयश्च । उक्तच—

खीविप्रलिङ्गिबालेषु प्रहतंव्यं न कर्हिचित् ।

प्राणात्ययेऽपि सज्जाते विश्वस्तेषु विशेषतः ॥ ४० ॥

प्रहारविकारः=ब्रणः । 'कर्परप्रहारोय मे' इति लिखितपुस्तकपाठो युक्ततरः । चन्द्रार्थः=  
 अर्धचन्द्रम् ।

'गर्दनिया, धक्का ] । 'मा मैवं कुरु' इति पाठान्तरम् । अर्जीजनन्=जनयामास ।  
 स च=सिंहश्च । स्वजातीयः=मांसादी, नखायुधश्च ।

लिङ्गिनः=ब्रह्मचारिपरिवारकादयः । अत्ययः=नाशः । विश्वस्तेषु=विश्वासमापनेषु

१ 'अर्धचन्द्रः' । पा० । २ 'शूरोसि कृतविष्योसि' । पा०

इदानीं त्वमेनं भक्षयित्वा पश्यं कुरु । प्रभानेऽन्यत्किञ्चिदुपा-  
र्जयिष्यामि । सा प्राह—‘भोः कान्त ! त्वया ‘बालकोऽय’—मिति  
विचिन्त्य न हतः, तत्कथमेनमहं श्वोदरार्थे विनाशयामि ? । उत्तरच्च—  
अकृत्यं नैव कर्तव्यं प्राणन्यागेऽन्युपस्थिते ।

न च कृत्यं परित्याज्यमेष धर्मः सनातनः ॥ ४१ ॥

तस्मान्मात्रयं तृतीयः पुत्रो भविष्यन्ति । इत्येवमुक्त्वा तमपि  
स्वस्तनक्षीरेण परां पुष्टिमनयत । एवं ते ब्रयोऽपि शिशवः परम्परम्-  
ब्रातजातिविशेषा एकाचागविहागा बाल्यममयं निर्वाहयन्ति स्म ।

अथ कदाचित्तत्र वर्ते भ्रमन्नगण्यगजः समायातः । तं हप्त्वा तौ  
मिहमुतौ द्वावपि कुपिताननौ तं प्रति प्रचलितौ यावत्, तावत्तेन  
शृगालसुतेनाभिहितम्—‘अहो ! गजोऽयं युष्मकुलशत्रुः, तत्र गन्त-  
व्यमेतस्याभिमुख्यम् ।’ एवमुक्त्वा गृहं प्रति प्रधावितः । तावपि  
ज्येष्ठवान्धवभङ्गान्निरुत्साहतां गतौ । साधिद्वयन्यते—

एकेनापि सुधारेण सोत्साहेन रणं प्रति ।

सोत्साहं जायते सैन्यं, भग्ने भङ्गमवाप्नुयात् ॥ ४२ ॥  
तथा च—अत एव हि वाञ्छन्ति भूपा योधान्महाबलान् ।

शूरार्चीरान्कृतोत्साहान्वर्जयन्ति च कान्तरान् ॥ ४३ ॥

अथ तौ द्वावपि भ्रातरौ गृहं प्राप्य पित्रोभ्रतो विहसन्तौ  
ज्येष्ठभ्रातृचेष्टितमूचतुः—‘यथायं गजं हप्त्वा दूरतोऽपि प्रनष्टः’ इति ।  
भोऽपि तदाकर्ष्य कोपाविष्टमनाः प्रस्फुरिताधरपल्लवस्ताम्रलोचनस्त्रि-  
शिश्वां भृकुटिं कृत्वा तौ निर्भर्त्स्यैन्पृष्ठतरवचनान्युवाच ।

१ विशेषतो न प्रहर्त्यम् ॥ ४० ॥ पथ्यं=भोजनम् । प्राणत्यागे—प्राणनाशे ।  
ननातनः=नित्यः ॥ ४१ ॥ अथं=शृगालः । स्वस्तनक्षीरेण=स्वस्तन्यदुर्घेन । परां=  
महतीम् । एक एव आचारे विहारश्च येषान्ते तथा । प्रकुपिताननौ=कुदौ ।  
अभिमुखं=संमुखम्, तौ=सिंहवालकौ । ज्येष्ठवान्धवस्य=ज्येष्ठभ्रातुः शृगालस्य ।  
भङ्गात्=पलायनात् । रणं प्रति=युद्धं प्रति । सोत्साहेन=उत्साहवता । भङ्गे=पलायने ।  
कान्तरान्=भीतान् ॥ ४३ ॥ कोपाविष्टमनाः=कोपाभिभूतचेताः । प्रस्फुरितः अधर-

१ ‘अस्मकुलशत्रुरिति शोभनः पाठः । २ निर्भर्त्स्यमानः’ । पा० ।

तनःसिद्धा एकान्ते नीत्वा प्रयोधितोऽसौ—‘वत्स ! मैवं कदाचिज्जल्प,  
भवदीयलघुभ्रातरावेतौ—’इति । अथासौ सान्त्ववचनेन प्रभूततरकोपा-  
विष्टम्भामप्युवाच—‘किमहमेताभ्यां शौर्येण स्फैण विद्याभ्यासेन  
कौशलेन वा हीनो येन मामुपहसतः ? । तन्मयाऽवश्यमेतौ व्यापाद-  
नीयौ ।’ तदाकर्ण्य मिही तम्य जीवितमिच्छन्त्यन्तर्विहस्य प्राह—

‘शूरोऽसि कृतविद्योऽसि दर्शनीयोमि पुत्रक ! ।

यस्मिन्कुले त्वमुत्पज्जो गजस्तत्र न हन्यते ॥ ४४ ॥

तन्मम्यकशृणु वत्स ! त्वं शृगालीसुनः कृपया मया स्वमतन-  
शीरेण पुष्टिं नीतः । तद्यावदेतौ मन्मुत्रौ शिशुत्वात्थां शृगालं न  
जानीतः, नावतद्द्रुततरं गन्वा स्यजातीयानां मध्ये मिलितो भव, नो  
चेदाभ्यां हतो मृत्युपथं समेष्यमि ।’ सोऽपि तद्वचनं श्रुत्वा भय-  
न्याकुलमनाः शनैः शनैरपसृत्य स्वजात्या मिलितः । ५३

तस्मात्त्वमपि यावदेते राजपुत्रास्त्वां कुलालं न जानन्ति, ताव-  
द्द्रुततरमपसर, नो चेदेतेपां सकाशाद्विडम्बनां प्राप्य मरिष्यसि ।’

कुलालोऽपि तदाकर्ण्य सत्वरं प्रनष्टः । अतोऽहं त्र्वामि—  
‘स्वार्थमुन्मृज्य यो दम्भी’—इति । ५४

धिङ् मूर्ख ! यत्त्वया खियोऽर्थं पतकार्यमनुष्ट्रातुमारव्यम् । न  
हि स्त्रीणां कथचिद्विश्वासमुपगच्छेत् । उत्तरं—

यदर्थे स्वकुलं त्यक्तं जीवितार्धं च हारितम् ।

सा मां त्यजति निःस्नेहा कः स्त्रीणां विश्वसेष्वरः ? ॥ ४५ ॥

मकर आह—‘कथमेतत् ? । वानर आह—

पह्लो यस्यासौ तथा=कोपप्रकम्पताधरोऽः । ताब्रलोचनः=रक्तनयनः । त्रिशिखाम्=  
कोपकरालाम् । तौ=सिहस्रू । पुत्रक=वत्स ! यस्मिन्कुले=शृगालकुले । अतस्तव न  
दोष इत्याशयः ॥४४॥ अपसृत्य=गत्वा । त्वमपि=हे युधिष्ठिर त्वमपि । पतेषां=राजपुत्रा-  
णाम् । विडम्बनाम्=उपहासं क्षेत्रं कदर्थनां वा ।

वानरो मकरमुपालमते—धिगिति । जीवितार्धम्=आयुपोऽर्धम् । हारितं=दत्तं

### ५. ब्राह्मणब्राह्मणीपङ्कुकथा

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने कोऽपि ब्राह्मणः । तस्य च भार्या प्राणेभ्योऽव्यतिप्रियाऽसीन् । सापि प्रतिदिनं कुटुम्बेन सह कलहं कुर्वाणा न विश्राम्यति । सोऽपि ब्राह्मणः कलहमसहमानो भार्या वात्सल्यात्स्वकुटुम्बं परित्यज्य ब्राह्मण्या सह विप्रकृष्टं देशान्तरं गतः ।

अथ महाट्वीमध्ये ब्राह्मण्याऽभिहितः—‘आर्यपुत्र ! तृष्णा मां वाधने, तदुदकं काप्यन्वेषय ।’ अथासौ तद्वचनानन्तरं यावदुदकं गृहीत्वा समागच्छति, तावत्तां मृतामपश्यत् । अतिसौहार्देन अतिव द्व्यभतया विषादं कुर्वन्यावद्विलपति, तावदाकाशे वाचं शृणोति । तथा हि—‘यदि ब्राह्मण ! त्वं स्वकीयजीवितस्यार्थं ददासि ततस्ते जीवति ब्राह्मणी’ ।

तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणेन शुचीभूय तिसृभिर्वाचाभिः स्वजीवितार्थं दत्तम् । वाक्सममेव च सा ब्राह्मणी जीविता । अथ तौ जलं पीत्वा वनफलानि भक्षयित्वा गन्तुमारव्यौ । ततः क्रमेण कस्यचिन्नगरस्य प्रदेशे पुष्पवाटिकां प्रविश्य ब्राह्मणो भार्यामभिहितवान्—‘भद्रे ! यावदुहं भोजनं गृहीत्वा समागच्छामि तावदत्र त्वया स्थातव्यम्’ । इत्यभिधाय ब्राह्मणो नगरमध्ये जगाम ।

अथ तस्यां पुष्पवाटिकायां पङ्कुररघटूं खेटयन्दिव्यगिरा गीत-मुद्दिरति, तच्च श्रुत्वा कुसुमपुणार्दितया ब्राह्मण्या तत्सकाशङ्क्त्वाऽभिहितम्—‘भद्र ! यदि मां न कामयसे तन्मत्सक्ता स्त्रीहत्या तव भविष्यति’ । पङ्कुरब्रवीत्—‘कि व्याधिप्रस्तेन मया करिष्यसि ?’ । नाश्वितम् ॥ ४५ ॥ विप्रकृष्टं=दूरतरम् । आर्येषुऋ=हे नाथ ! । अतिसौहार्देन=स्लोहा-तिरेकेण । अतिवलभतया=अतिप्रियतया । शुचीभूय=आचमनादिना पवित्रेण । तिसृभिर्वाचाभिः=त्रिवारमुच्चार्य । अवधारणाय दाव्यर्थं च त्रिरूक्तिः । वाक्समं=दानवाक्याभिधानान्तरम् । पुष्पवाटिकायाम्=उथाने । (‘फुलवाणी में’) । अरघटूं=जलोदयरणन्त्रम् । अरघटूं=पुंसि । (रहट) । खेटयन्=चालयन् (‘खेता हुआ, ‘चलाता हुआ’ ) । ‘खेल्य’ जिति मुद्रितपाठेऽपि स एवायोऽनुसन्धेयः । दिव्यगिरा=मधुरस्वरेण । कुसुमपुणा=कामेन । अर्दितया=यीडितया । कामयसे=सुरतेन तर्पयसि । मत्सक्ता=मन्मरणजन्या । व्याधिप्रस्तेन=

**साऽब्रवीत्**—‘किमनेनोक्तेन ? अवदयं त्वया सह मया सङ्गमः कर्तव्यः । तच्छ्रुत्वा स तथा कृतवान् ।

**सुरतानन्तरं साऽब्रवीत्**—‘इतः प्रभृति यावज्जीवं मयात्मा भवते दत्तः’—इति ज्ञात्वा भवानप्यस्माभिः सहाऽऽगच्छतु ।’

**सोऽब्रवीत्**—‘एवमस्तु ।’ अथ ब्राह्मणो भोजनं गृहीत्वा समागत्य तया सह भोक्तुमारवधः । **साऽब्रवीत्**—‘एष पङ्कुर्वुभुक्षितः, तदेतस्यापि क्रियन्तमपि ग्रासं देहि’—इति । तथाऽनुष्ठिते ब्राह्मण्याऽभिहितम्—‘ब्राह्मण ! सहायहीनस्त्वं यदा ग्रामान्तरं गच्छसि, तदा मम वचनसहायोऽपि नाभित, तदेन पङ्कुर्वुगृहीत्वा गच्छावः ।

**सोऽब्रवीत्**—‘न शक्नोम्यात्मानमप्यात्मना वोदुं, किं पुनरेन पङ्कुम् ।’ **साऽब्रवीत्**—‘पेटाभ्यन्तरस्थमेनमहं नेत्यामि ।’ अथ तत्कृतकवचन व्यामोहितचित्तं तेन प्रतिपन्नम् ।

तथाऽनुष्ठितेऽन्यस्मिन्दिने कूपोपकण्ठे विश्रान्तो ब्राह्मणस्तया च पङ्कुपुरुषासत्त्वया सम्प्रेर्य कूपान्तः पतितः । **साऽपि** पङ्कुर्वुगृहीत्वा कस्मिंश्चिन्नगरे प्रविष्टा । तत्र शुल्कचौर्यरक्षानिमित्तं राजपुरुषैरितस्ततो श्रमद्विस्तन्मस्तकस्था पेटा हृष्टा, बलादान्धिद्य राजामे नीता । राजा च यावन्तामुद्धाटयति, तावत्तं पङ्कुर्वुदर्श । ततः सा ब्राह्मणी विलापं कुर्वती राजपुरुषानुपदमेव तत्राऽगता राजा पृष्ठा—‘को वृत्तान्तः ?’इति ।

**साऽब्रवीत्**—‘ममैष भर्ता व्याधिवाधितो दायादसमूहैरुद्घेजितो मया स्नेहव्याकुलितमानसया शिरसि कृत्वा भवदीयनगरे आनीतः ।’ रोगोद्दितेन । सङ्गमः=रतिमहोत्सवः । तथा=नुरतं । यावज्जीवं=यावदाशुष्यम् । आप्या=शरीरम् । वचनसहायः=वार्तालापकर्ता । पेटाभ्यन्तरस्थं=सम्पुटकमध्यस्थापितम् । ( सन्दूख वा पिटारी में बैठा कर ) । कृतकवचनैः=कृपटपूर्णवाक्यैः—व्यामोहितं चित्तं यस्यासौ तेन । ग्रतिपञ्चं=स्त्रीकृतम् । कूपोपकण्ठे=कूपसंक्षिप्तौ । पङ्कुपुरुषासत्त्वया=पङ्कुप्रणयासत्त्वया । सम्प्रेर्य=इदं हस्ताभ्यां प्रहृत्य । ( ‘धक्का देकर’ ) । कूपान्तः=कूपमध्ये । शुल्कं=ग्रामादिप्रवेशे राजदेवो भागः । ( चुंगा ) । ( पेटा=पिटारी ) । आच्छिद्य=अपहृत्य । ( ‘जवरदस्ती छीन कर’ ) । ता—पेटाम् । व्याधिवाधितः=रोगाक्रान्तः । दायादसमूहैः=

तच्छुत्वा राजाऽब्रवीन्—‘ब्राह्मण ! त्वं मे भगिनी, प्रामद्वयं  
गृहीत्वा भर्त्रा सह भोगान्भुजाना सुखेन तिष्ठ ।’

अथ स ब्राह्मणो देववशात्केनापि साधुना कूपादुत्तारितः परि-  
ध्रमंनदेव नगरमायातः—तया दुष्टभार्यया हस्तो राङ्गे निवेदितश्च—  
‘राजन् ! अयं मम भर्तुर्वैरी समायातः ? । राज्ञापि वध आदिष्टः ।  
माऽब्रवीन्—‘देव ! अनया मम सत्तं किञ्चिद्दृहीतमस्ति, यदि त्वं  
धर्मवत्सलः तदा दापय ।’ राजाऽब्रवीन्—‘भद्रे ! यत्त्वयाऽस्य मत्तं  
किञ्चिद्दृहीतमस्ति तत्समर्पय ।’ सा प्राह—‘देव ! मया न किञ्चि-  
द्दृहीतम् ।’ ब्राह्मण आह—‘यन्मया त्रिवाचिकं स्वजीवितार्थं दत्तं—तदेहि ।

अथ सा राजभयात्तैव ‘त्रिवाचिकमेव जीवितार्थं मया  
दत्तम्’—इति जल्पन्ती प्राणैर्विमुक्ता ।

ततः सविस्मयं राजाऽब्रवीन्—‘किमेतत् ?’ इति । ब्राह्मणेनापि  
पूर्ववृत्तान्तः सकलोऽवित तम्मै निवेदितः । अतोऽहं ब्रवीमि—‘यदर्थं  
म्बकुलं त्यक्तम्’—इति । \*

वानरः पुनराह—‘साधु चेदमुपाख्यानं श्रूयते —

न किं दद्याच्च किं कुर्यात्स्वीभिरभ्यर्थितो नरः ।

अनश्च यत्र हैयन्ते तत्र पर्वाणि मुण्डतम्’ ॥ ४६ ॥

मकर आह—‘कथमेतत् ?’ वानरः कथयति—

### ६. नन्दवररुचिकथा

अस्ति प्रस्त्यातबलपौरुषोऽनेकनरंन्द्रमुकुटमरीचिजालजटिलीकृत-  
पादपीठः शरच्छशाङ्ककिरणनिर्मलयशाः समुद्रपर्यन्तायाः पूर्थिव्या  
वन्धुवान्धवैः । (हिस्सेदार ।) उद्देजितः=पाइतः । उत्तारितः=निष्कासितः । दुष्टभार्यया=  
पूर्शलया स्वपल्या । आदिष्टः=आङ्गसः । मम सत्तं=मदीयम् । धर्मवत्सलः=धर्मरक्षकः ।  
'तदापये'ति पाठान्तरम् । तथैव=शुचिर्भूत्वा, यथा त्वया दत्तं तथैव वा । त्रिवाचिकं=  
त्रिस्तुत्वा । मया=ब्राह्मण्या । दत्तं=परावर्त्य दीयते । प्राणैर्वियुक्ता=मृता ।

प्रस्त्यात बलं पौरुषं यस्यासौ तथा=प्रसिद्धबलपराक्रमः । अनेके ये नरेन्द्राः—राजानः,  
तेषां यानि सकुट्यानि, तेषां या मरीचयः=प्रभास्तासां जालेन=पुञ्जेन जटिलीकृतं=शासं

भर्ता नन्दो नाम राजा । तस्य सर्वशास्त्राधिगतसमस्ततत्त्वः सचिवो वररुचिनाम । तस्य च प्रणयकलहेन जाया कुपिता । सा चाऽतीव वद्धभाऽनेकप्रकारं परिनोप्यमाणापि न प्रसीदति । त्रिवीति च भर्ता—‘भद्रे ! येन प्रकारेण तुष्ट्यसि तं वद, निश्चितं करोमि ।’

ततः कथञ्चित्तयोक्तम्—‘यदि शिरो मुण्डयित्वा मम पादयोः निप- नमि तदा प्रसादाभिमुखी भवामि ।’ तथानुष्ठिते च सा प्रसन्नाऽसान ।

अथ नन्दस्य भार्यापि तथैव रुष्टा प्रसाद्यमानाऽपि न तुष्यति । तेनोक्तन—‘भद्रे ! त्वया विना मुहूर्तमपि न जीवामि, पादयोः पतित्वा त्वां प्रसादयानि ।’ साऽत्रवीत्—‘यदि खलीनं मुखे प्रक्षिप्याऽहं तत्र पृष्ठे समारूप्य त्वां धावयामि, धावितस्तु यद्यश्ववद् हेपसे, तदा प्रसन्ना भवामि ।’ राज्ञाऽपि तथैवानुष्ठितम् ।

अथ प्रभातसमये सभायामुपविष्टस्य राज्ञः समीपे वररुचि- गायातः । तं च दृष्ट्वा राजा प्रश्नत्तु—‘भो वररुचे ! कस्मिन् पर्वणि मुण्डतं शिरस्त्वया ? ।’ सोऽत्रवीत्—

‘न किं दद्याक्षं किं कुर्यात्खीभिरभ्यर्थितो नरः ।

अनश्वा यत्र हेपन्ते तत्र पर्वणि मुण्डतम्’ ॥ ४७ ॥

पादपाठं यस्यामीं तथा । अनेकराजवन्दित इत्यर्थः । शरदि यः शशाङ्कस्तस्य ये किरणान्- इत् निर्मलं=स्वच्छं यशो यस्यामीं तथा । कीर्तिशालीत्यर्थः । सर्वैः शास्त्रैः समधिगतं समस्तं तत्त्वं—रहस्यं—भूतं भवित्वात् येनासीं तथा । त्रिकालवेचेत्यर्थः । प्रणयकलहेन=कुत्रिमकलहेन । जाया=पलीं । वल्लभा=प्रिया । अनेकप्रकारं=नानोपायैः । परितोप्य-माणा=प्रसाद्यमाना । प्रमादति=प्रसन्ना भवति । प्रसादाभिमुखी=प्रसन्ना । तथाऽनुष्ठिते=शिरो मुण्डयित्वा पादोपग्रहणे कुत्ते सति । नन्दस्य=तत्त्वाभ्यो महाराजस्य । तेन=नन्देन । पादयोः पतित्वा=प्रणस्य । खलीनं=कविकाम् । [‘लगाम’ व ‘लगाम का कड़’] । धावयामि=प्रेरयामि । (‘चलाना’ ‘हाँकना’) । हेपसे=अद्वशब्दं करोषि । (‘हिन-हिनाना’) । पर्वणि=पुण्यकाले । विना पर्वं शिरोवपनस्य निपेधात् । अभ्यर्थितः=प्राधितः । अनश्वः=अद्वयभिज्ञा भवद्विधा राजानोपि, यत्र—सुरतमहापर्वणि हेपन्ते=अद्वशब्दं कुर्वन्ति, तत्र पर्वणि=तस्मिन् सुरतमहायशे, मया शिरो मुण्डतमिति रात्रिवृत्तान्तस्मारणेन सर्वज्ञेन वरहरचिना राजा कटाक्षितः ॥ ४७ ॥

१. ‘किमपर्वणि—मुण्डतं शिरस्त्वया’ इति पाठा० ।

तद्वो दुष्टमकर ! त्वमपि नन्दवररुचिवत्स्तीवश्यः तत्स्तद्वणितेन  
त्वया मां प्रति वधोपायप्रयासः प्रारब्धः । परं स्ववागदोषेणैव प्रकटी-  
कृतः । अथवा साधिवद्मुच्यते—

आत्मनो मुखदोषेण बध्यन्ते शुकसारिकाः ।

बकास्तत्र न बध्यन्ते मौनं सर्वार्थसाधनम् ॥ ४८ ॥

तथा च—सुगुसं रक्ष्यमाणोऽपि दर्शयन्दारुणं वपुः ।

व्याघ्रचर्मप्रतिच्छङ्गो वाक्कृते रासभो हतः ॥ ४९ ॥

मकर आह—‘कथमेतत् ?’ । वानरः कथयति—

### ७. वाचालरासभकथा

कस्मिंश्चिद्धिष्ठाने शुद्धपटो नामः रजकः प्रतिवसति म्म । तस्य  
च गर्दभ एकोऽस्ति । सोऽपि धासाभावादतिदुर्वलतां गतः । अथ तेन  
रजकेनाऽटच्चां परिभ्रमता मृतव्याघ्रो हृष्टः । चिन्तितच्च—‘अहो !  
शोभनमापतितम्, अनेन व्याघ्रचर्मणा प्रतिच्छाद्य रासभं रात्रौ  
यवक्षेत्रेषुपूत्रक्ष्यामि,—येन व्याघ्रं मत्वा समीपवर्तिनः क्षेत्रपाला एनं  
न निष्कासयिष्यन्ति । तथाऽनुष्ठिते रासभो यथेच्छया यवभक्षणं  
करोति, प्रत्यूषे भूयोऽपि रजकः स्वाश्रयं नयति । एवं गच्छता कालेन  
स रासभः पीवरतनुर्जातः । कृच्छ्राद्वन्धनस्थानमपि नीयते ।

अथाऽन्यस्मिन्नहनि स मदोद्धतो दूराद्रासभीशब्दमशृणोन् ।  
तच्छ्रवणमात्रैणैव स्वयं शशदायितुमारब्धः । अथ तैः क्षेत्रपालैः

मुखदोषेण=वहुभाषणदोषेण, मुखचाख्येन च ॥ ४८ ॥ सुगुसं=निरं गृह  
यथा स्थात्यात् । दारुणं=विकृतं । व्याघ्र चर्मप्रतिच्छङ्गः=व्याघ्र चर्माच्छादितनुः । वाक्कृते=  
वाक्चापलात् ॥ ४९ ॥

वासाभावात्=वासादिभोजनव्यवस्थाऽभावीत् । शोभनमापतितं=युक्तं जातम् ।  
(‘ठीक हो गया’ ) । प्रतिच्छाद्य=पिधाय । उत्स्क्ष्यामि=त्यक्षामि । ‘उत्सुजामी’तिपाठा-  
न्तरम् । प्रत्यूषे=अहमुर्वेषे । (‘तडकाऊ’ ‘पौ फडने पर’ ) । पीवरतनुः=पुष्टेहः । कृच्छ्रा-  
दिति । वन्धनस्थानमपि कृच्छ्रानीयतेऽतिवलशालित्वादित्यर्थः । मदोद्धतः=मदोन्मतः ।

१. ‘ततो भद्र ! तद्वणितेन’ । पा० । २. ‘प्रकटितः’ । ३. ‘साधकम्’ । पा०

‘गसभोऽयं व्याघ्रचर्मप्रतिच्छन्नः’ इति ज्ञात्वा लगुडशरपाणप्रहारैः  
म व्यापादितः । अतोऽहं ब्रीमि—‘सुगुम्भं रक्ष्यमाणोऽपि—’इति । \*

अथैवं तेन सह वदतो मकरस्य,—जलचरेणैकेनागत्याऽभिहितम्—  
‘भो मकर ! त्वदीया भार्याऽनशनोपविष्टा—त्वयि चिरयति प्रणयाऽभि-  
भवाद्विपन्ना’ । एवं तद्वृत्प्रातसदृशवचनमाकर्ण्याऽतीव व्याकुलित-  
हृदयः प्रलपितमेवं चकार—‘अहो ! किमिदं सज्जातं मे मन्दभा-  
ग्यम्य ? । उक्तच्च—

माना यस्य गृहे नास्ति भार्या च प्रियवादिनी ।

अरण्यं तेन गन्तव्यं यथाऽरण्यं तथा गृहम् ॥ ५० ॥

तन्मित्र ! क्षम्यतां, यन्मया तेऽपराधः कृतः, सम्प्रत्यहं तु  
स्त्रीवियोगाद्वैश्वानरप्रवेशं करिष्यामि । तन्चल्लुत्वा वानरः प्रहसन्प्रोवाच-  
‘भोः ! ज्ञातं मया प्रथममेव—यत्वं स्त्रीवश्यः, स्त्रीजितश्च । साम्प्रतं  
च प्रत्ययः सज्जातः । तन्मृदृ ! आनन्देऽपि जाते त्वं विपादं गतः ! ।  
तादृभार्यायां सृतायामुत्सवः कर्तुं युज्यन्ते । उक्तच्च यतः—

या भार्या दुष्टचारित्रा सततं कलहप्रिया ।

भार्यारूपेण सा ज्ञेया विद्ध्यद्वारासुणा जरा ॥ ५१ ॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन नामाऽपि परिवर्जयेत् ।

स्त्रीणामिह हि सर्वासां य हृच्छेसुखमात्मनः ॥ ५२ ॥

यदन्तसत्त्वं जिह्वायां यजिह्वायां न नद्धिः ।

यद्विहस्तज्ज कुर्वन्ति,—विचित्रचरिताः स्त्रियः ! ॥ ५३ ॥

के नाम न विनश्यन्ति ? मिथ्याज्ञानाभितस्त्रिनीम् ।

रम्यां य उपसर्पन्ति दीपाभां शलभा यथा ॥ ५४ ॥

यद्वं कर्तुम् । लगुडशरपाणप्रहारैः—दण्डवाणप्रस्तरप्रहारैः । ‘ते क्षेत्रपालाः—लगुडश-  
रपाणप्रहारैस्तं व्यापादितवन्त’ इति पाठान्तरम् ।

तेन=वानरेण । निरयति=विलम्बं कुर्वणे । प्रणयाभिभवात्—इच्छामानादिविद्या-  
तात् । वैश्वानरः=वहिः । प्रत्ययः=विश्वासः । दुष्टचारित्रा=दुष्टीला । विद्धैः=  
पण्डतैः ॥ ५१ ॥ यत्—अन्तः=अन्तःकरणे । ‘वर्त्तते’ इति शेषः । ‘प्रिये’ति मिथ्याज्ञा-  
नात् ये—रम्यां स्त्रियसुपर्सर्पन्ति—ते शलभा दीपप्रभामिव—तां प्राप्य नूनं नश्यन्तीति

अन्तर्विषया हेता वहश्चैव मनोरमाः ।  
 गुभाफलसमाकाराः स्वभावादेव योषितः ॥ ५५ ॥  
 ताडिता अपि दण्डेन शख्स्त्रैरपि विखण्डिताः ।  
 न वशं योषितो यान्ति न दानैर्न च संस्तवैः ॥ ५६ ॥  
 आस्तां तावकिमन्येन दौरात्म्येनेह योषिताम् ।  
 विष्टतं स्वोदरेणापि धन्त्वा पुत्रं स्वकं रूपा ! ॥ ५७ ॥  
 स्वक्षायां स्नेहसज्जावं कठोरायां सुमार्दवम् ।  
 नीरसायां रसं बालो बालिकायां विकल्पयेत् ॥ ५८ ॥

मकर आह—‘मो मित्र ! अस्त्वेतन, परं किं करोमि ? ममानर्थ-  
 द्रुयमेतन्मज्जातम् । एकस्तावद्गृहभङ्गः, अपरस्त्वद्विधेन मित्रेण सह  
 चित्तविश्लेषः । अथवा भवत्येवं देवयोगात् । उत्तम्च यतः—

यादृशं मम पाण्डित्यं तादृशं द्विगुणं तय ।  
 नाभूजारां न भर्ता च किं निरीक्षेसि नस्मिके ! ॥ ५९ ॥

वानर आह—‘कथमेतत् ? । मकरोऽवर्वीत्—

## २. हालिकवधृशृगालिकावश्वककथा

कम्मित्रिदधिष्ठानं हालिकदम्पती प्रतिवसतः भ्म । सा च  
 हालिकभार्या पत्युवृद्धभावात्मदेवाऽन्यचित्ता न कथच्चिद्गृहे मैर्यमा-  
 लम्बतं—केवलं परपुरुषानन्वेषपमाणा परिभ्रमति । अथ केनचित्  
 परवित्तापहारकेण धूर्तेन सा लक्षिता विजने प्रोक्ता च—‘मुभगे !  
 मृतभार्योऽहं, त्वदृशनेन मरपीडितश्च, तदीयतां मे गतिदक्षिणा ।’

मावः ॥ ५४ ॥ संस्तवैः=‘त्रुतिभिः, प्रशंसावात्यर्थे ॥ ५६ ॥ अन्येन दौरात्म्येन=दुष्टत्वेन  
 वर्णितेन किं !—एकमेव निदर्शनगम्ल, यत्—स्वार्थसिद्धये रुषा स्वं पुत्रमपि धन्त्वाति ॥ ५७ ॥

नीरसायां=शुभ्यायां, क्रारायाच । बालिकायां=युवतौ—बालः=मूसों मुखो वा विकल्प-  
 येत्—निश्चिन्त्यात्, न पाण्डित इत्यर्थः । गृहभङ्गः=पल्लीवियोगः । चित्तविश्लेषः=मनोभेदः ।  
 तादृशं द्विगुणं=मत्तो द्विगुणं । जारः=उपर्पतिः ॥ ५९ ॥

हालिकदम्पती=कुपीवलमिथुनं । (‘किसान रुपपुरुष’ ) । वृद्धभावात्=वार्धक्यात् ।  
 अन्यचित्ता=परपुरुषरता । स्थैर्य=स्थितिम् । परवित्तापहारकेण=परधनापहत्रा । धूर्तेन=  
 वचकेन (‘ठग’ ) । लक्षिता=जाता । विजने=एकान्ते । मृतभार्यः=मृतजायः । रति-

१. ‘जले तिष्ठसि नग्नोऽहति लिखितपुस्तकपाठः ।

ततस्तयाऽभिहितम्—‘भोः सुभग ! यद्येवं तदस्ति मे पत्युः प्रभूतं धनं, स च वृद्धत्वात्प्रचलितुमप्यसर्थः ततस्तद्धनमादायाऽहमाग-च्छामि. येन त्वया महाऽन्यत्र गत्वा यथेच्छया रतिसुखमनुभवि-यामि ।’ सोऽत्रवीत्-रोचते महामप्येतन्, तत्प्रत्यौषेऽत्र शीघ्रमेव नमागन्तव्यं, येन शुभतरं किञ्चिन्नगरं गत्वा त्वया सह जीवलोकः मफलीक्रियते ।’

सापि ‘तथा’—इति प्रतिज्ञाय प्रहसितवद्ना स्वगृहं गत्वा गत्रैः प्रसुप्ते भर्तरि सर्वं वित्तमादाय प्रत्यूपमये तत्कथितस्थानमुपाऽद्वत् । धूर्तोऽपि तामग्रे विद्याय दक्षिणां दिग्माश्रित्य सत्वरगतिः ग्रस्थितः । एवं तयोर्ब्रजतोर्योजनद्वयमात्रेणाऽप्रतः काचिन्नदी समुपस्थिता ।

तां हृष्टा धूर्तश्चिन्तयामास—‘किमहमनया यौवनप्रान्ते वर्तमानया करिष्यामि ? । किञ्च कदाच्यस्याः पृष्ठतः कोऽपि समेव्यति, तन्म महानर्थः स्यान् । तत्केवलमस्या वित्तमादाय गच्छामि ।’ इनि निश्चिन्त्य तामुवाच—‘प्रिये ! सुदुस्तरेयं महानदी, तद्वहं द्रव्यमात्रं पारे धृत्वा समागच्छामि, ततस्त्वामेकाकिनीं स्वप्रष्टुमारोप्य सुखेनोत्तारयिष्यामि ।’ सा प्राह—‘सुभग ! एवं क्रियताम् ।’ इत्युक्त्वा-ऽशेषवित्तं तस्मै समर्पयामास ।

अथ तेनाऽभिहितम्—‘भद्रे ! परिधानाच्छादनवस्त्रमपि समर्पय येन जलमध्ये निःशङ्का ब्रजसि । तथाऽनुष्ठिते—धूर्तो वित्तं वस्त्रयुगलं चाऽदाय यथाचिन्तितविषयं गतः । साऽपि कण्ठनिवेशितहस्तयुगला दक्षिणा=सुरतसौख्यम् । प्रभूतं=वहुलम् । प्रत्यौषे=प्रभाते । ( ‘तडकाऊ’ ) । जीवलोकः मफलीक्रियते=मनुष्यजन्मफलं सुरतसुखमनुभवाम् । तत्कथितं=धूर्तचिन्दिष्टम् । उपाद्रवत्=पलायाथके, जगाम । योजनद्वयमात्रेण=क्रोशाष्टकानन्तरम् । यौवनप्रान्ते=यौवन समाप्तैः । ( ढलती उमर में ) । पृष्ठतः=पश्चाद्गागतोऽन्वेषयन् । अनर्थः=राजदण्डादि । द्रव्यमात्रं=धनं सकलम् ।

परिधानाच्छादनवस्त्रं=धौतवस्त्रोत्तरायवस्त्रयुगलमपि । तथाऽनुष्ठिते=परिधानवस्त्रा दिग्दाने कृते । यथाचिन्तितविषयं=स्वाभिलिपिं देशम् । कण्ठनिवेशितहस्तयुगला=

सोद्वेगा नदीपुलिनदेशे उपविष्टा यावत्तिष्ठति, तावदेतस्मिन्नन्तरे  
काचिच्छृगालिका मांसपिण्डगृहीतवदना तत्राऽऽजगाम । आगत्य च  
यावत्पश्यति, तावन्नदीतीरे महान्मत्स्यः सलिलान्निष्कम्य वहिः स्थित  
आस्ते । एतच्च हृष्टा मांसपिण्डं समुत्पृज्य तं मत्स्यं प्रत्युपाद्रवन् ।  
अत्रान्तरे आकाशादवतीर्य कोऽपि गृध्रस्तं मांसपिण्डमादाय पुनः  
खमुत्पपात । मत्स्योपि शृगालिकां हृष्टा नद्यां प्रविवेश । सा शृगालिका  
व्यर्थश्रमा ग्रन्थमवलोकयन्ती तया नभिक्या सम्मितमभिहिता—

गृध्रेणाऽपहृतं मांसं मत्स्योऽपि सलिलं गतः ।

मत्स्यमांसपरिभ्रष्टे ! किं निरीक्षसि जग्नुकि ! ॥ ६० ॥

तच्छ्रुत्वा शृगालिका तामपि पनिधनजारपरिभ्रष्टां हृष्टा सोप-  
हासमाह—

‘यादृशं मम पाणिडत्यं तादृशं द्विगुणं तव ।

नाभूजारो न भर्ता च किं निरीक्षसि नश्निके ? ॥ ६१ ॥

एवं तस्य कथयतः पुनरन्येन जलचरेणाऽऽगत्य निवेदितं यन्—  
‘अहो ! त्वर्दीयं गृहमव्यपरेण महामकरेण गृहीतम् ।’ तच्छ्रुत्वाऽसा-  
वतिद्वयितमनास्तं गृहान्निःसारयितुमुपायं चिन्तयन्नुवाच—‘अहो !  
पश्यत मे देवोपहतत्व्यम् ।—

‘मित्रं ह्यमित्रतां यातमपरं मे प्रिया मृता ।

गृहमन्येन च व्यासं किमद्यापि भविष्यति ? ॥ ६२ ॥

अथवा युक्तमिदमुच्यते—

क्षते प्रहारा निपतन्यभीक्षणमन्नक्षये दीप्यति जाठराम्भः ।

आपत्सु वैराणि समुद्भवन्ति वामे विधौ सर्वमिदं नरणाम् ॥ ६३ ॥

तत्किं करोमि ? । किमनेन सह युद्धं करोमि । किं वा साम्नैव

स्तनयुगलपिधानार्थं कृतस्वस्तिकाकारहस्ता । नदीपुलिनदेशे=नदीकूले । ‘तोयोत्थित  
तत्पुलिनमित्यमरः । मांसपिण्डं गृहीतं वदने यथा सा—मांसपिण्डगृहीतवदना ।  
गृहीतमांसपिण्डकेति तु लिखितपुस्तके पाठः । उपाद्रवत्=प्रत्युज्ञगाम तस्य=मक-  
रस्य । देवोपहतत्वं=दुरदृष्टकदधितत्वम् । क्षते=ब्रणदी । विधौ=देवे ॥ ६३ ॥ प्रष्टव्यान्=

१. ‘जले तिष्ठसि नश्निके ! इति लिखिते पाठः । २. ‘दैवहतकत्वम्’ । ३. ‘चाकान्तं’ । पा०

सम्बोध्य गृहाच्चिः सारयामि ? । किं वा भेदं दानं वा करोमि ? ।  
अथवाऽमुमेव वानरमित्रं पृच्छामि ? । उत्तरः—

यः पृष्ठा कुरुते कार्यं प्रष्टव्यान्त्वहितान्पुरुन् ।

न तस्य जायते विष्णः कस्मिंश्चिदपि कर्मणि ॥ ६४ ॥

एवं सम्प्रधार्य भूयोऽपि तमेव जम्बूवृक्षमारुदं कपिमपृच्छन्—  
‘भो मित्र ! पश्य मे मन्दभाग्यतां यन्—सम्प्रति गृहमपि मे बलव-  
तरंगं मकरेण रुद्धं, तदहं त्वां प्रष्टुमभ्यागतः । कथय किं करोमि ? ।  
मामादीनामुपायानां मध्ये कस्यात्र विषयः ? । स आह—‘भोः  
कृतन्न ! पापन्नारिन ! भया निपिष्ठोऽपि किं भूयो मामनुसरसि ? ।  
नाहं तव मूर्खस्यांपदेशमपि दास्यामि ।’

तच्छ्रुत्वा मकरः प्राह—‘भो मित्र ! साऽपगाधस्य मे पूर्वस्नेह-  
मनुमृत्यु हितोपदेशं देहि ।’ वानर आह—‘नाहं ते कथयिष्यामि,  
यद्वार्यावाक्येन भवताऽहं समुद्रे प्रक्षेप्तुं नीतः, तदेवं न युक्तम् ।  
यद्यपि भार्या सर्वलोकादपि वलभा भवति तथापि न मित्राणि  
वान्धवाश्च भार्यावाक्येन समुद्रे प्रक्षिप्यन्ते । तन्मूर्ख ! मूढत्वेन  
नाशस्तव प्रागेव निवेदित आसीत् । यतः—

सतां वचनमादिष्टं सदेन न करोति यः ।

स विनाशमवाप्नोति घण्टोऽपि इव सत्वरम् ॥ ६५ ॥

मकर आह—‘कथमेतत् ? । सोऽवर्वीत्—

#### ५. घण्टोऽपृकथा

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने उज्ज्वलको नाम रथकारः प्रतिवसति  
म्म । स चातीव दारिद्र्योपहतश्चिन्तितवान्—‘अहो ! धिगियं  
दरिद्रताऽस्मद्भृहे । यतः सर्वोऽपि जनः स्वर्कर्मण्येव रतस्ति-  
प्रति । अस्मदीयः पुनर्व्यापारो नात्राधिष्ठानेऽहति—यतः सर्व-  
प्रश्नयोग्यान् । विष्णः=विषयः । अनेन=शब्दुभूतमकरेण । घण्टोऽपि=बद्धघण्टः—उष्टः  
॥ ६५ ॥ रथकारः=वर्द्धकिः । (‘बद्धं’ खाता) । रतः=अनुरक्तः । अधिष्ठाने=नगरे ।  
अहंति=वद्धते । ‘अर्धती’ति केचित्पठन्ति । तत्र च—‘प्रवद्धते’ ‘प्रचलता’ति वाऽर्थः ।

लोकानां चिरन्तनाश्चतुर्भूमिका गृहाः सन्ति, मम एकमपि तन्नामिति । तत्किं मदीयेन रथकारत्वेन प्रयोजनम् ।'-—इति चिन्तयित्वा देशान्निष्कान्तः । यावत्किञ्चिद्द्वन्द्वं गच्छति तावद्वाहराकारवनगहनमध्ये सूर्यस्तमनवेलायां स्वयूथाद्वश्चां प्रसववेदनया पीड्यमानामुष्ट्रीम-पश्यत् । सं च दासेरकयुक्तामुष्ट्रीं गृहीत्वा स्वस्थानाभिमुखः प्रस्थितः । गृहमासाद्य रजुं गृहीत्वा तामुष्ट्रिकां बबन्ध । ततश्च तीक्ष्णं परशु-मादाय तस्याः कृते पल्लवानयनार्थं पर्वतैकदेशे गतः । तत्र च नूतनानि कोमलानि बहूनि पल्लवानि छित्वा शिरसि समारोप्य तस्या अत्र निचिक्षेप । तया च तानि शनैः शनैर्भक्षितानि । पश्चात्पल्लवभक्षण-प्रभावादहर्निंशं पीवरतनुरुष्ट्री सञ्जाता । सोऽपि दासेरको महानुष्ट्रः सञ्जातः । ततः स नित्यमेव दुर्घं गृहीत्वा स्वकुटुम्बं परिपालयति । अथ रथकारेण वल्लभत्वादासेरकग्रीवायां महती घण्टा प्रतिबद्धा ।

पश्चाद्रथकारो व्यचिन्तयन्—‘अहो ! किमन्यैर्द्वृष्टृतकर्मभिः, यावन्ममैतस्मादेवोष्ट्रीपरिपालनादस्य कुटुम्बस्य भव्यं सञ्जातम्, तत्किमन्येन व्यापारेण ।’ एवं विचिन्त्य गृहमागत्य प्रियामाह—भद्रे ! समीचीनोऽयं व्यापारः, तव सम्मतिश्चेत्कुतोऽपि धनिकात्किञ्चिद् द्रव्यमादाय मया गुर्जरदेशे गन्तव्यं करभग्रहणाय । तावत्त्वयैतौ यवेन रक्षणीयौ—यावद्वाहमपरामुष्ट्रीं नीत्वा समागच्छामि ।’ ततश्च गुर्जरदेशं गत्वोष्ट्रीं गृहीत्वा स्वगृहमागतः । किं वहुना—तेन तथा कृतं यथा तस्य प्रचुरा उष्ट्रूथः करभाश्च सम्मिलिताः । ततस्तेन चतुर्भूमिकाः=चतुर्स्तलाः । (‘चार्मजिला हवेली’) ।

चिरन्तनाः=प्राचीनाः । ‘बहव’ इति केचित्पठन्ति । गहराकारवनगहनमध्यं=पर्वतगुहाकारारण्यगहनप्रदेश । दासेरकः=उष्ट्रवालकः । (‘टंट का बच्चा’टोडरिया’) । परशुं=परश्वधं । (फरसा) । ‘अहर्निंशं पल्लवभक्षणप्रभावातीवरतनुरिति सम्बन्धः । ततः=उष्ट्रायाः सकाशात् । वल्लभत्वात्=प्रियत्वात् । भव्यं=कल्याणं । सुखसम्पत् । करभाः=

१. अत्र—‘सा चाऽचिरादेकं दासेरकं भुषुवे ।’ इति पाठखण्डितो भाति ।

महदुष्ट्यूथं कृत्वा रक्षापुरुषो धृतः । तस्य प्रति वर्षे वृत्त्या करभ-  
मेकं प्रयच्छति । अन्यज्ञाऽहर्निंशं दुग्धपानं तस्य निरूपितम् । एवं  
रथकारोऽपि नित्यमेवोष्टीकरभव्यापारं कुर्वन्सुखेन तिष्ठति ।

अथ ते दासेरका अधिष्ठानोपवने आहारार्थं गच्छन्ति ।  
कोमलवस्तीर्थेच्छया भक्षयित्वा महति सरसि पानीयं पीत्वा साय-  
न्तनसमये मन्दं-मन्दं लीलया गृहमागच्छन्ति । स च पूर्वदासेरकों  
मदातिरेकात्पृष्ठे आगत्य मिलति । ततस्तैः कलभैरभिहितम् ‘अहो !  
मन्दमतिरयं दासेरको—यथा यूथाद्धृष्टः पृष्ठे स्थित्वा घण्टां वाद्य-  
न्रागच्छति । यदि कस्यापि दुष्टसत्त्वस्य मुखे पतिष्यति, तन्नूनं  
मृत्युमवाप्यति ।

अथैकदा तैरसकृदेव निपिद्धः सन्नपि स तद्वचने कर्णमदत्त्वैव  
मदातिरेकाद्धण्टां वाद्यन् वनं प्रविष्टः । इत्थं तस्य तद्वनं गाहमानम्य  
तत्रस्थः कञ्चित्सिंहो घण्टारबमाकर्ण्य शब्दानुसारेण दृष्टिं निपात्य  
अवलोकयति,—यदुष्टीदासेरकाणां यूथं गच्छति । स तु पुनः  
प्रतिदिवसमिव पृष्ठे क्रीडां कुर्वन्वल्लरीश्वरन् यावत्तिष्ठति, तावदन्ये  
दासेरकाः पानीयं पीत्वा स्वगृहे गताः । ततः सोऽपि वनान्निष्कम्य  
यावद्विशोऽवलोकयति, तावत्र कञ्चिन्मार्गं पश्यति, वेत्ति वा ।  
यूथाद्धृष्टो मन्दं मन्दं बृहच्छब्दं कुर्वन्न्यावक्तियद्दूरं गच्छति, ताव-  
तच्छब्दानुसारी सिंहोऽपि क्रमं कृत्वा निश्चूतोऽग्रे व्यवस्थितः ।

ततो यावदुष्टः समीपमागतः, तावत्सिंहेन शम्पयित्वा,  
ग्रीवायां गृहीतो, मारितश्च । अतोऽहं ब्रवीमि—‘सतां वचनमादि-

शशव उष्टः । रक्षापुरुषः=रक्षकः (‘रखवाल’ ‘जमादार’) । दृच्छिः=भृतिः (‘तनखाह’) ।  
निरूपितं=निर्दिष्टम् (ठहरा दिया) । वर्णः=लताः । लीलया=क्रीडया । पूर्वदासेरकः=प्रथमः  
करभकः । मदातिरेकात्=गर्वात् । पृष्ठे=पश्चात् । (पीछे से) । असकृत=वारंवारम् ।  
कर्णमदत्त्वा=अश्रवैव । क्रमं कृत्वा=आक्रमणसञ्चाहं कृत्वा । शम्पयित्वा=कूर्दयित्वा ।

षष्ठ्य—’ इति । क्षेत्र अथ तच्छ्रुत्वा मकरः प्राह—‘भद्र !

प्राहुः सासपदं मैत्रं जनाः शाश्वविचक्षणाः ।

मित्रतां च पुरस्कृत्य किञ्चिद्गृह्यामि तच्छृणु ॥ ६६ ॥

उपदेशप्रदाताणां नराणां हितमिच्छताम् ।

परस्मिन्निः<sup>१</sup> लोके च व्यसनं नोपपद्यते ॥ ६७ ॥

तत्सर्वथा कृतज्ञस्यापि मे कुरु प्रसादमुपदेशप्रदानेन । उक्तच्च-

उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः ? ।

अपकारिषु यः साधुः स साधुः सम्भिरुच्यते’ ॥ ६८ ॥

तदाकर्ण्य वानरः प्राह—‘भद्र ! यद्येवं तर्हि तत्र गत्वा तेन  
सह युद्धं कुरु । उक्तच्च—

हतस्त्वं प्राप्त्यसि स्वर्गं जीवन्गृहमयो यशः ।

युध्यमानस्य ते भावि गुणद्रव्यमनुत्तमम् ॥ ६९ ॥

उक्तम् प्रणिपातेन शूरं भेदेन योजयेत् ।

नाचमल्पप्रदानेन समशक्तिं पराक्रमैः ॥ ७० ॥

मकरः प्राह—‘कथंमेतत् ?’ । सोऽत्रवीत्—

### १०. शृगाल-सिंह-व्याघ्र-चित्रककथा

आसीत्कम्भिरुद्धनोद्देशो महाचतुरको नाम शृगालः । तेन कदाचिदरण्ये स्वयं मृतो गजः समापादितः । तस्य समन्तात्परिभ्रमति, परं कठिनां त्वचं भेत्तु न शक्नोति । अथाऽत्रावसरे इतश्चेतश्च विचरन्कश्चित्सिंहस्तत्रैव प्रदेशो समाययौ । अथ सिंहं समागतं हृष्ट्वा स क्षितितलविन्यस्तमौलिमण्डलः संयोजितकरयुगलः सविनयमुवाच-‘स्वामिन् !, त्वदीयोऽहं लागुडिकः स्थितस्त्वदर्थं गजमिमं रक्षामि, तदेनं भक्षयतु स्वामी !’ तं प्रणतं हृष्ट्वा सिंहः प्राह—‘भोः ! नाह-मन्येन हतं सत्त्वं कदाचिदपि भक्षयामि । उक्तच्च—

( ‘कृद कर’ ‘ज्ञापट कर’ ) । हितं=परहितम् । व्यसनं=दुःखम् ॥ ६७ ॥ तेन=शृणुण-मकरेण । उक्तम्=श्रेष्ठ, महाबलं श्रव्यं । प्रणिपातेन=नन्त्रतया । शूरं=मध्यमं । भेदेन=उपजापेन । समशक्तिं=समानं । पराक्रमैः=युद्धादिभिः । योजयेत्=साधयेत् ॥ ७० ॥

समन्तात्=चतस्रु दिक्षु । परं=परन्तु । क्षितित्ले निहितं=स्थापितं मौलिमण्डलं येनामौ तथा,=कृतप्रणामः । संयोजितकरयुगलः=वदाज्ञिः । लागुडिकः=रक्षक-

वनेऽपि सिंहा मृगमांसभक्ष्या बुभुक्षिता नैव तृणं चरन्ति ।

एवं कुलीना व्यसनाभिभूता न नीतिमार्गं परिलङ्घयन्ति ॥ ७१ ॥

तत्त्वैव गजोऽयं मया प्रमादीकृतः ।' तच्छ्रुत्वा शृगालः  
सानन्दमाह—‘युक्तमिदं स्वामिनो निजभृत्येषु । उक्तच्च यतः—

अन्यावस्थोऽपि महान्स्वामिगुणान्नो जहानि शुद्धतया ।

न श्रेतभावमुज्ज्ञति शङ्खः शिखिभुक्तमुक्तोऽपि’ ॥ ७२ ॥

अथ सिंहे गते कश्चिद्वाग्रः समाययौ । तमपि हृष्टाऽसौ व्यचि-  
न्तयन्—‘अहो ! एकस्तावहरात्मा प्रणिपातेनाऽपवाहितः’ तत्कथ-  
मिदानीमेनमपवाहयित्यामि । नूनं शूरोऽयं, न खलु भेदं विना  
साध्यो भविष्यति । उक्तच्च यतः—

न यत्र शक्यते करुं साम दानमथापि वा ।

भेदस्तत्र प्रयोक्तव्यो यतः स वशकारकः ॥ ७३ ॥

किञ्च—सर्वगुणसम्पन्नोऽपि भेदेन वध्यते । उक्तच्च यतः—

अन्तःस्थेनाऽविरुद्धेन सुबृत्तेनाऽतिचारुणा ।

अन्तर्भिन्नेन सम्प्राप्तं मौक्तिकेनाऽपि बन्धनम् ॥ ७४ ॥

एवं सम्प्रधार्य तस्याभिमुखो भूत्वा गर्वादुन्नतकन्धरः सस-  
भ्रममुवाच—‘माम ! कथमत्र भवान्मृत्युमुखे प्रविष्टः । येनैष  
गजः सिंहेन व्यापादितः, स च मासेतद्रक्षणे नियुज्य नद्यां झानार्थं  
गतः । तेन च गच्छता मम समादिष्टम्—‘यदि कश्चिद्विह व्याग्रः  
समायाति, तर्हि त्वया सुगुप्तं ममावेदनीयं येन वनमिदं मया  
निर्व्याप्तं कर्तव्यं । यतः—पूर्व व्याघ्रेणकेन मया व्यापादितो गजः  
पुरुषः । ('लठेत' 'जमादार') । मृगमांसं भक्ष्यं येषान्ते—तथाभूताः । चरन्ति=भक्षयन्ति ॥ ७५ ॥

प्रसादीकृतः=प्रसवेन प्रदत्तः । अन्यावस्थः=कष्टां दशम्प्राप्तः । स्वामिगुणान्=  
दयादाक्षिण्यादीन् । शुद्धतया=स्वच्छतया, सत्कुलप्रसूततया च । शिखिभुक्तमुक्तोऽपि=  
वह्नी प्रदग्धोऽपि—भरमीभूतोपि । शङ्खवत्-शङ्खभस्मापि श्रेतमेव भवतीत्यशयः ॥ ७२ ॥  
असौ=जम्बुकः । एकः=सिंहः । अपवाहितः=दूरीकृतः । अन्तःस्थेन=अन्यन्तरस्थेन,  
अन्तरङ्गेण च । सुबृत्तेन=सुशीलाचारेण, वर्तुलेन च । अन्तर्भिन्नेन=भेदमासेन ।  
सञ्जिद्देण च ॥ ७४ ॥

उक्ततकन्धरः=गवोदुखीवः । 'शिरोधिः कन्धरा ग्रीवेत्यमरः । मृत्युमुखे=सङ्कटे ।

शून्ये भक्षायेत्वोन्निष्ठतां नीतः । तद्दिनादारभ्य व्याघ्रानप्रति प्रकु-  
पितोऽस्मि' । तच्छ्रुत्वा व्याघ्रः सन्त्रस्तस्तमाह—‘भो भागिनेय !  
देहि मे प्राणदक्षिणाम् । त्वया तस्यात्र चिरायातस्यापि मदीया  
काऽपि वार्ता नाख्येया ।’ एवमभिधाय सत्वरं पलायाच्चक्रे ।

अथ गते व्याघ्रं तत्र कश्चिद् द्वीपी समायातः । तमपि हृष्टाऽसौ  
व्यचिन्तयन्—‘इदं श्रोऽयं चित्रकः, तदस्य पार्श्वादस्य गजस्य यथा  
चर्मच्छेदो भवति तथा करोमि । एवं निश्चित्य तमप्युवाच—‘भो  
भगिनीसुत ! किमिति चिरादृष्टोऽसि ? । कथच्च बुभुक्षित इव  
लक्ष्यसे ? । तदतिथिरसि मे । उक्तच्च—‘समयाभ्यागतोऽतिथिः ।’  
तदेष गजः सिंहेन हतस्तिप्रति—अहच्चास्य तदादिष्टो रक्षपालः ।  
परं तथापि यावत्सिंहो न समायाति, तावदस्य गजस्य मांसं  
भक्षयित्वा तृप्तिं कृत्वा द्रुततरं ब्रज ।’

स आह—‘माम ! यद्येवं तत्र कार्यं मे मांसाशनेन । यतः—  
‘जीवन्नरो भद्रशतानि पश्यति ।’ उक्तच्च—

यच्छक्यं ग्रसितुं शस्तं ग्रस्तं परिणमेच्च यत् ।

हितं च परिणमे यत्तदाचं भूतिमिच्छता ॥ ७५ ॥

तत्सर्वथा तदेव भुज्यते यदेव परिणमति, तदहमितोऽप्या-  
स्यामि ।’ शृगाल आह—‘भो अधीर ! विश्रब्धो भूत्वा भक्षय त्वं,  
तस्याऽगमनं दूरतोऽपि तवाऽहं निवेदयिष्यामि ।’ तथाऽनुष्ठिते  
द्वीपिना भिन्नां त्वर्चं विज्ञाय जम्बूकेनाऽभिहितम्—‘भो भगिनीसुत !  
गम्यताम्, एष सिंहःसमायाति ।’ तच्छ्रुत्वा चित्रको दूरं प्रनष्टः ।

अथ यावदसौ तद्वेदकृतद्वारेण किञ्चिन्नामांसं भक्षयति तावदति-  
( मौतके मुख में ) । निर्ब्याघ्रं=व्याघ्रशून्यम् । शून्ये=एकान्ते । तस्य=सिंहस्य । चिरा-  
यातस्य=कदाचिदपि समायातस्य । आख्येया=कथनीया । पलायाच्चक्रे=पलायितः ।  
द्वीपी=शार्दूलः । ( ‘चीता’ ) । इदं श्रोऽयं=तीक्षणदन्तः । पार्श्वात्=संनिधानात् ( ‘इसके पास  
से’ ) । रक्षपालः=रक्षकः । ( ‘खलबाल’ ) । ‘रक्षापाल’ इति केचित्पठन्ति । भद्रश-  
तानि पश्यति=आनन्दशतान्यनुभवति । विश्रब्धः=विश्रस्तः । तस्य=सिंहस्य । तथाऽनु-

मङ्गुद्घोऽपरः शृगालः समाययौ । अथ तमात्मतुल्यपराक्रमं हृष्टैनं  
श्वेतमपठत्—

‘उत्तमं प्रणिपातेन शूरं भेदेन योजयेत् ।

नीचमल्यप्रदानेन समशक्ति पराक्रमैः’ ॥ ७६ ॥

ततश्च तदभिमुखकृतप्रयाणः स्वदंष्ट्राभिस्तं विदार्य दिग्नन्तभाजं  
ऋन्वा स्वयं सुखेन चिरकालं हस्तिमांसं बुभुजे । ५४

एवं त्वमपि तं रिपुं स्वजातीयं युद्धेन परिभूय दिग्नन्तभाजं कुरु ।  
नो चेत्पश्चाद्वद्धमूलादस्मात्त्वमपि विनाशमवाप्यसि । उत्तम्य यतः—

सम्भाव्यं गोषु सम्पन्नं, सम्भाव्यं ब्राह्मणे तपः ।

सम्भाव्यं श्वीषु चापल्यं, सम्भाव्यं जातितो भयम् ॥ ७७ ॥

सुभिक्षाणि विचित्राणि शिथिलाः पौरयोषितः ।

एको दोषो विदेशस्य स्वजातीर्यद्विरुद्ध्यते ॥ ७८ ॥

मकर आह—‘कथमेतत् ?’ । वानरोऽब्रवीत्—

### ११. विदेशगतसारमेयकथा

अस्ति कस्मिन्निदिघिष्ठाने चित्राङ्गो नाम सारमेयः । तत्र चिर-  
कालं दुर्भिक्षं पतितम् । अन्नाभावात्सारमेयादयो निष्कुलतां गन्तु-  
मागद्धाः । अथ चित्राङ्गः क्षुत्क्षामकण्ठस्तद्धयाहेशान्तरं गतः । तत्र  
च कस्मिन्नित्पुरे कस्यचिद्वृहमेधिनो गृहिण्याः प्रमादेन प्रतिदिनं गृहं  
प्रविश्य विविधान्यन्नानि भक्षयन्परां तृप्तिं गच्छति । परं तद्वाहाद्वाहि-  
ष्ठने=चित्रकेण त्वचं संखण्ड्य गजमांसभक्षणे प्रारब्धे । प्रनष्टः=पलायितः । प्रकृते—  
उत्तमः सिंहः, व्याघ्रः—शूरः, नीचः=चित्रकः, शृगालः सम इति ध्येयम् ॥ ७९ ॥

तदभिमुखकृतप्रयाणः=शृगालाभिमुखं युद्धाय चलितः । तं=शृगालम् । दिग्नन्तभाजं=  
इरु निस्सारितम् । त्वम्=मकरः । बद्धमूलात्=स्थिरोभूतात् । सम्पन्नं=सम्पत्तिः, धनम् ।  
सम्भाव्यं=सम्भावनीयम् । तर्कणीयमिति यावत् ॥ ७७ ॥ विचित्राणि=अतिभूमिक्ष-  
तानि । सुभिक्षाणि=अन्नादिसम्पत्तिः । शिथिलाः=अन्नादिरक्षणे उदासीनाः (लापरवाह) ।  
पौरयोषितः=नगरवासिस्थियः । स्वजातिः=आत्मीय एव ॥ ७८ ॥

सारमेयः=कुकुरः । तत्र=अधिष्ठाने । निष्कुलतां=वंशनाशं । तद्धयात्=दुर्भिक्ष-

१. ‘दिशां भागं कृत्वे’ति चित्रपाठः । तत्र=दिशां भागं=इलिं, कृत्वा—तं हत्वेत्यर्थः ।

र्निष्कामन्नन्यैर्मदोद्भृतसारमेयैः सर्वादिक्षु परिवृत्य सर्वाङ्गं दंष्ट्राभिर्विदार्यते । ततस्तेन विचिन्तितम्—‘अहो ! वरं स्वदेशो यत्र दुर्भिक्षेऽपि सुखेन स्थीयते, न च कोऽपि युद्धं करोति, तदेवं स्वनगरं ब्रजामि’—इत्यवधार्य स्वस्थानं प्रति जगाम ।

अथाऽसौ देशान्तरात्समायातः सर्वैरपि म्बजनैः पृष्ठः—‘भोक्त्राङ्ग ! कथयाऽस्माकं देशान्तरवार्ताम् । कीदृग्देशः ?’ । किं चेष्टितं लोकस्य ? । क आहारः ?, कश्च व्यवहारस्तत्र’—इति । स आह—‘किं कश्यते विदेशस्य स्वरूपविषये ? ।

सुभिक्षणि विचित्राणि शिथिलाः पारयोगितः ।

एको दोषो विदेशस्य स्वजातिर्यद्विरुद्ध्यते’ ॥ ७९ ॥

सोऽपि मकरस्तदुपदेशं श्रुत्वा कृतमरणनिश्चयो वानरमनुज्ञाप्य स्वाश्रयं गतः । तत्र च ( तेन ) स्वगृहप्रविष्टेनाऽततायिना सह विग्रहं कृत्वा, दृढसत्त्वावष्टम्भाच्च तं व्यापाद्य स्वाश्रयं च लब्ध्वा, सुखेन चिरकालमतिष्ठत् । साधिवद्मुच्यते—

अकृत्वा पौरुषं या श्रीः किं तयाऽपि सुभोग्यया ?

जरद्रवः समश्नाति दैवादुपगतं तृणम् ॥ ८० ॥

इति श्रीविष्णुर्शर्मविरचिते पञ्चतन्त्रे लब्धप्रणाशं नाम

✽ चतुर्थं तन्त्रम् ✽

भयात् । गृहमेधिनः—गृहस्थस्य । प्रमादेन=अनवेक्षणेन । स्वरूपविषयः—स्वरूपम् । ‘स्वरूपविषये’ इति गौडाः पठन्ति । अनुज्ञाप्य=आपृच्छ्य । (‘पूछ कर’ ‘आज्ञा लेकर’) । आततायिना=परद्रव्यापहारकेण दस्युना । विग्रहं=युद्धम् । दृढसत्त्वावष्टम्भनाच्च=दाक्ष्यावलम्बनाच्च । या श्रीः—इत्यस्य—‘लभ्यते’ इति शेषः । जरद्रवः—दृढवृषः ( बूढा वैल ) । उपनतं = लब्धम् ॥ ८० ॥

श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिणा विरचितायामभिनवराजलक्ष्म्यां

पञ्चतन्त्रे लब्धप्रणाशं नाम चतुर्थं तन्त्रम् ।

## ॥४॥ अथ अपरीक्षितकारकम् ॥५॥

---

अथेदमारभ्यते अपरीक्षितकारकं नाम पञ्चमं तन्त्रम् । यस्या-  
इयमादिमः श्लोकः—

कुदृष्टं कुपरिज्ञातं कुशुतं कुपरीक्षितम् ।  
तज्जरेण न कर्तव्यं नापितेनाऽत्र यत्कृम् ॥ १ ॥

तद्यथानुश्रयते—अस्ति दाक्षिणास्ये जनपदे पाटलिपुत्रं नाम  
नगगम् । तत्र मणिभूम्बो नाम श्रेष्ठो प्रतिवसन्ति स्म । तस्य च धर्मार्थे-  
काममोक्षकर्माणि कुर्वतो विधिवशाद्वनक्षयः संजातः । ततो विभव-

श्रीगृहप्रसादशास्त्रिविरचिता अभिनवराजलक्ष्मीः

---

लोल्लोल्लम्बज्ञाक्षारपूरिताशाकदस्वकम् ।  
वन्दे भूतिसितं सन्ध्यारुणं गाणपत महः ॥ ३ ॥  
नुमोऽनवद्यसद्वृद्यविद्योद्योतितदिक्षुखान् ।  
मरुमण्डलमार्तण्डस्नेहिरामाभिधान् गुरुन् ॥ २ ॥

न परीक्षितम्—अपरीक्षितम्, अपराक्षितस्य कारकः—अपरीक्षितकारकः, तमधिकृत्य  
कृतव्यं प्रकरणम्—उपचारात्—अपरीक्षितकारकम् । तन्त्रं—प्रकरणं । यस्य=अपरीक्षित-  
कारकस्य । अव्य=वक्ष्यमाणः ‘कुदृष्ट’ भित्यादिः । कुदृष्टं=न तत्त्वतो दृष्टं । कुपरिज्ञातं=न  
यथावद्विचारितं । कुशुतं=न सन्ध्याकर्णितं । कुपरीक्षितं=न यथावत् निर्णीतं । तत्=  
ईदृशं कर्म, यथा नापितेन कृतं तथा । नरेण=विदुषा पुरुषेण । न कर्तव्यं=नाचरणोयम् ।  
किन्तु विदुषा विचार्यैव कार्यं कर्णाणीयमित्यर्थः ॥ २ ॥

यथा=येन प्रकारेण । अनुश्रयते=कर्णाणीकर्णिकया वृद्धपरम्परया श्रयते ।

जनपदे=देशे । ‘भवेऽनुपदो जानपदोऽपि जनदेशयोः’ इति विश्वः । श्रेष्ठो=धनं ।  
तस्य=श्रेष्ठिनः । धर्मश्च अर्थश्च कामश्च मोक्षश्च ते, तेषां कर्माणि=यज्ञ-दान-वाणिज्योप-  
भोगादीनि । विधिवशात्=भाग्यस्य विपर्ययात् । ‘दैवं दृष्टं भागधेयं भागयं म्ना-  
नियतिविधिः’ इत्यमरः । धनक्षयः=धनविनाशः, दारिद्र्यम् ।

१ ‘अपरीक्षितकारितं’ । २ ‘कुमतिज्ञातम्’ । ३ ‘कुकृतम्’ । ४ ‘माणिभूम्ब’ इति पाठा० ।

क्षयादपमानपरम्परया परं विषादं गतः । अथान्यदा रात्रौ सुमत्रि-  
न्तितवान्—‘अहो धिगियं दरिद्रिता । उक्तं च—

शीलं शौचं क्षान्तिर्दक्षिण्यं मधुरता कुले जन्म ।  
न विराजन्ति हि सर्वे वित्तविहीनस्य उरुषस्य ॥ २ ॥  
मानो वा दर्पो वा विज्ञानं विभ्रमः सुबुद्धिर्वा ।  
सर्वं प्रणश्यति समं-वित्तविहीनो यदा पुरुषः ॥ ३ ॥  
प्रतिदिवेसं याति लयं वसन्तवातहतेव शिशिरश्रीः ।  
बुद्धिबुद्धिमतामपि कुडुम्बभरचिन्तया सततम् ॥ ४ ॥  
नश्यति विपुलमतेरपि बुद्धिः पुरुषस्य मन्दविभवस्य ।  
घृतखलं-उद्धुतण्डुलवज्ज्वन्धनचिन्तया सततम् ॥ ५ ॥  
गगनमिव नष्टारं, शुष्कमिव सरः, इमशानमिव रौद्रम् ।  
प्रियदर्शनमपि रूक्षं भवति गृहं-धनविहीनस्य ॥ ६ ॥

अपमानपरम्परया=वन्धुवान्धवशातिलोककृतया नानाविधतिरस्कारसन्तत्या ।  
पम्=अत्यन्तं । विषादम्=दुखम् । गतः=प्राप्तः । अथ=शर्नैर्गच्छति काले । अन्यदा=कृस्मिद्धिकाले । धिगिति । यत इवम्=इदृशां दरिद्रिता मां प्राप्ता, अतो मां थिक्-इत्य-  
न्याहारेण योजनीयम् । उक्तम्=कथितच । ‘प्रामाणिकं’रिति शेषः ।

उक्तमेवाह-शीलमित्यादि । शीलं-शुभाचारः । शौचं=पवित्रता । क्षान्तिः=क्षमा ।  
दक्षिण्यम्=उदारता । मधुरता=मधुरभाषित्वं । कुले=सत्त्वकुले । वित्तविहीनस्य=धनरहितस्य  
दरिद्रस्य ॥ २ ॥ मानो वेति । मानः=चित्तसमुच्चितिः । दर्पः=अभिमानः । विज्ञानं=शिल्प-  
कलाकौशलं, प्रौढं पाणिडत्यच । विभ्रमः=निर्भ्रान्तिं, विलासो वा । समं=युगपदेव ।  
वित्तविहीनः=निर्धनः ॥ २ ॥

प्रतीति । वसन्तवातेन=वसन्तर्तुभवेन मरुता । आहता=ताङ्गिता, शिशिरश्रीरित्र  
शिशिरर्त्तशोभेव । (‘जाङ्गा’) । बुद्धिमतामपि-तुद्धिः-कुडुम्बभरचिन्तया=कुडुम्बपालना-  
यासखेदेन । प्रतिदिवसं=प्रत्यहं, शूनैः शूनैः । लयं=विनाशं-याति=गच्छति ॥ ४ ॥

विपुलमते=विशालवुद्धे: पण्डितस्यापि पुरुषस्य । मन्दविभवस्य=निर्धनस्य । प्रकृते  
ध्रुतादिकं-कुडुम्बोपकरणमात्रोपलक्षणम् ॥ ५ ॥

नष्टारं=विलुप्तनक्षत्रशोभं-गगनाक्षणमिव । गृहपक्षे-नष्टारं = नष्टशोभम् । शुष्कं=  
गनजलं, सर इव=जलाशय इव, रौद्रं=भीषण । प्रियदर्शनं=सुन्दरम् । रूक्षम्=अजात-  
संस्कारम्, अशोभनच सौभाग्यरहितच । धनविहीनस्य=दरिद्रस्य ॥ ६ ॥

१ ‘प्रतिदिनमुपैति विलयं’—पाठान्तरम् ।

न विभाव्यन्ते लघवो वित्तविहीनाः पुरोऽपि निवसन्तः ।  
 सततं जातविनष्टाः पयसासिव बुद्धुदाः पयसि ॥ ७ ॥  
 सुकुलं कुशलं सुजनं विहाय कुलकुशलशीलविकलेऽपि ।  
 आद्ये कल्पतराविव नित्यं रज्यन्ति जननिवहाः ॥ ८ ॥  
 विफलमिह पूर्वसुकृतं, विद्यावन्तोऽपि कुलसमुद्रताः ।  
 यस्य यदा विभवः स्यात्स्य तदा दासतां यान्ति ॥ ९ ॥  
 'लघुरूप'माह न लोकः कामं गर्जन्तमपि पतिं पयसाम् ।  
 सर्वमलज्जाकरमिह यथाकुर्वन्ति परिपूर्णाः ॥ १० ॥

एवं संप्रधार्य भूयोऽप्यचिन्तयत्—‘तद्वमनशनं कृत्वा प्राण-  
 नुत्सृजामि, किमनेन नो व्यर्थजीवितव्यसनेन ? ।’  
 एवं निश्चयं कृत्वा सुप्तः ।

अथ तस्य स्वप्ने पद्मनिधिः क्षणकरूपी दर्शनं दत्त्वा प्रोवाच—‘भोः  
 श्रेष्ठिन् ! मा त्वं वैराग्यं गच्छ । अहं पद्मनिधिस्तव पूर्वपुरुषोपार्जितः ।

विभाव्यन्ते=परिच्छायन्ते । वित्तविहीना अतप्व—लघवः=तुच्छाः, पुरोऽपि=अग्रेऽपि,  
 निवसन्तः=तिष्ठन्तः । जातविनष्टाः=उत्पन्नविनष्टाः । पयसि=जलं पयसां बुद्धुदा इव ।  
 ॥ ७ ॥ कुशलं=प्रवीणं, सुजनं=मुशीलं, विकले=रहिते, आद्ये=धनशालिनि जने रज्यन्ति  
 —प्रसीदन्ति । जननिवहाः=लोकसमुद्राः ॥ ८ ॥ पूर्वसुकृतं=प्रयत्नेन पूर्वं कृतमपि पुण्यं ।  
 विफलं=नेह सहायतां करोति । यतः—विद्यावन्तः=कृतश्रमाः तपस्विनः, यस्य—मूर्खस्यापि  
 विभवः=धनं स्यात्स्य दासतां यान्ति=तमाश्रयन्ते । अशीतविद्या अपि निर्धनं जडमपि  
 धनिनमाश्रयन्ते इति पूर्वोपार्जितं तपोविद्यादिकं सकलमन्त्र विफलमेवत्याशयः ॥ ९ ॥

कार्म=यथेच्छं, गर्जन्तं=स्वगौरवोन्मत्तम्, निर्भयं । पयसां जलानां, पतिं=नाथं—  
 मेघं, समुद्रं वा । लोकाः=जनाः, अयं लघुः=क्षुद्रोऽयं मेघः, इत्थं न नैव आह=न कथयति, न  
 तं निन्दर्तात्यर्थः । परिपूर्णाः=धनिनः, पूर्णाश्च । इह=लोके । यथाकुर्वन्ति तत्तेषां न लङ्घां  
 करोति । अनुचितमपि कुर्वन्तो धनिनो लोके न लङ्घन्ते, लोका अपि च न तं निन्दन्ति  
 इत्यहो ! धनमहिमेत्याशयः ॥ १० ॥

एवम्=इत्थं । सम्प्रधार्य=निश्चय । भूयोऽपि=पुनरपि । तद्=यतो दरिद्रस्य जीवनं  
 धिक् अतः, प्राणान्=जीवनम्, उत्सृजामि=त्यजामि । ‘उज्ज्ञामी’ति पाठान्तरम् । नः=अस्माकं,  
 व्यर्थं=निरर्थकं यत् जीवनं तस्मिन् व्यसनम्=उत्कटेच्छा । तदेव व्यसनमितिवा । एवं  
 निश्चयं=मरणनिश्चयम् । पद्मनिधिः=पद्माख्यो निधिमेदः । (निधि=खजाना) । क्षणकः=  
 जैन—बौद्ध—सन्यासी । श्रेष्ठिन्=हे साधो ! । वैराग्यं=जीवने औदासीन्यम् । पूर्वं:

१ ‘विरस इति हस्ति न जनः’ । पा० ।

तदनेनैव रूपेण प्रातस्त्वद्गृहमागमिष्यामि । ततस्त्वयाऽहं लगुडप्रहा-  
रेण शिरसि ताडनीयः, येन कनकमयो भूत्वा-अक्षयो भवामि ।'

अथ प्रातः प्रबुद्धः सन् स्वप्रं स्मरंश्चिन्ताचक्रमारूढः तिष्ठति—  
'अहो ! सत्योऽयं स्वप्रः, किंवा असत्यो भविष्यति ?, न ज्ञायते ।  
अथवा नूनं मिथ्याऽनेन भाव्यम्, यतोऽहमहर्निशं केवलं विनम्रं च  
चिन्तयामि । उक्तच्च—

व्याधितेन सशोकेन चिन्ताग्रस्तेन जन्तुना ।

कामार्तेनाऽथ मत्तेन दृष्टः स्वप्नो निरर्थकः ॥ ११ ॥

एतस्मिन्नन्तरे तस्य भार्यायो कश्चिन्नापितः पादप्रक्षालनाय आहृतः ।  
अत्रान्तरे च यथानिर्दिष्टः क्षपणकः सहसा प्रादुर्बभूव ।

अथ स तमालोक्य प्रहृष्टमना आसन्नकाष्ठदण्डेन तं शिग्स्यता-  
डयत् । सोऽपि सुवर्णमयो भूत्वा तत्क्षणाद्भूमौ निपतितः ।

अथ तं स श्रेष्ठो निभृतं स्वगृहमध्ये कृत्वा नापितं सन्तोष्य  
प्रोवाच—'तदेतद्भूतं वस्त्राणि च मया दत्तानि गृहाण । भद्र ! पुनः  
कस्यचिन्नाल्येयोऽयं वृत्तान्तः ।'

पुरूपैः=पिनृपितामहादिभिः । उपाजितः=त्राणिङ्गयेन सञ्चितः । ततः=तस्मात् । अनेन  
रूपेण=क्षपणकरूपेण । वेन=ताडनेन । कनकमयः=सुवर्णमयः । अक्षयः=बहुशो व्यये कृते  
सत्यपि अविनाशा । भवामि=भविष्यामि । वर्तमानसामीप्ये लट् ।

अथ=स्वप्नानन्तरं । चिन्ताचक्रः=चिन्तापरम्पराम् । आरूढः=अधिरूढः, प्राप्तः  
चिन्तातुर इति यावत् । वित्तं=धनम् ।

व्याधितेनेति । व्याधितेन=रूपेण । सशोकेन=शोकाकुलेन । चिन्ताग्रस्तेन=  
चिन्तातुरेण । जन्तुना=मनुष्येण । मत्तेन=मथादिना उन्मत्तेन । निरर्थकः=निष्फलः  
॥ ११ ॥ अन्तरे=मध्ये । तस्य=श्रेष्ठिनः । पादप्रक्षालनाय=पादशौचाय, पादरजनाय च ।  
माङ्गलिकेषु कृत्येषु नखकर्त नाय नखरञ्जनाय च नापिताः सौभाग्यवतीनां प्राप्तिकानां  
जलेन पादप्रक्षालनं कुर्वन्तीति लौकिकम् । ( पादप्रक्षालनं=पैर पखारना या नहद्व । )

यथानिर्दिष्टः=पूर्वं स्वप्ने दृष्टः । सः=श्रेष्ठो, तं=पदानिधिः । प्रहृष्टमनाः=प्रसन्नः सन् ।  
यथासन्नकाष्ठदण्डेन=निकटवर्तिदारुदण्डेन । तं=क्षपणकं । तत्क्षणात्=तस्मिन्नेव काले ।  
निभृतं=सुगूढं । कृत्वा=निधाय । सन्तोष्य=धनादिना पुरस्कृत्य । तदेतत्=पुरतो दृष्टं ।

१. 'भार्यायाः कश्चिन्नापितः पादप्रक्षालनायागतः ।' पा०

नापितोऽपि स्वगृहं गत्वा व्यचिन्तयन्—‘नूनमेते सर्वेऽपि नग्रकाः  
शिगसि दण्डहताः का च्छनमया भवन्ति । तद्वभ्यपि प्रातः प्रभूताना-  
हृय लगुडैः शिगसि हन्मि, येन प्रभूतं हाटकं मे भवति’ । एवं चिन्त-  
यतो महता कष्ठेन निशा व्यतिचक्राम ।

अथ प्रभातेऽभ्युत्थाय बृहलगुडमेकं प्रगुणीकृत्य, क्षपणकविहारं  
गत्वा, जिनेन्द्रस्य प्रदक्षिणत्रयं विधाय, जानुभ्यामवनि गत्वा, वक्र-  
द्वारन्यस्तोत्तरीयाच्चैलस्तागस्वरेणमें श्लोकमपठन्—

ज्येन्ति ते जिना येषां केवलज्ञानशालिनाम् ।

आ जन्मनः स्मरोत्पत्तौ मानसेनोपरायितम् ॥ १२ ॥

अन्यच्च—सा जिह्वा या जिनं स्तौति तद्वित्तं यज्जिने रतम् ।

तावेच च करौ श्लाघ्यौ, यौ तत्पूजाकरौ करौ ॥ १३ ॥

नथा च—‘ध्यानव्याजमुपेस्य चिन्तयसि कामुन्मील्य चक्षुः क्षणं  
पश्याऽनङ्गशरातुरं जनस्मिमं, त्रातापि नो रक्षसि ! ।

गद्र=साधो : पुनः=किन्तु । नाख्येयः=न कथनायः । नूनम्=अवश्यं । नग्रकाः=क्षप-  
ग्रकाः । प्रभूतान्=प्रचुरान् । प्रभूतं=विपुलं । हाटकं=सुवर्णे । चिन्तयतः=विचारयतो नापि-  
नस्य । महता कष्ठेन=अतिकष्ठेन कथधित् । व्यतिचक्रम=व्यतीयाय ।

प्रगुणीकृत्य=सञ्जाकृत्य । क्षपणकविहारः=बौद्ध—जैनभिकुनिवासभूतो मठः । जिने-  
न्द्रस्य=बुद्धस्य जिनस्य न प्रतिमायाः । वक्रद्वारे न्यस्तमुत्तरीयस्याच्चलं येन सः=उत्तरी-  
यकदशपिहितमुखप्रदेशः । एषा हि जैनादिमतसद्वा सन्मानप्रदर्शनरीतिरथापि जागर्त्ति ।  
जावहिंसाभयेन च ते क्षपणका मुखे चेलाच्चलं धत्तीत्यपि प्रसिद्धमेव । तारस्वरेण=उच्च-  
भवरेण । इमं=वक्ष्यमाणम् ।

‘सर्वथाऽत्परणविलये चेनस्वरूपाविर्भावः—केवलम्’ इति हेमचन्द्रः । तादृशनि-  
मेलशानेन शालन्ते=शोभन्ते तच्छालानाम् । आजन्मनः=जन्मत आरभ्य । स्मरोत्पत्तौ—  
कामवासनास्वरूपोत्पत्तौ । ऊपरद्वाचार्तरतम्—ऊपरायितम् । ‘स्यादूपः क्षारमृतिका’  
इत्यमरः । (ऊपरः=बीजाकुरोत्पत्त्यनर्हा भूः ।) कामकलमपलेशाच्छन्यमनस इति यावत् ॥ १२ ॥

तस्य=जिनस्य । पूजां कुरुतस्तच्छालौ—तत्पूजाकरौ । करौ=हस्तौ ॥ १३ ॥ ध्यानेति ।  
ध्यानस्य व्याजः=छलम् । उपेत्य=आश्रित्य । कां स्वमनोहरां—वामलोचनां, चिन्तयसि ! ।  
अस्माननादृत्येति शेषः । क्षणं=क्षणमात्रं । चक्षुः=लोचनम् । उन्मील्य=उद्धार्या अनङ्गशरा-  
तुरं=कामवाणाहतम् । इमं जनम्=अस्मान्-पश्य । त्राता=रक्षकोऽपि त्वं, नो=नैव ।  
यतो न रक्षसि । अतः=मिथ्यैव कारणिकः=दयालुः । किन्तु दयालुभूमिकाप्रतिच्छज्ञो—

१ ‘पलवः’ । २ ‘ते ज्येन्ति’ । ३ ‘मनोभवाभिषे बीजे मानसेनोपरायितम्’ । पा०

मिथ्याकारणिकोऽसि निर्वृणतरस्त्वतः कुतोऽन्यः पुमान्  
सर्वं मारवधूभिरित्यमिहितो बौद्धो जिनः पातु वः ॥ १४ ॥

एवं संस्तुत्य ततः प्रधानक्षपणकमासाद्य क्षितिनिहितजानुचरणः—‘नमोऽस्तु’, वन्दे इत्युच्चार्य लघुधर्मवृद्ध्याशीर्वादः—सुखमालिकानुग्रहलघुधत्रतादेश उत्तरीयनिवद्धग्रन्थिः सप्रश्रयमिदमाह—‘भगवन् ! अद्य विहरणक्रिया समस्तमुनिसमेतेनास्मद्गृहे कर्तव्या ।’

स आह—‘भोः श्रावक ! धर्मज्ञोऽपि किमेवं वदसि ?, किं वयं ब्राह्मणसमानाः, यत आमन्त्रणं करोपि ? । वयं सदैव तत्कालपरिचर्यया भ्रमन्तो भक्तिभाजं श्रावकमवलोक्य तस्य गृहे गच्छामः । तेन कृच्छ्रादभ्यर्थितास्तद्गृहे प्राणधारणमात्रामशनक्रियां कुर्मः । तद्गम्यताम्, नैवं भूयोऽपि वाच्यम् ।’

तच्छ्रुत्वा नापित आह—‘भगवन् !, वेद्धि—अहं युध्मद्गर्मम्, परं भवतो वहवः श्रावका आह्वयन्ति । साम्प्रतं पुनः पुस्तकाच्छ्रादननिर्वृणतः—निर्दयशिरोमणिः । कुतः—कुत्र । इति—इत्थम् । ईर्यया सहितं यथा स्यात्तथः सर्वे । मारवधूभिः—कामकर्थिताभिरप्सरोभिः । तुद्दसमाधिभज्ञाय समागताभिः कामसेनासमवेताभिरप्सरोभिति वा । अभिहितः—अधिक्षिमः । तुद्द एव बौद्धः—तद्दक्षो वा बौद्धः सर्वज्ञो वा । जिनः—अर्हन् । वः—युध्मान् उपासकान् रक्षस्थान् सभासदो वा पातु । प्रधानक्षपणकः—भिष्मसुख्यः । जानुनी च भरणी च जानुचरणं, क्षितौ निहित जानुचरणं येनासौ—क्षितिनिहितजानुचरणः—भूतललग्नजानुपादप्रान्तः । लब्धो—धर्मवृद्धे राशीर्वादो येनासौ तथा । सुखमालिक्या—तन्मतप्रसिद्धया सूत्रमय्या चामरयष्ट्या, योऽनुग्रहसेन लब्धः—प्राप्तो व्रतस्य आदेशः—उपदेशो येनासौ—सुखमालिकानुग्रहलघुधत्रतादेशः । उत्तरायेण निबद्धो ग्रन्थियेनासौ तथा—गलावलम्बितुद्गूलदत्तग्रन्थिः । विनातवय इति यावत् । सप्रश्रवं—सविनयम् । विहरणक्रिया—भोजनान्वेषणाय भिष्माणां गमनं, भोजनं वा । मुनिः—भिष्मः । सः—भिष्मसुख्यः । श्रावकः—जिनमक्तः । आमन्त्रण—भोजनार्थ निमन्त्रणम् । तत्कालपरिचर्यया—भोजनकालोचितविहरण । तेन—श्रावकेण । कृच्छ्रातः—कष्टेन-वहुशः । अभ्यर्थिताः—प्राथिताः । तद्गृहैः—श्रावकमवने । प्राणधारणमात्रां—शरीरयात्रोचिताम् । अशनक्रियां—भोजनं । भूयोऽपि—पुनरपि । युध्मद्गर्मम्—भिष्मसमाचारम् । भवतः—युध्मान् । आह्वयन्ति—भोजनाय प्रार्थयन्ते । पुनः—किन्तु । साम्प्रतम्—इदानां ।

१ सुखमालिका—स्वमनस्तोषायप्रधानक्षपणकेन धारिता सुमनोमाला इति वा । शुष्कमालिकेति ‘पुरुषमालिकात्यागलघ्वे’ति च पाठान्तरम् ।

योग्यानि कर्पटानि बहुमूल्यानि प्रगुणीकृतानि, तथा पुस्तकानां लेखनाय लेखकानां च वित्तं सञ्चितमास्ते । तत्सर्वथा कालोचितं कार्यम् ।'

ततो नापितोऽपि स्वगृहं गतः । तत्र च गत्वा खादिरमयं लगुडं सज्जीकृत्य कपाटयुगलं द्वारि समाधाय, सार्धप्रहरैकसमये भूयोऽपि विहारद्वारमाश्रित्य सर्वान्क्रमेण निष्क्रामतो गुरुप्रार्थनया स्वगृहमानयन् । तेऽपि सर्वे कर्पट-वित्त-लोभेन भक्तियुक्तानपि परिचितश्रावकान्परित्यज्य प्रहृष्टमनसस्तस्य पृष्ठतो ययुः । अथवा साञ्चिदमुच्यते-

एकाकी गृहसन्त्यकः पाणिपात्रो दिगम्बरः ।

सोऽपि संवाद्यते लोके तृष्णया, पश्य कौतुकम् ॥ १५ ॥

जीर्यन्ते जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः ।

चक्षुःश्रोत्रे च जीर्यते, तृष्णौका तरुणायते ॥ १६ ॥

अपरं—गृहमध्ये तान् प्रवेश्य द्वारं निभृतं पिघाय लगुडप्रहारै शिरस्यताडयन् । तेऽपि ताङ्ग्यमाना एके मृताः, अन्ये भिन्नमस्तकाः फूत्कर्तुमुपचक्रमिरे ।

भया पुस्तकाच्छादनयोग्यानि=वेष्टनार्हाणि । कर्पटानि=चौबराणि । प्रगुणीकृतानि=स्वगृहे सञ्चितानि, सज्जीकृतानि वा । लेखकानां=युधमदर्थे पुस्तकलेखकानां । तेभ्यो भृतिस्वपेण देयमिति यावत् । सञ्चितं=पृथक्कृत्य राशिभावेन स्थापितं । प्रभूततमन्धनमिति तत्त्वम् : तत्=तस्मात् । कालोचितं=समयोचितं । कार्यं=विधेयम् ।

खादिरमयं=खादिरकाष्ठमयं सुदृढम् । लगुडं=महान्तं दण्डम् । समाधाय=उद्भास्य । जैनधावकाचार एवः । गमनावसरोचितत्वात् कपाटं पिघायेति वार्थः कार्यः । यदा--कपाटयुगलं 'इदं पिघानयोग्यं नवे'ति सुपरीक्ष्य, बन्धनयोग्यं कूचेत्यर्थो बोध्य इति गौडः । विहारः=मठः । ऋमेण=परिपात्या । ( नम्बरवार ) । गुरुप्रार्थनया=महता निर्वन्धेन : साधु=युक्तमेव ।

एकाकीति । सन्त्यक्तं गृहं येनासौ गृहसन्त्यक्तः । आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वान्नि षान्तस्य परनिपातः । पाणिः पात्रं यस्यासौ पाणिपात्रः । दिगेवाम्बरं यस्यासौ=दिगम्बरः । संवाद्यते=आकृष्यते । कौतुकम्=आश्वर्यम् ॥ १५ ॥

जीर्यन्ते=गुह्यीभवन्ति । जीर्यतः=शनैर्धयोहानिमनुभवतः पुंसोऽपि । तरुणीवान्धरति तरुणायते=नवीभवति ॥ १६ ॥

अपरं=किञ्च । ( 'और' ) । तान्=मिक्षन् । निभृतं=शनकैः । ( धीरे से ) । एके=केचन भिक्षवः । अन्ये=अपरे । भिन्नमस्तकाः=स्फुटितशिरसः । फूत्कर्तुं=तारस्वरेण रोदितुं ।

अत्रान्तरे तमाक्रन्दमाकर्ण्य कोटरक्षपालेनाऽभिहितम्—‘भो भोः ? किमयं महान्कोलाहलो नगरमध्ये ! तद्रम्यतां, गम्यताम्।’ ते च सर्वे तदादेशकारिणस्तत्सहिता वेगात्तद्रुहं गता याव-त्यद्यन्ति, तावद्विधिरप्यावितदेहाः पलायमाना नमका दृष्टाः, पृष्ठाश्च—‘भोः, किमेतत् ?’

ते प्रोचुर्यथावस्थितं नापितवृत्तम्। तैरपि स नापितो वद्धो हत-  
गेषैः सह धर्माधिष्ठानं नीतिः।

कारणिकैर्नापितः पृष्टः—‘भोः ! किमेतद्वन्ना कुकृत्यमनुष्ठिनम् ?’। म आह—‘किं करोमि, मया श्रेष्ठिमणिभद्रगृहे दृष्टे एवंविदो व्यति-करः।’ सोऽपि सर्वे मणिभद्रवृत्तान्तं यथाहप्तमकथयत्।

ततः श्रेष्ठिमाहृय भणितवन्तः—‘भोः श्रेष्ठिन !, किं त्वया कश्चित्क्षणको व्यापादितः ?’। नतस्तेनापि सर्वः क्षणकवृत्तान्त-स्मेषां निवेदितः। अथ तैरभिहितम्—‘अहो ! शूलमारोप्यतामसौ दुष्टान्मा कुपरीक्षितकारी नापितः।’ तथानुष्ठिते तैरभिहितम्—

‘कुदृष्टं कुपरिज्ञानं कुश्रुतं कुपरीक्षितम्।

तज्जरेण न कर्तव्यं नापितेनात्र यत्कृतम्॥ १७ ॥

अथवा साधिवद्भुज्यते—

अपरीक्ष्य न कर्तव्यं, कर्तव्यं सुपरीक्षितम्।

पैश्चाद्ववति सन्तापो ब्राह्मण्या नकुलाद्यथा॥ १८ ॥

मणिभद्र आह—‘कथमेतत् ?’। ते धर्माधिकारिणः प्रोचुः—

(‘चलाने’)। आक्रन्दः—कोलाहलः। कोटरक्षपालेन=नगररक्षाधिकारिण। (‘कोतवाल ने’)। तदादेशकारिणः=नगररक्षाधिपालाकारिणः। (सिपाही लोग)। पलायमानाः=धावमानाः। नग्नाकाः=भिक्षुवः। यथावस्थितम्—आदितः सआतं तैः=राजपुरुषैः। हतज्ञैः=अवश्यैः-भिक्षुभिः सह। धर्माधिष्ठानं=राजद्वारां, (‘कच्छहरी’ )। कारणैः=धर्माधिष्ठानस्यैः-न्यायाधीशैः। ‘तै’रिति पाठेऽपि स एवार्थः। व्यतिकरः=विपरीताचरणं। (‘गडबड’ )। मः=नापितः। व्यापादितः=हतः। क्षणकवृत्तान्तः—‘स्वप्ने पश्चनिधिदर्शनं, तदादेशः, प्रामस्तप्रादुर्भावश्चैत्यदिवृत्तातः।

तैः=धर्माधिकारणस्यैः। शूलं=वधसाधनं। (‘शूलं’ )। कुपरीक्षितकारी=असमीक्ष्यकारी। नथानुष्ठिते=शूलमारोप्य हते सति। तैः=धर्माधिकारिभिः। (मजिस्ट्रेट जज, न्यायाधीश)।

‘नो चेद्ववति सन्तापः’ इति गौडाः पठन्ति ।

## १. ब्राह्मणीनकुलकथा

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने देवशर्मा नाम ब्राह्मणः प्रतिवसति स्म । तस्य भार्या प्रसूता सुतमजनयत् । तस्मिन्नेव दिने नकुली नकुलं प्रसूय मृत्ती । अथ सा सुतवत्सला दारकवत्तमपि नकुलं स्तन्य-दानाभ्यङ्गमर्दनादिभिः पुषोप । परं तस्य न विश्वसिति । अपत्य-मन्हस्य सर्वमन्हेहातिरिक्ततया सततमंवमाशङ्कते-यन्—‘कदाचिदेष म्वजातिदोपवशादस्य दारकस्य विरुद्धमाचरिष्यति’ इति । उत्तच—

कुपुत्रोऽपि भवेत्पुंसां हृदयानन्दकारकः ।  
दुर्विनीतः कुरुपुत्रोऽपि मूर्खोऽपि व्यसनी खलः ॥ १९ ॥  
एवं च भाषते लोक‘शन्दनं लोक शीतलम्’ ।  
पुत्रगात्रस्य संस्पर्शश्वन्दनादतिरिच्यते ! ॥ २० ॥  
सौहृदस्य न वाञ्छन्ति जनकस्य हितस्य च ।  
लोकाः प्रपालकस्यापि यथा पुत्रस्य बन्धनम् ॥ २१ ॥

अथ सा कदाचिन्छल्यायां पुत्रं शाययित्वा जलकुम्भमादाय पतिमुवाच—‘ब्राह्मण ! जलार्थमहं तडागे यास्यामि, त्वया पुत्रोऽयं नकुलाद्रक्षणीयः ।’ अथ तस्यां गतायां पृष्ठे ब्राह्मणोऽपि शून्यं गृहं

अधिष्ठानं=नगरम् । ‘नामेति प्रसिद्धौ । प्रसूय=उत्तराय । सा=ब्राह्मणी । दारकवत्=स्वपुत्रवत् । तम्=अनार्थ । स्तन्यं=दुर्घटम् । अभ्यङ्गं=तैलादिलापनम् । मर्दनं=संबाहनं । ( दावना, मलना, ) । तस्य=नकुलस्य । दारकस्य=मत्पुत्रस्य । विरुद्धम्=अनिष्टम् ।

हृदयस्यानन्दं करोतीति—हृदयानन्दकारकः=मनोहरः । दुर्विनीतः=अशिक्षितः । व्यसनां=दुर्वृत्तः । खलः=कूरः ॥ १९ ॥ ‘चन्दनं किल शीतलं’मियेवं हि लोको यथापि भाषते, तथापि पुत्रगात्रस्य संस्पर्शश्वन्दनादिपि शीतलः सुखदश्चेत्यन्ययः । किलेति प्रसिद्धौ । पुत्रगात्रस्य=पुत्रशरीरस्य । स्पर्शस्तु—चन्दनात्—अतिरिच्यते=अधिकं सुखद इत्यर्थः ॥ २० ॥

सौहृदस्य=पित्रादीनां परममान्यानां सौहृद स्नेहमपि, न तथा वाञ्छन्ति यथा पुत्रस्य=पुत्रकृतं—बन्धनं=बन्धनादिलोकं भन्यन्ते इत्यर्थः । ‘सौहृदस्ये’ति सम्बन्धसामान्यविवक्षया वष्टी । केचिच्चु—सुहृदेव सौहृदः, तस्य सौहृदस्य=मित्रस्य, जनकस्य=पितुः, हितस्य=हितैषिणः, प्रपालकस्य=रक्षितुश्च । बन्धनं=लेहपादां, लोकाः—न वाञ्छन्ति=न तथा मन्यन्ते, यथा=यादृक्, पुत्रस्य बन्धनं=तत्कृतं लेहपादां वाञ्छन्तीत्यर्थमाहुः ॥ २१ ॥

सा=ब्राह्मणी । तडागे=जलाशयं प्रति । सुतनिविशेषलालितं=पुत्रवत्परि- १ ‘तस्य भार्या पुत्रमेकं नकुलं च सुषुवे । अथ सा सुतवत्सला सुतवशकुलमपि’ पाठोय श्वभनः ।

मुक्त्वा भिक्षार्थं कच्चिन्निर्गतः । अत्रान्तरे देववशात् कृष्णसर्पं  
विलान्निष्क्रान्तः । नकुलोऽपि तं स्वभाववैरिणं मत्वा भ्रातू रक्षणार्थं  
सर्पेण सह युद्धा सर्पं खण्डशः कृत(त)वान् ।

ततो रथिराष्ट्रावितवदनः सानन्दं स्वव्यापारप्रकाशनार्थं मातुः  
संमुखे गतः । मातापि तं रथिरहितमुखमवलोक्य शङ्खितचिन्ता  
'नूनमनेन दुरात्मना मम दारको भक्षितः'-इति विचिन्त्य कोपात्तम्योपरि  
तं जलकुम्भं चिक्षेषं । एवं सा नकुलं व्यापाद्य यावत्प्रलपन्ती गृहं  
आगच्छति, तावत्सुतस्तथैव सुप्रस्तिष्ठति । समीपे कृष्णसर्पं खण्डशः  
कृत्तमवलोक्य पुत्रवधशोकेनात्मशिरो वक्षःस्थलं च ताढयितुमारवद्धा ।

अत्रान्तरे ब्राह्मणो गृहीतैनिर्वापः समायातो यावत्पश्यति ताव-  
त्पुत्रशोकाभितप्ता ब्राह्मणी प्रलपति—'भो भो लोभात्मन ! लोभा-  
भिभूतेन त्वया न कृतं मद्वचः' तदनुभव साम्प्रतं पुत्रमृत्युदुःखवृक्ष-  
फलम् । अथवा साध्विद्भुत्यते—

अतिलोभो न कर्तव्यो, लोभं नैव परित्यजेत् ।

अतिलोभाभिभूतस्य चक्रं अमति मस्तके ॥ २२ ॥

ब्राह्मण आह—'कथमेतत् ?' । सा प्राह—

## २. लोभाविष्टसिद्धिच्युतचक्रधरकथा

कम्मिश्चिदधिष्ठाने चत्वारो ब्राह्मणपुत्राः परस्परं मित्रतां गता वसन्ति  
स्म । ते चापि दारिद्र्योपहता मन्त्रं चक्रः—'अहो ! धिगियं दरिद्रता ।  
उम्भा—वरं वरं व्याघ्रगजादिसेवितं जनेन हीनं बहुकण्टकावृतम् ।

तृणानि शश्या परिधानवल्कलं न बन्धुमस्ये धनहीनजीवितम् ॥ २३ ॥  
पालितं । रथिराष्ट्रावितवदनः=रथिरलिप्तमुखः, रथिरकिलशमुखं=रथिराद्र्दमुखं । चिक्षेषं  
पातयामास । व्यापाद्य=इत्या । पुत्रवधशोकेन=नकुलमरणशोकेन । गृहीतैनिर्वापः=गृहीत  
प्रतिग्रहः । ( निरुपसृष्टवप्थातोदार्यतायुः 'प्रादेशनं निर्वपण' भित्यमरेणौक्तत्वात् ) ।

दारिद्र्योपहताः=दारिद्रदयदुखिताः । मन्त्रः=परामर्थः । वरं=श्रेष्ठं । जनेन हीनं=  
निजनं । बहुकण्टकावृतं=नानाकण्टकाकुलं । परिधाने परिधानस्य वा वल्कलं—परिधान-  
वल्कलं=भूर्जपत्रादिपरिधानम् ॥ २३ ॥

? गृहीतनिःस्वावक इति पाठे—गृहीतभिक्ष इत्यर्थः । निष्कावक='निष्कावल' 'दान' ) ।

तथा च-स्वामी द्वेषि सुसेवितोऽपि, सहसा प्रोज्जन्ति सदानन्धवा,  
राजन्ते न गुणास्यजन्ति तनुजाः, स्फारीभवन्त्यापदः ।  
भार्या सौभु सुवंशजाऽपि भजते नो, यान्ति मित्राणि च  
न्यायारोपितविक्रमाण्यपि नृणां येषां न हि स्याद्बन्म् ॥२४॥

श्रुतः सुरूपः सुभगश्च वामी शशाणि शाशाणि विदाङ्करोति ।

अर्थं विना नैव यशश्च मानं प्राप्नोति मर्त्येऽत्र मनुष्यलोके ॥ २५ ॥

तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव नाम सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव ।  
अर्थोऽमणा विरहितः पुरुषः स पूर्व बाह्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत् ॥२६॥  
तदृच्छामः कुत्रचिदर्थाय । इति संमन्त्र्य स्वदेशं पुरञ्च स्वसुहृत्सहितं  
वान्धवयुतं गृहञ्च परित्यज्य प्रस्थिताः । अथवा माधिवदमुच्यते—  
सन्त्यं परित्यजति, मुञ्चति बन्धुवर्गं शोष्रं विहाय जननीमपि जन्मभूमिम् ।  
सन्त्यज्य, गच्छति विदेशमनिष्टलोकं चिन्ताकुलीकृतमतिः पुरुषोऽत्र लोके ॥

एवं क्रमेण गच्छन्तोऽवन्तीं प्राप्नाः । तत्र क्षि (सि) प्राजले  
शृतम्नाना महाकालं प्रणम्य यावन्निर्गच्छन्ति, तावद्वैरवानन्दो नाम-

स्वामीति । निर्धनेन-सुसेवितोऽपि स्वामीं तं द्वेषि । सदानन्धवाः सहसा तं प्रोज्जन्ति ।  
नृणा न राजन्ते, तनुजाः—पुत्रा अपि त्यजन्ति, आपदः स्फारीभवन्ति—वर्द्धन्ते, सुवंशजाऽपि भाय-  
भाधु—यथावत्प्रेम्णा नो भजते—नैव सेवते । मित्राणि च—न्यायेनारोपिता विक्रमा यैः तानि—  
न्यायारोपितविक्रमाण्य=न्यायामागंवलभितपराक्रमशालोने, शूराणि यान्ति—दूरीभवन्ति,  
येषां धनं न स्यादित्यर्थः ॥ २४ ॥ सुभगः—सीभायशाला । वामी=वाचोयुक्तिपुडः ।  
विदाङ्करोति=जानाति । ‘विदाङ्करोतु’ इत्यपि पाठः । अर्थः=धनं । मर्त्यः=पुमान् ॥२५॥

अविकलानि=अनुपहतानि इन्द्रियाणि । तान्येव=पूर्ववदेव वर्त्तन्ते, एवं तदेव नाम-  
नामधेयं, सैव अप्रतिहता बुद्धिः, तदेव वचनं तथापि अर्थोऽमणा=धनशक्त्या । विरहितः=—  
रहितः पुरुषः । क्षणेन बाह्यः=सर्वलोकतिरस्कृतो भवतीति अहो । धनमाहात्म्यमित्यर्थः ।  
अर्थाय=धनमुपार्जयितुं । संमन्त्र्य=विचार्य । स्वसुहृत्सहितं पुरं, वान्धवयुतं गृहमित्यन्वयः ।  
माधु=युक्तमेव, सत्यं त्यजति,=मिथ्या भाषते । जननीमपि जन्मभूमिं विहाय शोष्रं बन्धुवर्गं  
मुञ्चति । पाठान्तरे अनिष्टलोकं=दुष्टलोकसकुलम् । भार्यापुत्रादिकं सन्त्यज्य विदेशं  
गच्छति । चिन्तयाऽकुलीकृता मतिर्यस्यासौ तथा,—पुरुषः=दरिदः पुमान् ॥ २७ ॥

१ भार्या नोज्जमवंशजाऽपि भजते नो यान्ति मित्राणि च न्यायारोपित-  
विक्रमानपि नरान् इति लिखितः पाठो युक्ततः तत्र । न्यायारोपितविक्रमान्—शूर-  
नपिनरा नित्यर्थः । २ ‘शेषे हकार हृव सकुचिताखिलाङ्कः’ पा० । ३ ‘अभोष्टलोक’  
पा० । ‘अभीष्टसिद्धै॒यै’ इति तु पठन्ति गौडाः । ४ ‘पुरुषः किमन्त्यत्’ । पा० ।

योगी संमुखो बभूव । ततस्तं ब्राह्मणोचितविधिना संभाव्य ते सर्वे  
तेनैव मह तस्य मठं जग्मुः । अथ तेन ते पृष्ठाः—‘कुतो भवन्तः  
समायातः? क यास्यथ? किं प्रयोजनम्? ’

ततस्तैरभिहितम्—‘वयं सिद्धियात्रिकाः, तत्र यास्यामो यत्र  
धनास्त्रिमृत्युर्वा भविष्यतीति । एष निश्चयः । उक्तच्च—

दुष्प्रापाणि बहूनि च लभ्यन्ते वाञ्छितानि द्रविणानि ।

अवसरतुलिताभिरलं तनुभिः साहसिकपुरुषाणाम् ॥ २८ ॥

पतति कदाचिच्चभसः खाते पातालतोऽपि जलमेति ।

दैवमचिन्त्यं बलवहूलवाङ्गानु पुरुषकारोऽपि ॥ २९ ॥

अभिमतसिद्धिरशेषा भवति हि पुरुषस्य पुरुषकारेण ।

‘दैव’मिति यदपि कथयसि पुरुषगुणः सोऽप्यदृष्टात्यः ॥ ३० ॥

द्रव्यमतुलं गुरु लोकात् ‘तृणमिव तुलयन्ति साधु साहसिकाः ।

प्राणाननुतमेतच्चरितं, चरितं हुदाराणाम्’ ॥ ३१ ॥

अवन्ती=उद्भविना । क्षि(सि)प्रा=तत्रत्या नदा । महाकालः=तत्रत्यः शिवः ।  
सम्भाव्य=संपूज्य, अभिवाद्य च । तेन=योगिना । ते=ब्राह्मणपुत्राः । यात्रा प्रयोजनं  
येषान्ते यात्रिकाः, सिद्धये यात्रिकाः—सिद्धियात्रिकाः=धनादिसिद्धये गच्छन्तः । तत्र-  
दर्शमेऽपि तस्मिन्देशे ।

साहसिकपुरुषाणाम्—अवसरतुलिताभिः=कार्यसाधनावसरे तुलामारोपिताभिः—  
‘शरीरं पातयामि कार्यं वा साथयामि’त्वेव निश्चयेन संशयदोलामारोपिताभिः । तनुभिः=दैवः ॥  
दुष्प्रापाणि बहूनि वाञ्छितानि धनानि लभ्यन्ते ॥ २८ ॥ नभसः=गगनात् जलं कदाचिदेव=  
वर्षांकाले एव तडागादौ पतति=आगच्छति । परन्तु खाते=खननादिश्रमनिष्पत्ते कृपादौ ।  
जलाशये तु—पातालतोऽपि—नीचैरतदूरतरप्रदेशादपि, जलमेति=आगच्छति । अतः दैवम्=  
अद्वृष्टं यथा वलवत्, ननु=तथापि, पुरुषकारः=परिश्रमादिरूपः पुरुषाथोऽपि, अदृष्टवदेव  
वलवानेव । तथाहि वर्षांतु दैवात क्षेत्रादौ जलं लभ्यते, परं व्यतीतासु वर्षास्त्वपि पुरुषार्थपरा: ।  
कृपीबलाः कृपादितोऽपि निघ्नतरादपि जलमुद्भृत्य कुर्विं निष्पादयन्तोति—पुरुषार्थस्य  
देवादपि महर्वं सूचितम् ॥ २९ ॥

पुरुषस्य—अभिमतसिद्धिः=अभीष्टसिद्धिः । अशेषा=सकलाऽपि । पुरुषकारेण=  
पुरुषार्थेन । दैवमिति यत् त्वं कथयसि लोका वा वदन्ति सोऽपि पुरुषवर्तीं अदृष्टवद्यो  
गुण एव, नातो भिन्नः । दैवमपि पुरुषाधीनमिति यावत्, अतो दैवं विद्याय यतः करणीयः ।

लोकात्=जगतोऽपि । दैवं=एतदुभयम् । अतुलम्=अतुलनीयम्, अतएव गुरु=अति-  
महत् । किन्तदृद्यमत आह—तृणमिवेति । प्राणांश्च तृणमिव साहसिकाः साधु तुलयन्ति=

क्षेशस्याङ्गमदत्त्वा सुखमेव सुखानि नेह लभ्यन्ते ।  
 मयुभिन्मथनायस्तैराश्छिल्पति बाहुभिलक्ष्मीम् ॥ ३२ ॥  
 तस्य कथं न चला स्यात्पत्नी विष्णोनृसिंहकस्यापि ? ।  
 मासांश्चनुरो निद्रां यः सेवति जलगतः सततम् ॥ ३३ ॥  
 दुरधिगमः परभागो यावपुरुषेण साहसं न कृतम् ।  
 जथति तुलामधिरूढो भास्वानिह जलदपटलानि ॥ ३४ ॥

तत्कृत्यतामस्माकं कश्चिद्ध्रनोपायो विवरप्रदेश-शाकिनीसाधन-  
 इमशानसेवन-महामांसविक्रय-साधकवर्त्तिप्रभृतीनामेकतम इति ।  
 अङ्गुतशक्तिर्भवाऽश्रूयते । वयमप्यतिसाहसिकाः । उत्तरं—

महान्त एव महतामर्थं साधयितुं क्षमाः ।  
 कृते समुद्रादन्यः को विभर्ति वडवानलम् ? ॥ ३५ ॥

तुलायामारोपयन्ति । भयस्थानसहस्रेषु प्राणानारोप्य विजयं लभन्ते इति यावत् । एतद्कृतं  
 चरितं प्रथमम् । उदाराणां=दधाच्च-कर्णादानां चरितच-द्वितीयम् । एतदद्वयं लोकार्दाप  
 गुह्यतरमित्याशयः । 'लोके' इति पाठस्तु सुन्दरः । अत्राऽशुद्धे 'भयमतुल'मिति मुद्रिते पाठे  
 परदशातेभ्यो वत्सरेभ्योऽपि आम्यनो विद्वांसोऽस्माभिर्हन्त । पाठं संशोध्य गुणान्मोचिताः ॥ ३५ ॥

कलेशस्याङ्गं=शरीरम् । अदत्त्वा=क्षेत्रमनुभूय । सुवं यथा स्यात्तथा नुखानि  
 मानवैन लभ्यन्तेत्र जगति । यतः-मयुभित=विष्णुरपि-समुद्रमथनशान्नैवंहुभिः लक्ष्मी-  
 माश्चित्यति । समुद्रमथने कृते सत्येव विष्णुना लक्ष्मीः प्राप्ता, न सुवं सुप्तेनेति उद्योगेनैव  
 सनीहितमिद्दिरित्यर्थः ॥ ३२ ॥

विष्णुपत्नी लक्ष्मीश्वरक्षेति लोकप्रसिद्धिस्तत्राह—तस्येति । नृसिंहकस्यापि=पुरुष-  
 श्रेष्ठरय, नृसिंहावतारभृतश्च,-विष्णोरपि—का कथाऽन्यस्य, -पक्षी=भार्याऽपि—का कथा  
 सम्पत्यन्तरस्य । पक्षे विष्णोः पक्षी=लक्ष्मीरित्यर्थः । कथं चला=चलता, विनष्टा च  
 न स्यात्, यः-जलगतः=क्षीराभिगतः । डलयोरैक्यात्-जडजनमध्यगतश्च, चतुरो मासान्-  
 मासचतुष्टयं यावत्, निद्रां सेवते=स्वपिति । विष्णुश्चतुरो मासान् स्वपिताति प्रसिद्धम् ।  
 पक्षे चतुरोऽपि मासान् योऽनुत्साहेन नयति तस्योत्साहशून्यजनपरिवृतस्य कथं नाम-  
 लक्ष्मीरक्षुण्णा तिष्ठेदिति सर्वदैवोत्साहवता भाव्यमित्याशयः ॥ ३३ ॥

परभागः=विजयः, श्रेष्ठत्वं, गुणोत्कर्षश्च । तुला=तुलाराश्च, साहसं च । भास्वान-  
 सूर्यः, तेजस्वी च । जलदपटलानि=मेघजालानि ॥ ३४ ॥

विवरप्रवेशः=पातालप्रवेशः । शाकिनीसाधनं=यक्षिण्यादिसाधनं । इमशान-  
 सेवनं=बेतालादिसाधनाय इमशानोपासनं । महामांसविक्रयः=स्वशरीरवलिदानं,  
 स्वमांसविक्रयः, परपुरुषमांसविक्रयश्च । साधकवर्त्तिः=अञ्जनगुटिकापादलेपादिरूपा ॥ ३५ ॥

भैरवानन्दोऽपि तेषां सिद्धयर्थं वहृपायं सिद्धवतिचतुष्प्रयं कृत्वा-  
उर्पयत् । आह—च—गम्यतां हिमालयदिशि, तत्र संप्राप्तानां यत्र वर्ति-  
गतिष्यति तत्र निधानममन्दिग्रं प्राप्यथ । तत्र स्थानं ग्वनिन्वा-  
नधि गुहीत्वा व्यापुरुषताम् ।

तथानुप्रिते तेषां गच्छतामेकतमस्य हस्ताद्विर्तिनिष्पात । अथार्हा-  
गवत्तं प्रदेशं ग्वनित तावत्ताम्रमर्या भूमिः । ततमनेनाभिहितम्—  
अहो, गृह्यतां स्वेच्छया तास्मप । अन्ये प्रेत्युः—‘भो मृढ़ ! किम  
नन क्रियते ? वत्प्रभूतमपि दारित्रं त नाशयति, तदुक्तिष्ट, अश्रवते-  
च्छ्राम ।’ सोऽत्र्यात्—‘यान्तु भवन्तः, नाहमपि याश्यामि ।’  
वसमधियाय तास्रं यथेच्छया गुहीत्वा प्रथमो निवृत्तः ।

ते त्रयोऽप्येष प्रमिताः । अथ किञ्चन्मात्रं गतस्याद्येमगम्य  
गतेर्निष्पात, सोऽपि यावत्वनितुमाश्वद्यमर्या क्षितिः ।

ततः प्रहर्षितः प्राह—‘यहो भोः, गृह्यतां यथेच्छया स्वयम् । नाह-  
स्तव्यम् ।

तावृचतुः—‘भोः प्रदृतस्ताम्रमर्या भूमिः, अश्रवो स्त्रयमर्या,  
न्नेनमपि सुवर्णमर्या भविष्यति । किञ्चानेन प्रभूतेनापि दारिद्र्यनाशः  
न भवति । तदावामपि यास्यावः । एवमुक्त्वा द्वावायेष प्रमिताँ  
नाऽपि स्वशक्त्या रूप्यमादाय निवृत्तः ।

अथ तयोर्गपि गच्छतोरेकम्यादेव वर्तिः पपात । सोऽपि प्रहर्षो  
यावत्वनिति, तावत्सुवर्णभूमि दृष्टा द्विर्तायं प्राह—‘भोः, गृह्यतां स्वे-  
च्छया सुवर्णम् सुवर्णादन्यत्र किञ्चिदुक्तमं भविष्यति’ ।

बहव उपाया यस्मिन् कर्मणि तत्था स्यात्तथा वहृपायं—नानोपायः । वहृपायगिति पाद-  
नाविधिसिद्धिविभृत्यादिलभित्यर्थः । हिमालयदिशि=उत्तरयां दिशि । नियान्तः=भूमिग-  
न । व्याघ्रुष्यतां=परावर्त्यांगम्यतां । (‘वावडके आना’ ‘वापिस आना’ ।) ताम्रमर्या  
भूमिः=ताप्रस्य स्थितिः । ‘आमादितेन’ देशः । अनेन=नाश्रेण । नृन्=वहुलम्  
प्रयससर्व—अश्यायिनः । रूप्यमर्या=रजतमर्या । क्षितिः=भूमिः । नृन्=अवदेशम्  
पनेन=रजतेन । एकतमेन=एकेनापि ।

१. ‘वहृपायं’गिति ‘वहृपाय’मिति वा गौडाः । २. ‘हिमालयोत्तरदिशां’नि पा ॥

स प्राह—‘भृद’! न किञ्चिद्देस्मि, प्राक्काश्रम, ततो स्वायम्, ततः  
भूवर्णम् । तन्मनमतःपरं गत्वानि भविष्यत्वन्ति, येषां मक्तुमनापि दारिद्र्य-  
गत्वा भवति, तदुचित्त, अथं गच्छावः । किमनेन भारभूतेनापि प्रभूतेन ?  
स प्राह—‘गच्छतु भवान्’ । अहमत्र मिथ्यमन्वां प्रतिपालयिष्यामि ।

तथाऽनुष्ठिते सोऽपि गच्छत्वंकाकी श्रीमार्कप्रतापगमन्तप्रतनु-  
प्रियामार्कुलितः मिद्धिमार्गच्युत इनश्चत्र वद्वाम ।

अथ आम्यन भ्यलोपरि पुमपमकं मधिगल्लावितगात्रं भ्रमचक्र-  
ममकमपश्यत । ततो द्रुततरं गत्वा तमयोच्चन्—‘भोः, को भवान्?  
किमेव चक्रेण धर्मता विगमि तिष्ठमि ?, तत्कथय मे यदि कुत्रचि-  
त्तदमन्ति ? । अतस्तुणातेऽस्मि’इति ।

“व तस्य प्रवदनमत्क्रं तक्षणात्तस्य यिरमो त्राद्याणमम्नके-  
र्यत्वम् । स प्राह—‘भद्र, ! किमेतत ? । स प्राह—‘ममायेवमेत-  
द्धरमि चटिनेष । स प्राह—‘तत्कथय कदं ददुर्गत्यति, भर्ता मे  
वदना वर्तते ।’ स प्राह—‘यदा त्वमिव कश्चिद्दृतमिद्धवतिर्वमा-  
न्य त्वामालापयिष्यति, तदा तस्य ममतके चैटियति ।’

स प्राह—‘कियात्कालमत्वेवं मिथ्यत्वम् ? । स प्राह—‘मास्प्रते  
को गजा धरणात्तले ? ।’ स प्राह—‘वीणावत्सराजः ।’ स प्राह—  
अहं तावत्कालमद्भूतां न जानामि, परं यदा गमो गजाऽर्मीतदाह-  
दारिद्रोपहतः मिद्धवतिमादायाऽनेन पथा ममायातः । ततो मयान्यो  
नरो ममनकधृतचक्रो हप्तु, पृष्ठश्च । ततश्चैतज्जातम् ।

स प्राह—‘भद्र, ! कथं तवैवं मिथ्यत्वम् भोजनादलप्राप्ति-

तथाऽनुष्ठिते=पव छुने सनि । या माकस्य यः प्रवाऽः=आत्मः, तेन सन्तप्ता तन  
गत्यामी तथा, प्रवर्षघमांकुल इत्यर्थः । मिद्धिमार्गच्युतः=मूर्वांभूमिमार्गब्रह्मः । रथलोपरि-  
ममतलपदेनः । ब्रह्मत् चक्रं भग्नके गत्यामी तं तथाभृत् । तस्य=पूर्वोक्तस्थलस्थपुमाय-  
त्यर्थः—मस्तकात् । चटिनम्=अधिहन् । (‘य’ गत्वा) । एवमागत्य=स्वमवलोभ-  
मनः मिद्धिमार्गच्युत आगत्य । वीणावत्सराजः=कीशाम्बापनिः पाण्डववंशजो राजा ।  
वालमद्भूत्या=वर्षयुगादिमद्भूत्या । धनदेन=भगवता कुवेरेण । एवं =तत्कात्रमिजन्यः

१ ‘ममास्तोद’ । २ ‘आरूपम्’ । ३ ‘ममागेष्यति’ ।

गमीन ? ।' म आह—'भद्र ! धनदेन निधानहरणभयास्तिद्वानामेन-  
चक्रपतनस्तुपं भयं दर्शितम् , तेन कश्चिदपि नागच्छति । यदि कश्चि-  
दायाति, म क्षुलिपामानिद्वारहितो जगमरणवर्जितः केवलमेवं वेदना-  
मनुभवतीनि । नदाङ्गापय मां स्वयुहाय ।' इत्युक्त्वा गतः ।

अथ नस्मिन्दिग्यति म मुवर्णमिद्विम्भ्यान्वेषणपगम्तन्यदपद्व-  
क्त्या यावन्किञ्चिद्वानान्तरमागच्छति । तावदुग्धिगलात्रिनशगीर-  
मनीष्टणचक्रेण ममनके भ्रमना सवेदनः कणन्तुपविष्टिप्रतीतिः न दद्वा :  
ततः—नत्सर्मापवर्तिना भृत्या सवाप्यं पृष्ठः—'भद्र ! किमेततः ? ।' म  
आह—'विधिनियोगः ।' म आह—'कथं ततः ? कथय कारणमेन-  
म्य ।' सोऽपि तेन पृष्ठः मर्व चक्रवृत्तान्तमकथयन् ।

तच्छुच्यामौ तं विगर्हयश्चिद्माह—'भोः ! निषिद्विम्ब्यं मयाऽनेकज्ञो  
न शृणोपि मे वाक्यम् , तस्मिं कियते ? । विद्यावानपि कुर्लानोऽपि  
बुद्धिरहितः । अथवा साधिद्विमुच्यन्ते—

वरं बुद्धिर्न सा विद्या विद्याया बुद्धिरुत्तमा ।  
बुद्धिर्हाना विनश्यन्ति यथा ते सिहकारकाः ॥ ३६ ॥

चक्रधर आह—'कथमेनतः ? । मुवर्णमिद्विराह—

### ३. सिंहकारकमूर्खव्राद्याणत्रयकथा

कस्मिन्दिग्यप्राप्ताने चत्वारो व्राद्याणपुत्राः परम्परं मित्रभाव-  
मुपगता वमन्ति मम । तेषां त्रयः शास्त्रपारङ्गताः, परन्तु बुद्धि-  
रहिताः । एकमनु बुद्धिमान् , केवलं शास्त्रपराङ्मुखः । अथ तैः  
कदाचिन्मित्रैर्मन्त्रितम्—'को गुणो विद्यायाः, येन देशान्तरं गच्या  
भूपतीन परिनोद्यार्थोपार्जना न कियते ? । तत्पूर्वदेशां गच्छामः' ।  
न तु क्षुत्त्वादिजन्यां । चिरयति=विलम्बं कुर्वति सति : सवेदनः=पाण्डाकुलितः । कणन्=  
विलप्त् । सवाप्यं=साश्रुः । विधिनियोगः=दुर्भाग्यविज्ञमिभतम् । असौ=सुवर्णमिदः ।  
न=भिद्विष्टः । विगर्हयन्=विनिन्दन् । न शृणोपि=नैवाशृणोः । वर्तमानसामाप्ये लट् ।

अधिष्ठाने=नगरे । 'अधिष्ठानं रथस्याङ्गं प्रभावेऽध्यासने पुरे' इत्यजयकोशात् ।  
तेषां=तेषां मध्ये । बुद्धिरहिताः=न्यवहारशानशून्याः । शास्त्रपराङ्मुखः=अनर्धातविषः ।

तथा नुष्टिते किंचिन्मार्गं गच्छा तेषां योग्यतरः प्राह—‘अहो ! अस्माकं मेकश्चतुर्थो मृढः, केवलं वृद्धिमान । न च राजप्रतिग्रहो वृद्ध्या लभ्यन्ते—विद्या विना । तत्रामै स्योपार्जितं दास्यामि । तद्वच्छतु गृहम् । ननो द्विनायेनाभिहितम्—‘भोः मुवुद्धुं ! गच्छ चं म्बगुहं, यत्मते विद्या नामि ।’

ततम्नुनीयनाऽभिहितम्—‘अहो ! न युद्धयन्ते परं कर्तुम् । यतो वत्र यान्याप्यभृत्येत्र क्रीडिताः । नदागच्छतु महानुभावाऽमदुपार्जितवित्तन्य समभागी भविष्यत्यन्तानि । उक्तं च—

किं तथा कियते लक्ष्या या वधूरिव केवला ।

या न वेश्येव सामान्या पथिकैरूपमुज्यते ॥ ३५ ॥

तथा च—‘अथं निजः, परो वेत्ति गणना लघुचेतसाम् ।

उदारचरितानान्तु वसुधैव कुदम्बकम् ॥ ३६ ॥

तदागच्छतु एषाऽपि—‘इति । तथाऽनुष्टिते तैः मार्गाश्रितैः-रट्यां कतिचिद्भूतिनि दृष्टानि । ततश्चैकेनाभिहितम्—‘अहो ! अथ विद्याप्रत्ययः क्रियते । कतिचिदंतानि सृतमन्यम्यास्थीति तिष्ठन्ति । तद्विद्याप्रभावेण जीवनमहितानि कुर्मः । अहमस्थिस अथं करोमि । न तश्च तेऽनौमुक्त्यादस्थिसंचयः कृतः । द्विनीयेन चर्ममांमर्मधिर मयोजितम् । तृतीयोऽपि यावर्जीवनं मंचाग्रयति, तावत्मुवृद्धिना निषिद्ध—‘भोः, तिष्ठतु भवान्, पप मिहो निष्पाद्यते, यत्वेन मञ्जीवं करिष्यति—ततः सर्वानपि व्यापादयिष्यति’। इति तेनाभिहितः पुणः—‘कृतं, राजप्रतिग्रहः=राजा’ उक्तं धनादिकं । मृढः=वृद्धिमात्रेण । समभागः-समानलाभशाली ।

या वधूरिव=भार्यं वै वेलेनाभ्यनीयोपमुज्यते, नन् वेश्येव पथिकैः=भार्येः/पभुज्यते, तथा लक्ष्या किम् ? =न किमपि कलम् ॥ ३७ ॥ ‘अथं निजः’ ‘अथ एषः’ इति गणना—लक्ष्येनमां—धृत्रिणां भवति, उदारचरितानां=महात्मनां तु वसुधैवः सक्तं तत्र दपि—कुदम्बकमेव ॥ ३८ ॥

मार्गाश्रितैः=पथ गच्छद्धिः । विद्याप्रत्ययः=पूर्वोपार्जितविद्याप्रभावदशेनम् । अथं सचयः—अस्मान् वथासंनिवेशं स्थापनं । ‘विद्याप्रभावादिति शेषः । मृढः=चतुर्थेनाना-

म आह—‘धिङ् मूर्ख ! नाहं विद्याया विफलतां करोमि ।’ ततस्तेना-  
भिहितम्—‘नहि॑ प्रतीक्षम्ब श्लणं यावद्दहं वृक्षमार्गोदामि ।’ तथानुष्ठिते  
यावत्मजीवः कृतम्नावने त्रयोऽपि मिहंसोऽथाय व्यापादिनाः । म च  
पुनर्वृशादवतीर्थं गृहे गनः । अनोऽहं त्रीभि॑—‘वरं वुद्धिर्ने मा विद्या’  
इति । अनः पग्मुक्तं च मुवर्णसिद्धिना—

‘अपि शास्त्रेषु कृशला लोकाचारविवर्जिताः ।

सर्वे ते हास्यनां यान्ति तथा ते मुर्वपण्डिताः ॥ ३९ ॥

चक्रवर आह—कथंमतन ? । सोऽत्रीन—

#### ४ मूर्वपण्डितचतुष्यकथा

कमिश्चिदधिष्ठानं चन्वारं ब्राह्मणाः पग्मपरं मित्रन्वमापन्नाः  
वमन्ति स्म । वालभावे तेषां मतिग्रजायत—‘भोः ! दंशान्तरं गन्वा  
विद्याया उपार्जनं क्रियने’—इति । अथात्न्यमिमन्दिवम् ब्राह्मणाः  
पग्मपरं निश्चयं कृत्वा विनोपार्जनार्थं कान्यकुट्ठे गताः । तत्र च  
विद्यामठे गन्वा पठन्ति । एवं द्वादशाद्वदान यावदेकचित्ततया पठित्वा  
विद्याकुशलाम्भे सर्वे संजाताः । ततस्तेन्द्रितुर्भिर्मिलित्वोक्तम्—‘वयं  
मर्वविद्यापागङ्गताः, तदुपाध्यायमुक्त्वा प्रयित्वा मवंशो गच्छामः ।’  
एवं मन्त्रयित्वा ( तथैवानुष्ट्रीयतामित्युक्त्वा ) ब्राह्मणा उपाध्यायमु  
क्त्वा पैयित्वा’ अनुज्ञां लब्ध्वा, पुम्तकानि नीत्वा प्रचलिता यावत्कि-  
च्चिन्मार्गं यान्ति तावद्द्वौ पन्थानौ ममायानौ हृष्टा उपविष्टाः सर्वे ।  
पातशाश्वेण । निष्पादते=भवद्भिः प्राणमंयोजनेन उत्थायते । व्यापादयिष्यति=भारयिष्यति ।  
नुः—नुतोयो विप्रुतः । विफलतां=ददाना भृत्याया विद्याया वृथा परावर्त्तनं । तेन—  
नवृद्धिना । श्लणं=श्लणमात्रं । प्रतीथस्व=परिपालय । ( ठहर जाओ ) ।

वरं=प्रेषा । लोकानारविवर्जिताः—व्यवहारवुद्धिशत्याः ॥ ३९ ॥

मित्रन्वं=मैत्राम् । आपन्नाः—प्राप्ताः । वाल्यभावे=वाल्यावस्थायामेव । कान्यकुट्ठे—  
कंशमेद ( कर्त्त्रीज ) । विद्यामठे=पाठशालायाम् । एकचित्ततया=नन्मयतया । उत्कल-  
पर्यत्वा=पृष्ठा । धनादिदानेन भन्नोध्य वा । प्राकृतवसिद्धोऽथं प्रयोगः । अनुज्ञाम्=  
आज्ञां । लब्ध्वा=गृहीत्वा । द्वौ पन्थानौ=मागो द्विषा विभक्तः ।

‘अनुज्ञाप्य’ इति संस्कृतः पाठः ।

तत्रैकः प्रोवाच—‘केन मार्गेण गच्छामः ? ।’ एनमिन्ममये नमिन तत्त्वे कश्चिद्विग्निकपुत्रो मृतः । तस्य दाहाय महाजनो गतो भूत । ततश्चतुर्णा मध्यादेकेन पुम्नकमवलोकितम्—

महाजनो येन गतः स पन्थाः इति ।

—तन्महाजनमार्गेण गच्छामः । अथते पण्डिता यावन्महाजनमन्यापकेन मह यान्ति तावदामभः कश्चित्तत्र उमशाने हप्त । अथ द्विनायेन पुम्नकमुद्गाढ्यावलोकितम्—

‘उत्सवे व्यसने प्रासे दुष्मिक्षे शत्रुमङ्कटे ।

राजद्वारे उमशाने च वस्तिष्ठानि स वान्धवः ॥ ४० ॥’

तदहो ! अयमस्मद्दीयो वान्धवः ।’ ततः कश्चित्तम्य ग्रीवायां लगति, कोऽपि पादौ प्रक्षालयति । अथ यावत्ते पण्डिताः दिशाम-स्त्रोकनं कुर्वन्ति, तावत्कश्चिदुड्डे हप्तः । तैश्चोच्चम्—एतन्किम् ? तावन्तर्नायेन पुम्नकमुद्गाढ्याकम्—

धर्मस्य त्वरिता गतिः ।

तत्रनभेष धर्मस्तावन् ।’ चतुर्थनोच्चम्—

‘इष्टं धर्मेण योजयेत् ।’

तद्वान्धवोऽयमस्माकं धर्मेण नियुज्यताम् ।

अथ तैश्च गम्भ उप्रीवायां वद्धः । ततु केनचित्तस्वाभिनेऽरजकम्यात्रे कथितम् । श्रुत्वा च यावद्रजकमनेषां मूर्खपण्डितानां प्रहारकरणाय समायातस्तावने प्रनष्टाः ।

पत्तने=नगरे । महाजन=वरणिजनसमूहः, श्रेष्ठो जनभः । येन=येन मार्गेण गतः । व्यवहारं करोति, कृतयाम् च, पर्यालनश्च । पन्थाः=स मागः—अष्टः । महाजनमलापकेन=वरणिजनसमूहेन ।

उत्सवे=हर्षमये । व्यसने=विपत्तिकालं । शत्रुमङ्कटं=शत्रुकृते कटे । राजद्वारे=जग्भवते (‘कचहरा’) । यो विपदि उत्सवे च वर्तते स एव धान्धव हत्यर्थः ॥ ४० ॥

अर्थ=रामभः । तस्य=रामभस्य । लगति=परिघजते । दिशाः=हरिताम् । इतरतत्त्वात् यावत् । त्वरिता=नपला, अनिन्तनाया, मृक्षमा च । एष=धावमान उष्टः । इष्टं=स्वप्रियं । गम्भमध्य बन्धुतया दृष्टकोटिप्रविष्ट शति उपर्यावारां रामभवन्धनम् । रजकम्य-

तनो यावदें किञ्चित्तम्नोकं मार्गं यान्ति, तावत्काचिन्नदी समा-  
सादिता । तस्या जलमध्ये पलाशापत्रमायान्तं हृष्टा पण्डितेनैकेनोक्तम्-

**आगमिष्यति यन्वच्च तदमांस्तारयिष्यति ।**

गतकथयित्वा तन्यत्रम्योपरि पतितो यावत्तदा नीयते, तावत्तं  
नीयमानमवत्तोक्त्याऽन्येन पण्डितेन केऽगान्तं गुहीत्वोक्तम्-

‘सर्वनाशं समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः ।

अर्थेन कुरुते कार्यं सर्वनाशो हि दुःसहः’ ॥ ४१ ॥

—इत्युक्त्वा तस्य शिरश्छेदो विहितः । अथ तैश्च पञ्चाद्यत्वा  
कश्चिद्ग्राम आमादितः । तेऽपि ग्रामीणैनिमन्त्रिताः पृथक्पृथग्युहेतु  
नीताः । तत एकम्य सूत्रिका वृत्तयेष्टसंयुक्ता भोजने दन्ता । तनो  
विचिन्त्य पण्डितेनोक्तम्—यत्—

**दीर्घसूत्रो विनश्यति ।**

—एवमुक्त्वा भोजने परिन्यज्य गतः ।

तथा द्विनीयम्य मण्डका दन्ताः । तेनायुक्तम्—

**‘अतिविस्तारविम्नीर्ण तद्वेत्रं चिरायुपम् ।’**

स च भोजने त्यक्त्वा गतः । अथ तुनीयम्य वटिकाभोजने  
दन्तम् । तत्रापि तेन पण्डितेनोक्तम्—

**लिङ्गेवनर्था वहुलीभवन्ति ।**

गदं भग्नामिनो वस्त्रशालकर्य । प्रनष्टाः पलायिताः । नभासादिता—प्राप्ता । यत्र—वाहन  
नोकाडिकं, पण्ठेषु । ‘पञ्चन्तु वाहने पर्णे’ इति विश्वः । नवा नायने—नवां निमन्त्रितः,  
प्रवहति वा । केव्यान्तं—वेत्याद्यमार्गं । तेऽपि अवशिष्टम्भिः । निमन्त्रिताः—भोजना-  
याहताः । सूत्रिका—‘भेमड’ इत्याद्याता, ‘जलेक्ती’ याद्याता वा । दीर्घसूत्रः—आलम्पोप  
दन्तः । ‘दीर्घमत्रश्चिरक्रियः’ इति वोशात् । सूत्रिकायामपि दीर्घाः समितातन्त्रव इति तयोः  
भास्यं । मण्डकाः—करपटिकाः । फुलका वा । (‘रोटी, फुलका’ ) । अतिविस्तारविरतांपि  
अतिर्बद्धिं वस्तु न चिरस्थायि, अथवा यथा ‘नानाविधव्यापारप्रसक्तो नरशिन्ताश्यानाकूलो  
न निरं जावति’ एवम् ‘अतिविस्तीणां मण्डकाः न भोजने प्रशस्ताः’ इत्यप्यर्थः । वटिका—

१. ‘दीर्घसूत्रां’ ति पाठान्तरम् ।

एवं ते त्रयोऽपि पण्डिताः क्षुद्रामकण्टा लोकैर्हस्यमानाम्नतः  
स्थानान् स्वदेशां गताः ।' \*

अथ मुवर्णमिद्विग्रह—‘यत्चं लोकव्यवहारमजानन्मया वार्यमा-  
णोऽपि न मिथनः, तन इहर्तामवस्थामुपगतः । अतोऽहं ब्रत्रामि-  
‘अपि शास्त्रं पु कुडला’ इति ॥

नक्त्वृत्वा चक्रधर आह—‘अहो, अकारणमेतत्—

मुबुद्धयोर्तपि नश्यन्ति दुष्टैर्देवेन नाशिताः ।

स्वल्बर्धारापि तस्मिन्तु कुलं नन्दति सन्ततम् ॥ ४२ ॥

उक्तच— अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं, सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति ।

जांवन्यानाथोऽपि वने विसर्जितः कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जावति । ४३ ।  
नथाच— शतवृद्धिः द्विरस्थोयं लम्बते च सहस्रर्थी ।

एवंवृद्धिरहं भद्रे ! क्रांडार्म विमले जलं ॥ ४३ ॥

मुवर्णमिद्विग्रह—‘कथमेतत् ?’ । स आह—

#### ५. शतवृद्धादिमन्त्यत्रयकथा

कम्मित्रिज्जलाशये शतवृद्धिः सहवृद्धिश्च द्वौ सरथां निवसनः स्म .  
अथ तयोरेकवृद्धिर्नाम मण्डूको मित्रतां गतः । एवं ते त्रयोऽपि वेलायां  
कर्त्त्वकालं सुभाषितगोप्तीसुखमनुभूय भूयोऽपि सलिलं प्रविशन्ति ।

अथ कदाचित्तेषां गोष्ठीगतानां जालहस्ता धीवरगः प्रभूतैर्मत्त्वै-  
र्यापादितैर्मत्तके विधृतैर्मत्तमनवेलायां तस्मिंज्जलाशये समायाताः ।

‘वृदा’ । छिद्रेषु=व्यसनेषु, मन्त्रिष्ठेषु गोवनेषु च । बहुलं भवन्ति=वर्दन्ते । क्षुद्राम  
कण्टः=धुधाशुक्कवःगाः । वसुक्षिताः ।

न स्थितः=न गमनाक्षितृतः । अग्नितम्=अकृतरक्षणप्रयत्नः । देव=भाग्यम ॥ ४४ ॥

भद्रे=सुभेषे ॥ ४४ ॥ जलाशये=मरमि । तयोः=शतवृद्धि—सहस्रवृद्धयोः । वेलायां=  
मरोवरकाले । ‘वेला काले च सामायामव्योः, कृल—विकारयोरिति मेदिनी ।

गोष्ठीसुखं=काव्यालापगोष्ठीसुखम् : गोष्ठीगतानां=कूले सम्भूयोपविषानां । जाल  
हस्ताः—जालपाणयः । धीवरगः=मत्तयवधाजावाः । व्यापादिनः=हर्तः । मत्तके—शिर्गमि  
दृनः-स्थापिनः=उपलक्षिताः । इव्यथभूतलक्षणे तृतीया । अस्तमनवेलायां=स्यांस्तसमये  
मलिलाशयं=सरोवरं । मिथः=पररपरं । वद्युमत्स्यः=मत्स्यबहुलः । सदः=जलाशयः ।  
ववृपसलिलः=अल्पजलः । विपणानि वदनानि येषान्ते विपणवदनाः=विच्छायमुखाः  
मन्त्रः=विचारम् । नकः=विदधुः ।

ततः सलिलाशयं द्वप्ता मिथः प्रोचुः—‘वहुमन्योऽयं हृदो हठयते  
स्वल्पमस्तिलश्च । नन्द्रभान्तऽत्रागमित्यामः ।’ एवमुक्त्वा स्वगृहं गता ।  
मन्म्याश्च विपणवदना मिथो मन्त्रं चक्रः ।

ततो मण्डूक आह—‘भोः शत्रुघ्ने ! श्रुतं धीवरोक्तं भवता.  
नन्किमत्र युज्यते कर्तुम् ?’ पलायनमवधुम्भो वा यन्कर्तु युज्ञ  
भवति नदादित्यतामद्य । नन्द्रुत्वा सहस्रवुद्धिः प्रहस्य आह—  
भो मित्र ! मा भेष्टीः, यतो वचनश्रवणमात्रादेव भयं न कार्य । उक्तच्च

स्पर्णाणं च व्यलानां च सर्वेषां दुष्टचेतसाम् ।

अभिप्राया न सिध्यन्ति तेनेत्रं वर्तने उगत ॥ ४५ ॥

नन्नावन्तेषामागमनमपि न मंपत्यनं, भविष्यन्ति वा तर्हि च्चा  
वृद्धिप्रभावेणात्ममहितं गम्भयिष्यामि. यनोऽनेकां सलिलगतिचर्या-  
महं आनामि ।’ नदाकण्ठे शत्रुघ्निराह—‘भोः, युक्तमुक्तं भवता.  
सहस्रवुद्धिरेव भवान । अथवा मात्त्विदमुक्त्यते—

बुद्धेर्बुद्धिमनां लोके नास्यगम्यं हि किञ्चन ।

बुद्ध्या यतो हता नन्दाश्राणक्येनार्दस्पाणयः ॥ ४६ ॥

नथाच-न यत्रास्ति गतिर्वायो रश्मीनां च विवस्वतः ।

नत्रापि प्रविशन्याशु बुद्धेर्बुद्धिमनां सदा ॥ ४७ ॥

ततो वचनश्रवणमात्रादपि पितृपर्यायागतं जन्मस्थानं त्यक्तुं न अक्यते.

पलायनं=देशान्तरगमनम् । अथष्टमः=वृत्त्याऽत्रवायथानग । आदिदयनाम-  
उपर्ददित्यनाम् । श्रवणमात्रादेव=धीवरणां वचनमय श्रवणमात्रेण ।

व्यलानां=दुर्जनानां । दृष्टेतसां=पापिनाम् । अभिप्रायाः=मनोग्रथाः, वर्तते=जाति-  
सम्पत्यते=सिद्धः गमिष्यति । आगमदित्यं=महस्यवुद्धिना स्वेन महितं, मनिन्  
गतिचर्या=जल वल चातुर्ये । युक्तम्=अचतम् ।

बुद्धिमनां बुद्धे लोके किञ्चन अगम्यं नास्ति, यतः—नन्दास्या—असिपाणयः—उत्तात्युगा  
राजानः—नाणक्येन एकाकिनाऽसृष्टायेनापि बुद्ध्या हताः ॥ ४६ ॥

दत्र धयोगतिर्वास्ति, विवस्वतो रश्मानाध यत्र गतिर्वास्ति, तत्रापि बुद्धिगतं वृत्तः  
आशु=शांतं प्रविशति ॥ ४७ ॥

ततः=बुद्ध्या कार्यसिद्धिसम्भवे । वचनश्रवणमात्राद—धीवरोक्तवचनाकर्णनमात्राद-  
पितृपर्यायागतं=वेशाक्रमागतं । जन्मस्थानं=जलाशयः ।

न तत्स्वर्गेऽपि सौख्यं स्याद्विष्टस्पर्शेन शोभने ।

कुस्थानेऽपि भवेन्पुंसां जन्मनां यत्र मंभवः ॥ ४८ ॥

तत्र कदाचिदपि गन्तन्यम्, अहं त्वां म्बवुद्धिप्रभावेण गश्यि  
‘यामि’ । मण्डूक आह—‘भद्रौ ! मम तावदेकैव बुद्धिः पलायनपरा :  
नदहमन्यं जन्माशयमर्यैव मभायो याम्यामि ।’

एवमुक्त्वा स मण्डूको गत्रावेवाऽन्यजन्माशयं गतः । धीवर्ग-  
रपि प्रभाने आगत्य जन्मन्यमध्यमोत्तमजलचग मन्यकूममण्डूक-  
कर्कटादयो गृहीताः, तावपि शतबुद्धि—महम्बवुद्धी मभायो पलाय-  
मानो चिरमात्मानं गतिविद्योपविज्ञानं कुटिलचारणं गश्नन्नावपि  
जान्ते पतितां व्यापादितां च ।

अथाऽपगह्नममयं प्रहप्त्राम्भे धीवर्गः म्बगुहं प्रति प्रस्थिताः ।  
गुम्ब्याचैकं शतबुद्धिः स्कन्धे कृतः । महम्बवुद्धिः प्रलम्बमानो  
नीयने । ननश्च वार्षीकणोपगतेन मण्डूकेन तौ तथा नीयमानो द्रष्टु  
अभिहिता म्बपक्षी—‘प्रिये ! पठ्य पठ्य—

‘शतबुद्धिः शिरस्थोऽर्थं, लम्बने च सहस्रधाः ।

प्रकुद्धिरहं भद्रे : क्रोडामि विमले जले ॥’

अतश्च ‘वरं बुद्धिने सा विद्या’ इत्यादि यद्भवता उक्तं, तत्रेण  
मे मनिर्यन्—‘नैकान्तनं बुद्धिरपि प्रमाणम् ।’ \*

सुवर्णमिद्दिः प्राह—‘यद्यप्यैतदस्ति, तथापि मित्रवचनं न लङ्घ-

नेति । दिव्याऽनादिरपदीन शोभने=सुखदे स्वर्णोपि तन्मीम्बयं न स्यात् , यत्र यः  
नम्भमभवतः तत्र कुस्थानेऽपि-पुंसा भुग्मंव सांख्यं—भवति ॥ ४८ ॥ भद्रौ=महाशयोः  
पलायनपरा=पलायनप्रधाना । जग्याः=कनिष्ठाः, गत्यमाः=युवानाः, उत्तमाः=वृद्धाः ।

चिरं=वहुकालं । गतिविद्योपविज्ञानं=नानाविधित्तरणविज्ञानपाद्यः । कुटिलभारेण-  
नानाविधवकगमनेन । गुम्ब्यात्=भारवत्त्वात् । प्रलम्बमानः=अयो लम्बमानः, आकृत्य  
माणश्च, ( लटकना दुआ ) । वार्षीकणोपगतेन=द्वार्षिकानदोपविषेन । ( वार्षी—वावहो :  
नी=सहस्रबुद्धिशतबुद्धी । तथा=शिरमि धृत्वा, भाकर्षणेन च ।

एका=पलायनमेव वग्म् इति बुद्धिर्यरयासी—एकबुद्धिः । विमले=निर्गम्ले एकान्मेभं-  
मवदा ; प्रमाणं=कार्यमाप्तम् ।

नीयम् । परं कि क्रियने, निवागिनोऽपि मया न स्थितोऽभि लौल्यान्,  
विद्याहङ्काराच्च । अथवा मात्रु इदमुच्यने—

‘मात्रु मातुल ! गातेन मया प्रोक्तोऽपि न स्थितः ।

अपूर्वोऽप्यं मणिर्बद्धः, सम्प्राप्तं गातलक्षणम् ॥ ४७ ॥

चक्रधर आह—‘कथमेतन् ? । माऽत्रवीन—

### ६. गीतपरगामभश्रुगालकथा

कस्मिन्दिविद्यिष्टाने उद्धतो नाम गद्यमः प्रतिवसति स्म । स  
सद्व रजकगृहं भागोद्वहनं कृत्वा गत्र्ता स्वेच्छया पर्यटति । ततः  
प्रत्यूषे वन्धनभयात्मवयमेव रजकगृहमायाति । रजकोऽपि न तत्त्वं  
वन्धनेन नियुनक्ति । अथ तस्य गत्र्ता श्रेत्राणि पर्यटतः कदाचिच्छ्रू-  
गालेन सह मैत्री संजाता । स च पीवरत्यादृतिभङ्गं कृत्वा कर्कटिका-  
क्षेत्रे श्रुगालमहितः प्रविद्याति । एवं तौ यदच्छ्रूया चिर्भटिकाभैक्षण्णं  
कृत्वा प्रत्यहं प्रत्यूषे स्वस्थानं ब्रजतः ।

अथ कदाचित्तेन मदोऽनेन गम्भेन श्रेत्रमश्यस्थितेन श्रुगालो-  
भिहितः—‘भो भगिनीमुत ! पठ्य—पठ्य, अनीव निर्मला रजनी ।

परं=कन्तु । स्थितः=गमनात्मिकृत्तः । अतिनीत्यात्=अतिनापल्यात् ।

मातुल=गाम । अस्मीयभावयोत्तनाय सम्बोधनगिरुम् । गातेन मात्रु-गातेन अनः  
गातादिगतो भव । माधुपदभलमर्थकमव्ययं मनव्यम् । ( अथवा गीतेन मात्रु-युनं गात ।  
प्रत्यादित्वादभेदं तुत्याय । प्रोक्तः=प्रतिपिदः,—श्वर्यः । ) । अपूर्वः=अद्भुतः । मणिः—  
मणिस्यानायमुद्वृत्वं-बद्धः । गातलक्षणं=गातप्रशस्तिमूलकं चिह्नं । सम्प्राप्तम्=भवता-  
लव्यं । स्वत्राप्येनैव माम । वद्धोऽभि, अनुभवेदानां श्वकृनस्य विपाकमित्याशयः ।  
अन्योऽपि गानकुशलो राजादिदत्तं मण्यादिकं कण्ठे बधनाताति साम्यम् ॥ ४८ ॥

रजकगृहे=निणेजकगृहे । भारोऽदहनं=वस्त्रादिभागवहनं । कृत्वा=विधाय । स्वेच्छया=  
प्रत्यूषं । पर्यटति=भ्रमति । ततः=पर्यटनानन्तरं । प्रत्यूषे=प्रभाते,—वन्धनभयात=श्रेत्राधि  
पादिकृतं रजककृतं वा वन्धनं ताढनश्च शक्रमानः । वन्धनेन=रजजुकृतेन । नियुनक्ति=वध्नाति ।  
श्रेत्राणि पर्यटतः=श्रेत्रेषु परिभ्रमतः । श्रुगालेन=जम्बुकेन । सः=रासमः । पांवरत्वात् ।  
कृतिभङ्गं=श्रेत्रप्राचीभङ्गं । ( ‘वाढ तोडकर’ ) । कर्कटिकाश्रेत्रे=त्रपुमीश्रेत्रे । ( ‘ककड़ा के  
तेन मे’ ) । यदच्छ्रूया=स्वेच्छया । चिर्भटिका=कर्कटिका । भगिनीमुत=भागिनेय ।

१. चिर्भटिकेति पाठान्तरम् ।

२. ‘कर्कटिकेति पाठान्तरम् ।

तदहं गीतं करिष्यामि. तन्कथय कन्मेन रागेण करोमि ?' ।

म आह—‘मास ! किमनेन वृथाऽनर्थप्रचालनेन ? । यनश्रौरकर्म-  
प्रवृत्तावावां; निभृतैश्च चौरजागैरग्र म्यातव्यम् । उक्तच—  
कासयुक्तस्यजंज्ञौर्यैः, निद्रालुशेन्स पुंश्चेन्स् ।  
जिह्वालौब्यं रुक्मिनो, जावितं योऽध्य वाच्यनि ॥५०॥

अपरं—त्वदीयं गीतं न मयुरस्वरम्. शङ्खशङ्खानुकारं दृग-  
त्रयि श्रयते . तदत्र श्वेते रक्षापुरुषाः सुप्राप्ति मन्ति । ते उत्थाय वधं  
यन्धनं वा करिष्यन्ति । तद्विषय नावदसृतमर्याद्विभट्टाः, मा व्यमत्र  
गीतव्यापाग्परो भय । तच्छुत्वा रासम आह—‘भाः, वनाश्रयत्वात्त्वं  
गीतरमं न वेत्यि, तेनेतद्वीर्यि । उक्तच—

शरज्योत्थाहते दूरं तमसि प्रियसर्वाद्यां ।

यन्यानां विश्राति श्रोत्रे गीतज्ञशङ्खारजा सुधा ॥ ५१ ॥

श्रुगाल आह—‘मास ! अस्त्येतन्, परं न वेत्यि त्वं गीतम्.  
केवलमुन्नदमि । तकिं तेन म्वार्थं ब्रह्मकेन ?’ । गमम आह—शिग्धि-  
द्युर्घ, किमहं न जानामि गीतम् ? । तद्यथा तस्य भेदाः । श्रण—  
सप्त स्वरास्थयो ग्रामा मूर्छनार्थकविशानिः ।

तानास्वेकोनपञ्चाशन्तिस्त्रो मात्रा ल्यास्थयः ॥ ५२ ॥

नियंलालं वन्द्रज्योत्तरानाधवला । रजनाऽगाति । गानं=गानं । गांगा=गानंभिति शेषः ।  
अनयंप्रनालमेन=विपत्ते: स्वयंमेवाहानेन : किं न प्रशोजनं निरकर्मप्रवृत्तौः व्यायग्नो ।  
अवा-स्त्रोके । नैर्गः=रसेनः । जारैः=पारदारिकैः ।

गोद्व जावितं वाच्यनि मः । कासयुक्तः=कासरोत्ता । चौर्यः=स्तेय, त्वंज्ञृ-ज्ञात ।  
निद्रालुः=निद्रानुरुद्धरूप, पुंश्चलोः=कल्प्याः, स = जावितं वाच्यनि । गजाऽक्रान्तः=गोगः ।  
तद्यालौब्यं रमनानाचर्यय, त्वंजेत इत्ययः ॥ ५० ॥ अपरं=किय । मयुरस्वरम्=  
तापुयशालस्वरगुक्तं । शहस्रशब्दगनुकरोति तत् शङ्खशङ्खानुकारं=शङ्ख-वनिमदृशम् ।  
रक्षापुरुषाः=रक्षकाः । अमृतमर्याः=अमृतमधुराः । वनाश्रयत्वात्=वनवासरत्वात् ।

तमसि=अस्थकारं । दृग्=दृग्नर । शारद या ज्योत्तराऽचांडिका, तथा हते=दृग-  
कृते सति, प्रियजनमविर्यो श्रोत्रे=कणो, गोत्तराशङ्खजा=गोनोविता, सुधा=योगृष, धन्या-  
साः भाग्यशालितामेव कणे विशाहि=पविशनि ॥ ५१ ॥ उच्चदसि=सगर्वं वदानः । कटोः  
मृद्वःमात्ययि पाठः । न जानामि विः=जानाम्येव ।

‘चर्मचौरका’भिति पाठः । तत्र-चर्मचौरिका=परम्परालम्पदत्वम् ।

स्थानत्रयं यतेःपञ्चे ! पडास्यानि रसा नव ।

रागा: पटविंशतिर्भावाश्वरिशतः समृताः ॥ ५३ ॥

पञ्चाशीन्यधिकं होतद्रावाङ्गानां शनं समृतम् ।

स्वयमेव पुरा धोकं भरतेन श्रुतेः परम् ॥ ५४ ॥

नान्यद्रावान्प्रियं लोके देवानामपि दृश्यते ।

शुष्कस्नायुम्वराहौदात् व्यक्षं जग्राह रावणः ॥ ५५ ॥

तन्कथं भगिनीमुत ! मामनभिज्ञं वदन्निवाग्यसि ? । शृगाल  
आह—‘माम ! यत्वेवं तदहं नावद्वून्दारमितः क्षेत्रपालमवलोक-  
यामि, त्वं पुनः स्वेच्छया गीतं कुरु । नशानुष्ठिते गम्भगटनमा-  
कर्ण्य क्षेत्रपः क्रोधाहन्तान्धिदयन्प्रयावितः । यावद्रामभो हप्तनाव-  
ल्लगुडप्रहारमन्तथा हनो यथा प्रताडितो भूप्रप्ते पतितः । ततश्च मन्त्रिद्र-  
मुल्लग्वलं गले वद्वा क्षेत्रपालः प्रमुपः । गम्भोऽपि स्वजानि-

र्गते—( १— ) नियाद—स्वप्न—गान्धार पठत गथ्यम—यैवत पदभास्या-  
सस स्वरा : । ( २— ) पञ्चतन्त्राम—मध्यभग्याग—नियादग्रामाख्याख्यायो ग्रामाः ।  
( ३— ) स्वगणामागेदावगेदव्यमध्या पञ्चविंशतिर्मूर्च्छनाः । ( ४— ) मृद्धन-  
ताना पञ्चोनपञ्चाशत्, ( ५— ) तत्त्वं त्रिपं—पञ्चतन्त्रेन तिसो मात्राः । ( ६— ) उप-  
वाणः, शिरशेति स्थानत्रयं । ( ७— ) यत्तिविग्रामः पञ्चविधिः । ( ८— ) गायपदक्षेत्र-  
भग्यागिः—मुख्यानि, पट । ( ९— ) शुद्धार—हान्य—वक्षणः गृह्ण वीर—भयानकः वीरभग्या-  
उद्गृहत—शनातार्थ्या नव रसाः । ( १०— ) गगा गगिन्यश पटविंशतिर्भावाः । ( ११— ) मध्यारि-  
व्यभिचारि—स्थानिभेदेन चत्वारिंशत्प्रावाः । इत्येवं गीताङ्गानां पथाशीत्यधिकं शत  
( १२— ) श्रुतेः—श्रवणम्य, परम्=अस्यत्वं लुप्तवद्, श्रुतेः—वेदस्य वा परं=सारभूतं, स्वय-  
गताचार्योऽस्तमित्यथः ॥ ५६ ॥ अस्कुटाविमी श्लोको ।

लोके गीतादन्यन्—देवानामपि ध्रियं वन्मुन न दृश्यते, यतः—शुष्कस्नायुवरग ।  
द्वादात्=तन्त्रास्वरालापाद् । ( आलाद्=वज्राना ) । व्यक्षं=विलोचनं शिवं । गवणः—  
जग्राह=प्रसादयामास । गीतेन देवा अपि प्रभादन्तीति भावः ॥ ५७ ॥

भगिनीसुतं=भागिनेय ! अनभिद्याऽनभिशोऽसि गीतस्येति वदन्नज्ञम् । एवं—विदि-  
त्वं गात्रमुल्लुकः तदि । वृन्देः=क्षेत्रपालंग्रथ ( ‘वाहा’ ) । तथानुष्ठिते=जम्बुके बहिगते भन्ति ।  
गम्भगटनं=रासभग्यनि । ( गदादे का ‘रेकना’ ) । क्षेत्रपः=क्षेत्रगक्षकः । भूप्रप्ते=भूतलं ।

१ ‘यतीनाम्यति सर्वत्र पाठः । म एव युक्तः । यतीनामपि स्थानत्रयमितिचार्थः ।  
परमत्र-(१२३)-मंस्त्रैव भवति । न-(१२५) इति विचार्यम् । श्रुतीनाञ्चेति गौडा: पठन्ति ।  
२ गीतानाभ । ३ ‘शुष्कस्नायुवैरीशं ररञ्जे रावणः युरा’— पाठान्तरम् :

स्वभावाद्रुतवेदनः क्षणेनाभ्युत्थितः । उच्चाच्च—

‘सारमेयस्य चाऽस्य रासमस्य विशेषतः ।

सुहृत्तात्परतो न स्यात्प्रहारजनिता व्यथा’ ॥ ३६ ॥

तत्त्वमेवोल्खलमादाय वृत्तिं चृणयिवा पन्नायितुमारब्धः ।  
अत्रान्नरे शृगालोऽपि दृगदंव तं हृषा सम्मितमाह—

साधु मातुल ! गीतेन मया ग्रोन्तोऽपि न स्थितः ।

अपृवौंडर्यं मणिर्द्वः सम्प्रासं गांतलक्षणम् ॥ ३७ ॥

तद्वान मया वार्यमाणोऽपि न स्थितः । तच्छ्रुत्वा चक्रधर  
आह—‘मो मित्र ! सत्यमेतत् । अथवा साधिवदमन्यत—

यस्य नास्ति स्वयं प्रजा मित्रोन्हं न करोति यः ।

स एव निधनं याति यथा मन्थरकौलिकः ॥ ३८ ॥

सुवर्णभिद्विग्राह—‘कथमेतत् । सोऽत्रवीन—

## ७. मन्थरकौलिककथा

कस्मिंश्चिदधिप्राने मन्थरको नाम कौलिकः प्रतिवसन्ति भ्य ।  
नस्य कदाचिन् पटकर्माणि कुर्वतः सर्वपटकर्मकाष्टानि भग्नानि ।  
ततः स कुठारमादाय वने काष्टार्थं गतः । म च समुद्रतटं याव-  
द्धमन्प्रयातः, तावत्तत्र शिंशापापादप्मत्तेन हृषः । ततश्चिन्तितवान—  
‘महानयं वृक्षो हृश्यते, तदनेन कर्त्तितेन प्रभूतानि पटकर्माणिपर-  
णानि भविष्यन्ति’—इत्यवधार्य तस्योपरि कुठारमुक्तिप्रवान ।

उलूखलं=उद्युखलग् (‘उखलं’) । गले ‘रासमस्येति’ द्वेषः । गता धेदना=पाणा यस्यम्  
गतवेदनः । मारमेयः=कुकुरः । विशेषतो रासमस्य=गदं भस्यावदयमेव । मुरूर्ते=क्षणमानं  
न्यथा=पीडा ॥ ३९ ॥

सस्मिन्नं=किञ्चिद्दासं कृत्वा । प्रशा=बुद्धिः । निधनं=मरणम् ॥ ३९ ॥

कौलिकः=तनुवायः । पटकर्माणिंपटनिमोणव्यापारं । सर्वपटकर्मकाग्रानि-  
सकलान्यापि पटसाधनकाषाणि वेमादानि । भग्नानि=श्रुतितानि । कुठारं=परशुं । समुद्रतट-  
यावत्=समुद्रतटर्यन्तं । तत्र=समुद्रतटं । कर्त्तितेन=चित्तेन । पटकर्मोपकरणानि=पट-  
निर्माणसाधनयन्त्राणि । अवधार्य=निश्चित्य । तस्य=वृक्षस्य । उत्क्षेपवान्=उत्तमन्था-

अथ तत्र वृक्षे कश्चिद्ब्रह्मन्तरः समाश्रित आसीन् । अथ तेनाभिहितम्—‘भोः ! मदाश्रयोऽयं पादप् भर्वथा रक्षणीयः, यतोऽहमत्र महासौख्येन निष्ठामि—समुद्रकलोलम्पर्यनाञ्छातवायुनाप्यायितः।

कौलिक आह—‘भोः किमहं कर्गोमि ?, दास्त्रसामर्गी विना मे कुटुम्बकदम्बं वृभुक्षया पीड्यते । तस्मादन्यत्र शीघ्रं गम्यतामः अहमेनं कर्त्तयायामि ।’ व्यन्तर आह—‘भोः ! तु प्रस्तवाहम् . तत्रा एव्यतामर्भाष्टु किंचित्तु, रक्षेन पादपम् इति ।

कौलिक आह—‘यदेवं तदहं स्वगृहं गत्वा स्वमित्रं स्वभार्या च उष्टु आगम्यायामि, ततस्यथा देयम् ।’

अथ ‘तथा’ इति व्यन्तरेण प्रतिज्ञाते म कौलिकः प्रहृष्टः स्वगृहं प्रति निवृत्तो यावदेवं गच्छति तावद्वामप्रवेशे निजसुहृदं नापितमपदयतः ततस्य व्यन्तराक्षयं निवेदयासाम—यत—‘अहो मित्र ! मम कश्चिन्नान्तरः मिष्टुः, तत्कथय किं प्रार्थये ?, अहं त्वां प्रपुसागतः ।’ नापित आह—‘भद्र ! यदेवं तदाज्यं प्रार्थयस्व येन त्वं गजा भवेमि, अहं त्वं त्वन्मन्त्री । द्वावपीहं सुखमनुभूय परलोकमुख्यमनुभवावः । उक्तं च—राजा दानपरो निन्यमिह कांतिमवाप्य च ।

तत्प्रभावात्पुनः स्वर्गे स्पर्धते चिदृशः सह ॥ ५९ ॥

‘यत्वान् । व्यन्तरः—देवविशेषः । ममाश्रितः—संस्थतः । पादपः—वृक्षः । सर्वथा—येन कलायुग्येन । महासौख्येन=अतिन्युग्येन । समुद्राय ये कलोलाः=तरक्षाः, तेषां मंस्पथात् गम्बथात् द्वानेन वायुना—आप्यायतः=इष्टः । दास्त्रसामर्गी=काष्ठनिमितपटोपकरणं—हुम्बं=पुत्र—कलात्किम् : अन्यत्र=वृक्षान्तरे । इष्टः=प्रसक्तः । अवोष्ट=प्रथयं वृहं गनोरयः । रक्षुः=परपालय । एवं=प्रसक्तो वरदानोऽभुवश्वेत् । ततः=सृष्टन् तरः । देयम्=अभाष्टु देयम् ।

अथ=कौलिकप्रार्थनानन्तरः, तथा=‘प्रवगम्नु’ इति । प्रतिज्ञाने=स्वाक्षर्णे सृष्टः, धामप्रवेशे=यामपरिभ्रमप्रवेशे । निजसुहृदं=स्वयमवतः । तत्य—‘सावधे’ इति द्वापः । सिद्धः—प्रसक्तः । मन्त्री=अभाष्टु भवार्यमि । इष्ट=संभारे, अनुभूय=उपसुज्य । निन्य दानपरः—दानपरायणः । राजा इह कांतिमवाप्य—तस्य=दानस्य प्रमावात्—विदिवं=स्वयं पुनः=किञ्च—चिदृशः सह स्पर्धने=पोदने ॥ ५९ ॥

३ ‘त्वं राजा अहं त्वन्मन्त्री दानपाह ।’ पा०

कौलिक आह—‘अस्त्येतत्परं गुहिणीं पृच्छामि ।’ स आह—  
‘भद्र ! शास्त्रविरुद्धमेतन—यन्त्रिया मह मन्त्रः । यतम्नाः स्वल्प-  
मन्त्रो भवन्ति । उत्तर—

भोजनाच्छादने दद्यादतुकालं च सङ्गमम् ।  
भूपणाद्यं च नारीणां, न ताभिर्मन्त्रयेत्सुवर्णाः ॥ ६० ॥  
यत्र स्त्री यत्र कितवां वालो यत्र प्रशारासना ।  
तदगुहं क्षयमायाति भागेवा हीदमवर्वात ॥ ६१ ॥  
नावत्स्यात्सुप्रसन्नास्यस्तावदुरजने रतः ।  
पुरुषो योपितां यावज्ञ श्रृणात्तं वचो रहः ॥ ६२ ॥  
एताः स्वार्थपरा नार्यः केवलं स्वसुखे रताः ।  
न नासां वलभः कोऽपि सुतोऽपि स्वसुखं विना ॥ ६३ ॥

कौलिक आह—‘तथापि प्रष्टुव्या मा मया यतः पतित्रता  
मा । अपरं नामपृष्टुऽहं न किञ्चिन्करोमि ।’ एवं नमभियाय सच्चर-  
गन्वा नामुवाच—‘प्रिये ! अद्यागमाकं कश्चिद्व्यन्तरं मिळः । न  
वाक्तिक्षतं प्रयच्छति । तदहं त्वां प्रष्टुमागनः । तन-कथय किं प्रार्थये ? ।  
एप तावन्मम मित्रं नापितां वदन्येवं यन्—‘गज्यं प्रार्थयस्व ।’ माऽऽह

गुहिणी=मायां । मन्त्रः—परामर्थः । नाऽस्त्रियः । स्वल्पमन्त्रः अस्त्रपुद्धयः ।  
नारीणां=स्त्रीभ्यः । भोजनाच्छादनश्च भोजनाच्छादने=भोजने वग्रध दद्यात । एवं  
भूपणाद्यिकध दद्यात । सधाः—धारान् । नाभिः=स्त्रीभिः मह । न मन्त्रयेत=न विचार-  
मान्तरेत् ॥ ६० ॥ यत्र=गुहे । कितवः=वृत्तेः, अनुकूल च । प्रशासिना=संचालकः । अर्थः  
विनाशम् । आयाति=प्राप्तोति । भार्गवः=शुक्रानार्यः । इदम्=इत्यम् । दृष्टिः । सुप्रसन्नास्यः=स-  
प्रसन्नवदनः । गुहजने=पितृभानुवन्धुवर्गे । रतः=अनुरक्तः । रहः=एकान्ते । योपितां=  
स्त्रीणां । वनः=वाक्यं, पुरुषो यावत् न श्रृणोति ॥ ६२ ॥

एता नार्यः स्वार्थपरा केवलं स्वसुखे गता—नासां स्वसुखं विना कोऽपि (किवहना)  
नन्तोऽपि न वलभः । स्वन्यार्थमेव स्वदु एताः पूत्रमपि वाऽन्तर्नात्याश्रयः ॥ ६३ ॥  
तथापि=स्वार्थपरा यत्रापि त्रियः;—तथापि मा=मद्राशी । अपरं=किञ्च । वाऽन्तर्नात्तं=मनो

१. ‘मवत्वेवं परं पर्वीमपि पृच्छामि’ । पा० । ‘परम्’ इत्यस्य न्थाने ‘तथापि’ इत्यपि  
पाठा० । २. ‘न नासां वलभो यस्मान्वसुतोपि नृवं विना’ । पा०

—‘आर्यपुत्र ! का मनिर्नापितानाम ? तत्र कार्यं तद्वचः । उक्तच्च-  
चारण्डन्दिभिर्नार्चनार्पितैर्वालक्करपि ।  
नै मन्त्रं मनिमानकुर्यात्सार्थं भिक्षुभिरेव च ॥ ६४ ॥

अपरं—महर्ता हुंशपरम्परा-एषा राज्यस्थितिः, मन्त्रिविग्रह-  
वाना-५५मन-मंश्रय-द्वैधीभावादिभिः कदाचित्पुरुषम् सुखं न  
प्रयच्छत्वात् । यतः—

यदैव राज्ये क्रियतेऽभियेकस्तदैव योनि व्यसनेषु बुद्धिः ।  
घटा नृपाणामभियेकालं सहाम्भसैवापद्मुद्ग्रिग्रन्ति ॥ ६५ ॥  
नथा च—रामस्य व्रजनं वने, निवसनं पाण्डोः सुतानां वने,  
बृष्णीनां निधनं, नलस्य नृपते राज्यापग्रिश्चाननम् ।  
सौदाम्यं तद्वस्थमर्जुनवर्धं मंचिन्यं लङ्घेऽवरं—  
दृष्ट्वा राज्यकृते विडम्बनगतं तस्माच्च तद्वाच्छ्वयेत ॥ ६६ ॥

तथम् । आद्यापत्तियः । ‘आर्यपुत्रेन भः भाष्ये । भना स्त्राभिम्तु योवने’ इत्युक्तेः । मतिः-  
द्विः । नदनः—नार्पितैर्वाम् ।

चारणाः—कृष्णाऽवतारः, राजप्रशंसकाः । दण्डिनः—स्तृतिपाठकाः । नीरीः—अधर्मः ।  
भिक्षुभिः—नग्नकार्दिभिश्च मह मतिमान्, मन्त्रं न कुर्यात् ॥ ६७ ॥  
अपरं—किञ्चित् शुभरम्परा—द्वैत्वपरिपाठी । गज्यस्थितिः—राज्यपालन् । मन्त्रिः-  
प्रजन्यवृप्तकं परेण मन्त्रान् । विग्रहः—युद्धं । यानं—विजिग्नोपेयद्युद्धाय यावा । आमनं—तुल्य-  
पल्योदूर्गादौ कालप्रानेश्चया तृष्णामवस्थानम् । मंश्रयः—वलोयम आश्रयणं । द्वैधीभावः—  
गतनानुयेण वलवति गिरी स्वाम्भसमपूर्वकमलश्चितावस्थानं । सुखं न प्रयच्छति—न  
दानिः—अस्य राज्यार्थतिरिति पूर्वेण सम्बन्धः ।

यदैव नृगां राज्येऽभियेकः—सविधि रथापनं क्रियते, तदा प्रसृत्येव, व्यसने—  
अपत्त्वा । ननु—नृपाणाम् अभियेककालं घटाः—अम्भसाऽजलेन सर्वेव—आपदम् उद्दिग्ग-  
ज्ञिन—वमन्ति । तदेव नानाचिन्ताभग्नाकुलं राज्यभित्याश्रयः ॥ ६५ ॥

गमस्य वने—व्रजन—गमनं । पाण्डोः सुतानां वने निवसनम् । बृष्णीनां—यादवानां ।  
निधनं—मरणं । नलस्य नृपते—राज्यव्रंशेण । सौदामस्य राशो वसिष्ठशापाद्राश्वसयोनि  
गमनं । कार्तवीर्यानुग्रहं परशुरामेण वधेण, मंचिन्यं—विजयं । किञ्च लङ्घेऽवरं—गवाणं,  
राज्यकृते—राज्यार्थं, विडम्बनगतं—कालवशङ्कतं—दृष्ट्वा, तत्—राज्यं, न वाच्छ्वयेत्—नैव

१ ‘न मन्त्रो यतिभिः कार्यः’ । २ तदैव बुद्धिवर्यसनेषु योज्या’ । ३ ‘बलेनियमनं’ । पा०

यदर्थं आतरः पुत्रा अपि वाच्छन्ति ये निजाः—।

वधं राज्यकृतां राजां, नद्राज्यं दृग्नस्यजेत् ॥ ६७ ॥

कौलिक आह—‘मन्यमुक्तं भवन्या ! तत्कथय कि प्रार्थये ? ।

माऽऽह—‘त्वं तावदेकं पटं निन्यमेव निष्पादयमि । तेन मर्वा व्यय-  
शुद्धिः मंपत्तये । इदानीं त्वमासनोऽन्यङ्गाहुयुगलं, द्विर्तायं शिगश्च  
याचम्बव । येन पटद्वयं मम्पादयमि पुरतः पृष्ठतश्च । एकम्य मूल्येन  
गृहं यथापृथं व्ययं मम्पादयित्यमि । द्विर्तायस्य मूल्येन विशेषकृत्यानि  
करिष्यमि । एवं सौख्येत म्व जातिमन्ये आन्यमानम्य कालो यास्यात्.  
लोकद्वयम्योपार्जना च भविष्यति ।’

मोऽपि नदाकण्ठं प्रहृष्टः प्राह—‘साधु पतित्रते ! साधु, युक्त-  
मुक्तं भवन्या । तदेवं करिष्यामि । एष मे निश्चयः ।’

तनोऽमौ गच्छा व्यन्तरं प्रार्थया चक्रे—‘भोः, यहि मंपत्तिं  
पयन्त्रयमि, तदेहि मे द्विर्तायं वाहुयुगलं, शिगश्च ।’

एवमभिहिते तत्क्षणादेव द्विशिगश्चनुर्वाहुश्च मंजातः । तनो  
द्वप्रमना यावद्वृहमागच्छनि, तावल्लोके—‘राज्ञसोऽयमिति मन्यमाने-  
र्लगुडपापाणप्रहारैस्ताडितो मृतश्च । अतोऽहं ब्रवीमि—‘यस्य नास्ति  
म्वयं ग्रज्ञा’ इति ॥५८॥

चक्रघर आह—‘भोः सत्यमंतन्, मर्वोऽपि जनोऽश्रद्धेयकदाशी-  
पिशाचिकाग्रम्तो हास्यपद्वां याति । अथवा माधिवद्मुक्तये केनापि—  
इत्येतत् ॥ ६६ ॥ यदर्थं=गच्छार्थ, आतरः, पुत्राः, एवं ये निजाः=वाच्यवाः,—गच्छ-  
कृतां=राज्येऽभिपक्षाना गजां=नपाणां, वधं=धातं, वाच्छन्ति, नद्राज्यं विडान्, जावित-  
मित्यन् दृतः=त्यजेत् ॥ ६७ ॥

निष्पादयस्ति=निर्मासि । व्ययशुद्धिः=गृहोचितव्ययनिर्वाहः । आत्मनः=स्वस्य  
यान्यम्बव-युगु । पुरतः=अग्रतः, विशेषकृत्यानि=नैमित्तिकमङ्गलकृत्यानि । सौख्येन  
आनन्देन । इलाय्यमानस्य=रन्यमानस्य । कालः=जावनम् । लोकद्वयस्य=स्वर्गलोक  
मर्त्यलोकाग्न्यलोकद्वयस्य । आकर्ण्य=श्रुत्वा । इंप्रस्तुतम्=वाच्मित्रतम् । तत्क्षणादेव=शास्त्रिति ।  
न्युहः=डण्डः । पापाणः=प्रस्तरः । अश्रद्धेयां—जघन्याम् । कदाशापिशाचिकाग्रस्तः=

१. ‘अश्रद्धेयामाशापिशाचिकां प्राप्य’ इति पाठान्तरम् ।

‘अनागतवर्तीं चिन्तामसंभाव्यां करोति यः ।  
स एव पाण्डुरः शेने सोमशर्मपिता यथा ॥ ६८ ॥’

मुवर्णसिद्धिराह—‘कथंमेतत्’ ? । मोऽब्रवीन—

८. भाविसोमशर्मपितृकथा

कस्मिंश्चिन्नगरे कश्चित्प्रभावकृपणो नाम व्राद्यणः प्रनित्रमति  
म्म । तेन भिक्षार्जितैः मन्त्रुभिर्मुन्त्रशेषैः कलशः संपूरितः । तं च  
घटं नागदन्तेऽवलम्ब्य तस्याधम्नान्वट्टवां निधाय सततमेकहस्या  
तमवलोकयन कदाचिद्वात्रौ सुप्रश्नितयामास । यन्—‘परिपृणाऽद्यं  
घटम्नावत्सन्तुभिर्वर्तते । नवदि दुर्भिक्षं भवति तदनेन रूपकाणां  
शनमुत्पैद्यते । ततम्नेन मयोऽजाद्युर्यं ग्रहीतव्यम् । ततः पाण्मासिक-  
प्रमववशात्ताभ्यां यूथं भविष्यति । ततोऽजामिः प्रभूता गा ग्रहीष्यामि ।  
गोभिर्मैहिर्पीः । महिर्पीभिर्वडवाः । वडवाप्रमवतः प्रभूता अश्वा भवि-  
ष्यन्ति । तेषां विक्रयात्प्रभूतं सुवर्णं भविष्यति । सुवर्णेन चतुःशालं  
गृहं सम्पत्यते । ततः कश्चिद्वाद्यणो मम गृहमागल्य प्राप्तवयस्कां  
रूपाद्यां कन्यां दात्यति । तत्सकाशात्पुत्रो मे भविष्यति । तस्याहं  
सोमशर्मति नाम करिष्यामि । ततस्तम्भिः जानुचलनयोग्यं सञ्जातेऽहं  
पुस्तकं गृहीत्वाऽध्यशालायाः प्रष्ठेषो उपविष्टस्तद्वधारयिष्यामि ।

आशाः पदुष्टपिशांनाग्रहातः । हास्यपदवां=उपदास्यताम् । अनागतवर्ती=अनागताम्  
असम्भाव्यां=असम्भावन्यां । पाण्डुरः = नन्तामलिनः, मकुष्मसरश्च ॥ ६८ ॥

स्वभावेन=कृपणः = वद्मुष्टिः । नाम = प्रसिद्धः । भिक्षार्जितैः = भिक्षाप्राप्तैः ।  
मुन्त्रशेषैः=भोजनावच्छिणैः । मन्त्रुभिः=भृष्टयवच्छक्तिपूर्णैः । कलशः = घटः । नागदन्ते =  
भितिरोपिते काष्ठे । (‘मूर्या’ पर ) । तस्य = नागदन्तस्थस्य घटस्य । एकदृष्ट्या = निर्निमेप  
लोचनेन । तं = घटं । दुर्भिक्षम् = अनावृष्टिः । अनेन = मन्त्रवेटेन । उत्पत्तस्यते = लप्स्यते ।  
अजाद्यं = छागमिथुनम् । ततः = अजाद्यव्यहणानन्तरं । पाण्मासिकप्रसववशात् = षण्मा-  
साभ्यन्तरगमोत्पत्तिपरमरया । ताभ्यां = छागाभ्यां । यूथं = अजवृन्दं । प्रभूताः = विपुलाः ।  
वडवाः=अश्वाः । प्रसवतः = गर्भग्रहणमोचनादिभिः । चतुःशालं = चतुर्दिवक्षालाश्चोभितः ।  
प्राप्तवयस्कां = युवति । रूपाद्यां = रूपती । दास्यति-विवाहार्थमिति शेषः । तस्मिन् =

अत्रान्तरे सोमशर्मा मां हप्ता जनन्युत्सङ्गाजानुप्रचलनपरगोऽश्वस्युग-  
ऽसमन्वर्ती मत्समीपमागमिष्यति । ततोऽहं ब्राह्मणों कोपाविष्टोऽभिधा-  
ग्यामि—‘गृहाण तावद्वालकम् ।’ सापि गृहकर्मव्यवतयाऽस्मद्वचनं  
न श्रोत्यति । ततोऽहं ममुत्थाय तां पादप्रहारेण ताडयिष्यामि’ । एवं  
तेन व्यानमिथ्यतेन तथैव पादप्रहारो दत्तो यथा स घटो भग्नः, मव्य च  
मन्त्रुभिः पाण्डुरत्नं गतः । अतोऽहं ब्रवीमि—‘अनागतवर्तीं चिन्तनाम्’ इति ।

सुवर्णमिद्विंगह—‘एवमेतत्, कमते दोषः, यतः—मर्वोऽपि लोभेन  
विडम्बितो वाद्यते । उक्तच्च—

‘आ लौल्यात्कुरुते कर्म न चोदैर्कमवेक्षते ।

विडम्बनामवानोनि स यथा चन्द्रभूपतिः’ ॥ ६९ ॥

चक्रधर आह—‘कथमेतत् ? ।’ स आह—

### ९ वानरविडम्बनचन्द्रभूपतिकथा

कस्मिंश्चित्तरे चन्द्रो नाम भूपतिः प्रतिवसन्ति मम । तस्य पुत्रा  
वानरक्रीडागता वानरयूथं निव्यमवानेकभोजनभक्ष्यादिभिः पुष्टि-  
नयन्ति मम । अथ वानरयूथाधिपो यः स औजनम् वार्हस्पन्द-  
चाणक्यमतविन्, तदनुप्राप्ता च । तस्मर्वानप्यध्यापयति मम ।

अथ तस्मिन्नराजगुहे लघुकुमारवाहनयोग्यं मेपयूथमस्ति । तन्मध्या-  
भीमशमणिः । जानुचलनयोग्ये = पादविष्टेषमभये । तद्=जानुचलनं । जनन्युमःतः  
मानुरङ्गात् । अश्वस्युरासन्नवर्तीं=धोटकपादविष्टनिकटमः । कोपाविष्टः=क्रद्धः । गृहकर्मव्य-  
वतया=भोजनादिव्यापारमसत्तया । एवम्=इत्थं नानाविष्टमिष्यकाल्पनाभिः । तेन=स्वभाव-  
प्रणेन विप्रेण । (शंखाचली) । पाण्डुरत्नां=धृभग्नाम् । ते=मिद्विडम्बन्य चक्रधरम् ।  
विडम्बितः=प्रतारितः ।

लौल्यात्=चापल्यात् । उदर्कः=उत्तरं फलम् । उदर्कसन्तूरं फलमिति कोशात् ।  
विडम्बनां=वचनाम् (‘ठगा जाना’) ॥ ६९ ॥

वानरक्रीडासु=‘कपिव्राण्डासु’ । रताः=निरताः, वानरयूथ=मर्वोऽबृन्दम् । अनेक-  
भोजनभक्ष्यादिभिः=नानाविष्टमक्ष्य...भोज्य—लेल्यादिभिः । उशनसा प्रोक्तमर्थाने-  
नद् वेत्ताति तथा । सकलनातिशास्त्रपारङ्गतः । यदा=उशनस इदमीशनसमितिरात्या  
नस्येदमिष्यत् । तदनुप्राप्ता=नातिसंगतकार्यकर्त्री । तान्=वानरान् । लघवो ये कुमाग-  
न्तरेष्विष्टः ।

१ ‘सुवर्णसिद्धः’ इति पाठान्तरम् । २ ‘न चाऽनर्थम्’ । पा०

देको जिह्वालौल्यादहर्निंशं निःशङ्कं महानसे प्रविद्य यत्पठयनि  
तत्स्वर्वं भक्षयनि । ते च सूपकारा यत्किञ्चित्काष्टं, मृण्मयं भाजनं,  
कांम्यपात्रं ताप्रपात्रं वा पश्यन्ति, तेनाशु नाडयन्ति । मोऽपि  
वानर्ग्यथपम्भृष्टा व्यचिन्तयन्—‘अहो ! मेषपूपकागकलहोऽयं वान-  
राणां क्षयाय भावप्यति : यतोऽन्नगमाऽम्बादलम्पटोऽयं मेषः, महा-  
कोपाश्च मृपकाग यथामन्नवमनुना प्रहरन्ति । तद्यदि वम्नुनोऽभावा-  
कदाचिदुल्मुकेन ताडयिष्यन्ति तदोर्णप्रचुरोऽयं मेषः म्बल्पेनाऽपि  
वह्निना प्रज्वलिष्यति । तद्वामानः पुनरश्चकुरुत्यां सर्मापवतिन्या  
प्रवेद्यन्ति । मापि तृणप्राचुर्याज्ज्वलिष्यन्ति । ततोऽश्च वह्निदाहमवाप्य-  
न्ति । शालिहोत्रेण पुनरेतदुक्तः यन—‘वानरवसयाऽश्चानां वह्निदाह-  
दायः प्रशास्यन्ति’ । तत्रैनमेतनं भाव्यम् । एषोऽत्र निश्चयः । एवं  
निश्चित्य सर्वान्वानरानाहृय गह्मि प्रोवाच । यतः—

मेषेण मृपकाराणां कलहो यत्र जायने ।

स भविष्यन्यसन्दिग्धं वानराणां क्षयावहः ॥ ७० ॥

नस्मात्स्यात्कलहो यत्र गृहे नित्यमकारणः ।

तद्गृहं जीवितं वाञ्छन्दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ७१ ॥

तथा च—कलहान्तानि हमर्याणि, कुवाक्यान्तं च सौहृदम् ।

कुराजान्तानि राष्ट्राणि, कुकर्मान्तं यशो नृणाम् ॥ ७२ ॥

तत्र यावत्सर्वेषां संक्षयो भवति, तावदेतद्राजग्रहं सन्त्यज्य

स्तेषां वाहनं तस्य योग्यं—स्वल्पशशगरम् । जिह्वालौल्यात्—मिष्ठान्तलोभात् । महानभे-  
गमवन्यां । मृपकाराः—पात्राकाः । क्षयाय=विनाशाय । अश्चास्यादलम्पटः—मिष्ठान्तरसास्वाद-  
दूषक्तिः । उत्थुकेन=ज्वलकाष्टेन । ऊर्णप्रनुरः—ऊर्णवह्नुलः । अश्चकुर्ता = अश्चशाला ।  
प्रवेद्यति = प्रवेशं करिष्यति । वह्निदाहं = वह्निना दाहम् । एतेन = मच्छक्रितेन वानर-  
श्चयेण । निश्चयः = मदुक्त एव निश्चयः । गह्मि = एकान्ते । यत्र = गृहे । सः=कलहः ।  
श्चयावहः = विनाशकारकः । ‘कलहो योऽत्र वर्तते’ इत्यपि पाठः ॥ ७० ॥

नास्ति कारणं यस्यासी—भक्तारणः—निहेतुकः । जीवितं—र्धजावित्वं । वाञ्छन्—  
इष्टन् । तद्गृहं दूरतः परिवर्जयेत्—इत्यर्थः ॥ ७१ ॥ कलहेन अतो नाशो येषान्तानि ।  
हमर्याणि=कुलानि । कुवाक्येनान्तो यस्य तत्—कुवाक्यान्तं=दुर्हस्तिविनाशि । सौहृदम्=  
मंत्रा । कुराजेन अन्तो येषान्तानि,—कुराजान्तानि । राष्ट्राणि = राज्यानि । नृणां यशश्च

वनं गच्छामः । अथ तत्तस्य वचनमश्रद्धेयं श्रुत्वा मदोद्रुता वानरा-  
प्रहम्य प्रोचुः—‘भो ! भवतो वृद्धभावादुद्ध्रिवैकल्यं मज्जातं, येनैत-  
द्रवीपि । उक्तच्च—

वदनं दशनैर्हीनं लाला व्रवनि नित्यशः ।

न मतिः स्फुरति कापि बाले, वृद्धे विशेषतः ॥ ७३ ॥

न वयं म्यग्ममानोपभोगान्नानाविधान्मध्यविशेषान्गाजपुत्रैः  
म्यहस्तदत्तान्मृतकल्पान्परित्यज्य तत्राटव्यां कषायकटुतित्तक्षागम्भ-  
फलानि भक्षयित्यामः । तच्छ्रुत्वाऽश्रकल्पां दृष्टि कृत्वा स प्रोवाच-  
‘रे रे मूर्खाः ! यूयमेतस्य सुम्बम्य परिणामं न जार्नाथ । किम्पाक-  
रमास्वादनप्रायमेतत्सुखं परिणामं विष्पवद्धवित्यति । तदहं कुलक्षयं  
म्वयं नावलोकयित्यामि । मांप्रतं वनं याम्यामि । उक्तच्च—

‘मित्रं व्यसनसंग्रासं, स्वस्थानं परपीडितम् ।

धन्यास्ते ये नै पश्यन्ति देशभूमं कुलक्षयम्’ ॥ ७४ ॥

एवमिधाय सर्वास्तान्परित्यज्य स यूथाधिपोऽटव्यां गतः ।

अथ तस्मिन्यातेऽन्यमित्रहनि स मेषो महानसे प्रविष्टः । याव-  
कंकगांनं=दुरानारविनाशि भवति ॥ ७२ ॥ अश्रद्धेयं = विशेषानहं । मदोद्रुताः-  
मदमत्ताः । वृद्धभावात् = वादंक्यात् । वृद्धिवैकल्यं = वृद्धिलोपः । वदनं = सुरः । दशनं-  
दन्तैः । लाला = मुखजन्मः । येवति = क्षरति, निष्परति । कापि = विचारणाय विषयः :  
स्फुरति = प्रसरति ॥ ७३ ॥

गवेण समाग उपभोगो येषान्तान् । अमृतकल्पान् = अग्नततुत्यास्वादान् ।  
भद्रव्यां = विषये । कपायः, कटुः, तिक्तः, क्षारश्च-रसविशेषाः, तड़हुलानि अत एव  
स्क्षाणि = विरसानि फलानि न वयं भक्षयित्याम इति सम्बन्धः । अश्रुभिः कलुषाम =  
आविळाः । दृष्टिः = चक्षुः । किम्पाको विष्पवक्षः । तत्फलरसास्वादनमादी नुखदमपि  
परिमाणे मृत्युं भवति । तर्थव—पतलसुखं=मधुरमधुरान्नरसास्वादनं तुल्यं ।  
माप्तम्=इदानीं ।

व्यसनसंग्रासं=विष्पत्तिग्रस्तं । परैः = श्वरुभिः । पीडितं=समाक्रान्तं । स्वरथानं=स्वयं  
वनं । देशभूमं = परसेनादिना राष्ट्रभूमं । कुलक्षयं = बन्धुवर्गविनाशच । ये न पश्यन्ति-ते  
धन्याः = श्रेष्ठाः ॥ ७४ ॥

अभिनवाय=उक्तत्वा । तान् = वानरान् । अन्यस्मिन् = कस्मिंश्चित् । अहनि = दिने ।

१. ‘धन्यास्तात्’ इति पाठ ।

त्मूपकारेण नान्यत्किञ्चिन्ममामादितं तावदर्घज्वलितकाष्ठेन ताडितः ।  
सोऽपि तेन ताडिनः मन जाज्वल्यमानशरीरः शब्दायमानोऽश्रुकुण्डां  
प्रत्यामन्नवर्तिन्यां प्रविष्टः । तत्र तृणप्राचुर्ययुक्तायां क्षितौ तम्य प्रलुठनः  
सर्वत्रापि वह्निज्वालात्मथा समुन्धिता यथा केचिदश्वा: स्फुटितलोचनाः  
पञ्चन्वं गताः । केचिद्बुद्धनानि त्रोटयित्वा अर्थदग्धशरीरा इतश्चेतश्च  
हेषायमाणा धावमानाः सर्वमपि जन(समृह-)माकुलीचकुः । अत्रान्तरं  
गजा सविपादः शालिहोत्रज्ञान वैद्यानाहृत्य प्रोवाच-‘भोः ! प्रोन्यना-  
मंपामश्वानां किञ्चिद्वाहोपशमनोपायः ?’ । तेऽपि शास्त्राणि विलोक्य  
प्रोचुः—‘देव ! प्रोक्तमत्र विपये भगवता शालिहोत्रेण । यत—

‘कर्पानां मंदसौ दोषो वर्हदाहसमुद्धवः ।

अश्वानां नाशमध्येति तमः सूर्योदयं यथा’ ॥ ७५ ॥

तत्क्रियतामेतच्चिकित्सितं द्राक्, यावदेते न दाहदोषेण विन-  
श्यन्ति ।’ सोऽपि तदाकर्ण्य भममन्तव्यानरवधमादिष्टवान् । किं वहुना ?  
सर्वेऽपि ते वानरा विविधायुथकुड्युडपापाणादिभिर्व्यापादिताः—इति ।

अथ सोऽपि वानरयूथपस्तं पुत्रपौत्रधातुसुतभागिनेयादि-  
मंक्षयं ज्ञात्वा परं विपादसुपागतः । सन्त्यक्ताहारक्रियो वनाद्वनं पर्य-  
टनि । अचिन्तयच—‘कथमहं तम्य नृपापसदस्याऽनृणतां कृत्यनाप-  
कृत्य करिष्यामि ?’ । उत्तरच—

‘मर्पयेद्वर्षणां योऽत्र वंशजां परनिर्मिताम् ।

भयाद्वा यदि वा कामात्म ज्ञेयः पुरुषाधमः’ ॥ ७६ ॥

अर्घज्वलितकाष्ठेन = उल्मुखेन । शब्दायमानः = शब्दं कुर्वन् । नृणामान्ययुक्तायां =  
नृणवहुलायां । स्फुटितलोचनाः = अन्धाः सन्तः । पथस्त्वं = मृत्युम् । गताः = प्राप्ताः ।  
हेषायमाणाः = लेपारवं कुर्वन्तः । हेषाः = अद्वयशब्दः । अन्तरे = अवसरे । सविपादः =  
शोकाकुलः । शालिहोत्रम् = अद्वयवैद्यकं—जानन्ताति—शालिहोत्रज्ञाः, तान् । शालिहोत्रः =  
अद्वयवैद्यकशास्त्रपणेता सुनिविशेषः । चिकित्सितम् = उपचारः । द्राक् = श्वाटिनि । मः =  
गता । नन्=वैद्यवाक्यम् । आकर्ष्य = श्रुत्वा । आदिष्टवान्—आशाप्यामास । व्यापादिता =  
गजपुरुषैर्हता । भानुसुतः = भ्रातुपुत्रः । भागिनेयः = भगिनांसुतः । परम् = अत्यन्तं ।  
विपादं = शोकं । त्यक्ताहारक्रियः = परिवर्जितभोजनव्यापाशः । पर्यटति = भ्राभ्यति ।  
नृपापसदस्य = दृष्टस्य राशः । कृत्येन = केनचित् कर्मणा । अपकृत्य = अपकारं कृत्वा ।

\* कर्पानां वसयाऽश्वानां वह्निदाहसमुद्धवा । व्यथा विनाशमध्येति—’ । पा०

अथ तेन वृद्धवानरेण कुत्रचित्पिपामाकुलेन भ्रमता पद्मिनी-  
पण्डमण्डनं सरः समामादितम् । तद्यावत्सूक्ष्मेक्षिकयाऽवलोकयति  
तावद्वनचरमनुष्याणां पदपड़क्षिप्रवेशोऽमिति, न निष्क्रमणम् । ततश्च-  
न्तितम्—‘नृत्तमत्र जलान्ते दुष्टग्राहण भाव्यम् । तत्पद्मिनीनालोमादाय  
दृग्मस्थोऽपि जलं पिवामि ।’

तथानुष्ठिते तन्मध्याद्वाक्षरमो निष्क्रम्य रन्तमालाविभूषितकण्ठ-  
मनमुवाच—‘भोः ! अत्र यः मलिलं प्रवेशं करोति म मे भद्र्य-  
इनि । तत्रामि धूर्ततरस्त्वत्समोऽन्यो यः पानीयमनेन विधिना-  
पिवति !’ । ततस्तुषोऽहं, प्रार्थयम्ब हृदयवाच्छित्तम् ।

कपिगाह—‘भोः कियना ते भक्षणज्ञात्तिः ?’ । म आह—‘आत-  
महम्मायुतलक्ष्माण्यपि जलप्रविष्टानि भक्षयामि, वाव्यतः शृगालोऽपि  
मां धैर्ययति ।

वानर आह—‘अमित मं केनचिद्दूषितिना सहात्यन्तं वैरग्यम् .  
यद्येनां रन्तमालां मं प्रयच्छ्रमि—तत्सपरिवागमपि तं भूषित-  
वाक्यप्रपञ्चेन लोभयित्वा अत्र सरग्नि प्रवेशायामि ।

सोऽपि श्रद्धेयं वचमत्तम्य श्रुत्वा रन्तमालां दत्त्वा प्राह—‘भो  
मित्र ! यत्समुचितं भवति तत्कर्त्तव्यम् इति ।

अनुष्ठानां = वरनियांतनेनाऽऽनुष्ठान्य । धर्यणां=परामवं पर्यः = शृब्मिः, निर्गिनां = कृतां,  
वामान् = लोमादिना ॥ ७६ ॥

पिपासाकुलेन=तुण्णासेन । पद्मिनीणाडेन माण्डनं = कमलनांकदम्बशोभितम् :  
‘अङ्गादिकदम्बं पण्डमस्त्वयाम्’—इत्यमरः । सूक्ष्मेक्षिकया = विवेकश्चालिन्या दृष्ट्या ।  
वनभगश्च तेषां—पदपड़क्षिप्रवेशः = नरणनिहावलिप्रवेशः । निष्क्रमणं = निर्गम ।  
जलान्ते = जलमध्ये । दुष्टग्राहण = दुष्टेन जलजन्तुना । पद्मिनानालं = कमलनांनालदण्डं ।  
तन्मध्यात् = सरोमध्यात् । धूर्ततरः = नतुतरः । पानीयं = जलग । अनेन विधिना-  
पिद्मिनानालेन । हृदयवाच्छित्तं = गनोऽभिलपितम् । अयुतं = दशसहस्रं । धर्यति =  
ना तिरस्करोति । दूपयर्त्ताति पाठं—दूपयति = वधयति ।

भूषितिना = राजा । वाक्यप्रवेशन = वारजालेन । श्रद्धेयं=विद्यामार्थ । वृक्षप्रामा-  
द्, पद्मिनी(कमल की लता) का नाल वांस का तरह पोला होता है । २ दूपयति पाठ ।

वानरोऽपि गत्वामालाविभूषितकण्ठो ब्रह्मप्रामादेषु परिघम-  
ज्ञनेत्प्रभः, पृष्ठश्च—‘भो यूथप !’ भवानियन्तं कालं कुत्र स्थितः ?.  
भवता इत्प्रत्वमाला कुत्र लक्ष्या, या दीप्त्या मर्यमपि तिरस्करोनि ?।

वानरः प्राह—‘अस्ति कुत्रचिदरण्ये गुपतरं महत्सरो धनद-  
निमित्तम्, तत्र मूर्येऽधोंदिते रविवारे यः कश्चित्त्रिमज्जति, स धनद-  
प्रमादादीद्विग्रत्वमालाविभूषितकण्ठो निःमरति ।’

अथ भूभुजा नदाकर्ण्य म वानरः समाहृतः पृष्ठश्च—‘भो यूथा-  
धिप ! किं सन्यमेतत् ? रक्तमालामनाथं सरोऽस्ति क्वापि ? ।

कपिराह—‘म्वामिन ! एष प्रत्यक्षतया मत्कण्ठस्थितया गत-  
मालया प्रत्यगम्ते । तद्यदि रक्तमालया प्रयोजनं तन्मया सह कमपि  
प्रेपय येन दर्शयामि । तच्छ्रुत्वा नृपतिराह—‘यद्येवं नदहं सपरिजनः  
स्वयमेष्यामि, येन प्रभूता रक्तमालाः सम्पद्यन्ते ।

वानर आह—‘एवं क्रियताम ।’  
तथानुष्टुते भूपतिना सह रक्तमालालोभेन सर्वे कलत्रभृत्याः  
प्रस्थिताः । वानरोऽपि राजा दोलाधिरूपेन स्वोत्सङ्गे आरोपितः  
सखेन प्रीतिपूर्वमानीयते । अथवा साध्विदमुच्यते—

इपु = नक्षकन्थ—हम्योदिपु । या = रक्तमाला । दीप्त्या = स्वप्रभया । धनदनिमित्तं :  
कुर्वेनग्निमित्तम् । अधोंदिते = किञ्चिद्वृदिते । निग्नुति = स्नाति । इदृशा रक्तमालया  
विभूषितः कण्ठो यस्यासीं तथा । निस्सरति = उन्मज्जति । भूभुजा = राजा । तत् =  
वाक्यं । गत्वामालामनाथं = रक्तमालासहितं । प्रत्यक्षतया स्थितया गत्वामालया (उपलक्षितः)  
मत्कण्ठं पव ते—प्रत्ययः = विश्वासोत्पादकः । ‘अस्तु’ इति श्वेषः । मत्कण्ठस्थां माला  
दृश्यैव मदाक्यं भवता विश्वामो विषेय इत्यर्थः । यदा—‘मत्कण्ठस्थितयेऽस्येकमेव यद्,  
‘प्रत्येय’ इति च पाठः । एषोऽहं कण्ठस्थरक्तमालयोपलक्षितः—तब प्रत्येयः = विश्वासार्हः ।

सपरिजनः=सवालानुचरवंसहितः । एध्यामि = गमिष्यामि । सम्पद्यन्ते = मिलन्ति ।  
एवं क्रियतां = सपुत्रपौत्रानुचरसहितेन भवता गम्यतां । तथाऽनुष्टुते = राजा सकुट्टुम्बे  
प्रचलिते सति । कलत्राणि भृत्याश्च कलत्रभृत्याः = राजपत्नीसेवकादिपरिवारः । दोला  
धिरूपेन = प्रेमारूपेन । ( दोला = ‘पालकी । स्वोत्सङ्गे = क्रोडे । ( गोद में ) ।

तृष्णो देवि नमस्तुभ्यं यथा वित्तान्विना अपि ।  
 अकृत्येषु नियोजयन्ते, आभ्यन्ते दुर्गमेव्यपि ॥ ७७ ॥  
 तथा च—इच्छाति शतीं सहस्रं, सहस्रीं लक्षमीहते ।  
 लक्षाधिपस्तथा राज्यं, राज्यस्थः स्वर्गमीहते ॥ ७८ ॥  
 जीर्यन्ते जीर्यन्तः केशा, द्रव्या जीर्यन्ति जीर्यनः ।  
 जीर्यनश्चक्षुर्पा श्रोत्रे, तृष्णांका नरुणायते ॥ ७९ ॥

अथ नन्मगः समामाद्य वानरः प्रत्यूपममये गजानमुवाच—  
 ‘देव ! अत्राद्योदिते मूर्येऽन्तः प्रविष्टानां सिद्धिर्भवन्ति । तन्मर्वोऽपि  
 जन एकदेव प्रविशतु, त्वया पुनर्मया गह्यं प्रवेष्टव्यं, येन पूर्वन्तष्टुम्यान-  
 मामाद्य प्रभूतान्ते ग्नवमाला दर्शयामि ।’

अथ प्रविष्टामते लोकाः सर्वे भक्षितामत्तेन । अथ तेषु चिरायमा-  
 णेषु गजा वानरमाह—‘भो यृथाधिप ! किमिति चिरायतं मे जनः ।’  
 तन्मृत्वा वानरः सत्वं बृशमास्य राजानमुवाच—‘भो दुष्टुनरपते ।  
 गक्षसेनान्तः सलिलस्थितेन भक्षितमते परिजनः । साधितं मया कुल-  
 क्षयजं वैरम् । तद्वन्म्यताम् । तत्र स्वामीति मत्वा नाडत्र प्रवेशितः ।

कृते प्रतिकृतं(तिं) कुर्याद्दिसिते प्रतिहिसितम् ।

न तत्र दोपं पश्यामि, यो दुष्टे दुष्टमाचरेन् ॥ ८० ॥

यथा—तुष्णया । विचान्विताः = धनिनोऽपि । अकृत्येषु = अकरणायेषु कर्मसु । नियो-  
 ज्यन्ते = वलेन योजयन्ते । दुर्गमेषु = अगम्येषु अपि रथानेषु । आभ्यन्ते = नायन्ते ॥ ७९ ॥  
 शतीं = शतसाध्यकाशान्तां । सहस्रं = तस्मांस्यातं धनम् । इच्छाति = वाच्छ्रिति । महस्त्रा-  
 मध्यमंसंख्यकरूप्यकशाल्यं । लक्ष्मीं = लक्ष्मसंख्यातम् । इहते = वाच्छ्रिति । लक्षाधिपः = लक्षा-  
 पतिः । राज्यम्—इच्छाति । राज्यस्थः = राज्याधिपः । ग्वर्गं=देवराजपदम् ।—इहते ॥ ७८ ॥

तत्र = राक्षसाधिष्ठितं । प्रत्यूपममये—प्रभातसमये । देव = महाराज । अत्र = सर्वमः  
 अन्तः = मध्ये । ( अत्रे त्वयोभनः पाठः ) । निद्धिः—त्वन्मालासिद्धिः । आसाद्य = प्राय ।  
 निरायमाणेषु = विलम्बमानेषु । जनः = बन्धुभृत्यवर्गः । साधितं = निर्यातितम ।  
 ( ‘वैर माधाना’, वैर पूरा करना । ) । रक्षामी = रक्षकः, अब्रदाता प्रमुः । अत्र = सर्वसि-  
 प्रवेशितः ।—भयंति शेषः ।

कृते—उपकारेऽपकारे वा कृते । प्रतिकृतं = प्रस्तुपकागादिकं । हिसिते = हिंसादां कृते ।  
 प्रतिहिसितं = मारणादिकं कुर्यात् । तत्र = हिंसादावनुष्ठितेऽपि । दोपं न पश्यामि । यतः  
 दृष्टे दृष्टे = दण्डप्रयोगादिकं समाचरेदेव ॥ ८० ॥

तत्त्वया मम कुलक्षयः कृतः, मया पुनस्त्वेति ।

अशैतदाकर्ण्य राजा कोपाविष्टः पदातिरेकाक्षी यथाऽऽयातमा  
र्मण निष्क्रान्तः । अथ तस्मिन्भूपतौ गते गङ्गासस्तुप्तो जलान्त्रिकम्य  
मानन्दमिदमाह—

‘हतः शत्रुः, कृतं मित्रं, रत्नमाला न हारिता ।

नालेन पिबता तोयं भवता साधु वानर !’ ॥ ८१ ॥

अतोऽहं त्रिवीमि—‘यो लौल्यात्कुरुते कर्मः इति । \* एवमुक्त्वा  
भूयोऽपि म चक्रधरमाह—‘भो मित्र ! प्रेपय मां, येन म्वगुह्यं गच्छामि ।

चक्रधर आह—‘भद्र ! आपदर्थे धनमित्रमङ्गहः क्रियते ।  
तन्मामेवं विद्यं त्यक्त्वा क यास्यति ? । उक्तच्च—

‘यस्यक्त्वा सापदं मित्रं याति निष्ठरतां वहन् ।

कृतधनस्तेन पापेन नरके यात्यसंशयम्’ ॥ ८२ ॥

सुवर्णमिद्विग्रह—‘भोः मत्यमेतद्विदि गम्येस्थाने अन्तिर्भवति ।  
एतत्पुनर्मनुष्याणामगम्यस्थलम् । नाभिति कम्यापि त्वामुन्मोत्तयितुं  
शक्तिः । अपरं यथा यथा चक्रभ्रमवेदनया तव मुखविकारं पश्यामि,  
तथा तथाऽहमेतज्जानामि यद्—द्राग् गच्छामि मा कश्चिन्ममाय्यनर्थो  
भवेदिति । यतः—

तवेति । कुलक्षयः । कृत इति शेषः । कोपाविष्टः=क्रोधाकृलः । पदातिः=पाठः गाग । यथायातमागेण—येनैव पथाऽऽयातस्तेनैव पथा । निष्क्रान्तः=गतः ।

शत्रुः=चन्द्रभूपतिः । इतः=साशितः । कृतं मित्रं—गङ्गमोऽहं सन्तर्पणेन पित्राना  
मातः । हारिता=न इत्ता । नालेन=पदानालेन । तोयं—जलम् ॥ ८३ ॥

आपदर्थे=विपत्तिः परिरक्षणार्थे । धनस्य मित्राणाथ भङ्गदः—स्नाकरणम्  
पवित्रियं=ब्रह्मचर्यकर्पाणितं । सापदम्=आपत्तिसहितं । कृतानो भूत्वाऽमृत्युं नरके  
सानाति संवन्धः ॥ ८२ ॥

गम्यस्थाने=गन्तु याग्यायां भुवि, चर्त्तमानं स्वमित्रं मोनवितुं मनि शेषः । शक्तिः=  
वर्भवस्य मोक्षणे शक्तिर्भवति । तदा सापदं मित्रं त्यक्त्वा गच्छन् कृतधनो भवति इत्यर्थः ।  
गत्—यत्र भवन् वर्तते । चक्रभ्रमवेदनया = नक्रभ्रमणजन्यपीडया । गुरुविकारं  
सुखवेष्ट्यं । जानामि=दृष्टि चिन्तयामि । द्राक्=त्वगितम् । अनर्थः=विषासः ।

१. ‘गम्यस्थाने स्थितं शक्तियुक्तस्यजन्ति’ । इति लिखितपुस्तकस्यः पाठः शोभनः ।

यादशी वदनच्छाया दृश्यते तव बानर !।  
विकालेन गृहीतोऽसि, य: परंति स जीवति ॥ ८२ ॥

चक्रधर आह—‘कथमेतन ? ।’ सोऽवर्वीन्—

### १० विकालवानरकथा

कम्मित्तिक्रियगरे भद्रसेनो नाम राजा प्रतिवर्मति स्म । तस्य मर्वलक्षणमंपन्ना रक्वती नाम कन्याऽस्ति । नां कथिद्राक्षसो जिह्वापैति । गत्रावागत्योपमुड्के । परं कृतग्रस्ताविधानां नां हर्तुं न शक्नोति । साऽपि तत्समये रक्षःमानिन्यज्ञामवम्भामनुभवनि कम्पादिभिः । प्रयमतिक्रामति काले कदाचित्स राक्षसो मध्यनिशायां गृहकोणे स्थितः । साऽपि राजकन्या म्भसम्भीमुवाच—‘सखि ! पश्यैष विकालः समये नित्यमेव मां कदर्थयति, अस्ति दुरात्मनः प्रतिपेषोपायः कथिन् ? ।’

तच्छ्रुत्वा राक्षसोऽपि व्यचिन्तयत—‘नूनं यथाहं तथाऽन्योपि कथिद्विकालनामाऽस्या दरणाय नित्यमेवागच्छति, परं सोऽप्येनां हर्तुं न शक्नोति । तत्त्वावदश्वरूपं कृत्वाऽश्वमध्यगतो निरीक्ष्यामि—किरूपः सः ?, किं प्रभावश्चेति ।

वदनच्छाया=मुखकान्तिः । विकालेन = तक्षाभा राक्षसेन । विपत्तिविशेषण च, परं ति = पलायते । स एव जीवति = म पव विपदा मुच्यते । नान्यः ॥ ८३ ॥

तस्य=भद्रसेनस्य । सर्वे: शुभलक्षणः सम्पत्रा: = शुक्रा । हर्तुमिश्छति | जहार्पति = न शक्नेतुमिश्छति । उपमुड्के = तामाविश्व भुड्के, पीडयति च । कृतं रक्षाविधानं वस्याः सा तां—कृतरक्षाविधानाम् = कृतमन्त्ररक्षाम् । ‘रक्षोपधानाऽमिति त्वशुद्धः पाठः । तत्समये = रात्रिसमये । रक्षसः साक्षिध्यं तेन जायते या मा तां—रक्षःमान्निन्यज्ञां—राक्षसावेशसम्भूतां । कम्पादिभिः = गत्रकम्पादिभिः ।

अतिक्रामति=गच्छति । काले=समये । मध्यनिशायां = निशाये । गृहकोणे = राजकन्याभवनकोणे । विकालः = विकालनामा राक्षसः, भीषणाकृनिर्वा । समये = स्वा-वसरेऽर्धरात्रे । कदर्थयति = पीडयति । दुरात्मनः = दुष्टस्य । प्रतिपेषोपायः = निवारणोपायः ।

नूनम्=अवश्यम् । अह—यथाहरणायायगच्छामि इति सम्बन्धः । विकालनामा = विकालारब्यः । किरूपं यस्यासौ—किरूपः = काङूशाकारः । कः प्रभावो यस्यासौ—किं

एवं राक्षसोऽश्रुपं कृत्वा उद्धानां मध्ये निष्ठुति ।

तथाऽनुष्ठिते निशीथमये राजगृहे कश्मिदश्वचौरः पविष्टः । मत्ते मवीनश्चानवलोक्य तं गङ्गममश्चतमं विज्ञायाऽधिरूपः । अत्राऽन्ते गङ्गमश्चिन्तयामाम—‘नूनमेप विकाल्नामा गङ्गमो मां चौरं मत्त्वा कोपान्निहन्तुमागतः । तन्किं करोमि’? । एवं चिन्तयन्सोऽपि तेन खलीनं मुखे नियाय कशायातेन ताढितः । अथासौ भयत्रमनमना-प्रधाविनुमारब्धः ।

चौरोऽपि दृग्ं गन्वा खलीनाकर्पणे न भिरुं कर्तुमारब्धवान् । न तु केवलं वेगादेवतः गच्छति । अथ तं तथाऽगणिनखलीना-कर्पणं मत्त्वा चौरश्चिन्तयामाम—‘अहो! नैवंविद्या वाजिनो भव न्यगणिनखलीनः । तत्रनमनेनाऽश्रुपेण गङ्गमेन भवितव्यम् तद्यदि कञ्चित्पांशुलं भूमिदंशमवलोक्याभि तदामानं तत्र पातयामि, नान्यथा मं जावितव्यमस्ति । एवं चिन्तयन इप्रदेवतां स्मरनमत्तम्य मोऽश्चो वटवृक्षम्य तले निष्क्रान्तः । चौरोऽपि वटप्रगोहमामाद्य तत्रैव विलमः । ततो द्वावपि तौ पृथग्भूतौ परमानन्दभाजौ जीवित-विषये लघ्वप्रत्याशौ सम्पन्नौ । अथ तत्र वटं कश्मिद्राक्षसमुद्ध द्वानगः स्थित आसीत् । तेन राक्षसं त्रस्तमालोक्य व्याहृतम—‘भो प्रभावः—कोदशार्तकमप्यनः । निशीथमये = अर्धगते । गङ्गगृहे = राजकीयाश्चयामा याम् । अश्वतमं—श्रेष्ठमश्वम् । अत्रान्ते = अभिमूलमरे । चौर = कन्यापालकं चैरमः = मः = राक्षसः । तेन = अश्वच्चरेण । खलीनं = कविकं । (‘धोते को लगाम’) मुखे = गङ्गममुखे । कशायातेन = अश्वताद्वनोपकरणाद्यातेन । (कशा = खायुका)

असौ=कन्याचौरो राक्षसः । यथेन द्रग्मे मनो यग्यामो भयत्रमननाः—भयानुगः अरब्धमम्यान्नाल्यारब्धः । अश्च आश्चन् । यदा कमणोऽविवक्षयः कर्त्तरि त्तः । आरब्ध वानित्यर्थः । खलीनाकर्पणे = कश्मिकाकर्पणे । तम् = अर्धे । मः = अश्वः । वेगादपि वेगतरं यथा स्यात्तथा गच्छति—यथा यथा स्थिराकर्त्ता चौरः खलीनमाकर्पणि तथा तथाऽर्थां गङ्गमो निनारां धावते । न गणितं खलानं यैस्ते—अगणितखलानाः—खलीनाकर्पणोऽपि न स्थिरां भजन्तः । (खलानं=‘लगाम’) । पांशुनं=मिकतावहुतं । जावितव्यं=जावतं । वटप्रगोहं=वटजटां । विलमः=वटभास्त्रोह । परमानन्दं भजत इति—परमानन्दभाजौ=अतिहर्षितौ ।

मित्र ! किसेवं पलाश्यतेऽर्लीकभयेन ? । त्वद्भूत्योऽयं सानुषः ।  
भक्ष्यनाम् ।'

सोऽपि वानरवचो निशम्य स्वस्थपमाधाय शङ्कितमनाः स्वलित-  
गतिनिवृत्तः । चौरोऽपि तं वानराहृतं ज्ञात्वा कोपात्म्य लाङ्गूलं  
ऋम्बमानं मुखे निधाय चर्वितवान् । वानरोऽपि तं गश्नमाभ्यधिकं  
मन्यमानो भयान्न किंचिदुच्चत्वान्, केवलं व्यथानो निर्मालितनयत-  
स्तिष्ठति । राक्षसोऽपि तं नथाभूतमवलोक्य शोकमेनमपठन—

‘यादशी वदनच्छाया दश्यते नव वानर ! ।

विकालेन गृहीतोऽसि, यः परंति स जीवनि’ ॥ ८४ ॥

उत्तत्वा प्रनप्नश्च । \* तत्प्रेपय मां येन गृहं गच्छामि । त्वं पुन-  
रनुभुक्त्वाऽत्र स्थित एव लोभवृक्षफलम् ।’

चक्रधरः प्राह—‘भोः अकारणमेतत् । दैववत्तान्संपदाते नृणा-  
शुभाशुभम् । उत्तच्च—

दुर्गच्छिकूटः, परिखा समुद्रो, रक्षांसि योधा, धनदाच्च विज्ञम् ।

शास्त्रं च यम्योशनसा प्रणीतं, स रावणो दैववशाद्विपक्षः ॥ ८५ ॥

**राक्षससुहृत्=अश्वस्थपथारिगक्षमगित्रं** । तेन = वानरेण । अलंकृतमयेन = मिथ्या  
मयेन । त्वद्भूत्यः = तव गश्नमस्य भक्ष्यभूतः । स्वस्थं = राक्षसाकारम् । आधाय  
रुहात्वा शङ्कितमनाः = किंग्रं मनुष्यो राक्षसो वंति शङ्कितमानः । अत एव गवलद्वानः  
भन्नमन्दगमनः । ‘स्वलितगर्विनि’ इति पाटान्तरम् । तं = राक्षसम् । वानरेण आहृतम्  
आकारितग् । तस्य = वानररथ । लाङ्गूलं = पुच्छं । निधाय = स्थापयित्वा । राक्षसान्त-  
धिकं = राक्षसादपि वल्यांसम् । व्यथार्तः = पाण्डाकुलः । अत एव निर्गात्तनयनः  
निर्मालितलोचनः । तं = वानर । प्रनष्टय = पलायितश्च ( भाग गया ) ॥ ८५ ॥

मां=सुयार्णसिद्धिर्म् । अनुभुक्त्य = अनुभव । पुनत्=मर्दायं दृश्यम् । अकारणं=  
मर्त्यायलोभादिरूपकारणशृन्यम् । दैववशात् = अदृष्टाधानतया । विकूटः = विकृप्तवृत्तः ।  
इयः = कोट्टादिकं । ( ‘किला’ ) । समुद्रः=परिखा = स्वेषं । ( ‘स्वाई’ ) । धनदात्-  
कुवेरात् । उशनसा = शुक्रेण । प्रणीतं = निर्मितं । शास्त्रं = नीतिशास्त्रे । व्ययः = गव्रणस्य ।  
‘गन्तव्याधारभूतमिति शेषः । दैववशात् = भास्यविपर्ययत् । विपक्षः = काल्पयशङ्कतः ॥ ८५ ।

नथा च—अन्धकः कुबजकश्चैव त्रिस्तनी राजकन्यका ।

त्रयोऽप्यन्यायतः सिद्धाः संसुखे कर्मणि स्थिते ॥ ८६ ॥

मुवर्णसिद्धिः प्राह—‘कथमेतत्’ ? । सोऽत्रवीन—

? . अन्धककुबजकत्रिस्तनीकथा

अस्त्वुन्नगापथे मधुपुरं नाम नगरम् । तत्र मधुसेनो नाम गजा वभूव । तस्य कदाचिद्विपयसुवमनुभवतस्मितनी कन्या वभूव ।

अथ तां त्रिस्तनीं जातां श्रुत्वा स गजा कठचुकिनः प्रोवाच—  
‘वद्धोः ! त्यज्यतामियं त्रिस्तनीं गत्वा दूरेऽगण्ये यथा कथित्वा जानाति’ ।  
तच्छ्रुत्वा कठचुकिनः प्रोचुः—‘महागज ! ज्ञायते यदनिष्टकारिणीं  
त्रिस्तनीं कन्या भवति । तथापि त्रावणा आहृत्य प्रष्टव्या येन लोक-  
द्वयं न विरुद्ध्यते । यतः—

यः सततं परिष्वच्छाति शृणोति सन्धारयत्यनिशम् ।

तस्य दिवाकरकरणैर्नलिनीव विवर्धते त्रुद्धिः ॥ ८७ ॥

नथा च—पृच्छकेन सदा भाव्यं पुरुषेण विजानता ।

राक्षसेन्द्रगृहीनोऽपि प्रश्नान्मुक्तो द्विजः पुरा ॥ ८८ ॥

गजा आह—कथमेतत् ? । ते प्रोचुः—

? २. राक्षसगृहीतत्रावणकथा

‘देव ! कमिंश्चिद्वृनोहेऽत्र चण्डकर्मा नाम राक्षसः प्रतिवसति  
स्म । एकदा तेन भ्रमताऽत्यन्यां कथित्रावणः समाप्तादितः ।

ततस्य मकन्धमास्त्र्य प्रोवाच—‘भोः ! अग्रेमगे गम्भैताम ।’  
त्रावणोऽपि भयत्रस्तमनास्तमादाय प्रस्थितः । अथ तस्य कमलो-  
दरकोमलौ पादौ हप्त्वा त्रावणो राक्षसमपृच्छत्—‘भोः ! किमेवं-

विपयसुखं = स्त्रासर्वा । कठनुकिनः = अन्तःपुररक्षकान् । न विरुद्ध्यते = न विरुद्धं  
भवति, पापमयश्च न भवति । अनिशं = निरन्तरं । नलिनीव = कमलिनीव । विवर्धते=  
विकसति ॥ ८९ ॥

२. अनयोऽपि नयं याति यावच्छ्रीर्भजते नरम् ।’ पाठान्तरम् ।

२. इयङ्गाऽश्लीलत्वात्काशिकाराजकायप्रथमपराक्षापात्रहिर्भूता ।

३. ‘अद्यमरेण गम्भता’मिति गौडाः पठन्ति ।

विधौ ते पादावतिकोमलौ ? । राक्षस आह—‘भोः ! ब्रतमस्ति,—  
नाहमाद्रीपादो भूमि मृशामि ।’ तनस्तच्छुत्वाऽत्मनो मोक्षोपायं  
चिन्तयन्स सरः प्राप्तः ।

ततो राक्षसेनाभिहितम्—‘भोः ! यावदहं स्नानं कृत्वा देवता-  
र्चनविधि विधायाऽगच्छामि नावन्त्ययाऽतः स्थानादन्त्यत्र न गन्त-  
व्यम् ।’ तथानुष्ठिते द्विजश्रिनन्यामाम—‘नूनं देवतार्चनविधेमध्यं मामेष  
भक्षयिष्यति, तदद्गुततरं गच्छामि, येनैष आद्रीपादोन मम प्रुग्यमेष्यति ।

तथाऽनुष्ठिते राक्षसो ब्रतभज्ञभयात्तम्य पृष्ठं न गतः । अतोऽहं  
त्रिवीमि—‘पृच्छकेन सदा भाव्यम्—’ इति । \*

अथ तेभ्यस्तच्छुत्वा राजा द्विजानाहृय प्रोवाच—‘भो त्रायणा ।  
त्रिस्तनी मे कन्या समुत्पन्ना,—तन्कि तन्याः प्रतिविधानमस्ति, त-  
वा ? । ते प्रोचुः—देव ! श्रूयताम्—

‘हीनाङ्गी वाऽधिकाङ्गी वा या भवेन्कन्यका नृणाम् ।

भर्तुः स्यात्सा विनाशाय स्वशीलनिधनाय च ॥ ८९ ॥

या पुनर्खिस्तनी कन्या याति लोचनगोचरम् ।

पितरं नाशयत्येव सा द्रुतं नाडत्र संशयः’ ॥ ९० ॥

तमादम्या दर्शनं परिहरतु देवः । तथा—यदि कश्चिदुद्घाह-  
यति, तदेव तस्मै दत्त्वा देशत्यागेन नियोजयिनव्यः—इति । एवं  
कृते लोकद्वयाऽविरुद्धता भवति ।’

अथ तेषां तद्वच्चनमाकर्ण्य स राजा पट्टहान्देन सर्वत्र घोपणा-  
माङ्गापयामाम—‘अहो ! त्रिस्तनीं राजकन्यां यः कश्चिदुद्घाहयति स  
सुवर्णलक्ष्माणोति, देशत्यागञ्च ।’ एवं तस्यामाघोषणायां  
क्रियमाणायां महान्कालो व्यतीतः । न कश्चित्तां प्रतिगृह्णाति ।

नूनम् = अवश्यं । तेभ्यः = कन्चुकिभ्यः । प्रतिविधानम् = उपायः । स्वशीलनिधनाय=  
रवनरित्रभज्याय । लोचनगोचरं = दर्शनम् ॥ ९० ॥

सुवर्णलक्ष्म = निष्कलक्ष्म [ १ लाख सोने का मोहर । ]

१. ‘अनुदानपाद’ इति लिखिते पुस्तके पाठः, स एव शोभनः । तत्र—अनुदानम्—  
अनावृतम् । (‘उभाणा पैर’ इति भाषणाम् । )

साऽपि यौवनोन्मुखी सज्जाता सुगुप्तस्थानस्थिता यत्नेन गृह्यमाणा  
निष्प्रति । अथ तत्रैव न गरे कश्चिदन्धस्तिष्ठन्ति । तस्य च मन्थरकनामा  
कुट्ठोऽप्रेमगे यष्टिग्राही । दाभ्यां तं पटहश्चावद्माकर्ण्य मिथो मन्त्र-  
नम्—‘मृद्यनेत्यं पठहः । यदि कथमपि देवात्कन्या लभ्यते—मुवर्ण-  
प्राप्तिश्च भवति नदा सुखेन सुवर्णप्राप्त्या कालो ब्रजति । अथ यदि तस्या  
दोपतो मृद्युभवति, तदा दागिन्द्रियोपात्तस्यास्य कलेशस्य पर्यन्तो भवति :  
उत्तमः—लजा स्नेहः स्वरमधुरता बुद्धयो यौवनश्रीः

कन्नासङ्गः स्वजनममता दुःखहार्निर्विलासः ॥

धर्मः शास्त्रं सुरगुरुमतिः शौचमाचारचिन्ता

एवं सर्वे जटरपिठे प्राणिनां सम्भवन्ति ॥ ९१ ॥

एवमुक्त्वा अन्धेन गत्वा स्य पठहः स्पृष्टः । उत्तम्भ—‘भोः ! अहं  
नां कन्यामुद्राहयामि यदि गजा मे प्रयच्छति ।’ ततमै गजपुरुषैर्गत्वा  
गजे निवेदितम्—‘देव ! अन्धेन केनचित्पठहः स्पृष्टः । तदत्र विपये  
देवः प्रमाणम् ।’ गजा प्राह—

‘अन्धो वा बधिरो वाऽपि कुर्णा वाऽप्यन्नजोऽपि वा ।

प्रतिगृह्णातु नां कन्यां सलक्षणं स्याद्विदेशगः’ । ९२ ॥

अथ गजादेशात्ते ग्नापुरुषस्तं नदीतीरे नीत्वा सुवर्णलक्षणं समं  
विवाहविधिना विमनीं तमै दत्त्वा जलयाने निधाय कैवर्ता:—  
‘भोः ! देशान्तरं नीत्वा कस्मिंश्चिदधिष्ठानेऽन्धः सपत्रीकः कुटजकेन  
सह मोचनीयः ।’ तथानुष्ठिते विदेशमासाद्य कस्मिंश्चिदधिष्ठाने  
कैवर्तदीशिते त्रयोऽपि मूल्येन गृहं प्राप्ताः सुखेन काले नयन्ति स्म ।  
कैवलमन्धः पर्यङ्के सुप्रस्तिष्ठति, गृहव्यापारं मन्थरकः करोति । एवं  
गच्छता कालेन त्रिमत्न्याः कुटजकेन सह विकृतिः समपत्तत ।  
अथवा साधिवद्मुच्यने—

यदि स्याच्छीतलो वहिश्चन्द्रमा दहनात्मकः ।

सुस्वादः सागरः श्चीणं तत्सतीत्वं प्रजायते ॥ ९२ ॥

अप्रेसरः=अग्रयाद्या । मिथः=गरस्परम् । मन्त्रितं=विचारितम् । पर्यन्तः=समाप्तिः ।  
जटरपिठे=उदरपात्रे ॥ ९१ ॥ विदेशगः=निर्वासितः ॥ ९२ ॥ कैवर्ता:—धावरा: । पर्यङ्के=  
मच्के । विकृतिः=पापसम्बन्धः । दहनात्मकः=उष्णः तत्=तदिः ॥ ९३ ॥

अथाऽन्यद्युम्भिस्तन्या मन्थरकोऽभिहितः—‘भो ! सुभग ! यशोपो-  
उन्धः कथञ्चिद्वापाद्यने, तदाऽस्त्वयोः सुर्येन काले याति । तदन्वि-  
त्यनां कुवचिद्विषयम् । येनाम्मै तत्प्रदाय सुखिनी भवामि ।’

अन्यदा कुञ्जकेन परिभ्रमता सृष्टः कृष्णर्पः ग्रासः । तं गृहीत्वा  
प्रहृष्टमना गृहमध्येत्य तामाह—‘सुभग ! लघ्नोऽयं कृष्णर्पः,  
तदेन ग्वण्डशः कृत्वा प्रभूतशुण्डदादिभिः मन्मार्योऽम्मै विकलनेत्राय  
मत्स्यामिषं भणित्वा प्रयच्छ, येन द्राघिनश्यति । यतोऽस्य  
मन्स्यम्यामिषं सदा प्रियम् ।’ एवमुत्तवा मन्थरको वैहिर्गतः ।

मापि प्रदीपे वहौ कृष्णर्प ग्वण्डशः कृत्वा तक्रस्थाल्या  
माधाय गृहन्यापागकुला तं विकलाङ्गं सप्रश्रयमुवाच—‘आर्यपुत्र !  
तवाभीष्टं मत्स्यमांसं गमानीतम् । यतस्त्वं सदैव तत्पृच्छुन्मि । ते  
च मत्स्या वहौ पाचनाय निष्ठुन्ति । तवावदहं गृहकृत्यं कर्गमि,  
तावत्त्वं दर्विमादाय श्वरमेकं तान्प्रचालय ।’

सोऽपि तदाकर्ण्य हृष्टमनाः सृकणी परिलिहन्दुत्सुत्थाय दर्वी-  
मादाय प्रमथितुमारवधः । अथ तस्य मत्स्यान्मानतो विषगर्भ-  
दाप्तेण संस्पृष्टं नीलपटलं चक्षुभ्यामगलन् । अमावायन्यस्तं वहृगुणं  
मन्यमानां विशेषान्नेत्राभ्यां वाष्पप्रहणमकर्णेन् ।

ततो लघ्नश्चिर्जानो यावत्पश्यति तावत्तक्रमन्ये कृष्णर्प-  
ग्वण्डानि केवलान्येवावलोकयन्ति ।

ततो व्यचिन्तयन—‘अहो ! किमेतन् ? मम मन्स्यामिषं कथित-  
मासीदनया । एतानि तु कृष्णर्पग्वण्डानि । तत्तावद्विजानामि सम्यक्  
त्रिमत्न्याश्रेष्टिनं—‘किं मम वधोपायकमः, कुञ्जस्य वा ? उताहो

मंरकार्य = मंसाध्य, (पक्षा कर)। मत्स्यामिषं = मत्स्यभासं । द्राक् = अटिति । विक-  
लाश्म = अन्धम् । सप्रश्रयं = सरनेहम् । आर्यपुत्र = प्रिय ! कान्त ! । दर्वीभू = कम्बम्  
(अमना) । सृकणी = ओष्ठप्रान्ती । आस्वादरसानुभवात्-परिलिहन् । विषगर्भवाप्तेण =  
विषमिलितधृमेन । नीलपटलम् = नीत्रयोर्नीलगावरणम् । ('ज्ञिहं') । अगलत् = पपात ।

२ ‘वाह्यं गतः । पा०

अन्यस्य वा कम्यचिन् ? । एवं विचिन्त्य स्वाकारं गृहन्नवत्कर्म करोति यथा पुरा ।

अत्रान्तरे कुञ्जः समागत्य निःशङ्कतयाऽऽलिङ्गनचुम्बनादिभिर्खिमतर्नां संवितुमुपचक्रमेऽमोऽग्न्यन्धस्तमवलोकन्नपि यावत्र किञ्चित्तद्वयं पश्यति, तावत्कोपव्याकुलमनाः पूर्ववच्छयनं गत्वा, कुञ्जं चरणाभ्यां सङ्घाण, मामार्याम्बवमस्तकोपरि भ्रामयित्वा, त्रिगतर्नां हृदये व्यताढयत् । अथ कुञ्जप्रहारेण तस्यामृतीयः स्तन उगमि प्रविष्टः । तथा वलान्मरतकोपरि भ्रामणेन कुञ्जः प्राजलतां गतः । अतोऽहं त्रवीमि—‘अनधकः कुञ्जकश्चैव—’इति । \*

मुवर्णमिद्धिगह—‘भो ! मन्यमेतत्, देवानुकूलतया सर्वे कल्याणं सम्पदते, तथापि पुरुषेण सतां वचनं कार्यं । न पुनरेवमेव वर्त्तन्तव्यम् । अथ एवमेव यो वर्त्तते स त्वमिव विनश्यति । तथा च— एकोदराः पृथग्ग्रीवा अन्योन्यफलभक्षिणः ।

असंहता विनश्यन्ति भारण्डा इव पक्षिणः ॥ ८६ ॥

चक्रधर आह—‘कथंमतन् ? । सोऽत्रवीन—

### १३ एकोदरभारण्डकथा

कम्मिश्चित्सरोवरं भारण्डनामा पक्षी एकोदरः पृथग्ग्रीवः प्रतिवसति मम । तेन च समुद्रतारे परिभ्रमता किंचित्कलमसृतकल्पं तर-  
ज्ञाक्षिप्तं सम्प्राप्तम् । सोऽपि भक्षयन्निदमाह—‘अहो ! वृहनि भया-  
ऽसृतप्रायाणि समुद्रकलोलाहृतानि फलानि भक्षितानि । परमपृवां-  
वारुणी=लाभप्रदम् । कुञ्जस्य वा । ‘वधार्थमुपायः’ इति शेषः स्वाकारं = स्वभावम् । गृहन्-  
रक्षन् । (छिकार) । सामर्थ्यात् = शक्त्या । हृदये = उरः स्थले । प्राजलतां = सरलताम् ।

देवानुकूलतया=अहृष्टानुकूलयेन । कन्याणं = शुभं । पुरुषेण = विदुषा । असंहतेन = अमिलितेन=स्वच्छान्नारिणा । एकमुदरं येषान्ते—एकोदराः । पृथक् ग्रीवा येषान्ते-  
पृथग्ग्रीवाः = भिन्नकण्ठमालाः- अत एव भिन्नवदनाः । अन्योन्यं—पृथक् फलानि भक्षितान्  
शीर्न् येषान्ते—अन्योन्यफलभक्षिणः = परस्परविरुद्धफलभक्षणशीलाः ॥ ८६ ॥

सरोवरे = महति जलशये । पृथग्ग्रीवः = द्विमुखः । असृतकल्पम् = असृतमधुरः ।  
तरङ्गैः आक्षिप्तं—तरङ्गाक्षिप्तं = जलतरङ्गानांत । समुद्रकलोलाहृतानि = वारिपितरङ्गा-  
१ ‘मुवर्णसिद्धः’ । पा० २ ‘भारण्डा’ इति पा० ।

स्याद्वादः । तत्कि पारिजातहरिचन्द्रनतस्मभवम् ? किं वा किंचिद्सूतमयफलमव्यक्तेनापि विधिनाऽपतितम् ।'

एवं तस्य त्रुतो द्वितीयमुख्येनाऽभिहितम्—‘भोः, यद्येवं तन्ममापि न्तोकं प्रयच्छ, येनाहमपि जिह्वासौब्यमनुभवामि ।’

ततो विहस्य प्रथमवक्षेणाभिहितम्—‘आवयोग्नावदेकमुद्रम्, एका त्रुप्रिश्च भवनि । ततः कि पृथग्भक्षितेन ? । वरमनेन शेषेण प्रिया तोष्यते’ ।

एवमभिशाय तेन शेषं भारण्ड्याः प्रदत्तम् । सापि तदास्वाद्य प्रहृष्टतमा—आलिङ्गनचुम्बनसम्भावनादनेकचादुपग च वभूव ।

द्वितीयं मुखं तहिनादेव प्रभृति भोद्वेगं मधिपादं च तिष्ठति ।

अथान्यद्युद्वितीयमुख्येन विपफलं प्राप्नम । तद् हप्तुऽपरमाह-‘भो निश्चिद्य ! पुरुषाधम ! निरपेक्ष ! मया विपफलमासादितम्, तत्त्वाऽपमानाद्विक्षयामि ।’ अपरेणाऽभिहितम् ‘मूर्ख ! मा मैवं कुरु । एवं कृते द्वयोरपि विनाशो भविष्यति’ ।

अर्थेवं वदता तेनापमानेन तत्फलं भक्षितम् । किं वहुना, द्वावपि विनष्टौ । अतोऽहं त्रवीमि—‘एकोदरा: पृथग्नीवा:’ इति ॥ ५ ॥

चक्रधर आह—‘मत्यमेतन् । तद्वच्छ गृहम् । परमेकाकिना न गन्तव्यम् । उत्तर्व-

नातानि : परं = किन्तु । आस्वादेऽसौ—आस्वादः = माधुर्यादिरसः । (स्याद्) । पारिजात हरि-न-दनतरुमभवेवं = देवतस्मभुद्धनम् ।

असूतमयफलम्=साशादमृतरूपैव फलम् । अव्यक्तेनापि-विधिना = अलश्विनेन केन-निन्माणेण । भायेन वा । अष्टवशान् । तस्य=भारण्डस्य । स्तोकम्=अलपतम् । प्रयच्छ=दीर्घ । जिह्वासौब्यं = जिह्वासन्तर्पणं । वक्तवं = मुखं । शेषेण = अवशिष्टेन । प्रिया = भायां, भारण्ड्याः = स्वभायार्थं । शेषत्वविवक्षया षष्ठा । सा = भारण्डा । नत् = असूतफलं, प्रहृष्टतमा = प्रभता । आलिङ्गनं = समाक्षेपः । नुम्बनं-प्रसिद्धं । मम्भावनं = कटाभनिक्षेपः । नादु = प्रियं हृत्य वाक्यं । सोद्वेगम् = अरतिसमाकुलं । सविषादं = सम्बेदम् ।

अपरं=प्रथमं मुखं । निमिशा = निधकरुण । पुरुषेषु अथम = नाच । निरपेक्ष—परपीडानभिजा । आत्ममानिन् ! । द्वयोरपि = आवयोद्वयोरपि । एकोदरनया । विनाशः = मरणं । वदन्तमपि—‘अनाद्वयेति शेषः । किं वहुना = किमधिकजल्पनेन । ‘मद्वय-

एकः स्वादु न भुज्ञात्, नैकः सुसेपु जागृयात् ।  
एको न गच्छदध्वानं, नैकश्चार्थान्प्रचिन्तयेत् ॥ ८७ ॥

अपि च—

अपि कापुरुषो मार्गे द्वितीयः क्षेमकारकः ।  
कर्कटेन द्वितीयेन जीवितं परिरक्षितम् ॥ ८८ ॥

मुवर्णमिद्विग्रह—‘कथमेतत् ?’ । मोऽब्रवीत्,—

### १४. पान्थब्राह्मणकक्टकथा

कमिश्चिद्विष्टाने ब्रह्मदत्तनामा ब्राह्मणः प्रतिवसति स्म ।  
मच प्रयोजनवद्वाद्वामं प्रस्थिनः स्वमात्राऽभिहितः—यन्—‘वत्म !,  
कथमेकाकी ब्रजसि ? नदन्यथ्यतां कश्चिद्द्वितीयः सहायः ।’

म आह—‘अस्मि ! मा भैर्षीः, निरुपद्वोऽयं मार्गः, कार्यवशादेकाकी गमिष्यामि ।’ अथ तम्य तं निश्चयं ज्ञात्वा सर्मापस्थवाया: सकाशात्कक्टमादाय मात्राऽभिहितः—‘वत्म ! अवश्यं यदि गन्तव्यं तदेष कर्कटोऽपि सहायो भवनु । तदेन गृहीत्वा गच्छ ।’

मोऽपि मातुर्वचनादुभाष्यां पाणिभ्यां तं भंगुडा कपूरपुटिकामध्ये निधाय, पात्रमध्ये संस्थाप्य, शीघ्रं प्रस्थितः ।

अथ गच्छन्नर्धाप्मोऽप्मणा सन्तप्तः कञ्चिन्मार्गस्थवृक्षमासाद्य नत्रैव प्रसुप्तः । अत्रान्तरे वृक्षकोट्ठराज्ञिर्गत्य सर्पगतत्समीपमागतः ।

म च कपूरगुणन्धसहजप्रियन्वानं परित्यज्य वस्त्रं विदार्याभ्यन्तर-कथाङ्कथयामीनि यावत् । द्वावपि=द्वावपि भारुण्डैः । भादु = मधुरम् । एकः = एकाकी । नमेषु = अनेषु नृसेषु सत्तु । अथान् = अन्तर्नायान् जटिलान् विषयान् ॥ ८९ ॥

कापुरुषः=भासुः । द्वितीयः = सदायभूतश्चेत् । क्षेमकारकः = सुखपदः । जीवितं = पागाः ॥ ९० ॥ अधिष्ठाने = नगरे । प्रयोजनवशान् = आवश्यककार्यप्रसङ्गान् । प्रस्थिनः = नीलतः । अन्विष्यताम् = अन्विष्य सहव नीयतां । द्वितीयः = अपरः सहायः । सर्मा पम्बवाया: = निकटवित्तिवायातः । मात्रा = जनन्या । कर्कटः = कुलीरः । सहायः = द्विनायः सहनरः । तं = कर्कटः । पुटिका = अल्पः समुटः ( दिब्बी ) ।

श्रीप्मोऽप्मणा=श्रीपर्त्त्यमेण । आमाद्य=लक्ष्मा । वृक्षकोटरात्=वृक्षकृषिकहरात् ।

गतां कर्पूरपुटिकामतिलौल्यादभक्षयन् । सोऽपि कर्कटमत्रैव मिथतः  
मन् स्मरप्राणानपाहरन् । त्राह्णाणोऽपि यावत्यवृद्धः पश्यति ताव-  
न्मर्माणे मृतः कृष्णमर्पो निजपाश्चेऽपि कर्पूरपुटिकोपरि मिथतस्तिष्ठति ।  
तं हृष्ट्वा व्यचिन्तयन्—‘कर्कटेनायं हृतः’ इति । प्रसन्नो भूत्वाऽत्रवीच-  
भोः । सन्यमभिहितं मम मात्रा, यत्पुरुषेण कोऽपि महायः कार्यः.  
नैकाकिना गन्तव्यम्, यनो मया शङ्खापृग्निचेतमा तद्वचनमनुप्रि-  
तम्, तेनाहं कर्कटेन सर्पव्यापादनादश्चितः । अथवा मात्रिवद्मुच्यने—

‘क्षीणः श्रयति शर्शा रविसृद्धो वर्धयति पाथमां नाथम् ।  
अन्ये विपदि सहाया धनिनां श्रियमनुभवन्त्यन्ये ॥ ८९ ॥  
मन्त्रे तार्थे द्विजे देवे देवजे भेषजे गुरां ।  
यादशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादशी’ ॥ ९० ॥

संस्कृतम् । कर्पूरसूत्रगन्त्यः महजः प्रियो यस्य तरय भावस्तिर्त्वं, तरमात्—कर्पूरसूत्रगन्त्यनिमग-  
प्रयत्नया । तं = पाथं ब्रह्मदत्तम् ।

अभ्यन्तररगतां=अभ्यन्तराम् । अनिलैत्यान्=अर्चाकाण्डवा । तत्रैव=कर्पूरपुटि  
कार्याः प्रवृद्धः=न्योत्थिनः । कोऽपि=कश्चिदपि । अद्य या पूर्णतम्—अनिवाने यस्यामी  
तेन शङ्खापृतचेतमा — शङ्खालुना । सर्पव्यापादनात् = सर्पभाग्यात् ।

क्षीणः=अमावास्यायां नष्टकलो भूत्वा, शर्शा = चन्द्रः । रवि श्रयति = सर्यमाश्र-  
यते । परन्तु—वालः = पृणकलो यदा भवति (पृणिमायां) तदा । पाथमां-  
जलानां । भाथं=समुद्रम् । वर्द्धयति = प्रवृद्धयति, हर्यत्यति— न रविम्, इच्छोः  
क्षमात्राः सन्द्रस्य । तदाह—अन्य इति । धनिनां विपदि सहायाः खलु अन्ये भवन्ति,  
परन्तु—समृद्धिकाले श्रियमन्येऽनुभवन्ति । समृद्धिमये ये सक्रिहितास्ते न विपदि  
महायतां तुर्वन्ति । ये च सबु विपदि सहायास्ते धनिमिः स्वमग्नदो  
न नभयन्ते । एव च विपदि सहायभूतो जनः सर्वथा स्मरणीयो रक्षणायश्चेत्याश्रयः ।  
॥ ८९ ॥ मन्त्रे = तान्त्रिके वैदिके, वा मन्त्रे । तार्थे = गङ्गादितार्थे । द्विजे =  
वाह्याणे । देवजे = मीढूतिके । भेषजे = औषधे । यस्य पुनः यादशी भावना =  
विशासः, नस्य खलु तादशी = तर्थैव मिद्धिर्भवति । देवद्विजगुर्वांटान् देवादिवृद्धवा  
आस्तिक्येन विद्वसन् सिद्धिमृच्छति । अतो गुरुवृद्धानां वन्ननं सर्वदा पालनीयं, तड्चासि  
न दुष्टो विद्वासो हि फलशायको भवतीत्यर्थः ॥ ९० ॥

एवमुक्त्वाऽमौ ब्राह्मणो यथाभिप्रेतं गतः । अतोऽहं त्र्वीमि-  
‘अपि कापुरुषो मार्गे’ इति । \*

एवं श्रुत्वा सुवर्णसिद्धिस्तमनुज्ञाप्य स्वगृहं प्रति निवृत्तः ।

\* इनि श्रीविष्णुशार्मविगच्चिने पञ्चतन्त्रेऽपरीक्षितकारकम् ॥

अनुज्ञाप्यतं प्राये, तदात्मां च लक्ष्यत्यथः । श्रीहरिः ।

न जगद्विदिनमादान्मय-पट्टगाढ्व वाचस्पति—मरुमण्डलमार्त्तिण्ड—पण्डितम् ।  
कैलासवार्मश्रीन्देहिरामशास्त्रिणां पौत्रेण, ‘प्रतिवादिभयङ्कुर्य भयङ्कुर्य-  
विद्वाचाचम्पति—न्यायागाम्नाचार्य—कैलासवासि श्रीशिवनारायण-  
शास्त्रिणां पुत्रेण, मनिमार्वदीमर्त्ती‘राजलङ्कमी’गमसमभवेन  
मेशश्रीरावाङ्कुण्डगजीपोद्वार लक्ष्यमादान्येन,  
श्रागुरुप्रसादं शास्त्रिणा विरचितायाः  
पञ्चतन्त्राऽभिनवराजलङ्क्या  
मपरीक्षितकारिता नाम  
पञ्चमं तन्त्रम् ।

→ ५४ →

समाप्तेऽपञ्चतन्त्रं नाम नीतिशास्त्रम् । ५४

सर्वविभृपुस्तकप्राप्निस्थानम्—

भार्गव पुस्तकालय,

गायघाट, वनारस सिटी ।

मुद्रक; बी. के. शास्त्रा—

उत्तोनिप्रकाश प्रेस, विद्येश्वरगंज, वनारस सिटी ।

छप गई !

छप गई !!

शीघ्र आडेर भेजिए !!!

## मध्यसिद्धान्तकौमुदी

### बालमनोरमा नामक सरल टीका सहित

टीकाकार-श्रीगुरुप्रसादशास्त्री,

व्याकरणाचार्य, न्यायाचार्य, दर्शनाचार्य ।

[ प्रिन्सिपल-श्रीराजस्थान-मंस्कृत-कालेज, काशी ]

काशी गवर्नर्स-मंस्कृत कालेज की मध्यमणिकाओं में तथा लाहोर  
वाई की मंस्कृत-परीक्षाओं में भी मध्यकौमुदी पाठ्य रूप से नियत है ।

परन्तु इस मध्यकौमुदी की टीका अभीतक कहीं भी नहीं लिखी थी,  
इसमें परीक्षार्थी छात्रों को विशेष कष्ट होता था । छात्रों के इस कष्ट को  
उत्पन्न कर हमने श्रीगुरुप्रसादशास्त्री मङ्कलित बालमनोरमा टीका के साथ  
मध्यकौमुदी को लापना प्राप्ति किया है ।

यह बालमनोरमा टीका बहुत ही सरल है, अतः इसके आधार पर  
मध्यकौमुदी की कठिन पंक्तियों को छात्रवर्ग वड़ी सरलता में नमूना मंकरें ।

सिद्धान्तकौमुदी की बालमनोरमा टीका सरलता के लिये प्रसिद्ध ही  
है, उसीके आधार पर मध्यकौमुदी की यह बालमनोरमा टीका बनाई गई  
है, अतः यह भी बहुत सरल बनी है ।

#### हमारी मध्यकौमुदी की विशेषता ।

आजतक की लिपि हुई सभी मध्यकौमुदी की पुस्तकों में मूल के पाठों  
में वड़ी गड़वड़ी है । क्योंकि अनेकों सूत्र और पंक्तियां तथा आवश्यक पाठ  
व श्लोक इन छपी हुई पुस्तकों में नहीं हैं । परन्तु हमने लिखित प्राचीन  
पुस्तकों के आधार पर संशोधन कर उक्त सभी त्रुटियां दूर कर दी हैं ।

शुद्ध पाठ, बढ़िया टीका, मुन्दर मनमोहक छपाई, चिकना  
और मोटा कागज, बढ़िया जिल्द, ये सभी बातें इस बालमनोरमा टीका  
सहित हमारी मध्यकौमुदी में आपको मिलेंगी । अतः आज ही इस मध्य-  
कौमुदी को शीघ्र मङ्गाइए । पूर्वार्द्ध छपकर तैयार है । मूल्य ।=)  
कमीशन काटकर ।)॥ उत्तरार्द्ध भी छप रहा है ।

भार्गव-पुस्तकालय, गायघाट, बनारस ।

परीक्षार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी

## अष्टाध्यायीसूत्रपाठ

### श्रीगुरुप्रसादशास्त्रीकृत मरला टीका सहित

मज्जनों !

आप लोग जानते ही हैं कि ‘अष्टाध्यायी’ व्याकरण शास्त्र का मूल ग्रन्थ है। ‘सिद्धान्तकौमुदी’ ‘लघुकौमुदी’ ‘महाभाष्य’ आदि बड़े २ ग्रन्थ इस अष्टाध्यायी की टीका हैं। इस अष्टाध्यायी के विपर्य में यह प्रभाँड्र दे कि ‘जो विद्यार्थी वाल्यावस्था में अष्टाध्यायी को कण्ठ कर लेता है वह अवश्य ही विशिष्ट पण्डित होता है।

इसलिये वालकों को ‘अष्टाध्यायी’ कण्ठ कराने की प्रथा अवतरण चली आती है। पग्नु भूल लूटों को बोप कर कण्ठकर लेने से जी उनके अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः श्रीगुरुप्रसादशास्त्री कृत ‘मरला’ टीका के माध्य हमने यह अष्टाध्यायीसूत्रपाठ लापा है।

इस टीकामें सूत्रोंकी संस्कृत वृत्ति सिद्धान्तकौमुदी और ‘काशिका’ के आधार पर दी गई है। इसमें यह लाभ होगा कि सिद्धान्तकौमुदी आदि पढ़ते समय यहीं वृत्ति काम देगी, ‘सिद्धान्तकौमुदी’ ‘लघुकौमुदी’ आदि की वृत्ति पुनः कण्ठ नहीं करनी पड़ेगी। और परीक्षार्थी विद्यार्थियों को भी ‘नद्विती’ ‘कृदन्त’ ‘म्बर प्रक्रिया’ आदि के अभ्यास में यह टीका बहुत लाभप्रद सिद्ध होगा। अतः इस प्रतिदिन की आवृत्ति में रखना चाहिये।

और संस्कृत के हण्डक लाख व पंडित को इसे अपने पास रखना चाहिए। लात्रवर्ग इसे जेव में रखनके इसलिये मैंने इसका गुटका संस्करण निकाला है। छपाई—सफाई नितान्त आकर्षक हैं। मू० ॥) मजिल्द का मू० ॥-

### मार्गव—पुस्तकाल्य, गायथ्राट, वनारस सिटी।

नोटः इसमें विद्यार्थियोंको काफ़ा कामिशन देने का भी व्यवस्था है।

श्रीगजस्थान-संस्कृत-कालेज-अन्यमाला काशी की सस्ती पुस्तके

## द्विका-टिप्पणियों से मुशोभित-

### लघुदाव्देन्दुशोखर

( पृष्ठ संख्या—१२५० )

मंस्कर्ता—काशी के मुप्रमिह विद्वान्—श्रीगुरुप्रसादशास्त्री ।

श्वीप्रत्ययान्त भाग का मूल्य ३) । कर्मीशन काट ॥५॥

अव्ययीभावान्त का मूल्य ५) । कर्मीशन काटकर मूल्य ६॥

१—वैयाकरणभूषणमार—उपर्ण और कार्याकृत नामक भाँति मण्ड वर्डी-वर्डी दो टीकाओं से मुशोभित, तथा श्रीगुरुप्रसादशास्त्री, न्यायाचार्य, व्याकरणाचार्यकृत विशद टिप्पणी में अलंकृत । अनिशुद्ध मंस्करण । मञ्जिलद ( कर्मीशन काटकर ) मूल्य ५॥

२—पंचतन्त्र ( मध्यूर ) श्रीगुरुप्रसादशास्त्रीकृत—अभिनव राजलक्ष्मी टीका सहित, मंसारका मध्यमे ‘गुद’ अन्युन्तम मंस्करण । [ द्विनीय मंस्करण ] मूल्य ३॥

३—तर्कसंग्रह [ दीपिका न्यायबोधिनी महित ] श्रीगुरुप्रसादशास्त्रीकृत ‘अभिनव-राजलक्ष्मी परिमिल’ नामक विशाल विन्तुत मण्ड टीका और ‘आमोद’ नामक टिप्पणी सहित । मध्यम वरीओपयोगी ( कर्मीशन काट कर ) मूल्य ५॥

४—स्वप्रवासवदन्त नाटक—श्रीगुरुप्रसादशास्त्रीकृत अन्युन्तम मंस्करण टीका और भाषादीका सहित । मुन्दर लगाई, रेगर्मा जिल्द, अन्यन्त गुद पाठ । कर्मीशन काटकर मूल्य ५॥

५—अभिज्ञानशाकुन्तल, [ परीक्षोपयोगीमंस्करण ] श्रीगुरुप्रसाद-शास्त्रीकृत अत्यन्त मण्ड विन्तुत टीका “अभिनव-राजलक्ष्मी” सहित । इसके द्वारा आप विना गुरु के शकुन्तला पढ़ सकते हैं । ३७५ पृष्ठ. मूल्य १०) ( कर्मीशन काट कर ) ॥१॥

६—रघुवंश [ २ से ४ सर्ग तक ] मलिनाथी संजीवनी टीका सहित । १. पदच्छेद, २. विभक्ति, ३. अन्वय, ४. विग्रह, ५. अर्थ, ६. भावार्थ, ७. वाच्यपरिवर्तन, ८. कोश, ९. अलंकार, १०. टिप्पणी, ११. प्रश्नत्र, १२. विस्तृत भाषादीका आदि से मुसजिन श्रीगुरुप्रसादशास्त्रीकृत

‘अभिनव-राजलक्ष्मी’ टीका सहित ।

।=)॥

२-३ सर्ग मूल्य ।)॥

२-३-४-५ सर्ग मूल्य ॥=)

७—रूपकौमुदी—प्रथम परीक्षा में अब शब्दों और धातुओं के रूप में पृछे जाते हैं । परन्तु अभीतक कोई ऐसी पुस्तक नहीं छपी थी जिसमें अघुकौमुदी के अनुसार सभी शब्दों और धातुओं के रूप दिये हों । अतः यह इन्थ दूसरे प्रकाशित किया है, इसमें सभी शब्दों व धातुओं के रूप आ गये हैं । शीघ्र मंगाइये । [ प्रथमपरीक्षोपयोगी ] मूल्य ।) कर्माशन काटकर । ||||=)

८—मूलरामायण—नार्गशभट्ट की बनाई प्राचीन टीका ‘तिळक’ और श्रीगुरुप्रसादशास्त्री कृत ‘अभिनव-राजलक्ष्मी’ और भाषाटीका सहित तीन टीकाओं से युक्त परीक्षोपयोगी ऐसा ‘मूलरामायण’ कहा जाता है । ( द्वितीय संस्करण ) मूल्य =)॥

९—तर्कमंग्रह—प्रथमपरीक्षोपयोगी सर्वोच्चम ‘बालमनोरमा’ ‘परीक्षा’ ‘न्यायबोधिनी’ ‘पद्मकृत्य’ और भाषा-टीका सहित । ‘परीक्षाओं में कैसे लिखना और कितना लिखना’ यह दूसरी ‘परीक्षा’ टीका में अच्छी तरह समझाया गया है । एक प्रति अवश्य मंगाइये । ३० वर्ष के प्रश्नपत्र भी नाश में दे दिये हैं । मूल्य कर्माशन काटकर । )

१०—छन्दोमन्दाकिनी [ श्रुतबोध ] प्रथमपरीक्षोपयोगी अति सरल और संक्षिप्त सोलह छन्दों के इस मंग्रह को देखकर आप बहुत प्रसन्न होंगे । ( द्वितीय संस्करण ) मूल्य कर्माशन काटकर । )

११—पञ्चतन्त्र—‘अपरीक्षिन कारक’ । श्रीगुरुप्रसादशास्त्रीकृत ‘अभिनव राजलक्ष्मी’ टीका तथा भाषाटीका सहित ( द्वितीय संस्करण । ) मूल्य कर्माशन काटकर । ||||=)

१२—अमरकोश गुटका । अभिनवराजलक्ष्मी नामक अत्युत्तम संस्कृत टीका सहित कर्माशन काटकर मूल्य ।)॥

१३—अमरकोश—(वड़ा साइज) ‘अभिनवराजलक्ष्मी’ टीका सहित ।=)

१४—किरातार्जुनीय—( १-२-३ सर्ग ) श्रीगुरुप्रसादशास्त्री कृत अभिनव राजलक्ष्मी टीका सहित । मूल्य

१५—दशकुमारचरित—( अपहारवर्मचरित तक ) श्रीगुरुप्रसादशास्त्री कृत ‘अभिनव राजलक्ष्मी’ नामक अत्युत्तम टीका सहित । मूल्य

निवेदक—भार्गव पुस्तकालय, गायत्राट, वनारस सिटी ।



**लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, पुस्तकालय**  
*L.B.S. National Academy of Administration, Library*

संस्कृती

## MUSSOORIE

यह पूर्वक निम्नाँकित तारीख तक वापिस करनी है।

This book is to be returned on the date last stamped

GL SANS 398.2  
PAN



125442  
RSNAA

Sams  
398.2  
पंचत

अवाप्ति सं० ~~14562~~  
ACC. No.....

वर्ग सं.  
Class No.....

पुस्तक सं.  
Book No.....

लेखक फिलिप्पीनी  
Author.....







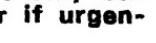












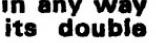






















































































































































































































































































































































































&lt;p